वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।),नमूने की प्रति।=) के टिकट भेज कर मँगाइये
२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।
३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।
४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।
५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।
६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।
७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।
८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।
९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो,अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करा लेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।
१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।
११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।
१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।
१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:-
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।
साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।
छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।
आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१५) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	२०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१२) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

आर्य जगत् प्रतियोगिता—

३५) नक़द और १०) की पुस्तकें इनाम

प्रवेश शुल्क १ उत्तर का १), २ का २), तीन का २), चार का ३), ५ का ४) और इसके बाद प्रति उत्तर ॥)

पहेली का निर्णय ३० जनवरी को होगा। उत्तर २५) जनवरी तक भेजे जासकते हैं। पुरस्कार उसीको मिलेगा जिसका उत्तर व्यवस्थापक के की नोट से अक्षरशः मिल जायेगा। एक गलती पर द्वितीय इनाम प्रथम पुरस्कार १५) नक़द और १०) की पुस्तकें जो आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर—सस्ता-साहित्य मण्डल, अजमेर और कला प्रेस प्रयाग की पुस्तकों में से होंगी। और द्वितीय पुरस्कार ५) नक़द का होगा सर्व प्रथम सर्व शुद्ध उत्तर पर १५) और नक़द दिये जायंगे। विशेष जानकारी के लिये -)। के टिकट भेजिये।

पहेली

		द¹				१४			
		या	१३	३				१५	
श्र	द्धा	न	न्द			११			
		न	१०		७		न	१८	१९
	५					४	१६		स
९			६		१२		१७	च	
		८							

तालिका

सीधे (Across)

२ गुरुकुल संस्थापक ५ दुख ६ खाने की वस्तु ७ विनय ८ प्रकाश करनेवालीवस्तु ९ मनुष्य १० विद्या का एक अंश ११ कांश्मीरी ब्राह्मणों की एक उपजाति १२ चिन्तन १३ महाभारत का एक चरित्र १५ पिता शब्द का सार्थक करने वाला १६ एक संख्या १७ स्त्री सुन्दरता का एक अंग १८ एक वस्त्र

नीचे (Down)

१ आर्यसमाज प्रवर्तक ३ धन की एक मात्रा ४ मन से सम्बन्धित ५ एक संख्या ६ संसार में सर्व श्रेष्ठ पुरुष ८ पक्षी १० संसार की एक उत्तम विद्या ११ एक रोग १२ सर्प विजेता १४ सर्वश्रेष्ठ नाम १५ देवताओं में श्रेष्ठ १९ एक वस्त्र

१ नीचे तथा २ सीधे में आर्यसमाज प्रवर्त्तक और गुरुकुल संस्थापक की पूर्ति दयानन्द और श्रद्धानन्द क्रमशः देखकर खानों की पूर्ति कीजिये तालिका के अनुसार।

व्यवस्थापक—आर्यजगत् प्रतियोगिता, पीलीकोठी, अंगूरीबाग, फ़ैज़ाबाद (यू० पी०)

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २	माघ संवत् १९९० वि०, जनवरी सन् १९३४ ई०	सं० ४

वेदोपदेश

पापरहित जीवन

वि देवा जरसा वृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ अथर्व० ३ । ३१ । १ ॥

"देव लोग बुढ़ापे से पृथक् है, हे अग्नि! तू न देने के भावमें पृथक् है । मैं सब पाप से पृथक् होऊँ, यक्ष्मा आदि रोगों से पृथक् होऊँ और आयु के साथ सम्बद्ध होऊँ" ॥

यह मन्त्र पापों से अलग होने का उपदेश देता है। पापों से अलग किस प्रकार होना चाहिये इस सम्बन्ध में मन्त्र ने दो दृष्टान्त दिये हैं जो कि बहुत उत्तम हैं। इसमें पहला दृष्टान्त है "देवों का बुढ़ापे से अलग होना" । और दूसरा दृष्टान्त है "अग्नि का न देने के भाव से अलग होना" ।

"देव बुढ़ापे से पृथक् हैं"—इसका अभिप्राय यह है कि देव-कोटि के लोगों को जो कि धर्मात्मा, विद्वान् तथा परोपकारी सज्जन होते हैं—बुढ़ापा कभी आता ही नहीं। उनकी दृष्टि में शारीरिक बुढ़ापा कोई सत्ता

नहीं रखता। वर्त्तमान युग में तो भारत के युवा-आयु के लोग भी मानो बुढ़ापे में ही हैं। परन्तु सच्चे देव-कोटि के लोग शारीरिक बुढ़ापे के होते हुए भी, मन की दृष्टि से, शक्ति तथा परोपकार के कामों की दृष्टि से, सदा युवा ही रहते हैं। महात्मा गान्धी शरीर से दुबले पतले हैं, आयु की दृष्टि से बूढ़े हैं, तो भी कर्मयोग की दृष्टि से युवाओं से भी बढ़कर हैं। जेल इन्हें नहीं सताती, लम्बे उपवास इन्हें नहीं सताते, दिनरात काम करना इन्हें नहीं सताता। इसीलिये कहा गया है कि "देव लोग बुढ़ापे से पृथक् हैं"।

दूसरा दृष्टान्त है "अग्नि न देने के भाव से पृथक् है"। अग्नि में—प्रज्वलित, प्रचण्ड तथा चमकती हुई अग्निमें - कोई भी वस्तु डाली जाय, अग्नि अपने प्रखर ताप से उसे छिन्न भिन्न कर आकाश में फेंक देगी। कभी नहीं होसकता कि अग्नि प्राप्त-वस्तु को अपने में रखले और उसे सूक्ष्म कर वायु-मण्डल में पहुँचा न दे। अग्नि का यह दान सर्वोत्तम दान है। अग्नि को जो भी वस्तु प्राप्त होती है, अग्नि उसका सम्पूर्ण रूप में दान कर देती है, मानो अग्नि सदा सर्व-मेध यज्ञ कर रही है।

ये उपरोक्त दोनों दृष्टान्त "पृथक् पन"—के स्वरूप को समझाने के लिये वेद ने दिये हैं। देव लोग बुढ़ापे से पृथक् हैं और अग्नि न देने के भाव से पृथक् है।

अब इससे शिक्षा क्या मिली ? व्यक्ति इन दो दृष्टान्तों के आधार पर कहता है कि मैं भी इसी प्रकार "सब पाप से पृथक् होऊँ" मैं किसी भी अवस्था में कोई पाप न करूँ। मैं समझूँ कि पाप का मेरे साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे कि बुढ़ापे का सम्बन्ध देव-कोटि के लोगों के साथ और न देने का सम्बन्ध अग्नि के साथ नहीं हो सकता। ऊपर के दो दृष्टान्त व्यक्ति की पाप से रहित होने की भावना को उग्र बनाने के लिये हैं।

व्यक्ति वास्तव में जब पापों से रहित होजाता है—आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक सभी प्रकार के पापों से मुक्त होजाता है—तो वह रोगों का शिकार नहीं बन सकता। "पाप और रोग" का अटूट सम्बन्ध वेद ने दर्शाया है। रोग पाप का परिणाम है। जहां पाप नहीं, वहां रोग नहीं रह सकता। रोग और पाप का कार्यकारण भाव सम्बन्ध चाहे एक जन्म में दृष्टि-गोचर होजाय चाहे अनेक जन्मों में, पर इन दोनों में कार्यकारण भाव है अवश्य। यह सिद्धान्त वेदों में स्थान २ पर प्रतीत होता है। उपरोक्त मन्त्र में रोगों में से महारोग का नाम लिया गया है, जो कि यक्ष्मा रोग है। पाप न रहे तो यक्ष्मा आदि रोग कभी आक्रमण नहीं कर सकते। पापों और रोगों से रहित होने का परिणाम वेद ने दर्शाया है—"आयु के साथ सम्बद्ध होना"। आयु का दीर्घ होना या जीवन का स्वस्थ रहना—यह आयु के साथ सम्बद्ध होना है। यदि हम भी अपने जीवन को लम्बा तथा स्वस्थ बनाना चाहें तो हमें चाहिये कि (क) हम पापों से रहित हों (ख) तब हम रोगों से रहित हो सकेंगे (ग) और परिणाम रूप में हमारा जीवन दीर्घ तथा स्वस्थ होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थ

[ले०—स्वाध्यायप्रेमी]

वैदिक साहित्य में मन्त्रसंहिता, ब्राह्मणग्रन्थ आरण्यकग्रन्थ, उपनिषदें, श्रौतसूत्र, धर्म-सूत्र तथा गृह्यसूत्र आदि ये नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें से इस लेख में ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ लिखा जायगा।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ

प्रथम प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि "ब्राह्मणग्रन्थ" इस समस्त शब्द में ब्राह्मण शब्द का अर्थ क्या है? विचार उठ सकता है कि शायद ये ग्रन्थ ब्राह्मण के बनाये हुए हों इसलिये इन ग्रन्थों को ब्राह्मण कहते हों!

परन्तु यह विचार ठीक प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि ब्राह्मणों ने और भी कई ग्रन्थ बनाये हैं, जैसे श्रौतसूत्र आदि। तो इस युक्ति के अनुसार उन ग्रन्थों का नाम भी ब्राह्मण क्यों न पड़ा? कह सकते हैं कि नामकरण हमारे आधीन नहीं, जैसा लोक में प्रसिद्ध होगया, होगया। इसमें हम क्या कर सकते हैं। अच्छा, यही सही कि नामकरण हमारे आधीन नहीं है और इसीलिये श्रौतसूत्र आदि जो कि ब्राह्मणों के ही बनाये ग्रन्थ हैं उनका नाम ब्राह्मण न पड़ा। परन्तु इस युक्ति के अनुसार इतना तो होना ही चाहिये कि वर्त्तमान समय में जिन ग्रन्थों को ब्राह्मण कहते हैं वे सब तो ब्राह्मणों के बनाये हुए हों। ब्राह्मणग्रन्थों में एक ब्राह्मण है—"ऐतरेय ब्राह्मण" जो कि ऋग्वेद का ब्राह्मण है। मेरे ख्याल में यह ब्राह्मणग्रन्थ किसी ब्राह्मण द्वारा नहीं बनाया गया। गुण कर्म से चाहे वह ब्राह्मण हो परन्तु जन्म की दृष्टि से वह ब्राह्मण न था। ऐतरेय ब्राह्मण के बनाने वाले का पूरा नाम था—ऐतरेय महीदास।

इस नाम में महीदास उनका अपना नाम था और ऐतरेय गोत्र का (ताद्धित) नाम। मनु आदि धर्मशास्त्रकारों के अनुसार दासान्त नाम शूद्रों के होने चाहियें। यद्यपि आजकल प्रीतमदास, शामदास, रामदास आदि दासान्त नाम क्षत्रियों और वैश्यों के भी होते हैं। परन्तु यही परिपाटी उस समय में भी विद्यमान होगी जब कि लोग वैदिक आज्ञाओं के अनुकूल चलना अपना सौभाग्य समझते थे—मानने को जी नहीं चाहता। इसलिये मेरा ख्याल है कि महीदास यह नाम इस बात को सूचित कर रहा है कि ऐतरेय ब्राह्मण का बनाने वाला शायद शूद्र जाति में पैदा हुआ हो। इसी प्रकार इसके गोत्र नाम ऐत-रेय पर भी विचार करना चाहिये।

छान्दोग्य उपनिषत् ३।१६।७॥ में "महीदासः ऐतरेयः" यह नाम पढ़ा गया है। उस पर शंकराचार्य भाष्य करते हुए लिखते हैं कि "महीदासो नामतः, इतराया अपत्यमैतरेयः"।

इस लेख से शंकराचार्यजी ने यह सूचित किया है कि महीदास तो इसका निज नाम था और इतरा चूँकि इसकी माता थी इसलिये इतरा के पुत्र होने के कारण इसका नाम ऐतरेय पड़ा। मेरा विचार है कि इसकी माता को इतरा शब्द से पुकारने में शायद

यह कारण हो कि यह नीच जाति की थी। संस्कृत साहित्य में इतर शब्द नीच के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इतर शब्द का एक और अर्थ भी है। वह है "भिन्न" अर्थात् दूसरा या अलग। इस अर्थ में भी महीदास की माता का इतरा नाम चरितार्थ हो सकता है। क्योंकि नीच, द्विजातियों से इतर अर्थात् भिन्न हुआ ही करते हैं।

इस प्रकार ऐतरेय और महीदास इन दोनों ही शब्दों से कुछ यह प्रतीत सा होता है कि सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण का बनाने वाला ऐतरेय महीदास शूद्र जाति का हो[1]।

इस प्रकार जब हमने देख लिया कि ऐतरेय ब्राह्मण किसी ब्राह्मण का बनाया हुआ नहीं, तब ब्राह्मण ग्रन्थों के ब्राह्मण नाम में यह युक्ति देना कि इनका ब्राह्मण नाम इसलिये है चूँकि इनके बनाने वाले ब्राह्मण जाति के थे—ठीक प्रतीत नहीं होता।

इसलिये इनके ब्राह्मणग्रन्थ कहलाने में फिर क्या कारण है ?—यह प्रश्न पूर्ववत् ही बना रहा।

मेरे ख्याल में इसका उत्तर निम्नलिखित है:—

ब्राह्मण ग्रन्थों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि ये ग्रन्थ वेदों की व्याख्याएं हैं। इन ग्रन्थों का वेदों के साथ सीधा सम्बन्ध है। वेद का नाम ब्रह्मन् भी है—यह वेद के स्वाध्याय करने वाले जानते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ चूँकि ब्रह्मन् अर्थात् वेद की व्याख्या करते हैं इसलिये ब्रह्मन् अर्थात् वेद की व्याख्यारूप होने से इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण पड़ा होगा—यह मेरा ख्याल है। इसलिये ब्राह्मण का अर्थ हुआ ब्रह्मन् अर्थात् वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ।

चतुर्वर्णों में एक ब्राह्मण वर्ण भी है। उनका नाम भी ब्राह्मण शायद इसीलिये पड़ा हो चूँकि ब्रह्मन् अर्थात् वेद का स्वाध्याय करना उनके कर्तव्यों में मुख्य कर्त्तव्य समझा गया हो[2]।

ब्राह्मण ग्रन्थ कितने हैं

ब्राह्मण ग्रन्थों के नामकरण पर विचार करने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि "ब्राह्मणग्रन्थ" इस नाम के साहित्य में किन २ ग्रन्थों का समावेश है। संक्षेप से इनका वर्णन निम्नलिखित है:—

(१) ऋग्वेद। ऋग्वेद की शाखाएं २१ हैं। इन २१ शाखाओं को हम दो विभागों में बांट सकते हैं। एक विभाग का नाम है शाकल और दूसरे का नाम है कौषीतक या शांख्यायन। शाकल विभाग में ५ शाखाओं का समावेश होता है और कौषीतक या शांख्यायन विभाग में १६ शाखाओं का। इस प्रकार ५ और १६ मिलकर २१ शाखाएं हो जाती हैं।

इस शाकल-विभाग का (जिसमें कि ५ शाखाएं सम्मिलित हैं) एक ब्राह्मण है। वह है "ऐतरेय ब्राह्मण" जिसका कि बनाने वाला यही ऐतरेय महीदास है।

इसी ब्राह्मण का दूसरा नाम है "बह्वृच् ब्राह्मण"। ऋग्वेद के कौषीतक या शांख्यायन-विभाग का भी (जिसमें कि १६ शाखाएं सम्मिलित हैं) एक ब्राह्मण

---

(१) शूद्र जाति से उत्पन्न होने पर भी सम्भवतः पीछे गुण कर्मों के कारण इसे ब्राह्मण पदवी मिल गई हो और इसके बनाये ब्राह्मण ग्रन्थ का भी ब्राह्मण नाम पड़ गया हो।

(२) ब्रह्मा जो कि ऋत्विजों में से एक ऋत्विक् है उसका नाम ब्रह्मा होने में भी मुख्यतया यही कारण प्रतीत होता है। क्योंकि चार वेदों का ज्ञाता होना उसके लिये आवश्यक है।

है। वह है "शांख्यायन ब्राह्मण"। इस ब्राह्मण का दूसरा नाम "कौषीतक ब्राह्मण" भी है। इस प्रकार ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हुए।

(२) यजुर्वेद। यजुर्वेद की शाखाओं के मुख्य दो विभाग हैं। एक शुक्ल और दूसरा कृष्ण[१]। कृष्ण यजुर्वेद को तैत्तरीय[१] भी कहते हैं। यजुर्वेद की मैत्रायणी तथा काठक संहिताएं भी उपलब्ध हैं। शुक्ल[२] यजुर्वेद का ब्राह्मण है शतपथ ब्राह्मण। इस ब्राह्मण का ही दूसरा नाम है वाजसनेय ब्राह्मण।

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा का भी एक ब्राह्मण प्रकाशित हुआ है जिसका नाम है काण्व-ब्राह्मण। यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का ब्राह्मण है तैत्तिरीय ब्राह्मण।

(३) सामवेद। सामवेद की तीन शाखा इस समय मिलती हैं। जैमिनि, कौथुमी और राणायनी। इन तीनों शाखाओं का एक ही ब्राह्मण है। उसके दो नाम हैं। एक छान्दोग्य ब्राह्मण और दूसरा ताण्ड्य ब्राह्मण। छान्दोग्य शब्द छन्दोग शब्द से बना है। छन्दोग का अर्थ है छन्दों के गाने वाले अर्थात् सामवेदी। इसलिये छान्दोग्य ब्राह्मण का अर्थ हुआ वह ब्राह्मण जो कि छन्दोगों अर्थात छन्दों के गाने वाले अर्थात् सामवेदियों का हो। इसका दूसरा नाम अर्थात् ताण्ड्य इसलिये है चूँकि इसके बनाने वाले का नाम ताण्ड्य था और यह ताण्ड्य तण्डि का पुत्र था चूँकि यह ब्राह्मण ताण्ड्य का बनाया हुआ है इस लिये इस ब्राह्मण का नाम हुआ ताण्ड्य।

इसी छान्दोग्य या ताण्ड्य ब्राह्मण के भिन्न २ अध्यायों के भिन्न २ नाम भी हैं। यथा:—

१—२ अध्याय = मन्त्र ब्राह्मण। इनका उपयोग गृह्यकर्म अर्थात् संस्कारों में होता है।

२५ अध्यायों तक = प्रौढ़ ब्राह्मण। इसे पंचविंश ब्राह्मण भी कहते हैं।

२६–३०अध्याय = अद्भुत ब्राह्मण या षड्विंश ब्राह्मण

३१–४० „ = छान्दोग्य उपनिषत्।

इनके अतिरिक्त ५ ब्राह्मण और प्रसिद्ध हैं। यथा आर्षेय ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण और संहितोपनिषद् ब्राह्मण। कई इन्हें "अनुब्राह्मण" भी कहते हैं। यदि यह बात ठीक है कि ये ही "अनुब्राह्मण" हैं, तब तो ये ग्रन्थ भी अति प्राचीन प्रतीत होते हैं। क्योंकि अष्टाध्यायी में एक सूत्र है "अनुब्राह्मणादीनिः" ४। २। ६२॥ इसमें अनुब्राह्मण यह नाम आया है और इस सूत्र के अनुसार अनुब्राह्मणों के पढ़ने वाले को अनुब्राह्मणी कहा गया है। इस सूत्र पर भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं कि "ब्राह्मण सदृशो ग्रन्थः अनुब्राह्मणं, तदधीते अनुब्राह्मणी"। इसका अर्थ यह है कि अनुब्राह्मण

(१) वैशम्पायन के कई शिष्य थे। उन्हें वैशम्पायन ने यजुर्वेद पढ़ाया, इन शिष्यों में एक शिष्य याज्ञवल्क्य भी था। वैशम्पायन कारणवश याज्ञवल्क्य पर नाराज हो गये और कहा कि मेरी विद्या वापिस करो। याज्ञवल्क्य ने उल्टी करदी और पढ़े हुए यजुर्वेद को इस उल्टी में उगल दिया। वैशम्पायन के अन्य शिष्यों को आज्ञा हुई कि तुम इसका ग्रहण करो। वे शिष्य तित्तिरी बनकर उसे खा गये। तब से इस वेद को कृष्ण कहने लगे चूँकि यह उलटी की शक्ल में प्राप्त हुआ था और तैत्तिरीय भी कहने लगे चूँकि शिष्यों ने तित्तिरी बनकर इसका ग्रहण किया था।

(२) महर्षि दयानन्द ने इसे ही असली यजुर्वेद कहा है।

ग्रन्थ मुख्यरूप से तो ब्राह्मण नहीं हैं अपितु ये गौण-रूप से ब्राह्मण हैं। क्योंकि शैली और भाषा में ये ग्रन्थ भी ब्राह्मण ग्रन्थों से मिलते जुलते से हैं। अनु-ब्राह्मण ग्रन्थों के पढ़ने वाले को अनुब्राह्मणी कहते हैं।

सामवेद का एक और ब्राह्मण भी प्रकाशित हो चुका है जिसे तलवकार या जैमिनीय ब्राह्मण कहते हैं।

(४) अथर्ववेद। अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण उपलब्ध हुआ है। वह है "गोपथ" ब्राह्मण[1]।

इस प्रकार वर्त्तमान में उपलब्ध ब्राह्मण निम्न लिखित हुए:—

(क) ऐतरेय या बहृच्, कौषीतकी या शांख्या-यन। शतपथ, काण्व और तैत्तिरीय। छान्दोग्य या ताण्ड्य तथा गोपथ।

(ख) प्रौढ़ ब्राह्मण, अद्भुत या षड्विंश ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण—ये छान्दोग्य या ताण्ड्य ब्राह्मण के ही विशेष २ हिस्से हैं। तथा तलवकार या जैमिनीय ब्राह्मण।

(ग) और सामवेद के शेष छोटे २ पांच ब्राह्मण सम्भवतः अनुब्राह्मण हैं।

शतपथ ब्राह्मण

इस लेख में मैंने इन सब ब्राह्मणों पर विचार नहीं करना। यह लेख केवल शतपथ[2] ब्राह्मण पर ही आश्रित होगा।

(१) अथर्ववेद के सम्भवतः अन्य ब्राह्मण भी हों, जो कि वर्त्तमान में नहीं मिलते। क्योंकि प्रश्नोपनिषत् अथर्ववेद का है और गोपथ ब्राह्मण में यह उपनिषद् मिलता नहीं।

(२) शतपथ नाम = इस ग्रन्थ के १०० अध्याय हैं इसलिये इसे शतपथ (अर्थात् १०० मार्गों वाला ग्रन्थ) कहते हैं।

इसका काल

शतपथ ब्राह्मण का निर्माण काल क्या है ? इसका इस लेख में पूरा निर्णय कर सकना मुश्किल है। इस लेख में मैं केवल इतना लिखना ही पर्याप्त समझता हूँ कि यह शतपथ ब्राह्मण पाणिनि मुनि को अवश्य ज्ञात था। इसलिये अष्टाध्यायी के बनने से पूर्व शतपथ की सत्ता अवश्य थी।

अष्टाध्यायी का एक सूत्र है "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु" ४।३।१०५॥ इस पर भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है कि "तृतीयान्तात्प्रोक्तार्थे णिनिः स्यात्, यत्प्रोक्तं पुराणप्रोक्ता श्चेद्ब्राह्मणकल्पास्ते भवन्ति। पुराणेन चिर-न्तनेन मुनिना प्रोक्ताः।

भल्लु–भाल्लविनः। शाट्यायन–शाट्यायनिनः।.... .... ।पुराणेति किम्–याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि।

इसका अभिप्राय यह है कि पुराण अर्थात् प्राचीन मुनि द्वारा प्रोक्त यदि कोई ब्राह्मण हो तो णिनि प्रत्यय हो। इस पुराणप्रोक्त के उदाहरण के रूप में भट्टोजि-दीक्षित ने भाल्लवी और शाट्यायनी ब्राह्मणों के नाम दिये हैं। और इसके प्रत्युदाहरण के रूप में उसने याज्ञवल्क्य ब्राह्मण का नाम लिया है, जिसे कि शत-पथ ब्राह्मण कहते हैं। इससे कई यह परिणाम निका-लते हैं कि शतपथ ब्राह्मण प्राचीन नहीं अपितु नवीन है। परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि शतपथ ब्राह्मण नवीन तो है परन्तु किस की दृष्टि में ? हमारी या पाणिनि की ? पाणिनि ने सूत्र में पुराण शब्द रखा। इसलिये कि प्राचीन मुनि द्वारा प्रोक्त जो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं उनके कहने में णिनि प्रत्यय हो और नवीन मुनि द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण ग्रन्थ के कहने में णिनि प्रत्यय न हो। इस पुराण शब्द के रखने से यह स्पष्ट प्रतीत

होता है कि पाणिनि के सन्मुख दो प्रकार के ब्राह्मण थे। एक तो वे जिन्हें कि वह पुराण अर्थात् अति प्राचीन मानता था और दूसरे वे जिन्हें कि वह अपेक्षाकृत नवीन मानता था। इस अपेक्षाकृत नवीन के उदाहरण में भट्टोजिदीक्षित ने याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि द्वारा शतपथ ब्राह्मण का नाम लिया है। इस लिये यह मानना पड़ेगा कि पाणिनि से पूर्व यह शतपथ ब्राह्मण अवश्य था पाणिनि मुनि भाल्लवी और शाट्यायनी ब्राह्मणों की अपेक्षा शतपथ ब्राह्मण को चाहे नवीन मानते थे, इससे शतपथ ब्राह्मण का पाणिनि से पूर्व वर्त्तमान होना तो अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। तथा इसी सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन मुनि निम्नलिखित वार्तिक लिखते हैं। यथा:—

"पुराणप्रोक्तेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्"।

इसका अभिप्राय यह है कि सूत्र में पुराण शब्द पढ़ा है। याज्ञवल्क्य का ब्राह्मण अर्थात् शतपथ ब्राह्मण भी प्राचीन है अतः भल्लु आदि शब्दों की न्याईं याज्ञवल्क्य से भी णिनि प्राप्त हो जायगा। चूँकि इन दोनों का काल एक सा ही है। अतः उस सूत्र में याज्ञवल्क्य का निषेध करना चाहिये। वार्त्तिककार के इस लेख से यह भाव प्रतीत होता है कि पाणिनि के पुराण शब्द में याज्ञवल्क्य भी सम्मिलित हो जाता है क्योंकि यह भी प्राचीन मुनि हैं, इसलिये सूत्र में याज्ञवल्क्य का विशेषरूप से निषेध होना चाहिये।

वार्त्तिककार के इस लेख से यही प्रतीत होता है कि वह याज्ञवल्क्य को या उसके बनाये शतपथ ब्राह्मण को पाणिनि मुनि की अपेक्षा और अधिक प्राचीन मानता था। अतः शतपथ ब्राह्मण का ज्ञान पाणिनि मुनि को था—यह बात निर्विवाद है[1]।

(क्रमशः)

(१) वर्त्तमान समय की खोजों ने यह सिद्ध किया है कि यह शतपथ ब्राह्मण ईसा से ३००० वर्षों से लेकर २५०० वर्षों तक पूर्व काल का है। स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक द्वारा रचित पुस्तक "The Orion" इस सम्बन्ध में देखनी चाहिये।

परमेश्वर के गुण

[ले०—श्री पं० धर्मदेवजी, वेदवाचस्पति]

हम यहां यह मानकर चले हैं कि इस विनश्वर जगत् का कोई चेतन कर्त्ता है, जो इस संसार को उत्पन्न करता, धारण करता और नष्ट करता है। परन्तु वह कैसा है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसका गुण कर्म स्वभाव क्या है ? इस प्रश्न पर हमें इस समय विचार करना है। कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह दिखाया जा सकता है कि परमात्मा इस संसार का उत्पादक है, वह इस जगत् का आदि कर्त्ता है। यदि हम यह स्वीकार करलें कि परमात्मा सृष्टि का आदि कारण, कर्त्ता है तो वह स्वयं-सत्ताक होना चाहिये। उसकी सत्ता के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये। क्योंकि यदि उसकी सत्ता

के लिये भी किसी अन्य की आवश्यकता होगी, तो परमात्मा सृष्टि का आदि कारण, कर्त्ता न होगा परन्तु वह वस्तु आदि कारण होगी जो परमात्मा का कारण है। क्योंकि परमात्मा ही सृष्टि का आदि कारण है अतः वह स्वयं-सत्ताक होना चाहिये। इसलिये वेद में स्थान २ पर उसे 'स्वयम्भू' कहा गया है।

अथर्ववेद १०। ८। ४४ "अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः........" इत्यादि मन्त्र में परमात्मा को "स्वयम्भूः" 'स्वयं-सत्ताक' कहा गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद ४०। ८ "स पर्यगात्....... परिभूः स्वयम्भूः" इत्यादि में तथा यजुर्वेद २३। ६३ "सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥" में और इसी प्रकार "त्वं हि मन्यो.... स्वयम्भूः। ऋ० १०। ८३। ४॥ में भी उसे स्वयम्भू कहा गया है।

यदि परमात्मा ही सृष्टि का आदि कर्त्ता और स्वयं सत्ताक है तो वही सारे संसार का पति होना चाहिये। उसी के नियमों के अनुसार यह संसार चलना चाहिये। क्योंकि उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं और यह संसार उसके आश्रित है अतएव अथर्व० २०। १२१। १ में उसे "ईशानमस्य जगतः" कहा है। और यदि वह संसारोत्पादक परमेश्वर ही इस संसार का अधिपति है तो वह पूर्ण (Perfect) होना चाहिये क्योंकि यदि वह पूर्ण नहीं, तो वह इस संसार के अविचल, स्थिर, शाश्वत नियमों का निर्माता नहीं हो सकता। परन्तु वह इस जगत् का उत्पादक तथा स्वामी भी है अतः वह पूर्ण होना चाहिये। अतएव अथर्व० १०। ८। ४४। में परमात्मा के गुण वर्णन करते हुए उसे "न कुतश्चनोनः" कहा है। अर्थात् परमेश्वर में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। वह परिपूर्ण है।

परन्तु यदि वह पूर्ण है तो वह एक होना चाहिये क्योंकि दो या दो से अधिक नियन्ताओं की वहां आवश्यकता होती है, जहां एक से काम न हो सके, जहाँ अकेला अपूर्ण हो। परन्तु वह तो पूर्ण है इसलिये एक ही होना चाहिये। अतएव उसे ऋग्वेद १०। १२१। १ में 'पतिरेक आसीत्' तथा अथर्व० २। २। १-२ में 'एक एव भुवनस्य यस्पतिः' और अथर्व० ४। २। १ 'एको राजा जगतो बभूव.......' इत्यादि मन्त्रों में एक ही परमात्मा बताया गया है। अथर्व० १३। ४। १६-२० में बड़े जोरदार शब्दों में परमात्मा की अनेकता का खण्डन किया है और अन्त में 'स एष एक एक वृदेक एव' कहकर परमात्मा की एकता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार के परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करने वाले शतशः मन्त्र वेदों में मिलते हैं उन मन्त्रों का उल्लेख करने की यहां विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

इसके अतिरिक्त परमात्मा जड़-भिन्न (Non-matter) अर्थात् चेतन स्वरूप (Spiritual) होना चाहिये। क्योंकि यदि वह पदार्थ (Matter) के कुछ अवयवों के संयोग से बना हुआ है तो उसका बनाने वाला उसके अतिरिक्त कोई और होना चाहिये, परन्तु ऐसा होने से वह स्वयम्भू न होगा। अतएव उसे प्रकृति-भिन्न (Nonmatter) मानना चाहिये; जैसा कि यजुर्वेद ३२। ३ में कहा है—

"न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः"।

अर्थात् जिस परमेश्वर का नाम ही महान् यशस्वी है। उसका कोई रूप वा आकार नहीं। इसी प्रकार

यजुर्वेद ४० । ८ में परमात्मा को "अकायमव्रणमस्नाविरं…" कहा गया है। अर्थात् उस परमेश्वर का कोई शरीर नहीं। वह व्रण तथा नस-नाड़ियों से रहित है।

इन गुणों के सिवाय परमात्मा में अविकृति भी माननी चाहिये। वह परिवर्त्तनशील नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह पूर्ण है। परिवर्त्तन में दो कार्य हो सकते हैं।

(क) वस्तु का अपने पूर्वरूप से बड़ा होना।

(ख) अथवा वस्तु का अपने पूर्वरूप से छोटा होना।

इस प्रकार यदि परिवर्त्तन होने से परमात्मा में कुछ घटता है तो वह अब अपूर्ण हो जायगा और यदि उसमें कुछ बढ़ती होती है तो उसे पहिले अपूर्ण मानना पड़ेगा। इसलिये परमात्मा को पूर्ण मानते हुए साथ ही साथ अपरिवर्त्तनशील भी मानना चाहिये। अतएव उसे 'अजर' (न जीर्ण होने वाला) तथा 'युवा' कहा गया है। अथर्व० १० । ८ । ४४ में परमात्मा का "अजुर्यं युवानं" विशेषण है। इसी प्रकार अथर्व० ६ । १ । २ का 'युवानं' और अथर्व० ५ । १ । ४ का 'अजुर्यं' शब्द परमात्मा की अपरिवर्त्तनशीलता का परिचायक है।

परमात्मा सीमारहित होना चाहिये क्योंकि सीमित होने का तात्पर्य किसी दूसरी वस्तु से प्रतिबद्ध होना अर्थात् उसके स्थान से अलग होकर अपनी स्थिति रखना है। परन्तु यदि परमात्मा सीमित है तो वह किस से सीमित है ? यदि परमात्मा को सीमित करने वाली वस्तु Spiritual है तो परमात्मा एक न रहेगा। और क्योंकि परमात्मा एक ही है अतः वह प्रतिबाधक वस्तु कम से कम Spiritual नहीं हो सकती। और यदि वह सीमित करने वाली वस्तु प्राकृतिक (Material) है तो वह सावयव होगी। उन अवयवों को मिलाने वाला उससे अतिरिक्त कोई और होना चाहिये। मिलाने वाला अपनी निकटतम सत्ता की अपेक्षा करता है, इसलिये उस आदि कर्त्ता की वहां भी सत्ता होनी चाहिये जहां वह वस्तु है। अर्थात् वह दैशिक सीमारहित या सर्वव्यापक होना चाहिये। अतएव वेदों में स्थान २ पर उसे सर्वव्यापक कहा गया है। अथर्व ४ । २३ । ४ में उसे 'विभु' और अथर्व० ७ । २१ । १ में 'एको विभुः' कहा है। इसी प्रकार 'ततो वितिष्ठे भुवनानि विश्वा' ॥ अथर्व० ४।३०।७ तथा 'स पर्यगात् …परिभूः…' ॥ यजु० ४०।८॥ आदि मन्त्र भी उसकी सर्वव्यापकता का वर्णन कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त निम्न मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट तथा प्रभावमय शब्दों में परमात्मा की विभुता का वर्णन कर रहे हैं।

> तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥यजु०४०।५॥
> प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ॥
> ऋ० १० । १२१ । १० ॥

और

> उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौ बृंहती दूरे अन्ता ।
> उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥
> अथर्व० ४ । १६ । ३ ॥

अर्थः—वह परमात्मा गति भी करता है और नहीं भी करता। वह सब से दूर है और सब के निकट भी। वह सब के अन्दर विद्यमान है तथा वही सब के बाहर भी विद्यमान है ॥ १ ॥

हे परमेश्वर ! आप के विना कोई भी इस सारे संसार में व्याप्त नहीं हो रहा ॥ २ ॥

यह भूमि तथा दूर तक फैला हुआ वह द्युलोक और दोनों समुद्र वरुण के आधिपत्य में हैं। वह परमात्मा जल की छोटी से छोटी बूंद में भी रम रहा है ॥ ३ ॥

इतना ही नहीं कि वह केवल इन तीनों लोकों में व्याप्त है। वह तो 'परो दिवः पर एना पृथिव्याः' अथर्व० ४ । ३० । ८ ॥ भी कहा गया है। अर्थात् वह परमेश्वर इस पृथिवीलोक तथा द्युलोक से परे भी है।

इसी प्रकार अथर्व० १० । ७ । ८॥ में भी प्रश्न रूप से इसी भाव को दर्शाया है। मन्त्र इस प्रकार है:—

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद्बभूव ॥
अथर्व० १० । ७ । ८ ॥

अर्थ:—प्रजापति परमात्मा ने जो ये उत्तम, मध्यम तथा अधम द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पृथिवीलोक रचे हैं, उनमें वह सर्वाधार (स्कम्भ) परमात्मा कितने अंश से प्रविष्ट हुआ और कितना अंश ऐसा था जो इन तीनों लोकों में व्याप्त न था।

इसी प्रकार ऋग्वेद १०।९०।४ मन्त्र परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन कर रहा है। और उपर्युक्त मन्त्र का उत्तर प्रतीत होता है। उसमें लिखा है कि "परमात्मा का त्रिचतुर्थांश ($\frac{3}{4}$) इन तीनों लोकों से परे है और इस त्रिभुवन में उसका एक चतुर्थांश ($\frac{1}{4}$) है। उसी एक चतुर्थांश में वह इन जड़ चेतन वस्तुओं में व्याप्त है। मन्त्र इस प्रकार है:—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥
ऋ० १० । ९० । ४ ॥

इस प्रकार परमात्मा को सर्वव्यापक माना गया है। जिस तरह परमात्मा देश-सीमित नहीं, इसी प्रकार वह काल-सीमित भी न होना चाहिये। क्योंकि यदि किसी काल में उसकी उत्पत्ति मानी जावे तो उसका कोई कारण मानना पड़ेगा, जिससे उसे स्वयम्भू मानने में विरोध आता है। अतएव उसकी उत्पत्ति नहीं माननी चाहिये। यदि उसकी उत्पत्ति नहीं हुई तो उसका अभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो स्वयम्भू है उसका रहना आवश्यक है, वह न रहे ऐसा नहीं हो सकता। सद्वस्तु का अभाव नहीं हो सकता। अतः परमात्मा काल-सीमित नहीं होना चाहिये। वह अनादि तथा अनन्त होना चाहिये। इसलिये अथर्व० १०।७।३१ में तथा अथर्व० १३ । १ । ६ में—"यदजः प्रथमं सम्बभूव" तथा "तत्र शिश्रिये अज एक पादोऽदृंहद् द्यावा पृथिवी बलेन"—परमात्मा को 'अज' या 'अजन्मा कहा गया है। इसी प्रकार अथर्व० १० । ८ । ४४ 'अमृत····अजरं ····' तथा अथर्व० १६।४।२ 'अमृतो मर्त्येष्वा ····' मन्त्र में 'अमर' या 'मृत्युरहित' कहा गया है।

इन सब गुणों के अतिरिक्त परमात्मा में ज्ञान होना चाहिये। विना ज्ञानवान् (Intelligent) हुए उसमें कर्तृत्व की कल्पना नहीं हो सकती; विशेषतः सृष्टिविषयक कर्तृत्व की कल्पना। सृष्टि में प्रत्येक घटना या कार्य नियमों का परिणाममात्र है। अतः उनका नियामक भी ज्ञानवान् होना चाहिये। इसी कारण यजु० ४० । ८ में परमात्मा को 'कवि मनीषी····' कह कर पुकारा गया है। इसी प्रकार अथर्व० १० । ८ । ४४ में 'धीरः' विशेषण और अथर्व० २० । ३४ । १ में 'मनस्वान्····' तथा ऋग्वेद ७ । ८७ । ५ में वरुण का

'गृत्स' विशेषण परमात्मा के ज्ञानवान् होने में प्रमाण स्वरूप हैं।

क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक, त्रिकालस्थित और ज्ञानवान् है अतः वह सर्वज्ञ होना चाहिये। सब देश तथा काल की वस्तुओं के ज्ञान से युक्त होने का नाम ही सर्वज्ञ है। अतएव निम्न मन्त्रो में परमात्मा को सर्वद्रष्टा या सर्वज्ञ कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है:—

धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ अथर्व० २ । १ । ३॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ॥

अथर्व० १६ । ३४ । ४ ॥

अर्थः—वह (परमात्मा) सब भुवनों को तथा उनके नाम, जन्म और स्थानों को जानता है ॥ १ ॥

जो (परमेश्वर) सारे संसार को व्यष्टि की दृष्टि से तथा समष्टि की दृष्टि से देखता है ॥ २ ॥

इसी प्रकार वरुण सूक्त (अथर्व० ४ कां०, १६ सूक्त) के निम्न मन्त्र 'सर्वज्ञ' परमात्मा का वर्णन कर रहे हैं।

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ॥१॥

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।

द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥२॥

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ॥४॥

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।

संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि ॥ ५ ॥

अर्थः—इन सब पदार्थों का महान् स्वामी सब वस्तुओं को अत्यन्त समीपस्थ की भांति देखता है ॥१॥

जो ठहरता है, जो चलता है, और जो किसी को ठगता है, जो छिपकर फिरता है तथा जो कुटिलता का व्यवहार करता है और दो आदमी बैठकर जो गुप्त मन्त्रणा करते हैं, राजा वरुण (परमात्मा) उन सब को जानता है ॥ २ ॥

जो द्युलोक से भी परे चला जावे वह भी वरुण के पाश से मुक्त नहीं होता—अनन्त दर्शन-शक्ति वाले इसके दूत सब जगह घूमते फिरते रहते हैं। वे इस भूमि से परे भी देखते हैं ॥ ४ ॥

इस द्युलोक तथा पृथिवीलोक के बीच में जो कुछ विद्यमान है, वरुण वह सब जानता है। वह सब मनुष्यो के सब निमेषों को भी जानता है और जिस प्रकार जुआरी पासों को डालता है उसी तरह सब पदार्थों को व्यवस्थित करता है ॥ ५ ॥

ये सब मन्त्र बड़ी सुन्दरता के साथ परमात्मा का वर्णन कर रहे हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त परमात्मा धर्मात्मा (Moral) भी होना चाहिये। क्योंकि वह अन्तरात्मा द्वारा प्रेरणा करने वाला है। यदि वह स्वयं धार्मिक नही तो औरों को वह किस तरह उन्नत अर्थात् धार्मिक बना सकता है। और क्योंकि वह पूर्ण है इस लिये भी धार्मिक होना चाहिये। जो धार्मिक गुण मनुष्यों में अपूर्णावस्था में हैं वे उसमें अन्यूनावस्था में होने चाहिये, क्योंकि धार्मिक गुण पूर्णता के पूरक हैं और पाप पूर्णता के अभावस्वरूप हैं। इसलिये परमात्मा धार्मिक होना चाहिये। उसमें किसी प्रकार का पाप किसी भी रूप में न होना चाहिये। इसलिये यजु० ४० । ८ में परमात्मा को 'शुद्धमपापविद्धम्' कहना बिलकुल उचित जान पड़ता है।

यदि परमात्मा धार्मिक है तो उसे दयालु भी होना चाहिये, क्योंकि दयालुता धर्म का एक अंश है और

क्रूरता पाप है। इसलिये वेद में उसे स्थान २ पर 'सुशेवः[१]' 'शंकरः[२]' तथा 'सूपायनः[३]' कहा गया है। ऋग्वेद ७। ८७। ७ यो मृडयाति चक्रुषे चिदाग.' मन्त्र में भी परमात्मा को दयालु बताया गया है और क्योंकि परमात्मा धर्मात्मा तथा दयालु है अतः उसे न्यायकारी भी होना चाहिये। विना न्यायानुकूल व्यवहार करने के वह दयालु नहीं हो सकता। धार्मिक दयालुता ही का नाम न्याय है। न्याय करने का तात्पर्य कर्त्ता को उसके पाप पुण्य के अनुसार फल देना है। इसलिये न्यायकारिता के विचार के साथ २ कर्मफलदातृत्व का विचार भी स्वयं सम्बद्ध है। इसीलिये निम्न मन्त्रों में परमात्मा को न्यायकारी तथा कर्मफलदाता कहा गया प्रतीत होता है। ऋग्वेद ७। १०४। १२ में लिखा है:—

तयोर्यत्सत्यं यतरदजीयस्तदित्सोमो अवति हन्त्यासत् ॥

इसी प्रकार निम्न दो मन्त्र भी जिनका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है, इसी बात को दर्शा रहे हैं:—

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्त्यासत्। ऋ० ७। १०४। १३॥

तथा—

छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्य वाद्यति तं सृजन्तु ..॥
अथर्व० ४। १६। ६ ॥ इत्यादि।

साथ ही यदि परमात्मा जगत् का रचयिता, अधिपति, पूर्ण तथा न्यायकारी और कर्मफलदाता है तो वह सर्वशक्तिमान् भी होना चाहिये। क्योंकि विना सर्वशक्ति सम्पन्न हुए वह उपर्युक्त गुणों को कायम

१—अथर्व० ६। १। २

२—यजु० १६। ४१

३—ऋग्वेद १। १। ९

नहीं रख सकता, उसका आधिपत्य सफल नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वशक्तिमान् हो कर परमात्मा नियम-विरुद्ध कार्य भी कर सकता है। क्योंकि वैसा करने से वह धार्मिक तथा न्यायकारी नहीं कहा जा सकता। इसलिये उसमें सर्वशक्तिमत्ता का उसी हद तक उपयोग समझना चाहिये, जिस हद तक रहता हुआ वह धार्मिकता तथा न्यायकारिता के गुणों को कायम रख सके। अतएव साम० १।१।११ में परमेश्वर की स्तुति करके कि 'हे शूर परमेश्वर! दूध भरी गौओं की तरह हम तेरी स्तुति करते हैं[१]। आगे लिखा है:—

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।

अर्थात् हे परमेश्वर! आपके समान (बल आदि में) न कोई दिव्य या पार्थिव पदार्थ है और न होगा। एवमेव अन्य बहुत से ऐसे मन्त्र हैं जिनमें परमात्मा को बलस्वरूप या अत्यन्त बलशाली कहा गया है। परन्तु ऐसा सर्वशक्तिमान् नहीं कहा जिसमें उच्छृंखलता है। वेद में उसे 'सहः',[२] 'सहसा प्रतिष्ठितः',[३] 'सहस्रबाहुः',[४] 'अच्युतच्युत्',[५] 'तुविनृम्णं',[६] 'विश्वकर्मा',[७] 'विश्वतोबाहुः',[८] तथा 'शविष्ठः'[९] आदि कहा

१—अभित्वा शूरनो नुमो ऽदुग्धा इव धेनवः ॥
साम० १। १। ११ ॥

२—अथर्व० १३। ४। ५०, ५१ ॥

३—अथर्व० १९। ५२। २ ॥

४—अथर्व० १९। ६। १ ॥

५—अथर्व० २०। ३५। ९ ॥

६—ऋक् १। ४३। ७ ॥

७—ऋ० १०। ८१। ५-७ ॥

८—ऋ० १०। ८१। ३ ॥

९—ऋ० ८। ६६। १२ ॥

है। इन सब का यही तात्पर्य है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है।

परमात्मा सर्वशक्तिमान् है इसलिये वह सब कुछ कर सकता है ऐसा नहीं समझना चाहिये। क्योंकि यदि वह ऐसा करे तो न्यायकारी नही हो सकता। वेद में तो उसे आनन्दस्वरूप बताया गया है। वह किस प्रकार अपनी शक्तिमत्ता का दुरुपयोग करने वाला हो सकता है। उसे 'सुशेवः'[1] 'शंकरः'[2] तथा 'सूपायनः'[3] कहा है। अर्थात् वह परमात्मा सुखदायक, कल्याणकारी तथा शान्तिदायक है।

इस प्रकार जो इस जगत् का कर्त्ता परमात्मा है वह सृष्टिकर्त्ता होने के अतिरिक्त स्वयम्भू, परिपूर्ण, एक, चेतन, अपरिवर्त्तनशील, सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, ज्ञानवान्, धार्मिक, दयालु, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सर्वशक्तिमान् और आनन्दस्वरूप है।

वर्णाश्रम धर्म

[ले०—श्री पं० चन्द्रकान्तजी, वेदवाचस्पति]

(१)

समता प्रकृति की सुरीली रागिणी है और विषमता बेसुरा राग। मानव-समाज में ज्यों २ विषमता बढ़ती जाती है त्यों २ दुःख, अशांति, कलह और क्रान्ति फूटती जाती हैं। तामस, राजस और सात्त्विक, हर प्रकार की क्रान्तियां विषमता की पुत्रीयां हैं। फिर चाहे वे क्रान्तियां धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में हों। प्राणि-जगत् ही नहीं बल्कि प्रकृति का समस्त इतिहास एक स्वर से इसी बात को पुकार रहा है। पाश्चात्य देशों में न्यूयॉर्क, पेरिस, लण्डन और वाशिङ्गटन जैसे वैभवशाली स्थानों के मजदूर, अनाथ, बेकार और गरीबों के गिरोह के गिरोह उमड़ उमड़ कर सरकारी अदालतों, बैंकों और दफ्तरों पर आज क्यों धावा बोल रहे हैं? रशिया के ज़ार का विरोध रशियन लोगों ने क्यों किया था? पाश्चात्य और पौरस्त्य सब देशों में समय २ पर होने वाले युद्ध और क्रान्तियां किस चीज़ का चिन्ह हैं? लीग ऑफ नेशन्स (राष्ट्र संघ परिषत्) की हज़ार कोशिशों के होने पर भी जापान और चीन का वैमनस्य क्यों बढ़ता जाता है? भारतवर्ष की ३५ करोड़ ग़रीब और निस्सहाय जनता आत्म-बलिदान करने पर क्यों उतारु हुई है? अभी कल की बात है कि भारतवर्ष में अछूतों की समस्या ने भयंकर रूप धारण किया है। शास्त्रों के मर्म को न जानने वाले हज़ारो पण्डित शास्त्रों के नाम पर फ़तवे दे रहे हैं कि उनका 'पतित पावन' भगवान् पतितों को अपने मन्दिर में आने की इजाज़त नहीं देता। महात्मा गान्धी जैसे महान् व्यक्ति के अपने जीवन की बाजी लगाने को तैय्यार होने पर भी हिन्दू जाति अछूत भाइयों को अपनाने को तैय्यार नहीं हुई। भारतवर्ष पहिले ही उपजातियों (Sub-

---

१—अथर्व० ६। १। २॥ २—यजु० १६। ४१॥ ३—ऋ० १। १। ९॥

Castes) के झमेलों में उलझा हुआ है। और इस पर वर्त्तमान राजनैतिक समस्याओं ने हिन्दू और अछूतों के बीच एक गहरी खाई खोद कर भारतवर्ष के इतिहास में अछूतपन के धब्बे को अमिट बना दिया है। क्या ये सब बातें विषमता के भयंकर परिणामों की तरफ़ निर्देश नहीं करती हैं? इन्हीं विषमता के भयंकर परिणामों की बदौलत स्वतन्त्रता की तरफ़ वेग से भागा जाता हुआ भारतवर्ष एकदम खड़ा हो गया है। जिस देश में सामाजिक कुरीतियां भरी पड़ी हों, जिसमें पारस्परिक वैमनस्य और फूट ने जड़ पकड़ ली हो, जिस देश में संगठन का पूर्व अभाव हो वह राजनैतिक स्वतन्त्रता कैसे ले सकता है?

जबतक किसी देश की सामाजिक बुराइयां दूर नहीं होतीं तबतक राजनैतिक स्वतन्त्रता की आशा करना दुराशामात्र है। लेकिन क्या ये सामाजिक कुरीतियाँ और विषमताएं दूर की जा सकती हैं या नहीं? यदि की जा सकती हैं तो उसका सब से उत्तम उपाय भारतवर्ष के पास क्या है? भारत की सभ्यता के पास क्या है? वह इलाज है "वर्णाश्रम धर्म"। प्राचीन ऋषियों ने हर प्रकार की विषमता की बीमारियों के लिये इसको रामबाण औषध समझा है। आज वर्णव्यवस्था का स्वरूप बिगड़ चुका है। उसमें आमूलचूल परिवर्त्तनों की आवश्यकता है। उन परिवर्त्तनों को करने के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था के सच्चे स्वरूप को समझना आवश्यक है। वह सच्चा स्वरूप क्या है?

वर्णाश्रम धर्म

'वर्णाश्रम धर्म' में दो धर्मों का समन्वय है। एक वर्णधर्म का और दूसरा आश्रमधर्म का। संसार के इतिहास में व्यक्तिवाद (Individualism) तथा समष्टिवाद (Socialism) पर बड़ी पुरानी बहस चली आरही है। विशेषकर पश्चिम के देशों में इस विषय को बड़ा जटिल तथा महत्वपूर्ण समझा जाता है। क्या समाजशास्त्र, क्या आचारशास्त्र, क्या राजनीतिशास्त्र—हर एक में इस समस्या को सुलझाने का यत्न किया जाता है। पर अभी तक कोई हल नहीं निकाला गया। यह बात स्पष्ट है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के अतिरिक्त अकेले मनुष्य की कल्पना करना भी कठिन है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति समाज के अन्य प्राणियों की सहायता के विना नहीं कर सकता है। इसलिये जहां मनुष्य की अपनी सत्ता है वहां समाज की सत्ता भी एक आवश्यक शर्त है। समाजशास्त्र के लेखकों ने इस विषय पर बड़ा गहरा विचार किया है। कुछ लोगों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूरा अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी सब प्रकार की शक्तियों का इच्छानुसार उपयोग करके जहां तक हो सके, उनसे लाभ उठावे क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों के संघर्ष से ही मानव-शक्ति का विकास हो सकता है। इन लोगों के सिद्धान्त को "Individualism" (व्यक्तिवाद) कहा जाता है।

दूसरे लोग कहते हैं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रसत्ता ही नहीं है। इसलिये उसको अपने हित के लिये अवसर न मिलना चाहिये। उसका खाना, पीना, हंसना, रोना सब समाज के लिये होना चाहिये। उसकी सब सम्पत्ति समाज की हो, सब काम काज समाज के नाम पर हों, समाज के लिये ही सब आदमी काम करें और समाज की ओर से ही सब का खाने पीने का प्रबन्ध होना चाहिये। यह सिद्धान्त Socialism

(समाजवाद) कहलाता है। साम्यवाद, अराजकवाद, श्रेणीवाद, इसीके अवान्तर भेद हैं। ये दोनों पक्ष अपने रूप में अक्रियात्मक हैं। इसलिये इनका समन्वय करना आवश्यक है। किन्हीं अंशों में व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा भी होनी चाहिये और किन्हीं अंशों में व्यक्ति को समाज के बन्धन में भी रहना चाहिये। जिस संगठन में व्यक्ति के व्यक्तित्व का नाश किया जाता है, वह संगठन खोखला हो जाता है। और जिसमें व्यक्ति के अहंभाव को ही बढ़ाया जाता है, वह संगठन आत्मघात कर लेता है। इसी समाजशास्त्र के सिद्धान्त को ध्यान में रख कर प्राचीन काल में वर्णाश्रम धर्म की नींव डाली गई थी। व्यक्ति की उन्नति की दृष्टि से आश्रमधर्म और समाज की प्रगति की दृष्टि से वर्णधर्म को स्थापित किया गया था। व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए मानव जाति के कल्याण के लिये किस प्रकार अधिक से अधिक उपयुक्त हो सकता है और समष्टि (समाज) अपने आप में संगठित होते हुए व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा विशेषताओं की किस प्रकार से रक्षा कर सकता है—इन समस्याओं का वर्णाश्रम धर्म में पूरा २ हल मिलता है। दुनिया के इतिहास में इस व्यवस्था से बढ़कर कोई भी व्यवस्था मानव कल्याण के लिये नहीं बनी है। हरएक व्यक्ति को अपनी उन्नति किस दिशा में करनी चाहिये? किस दिशा में चल कर अपने आप को समाज के लिये अधिक उपयुक्त बनाना चाहिये? इन प्रश्नों के हल करने के लिये पहिले हमें आश्रमधर्म पर विचार करना चहिये।

आश्रम-धर्म

आश्रम-व्यवस्था का वर्णव्यवस्था के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। वर्णव्यवस्था मनुष्य की प्रवृत्तियों के आधार पर वर्णों के चुनाव पर आश्रित है। मनुष्य की प्रवृत्तियां कैसी हैं? किस विशेष प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति को किसी वर्ण में चुना जा सकता है? इसका निर्णय आश्रमधर्म के आधार पर बड़ी सहूलियत से हो सकता है। जहां यह आश्रमधर्म की पद्धति विद्यमान है, उस समाज में चुनाव सम्बन्धी कोई गड़बड़ नहीं हो सकती है। इसलिये वर्णव्यवस्था के आधार के तौर पर आश्रमधर्म का महत्त्व बहुत अधिक है।

प्राचीन ऋषि यह समझते थे कि जन्म से सब मनुष्य समानरूप से उत्पन्न होते हैं।

> जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
> विद्यया याति विप्रत्वं ब्रह्मवेत्तैव ब्राह्मणः॥

यह साम्यवाद का कितना सुन्दर स्वरूप है? चाहे कोई किसी कुल, वर्ण व जाति में पैदा होवे—वह जन्म से शूद्र के समान है। इसके बाद उन्नति का अवसर सब के लिये एक जैसा है। जो चाहे जिस वर्ण में अपने आप को प्रविष्ट करवा सकता है। जो जिस दिशा में प्रयत्न करेगा उसको वैसा ही फल मिलेगा। हरएक को अपने पुरुषार्थ के आज़माने का पूरा अवसर है। इस उद्देश्य से मनुष्य के जीवन के मुख्य चार विभाग[1] किये गये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। संसार के मरुस्थल में अकेले चलने वाले यात्री के लिये ये चार पड़ाव हैं, विश्राम-स्थान हैं। वह यात्री इनके द्वारा अपने मंजिले मक़सूद तक सहज ही में पहुंच सकता है। वैदिक ऋषियों

१—"चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत।" ऋग्वेद ९। ७०। १॥

ने मनुष्य की आयु की अवधि कम से कम १०० वर्ष की मानी है, "शतायुर्वै पुरुषः"। इसलिये जीवन के ये चार विभाग २५,२५ वर्ष की दृष्टि से किये गये हैं। इनमें सब से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

यह आश्रम सब आश्रमों का आधार है। इसमें जाति के बालक तथा बालिकाएं[1] आचार-सम्पन्न आचार्य की देख रेख में तप और वीर्य की रक्षा करते हुए ज्ञान[2] और शक्ति का उपार्जन करते हैं। इस सीढ़ी पर कदम रखे विना कोई भी व्यक्ति गृहस्थी, वानप्रस्थी या संन्यासी नहीं हो सकता है। बल्कि वेद में तो अन्य तीनों आश्रमियों को भी ब्रह्मचर्य[3] पालन की कड़ी आज्ञा दी गई है। इससे ही इस आश्रम की विशेषता स्पष्ट है। इस आश्रम में रहते हुए बालक और युवक को द्युलोक, पृथिवी आदि प्रत्येक लोक की प्रत्येक विद्या का ज्ञान उपार्जन करना होता है। यहां तक कि उसे गृहस्थ धर्म की शिक्षा का भी पूर्ण[4] परिचय करना होता है। गुरु और गुरुपत्नी की सेवा करता हुआ, दुनिया की सब प्रकार की गंदगी से दूर जंगल में "वेद" (ज्ञानमात्र)—सरस्वती देवी की आराधना करता हुआ जो नवयुवक अपने "शुक्र" की रक्षा करता है, अपने और अपने आचार्य के भरण पोषण के लिये जो अन्य सब देवियों से भिक्षा[5] मांगता हुआ—

> मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
> आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः ॥

इस सदाचार के ऊंचे तत्त्व का अपने जीवन से उपदेश करता है—वह युवक जाति का asset या हीरा क्यों नहीं बन सकता है ? ब्रह्मचर्य आश्रम में साम्यतत्त्व का पूरा २ पालन किया जाता है। राजा और रंक—सब के सब गुरु की आंखों में एक होते हैं। आचार्य उन सबका गर्भस्थ[6] पुत्र के समान पालन करता है। आध्यत्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक पापों की रात्रि से शिष्य को बचाने के लिये आचार्य अग्नि[7] और प्रकाश का काम करता है। वह अपनी समस्त विद्याओं को विना छिपाये शिष्य के सामने रख देता है। और शिष्य प्रकृति माता[8] की गोद में रहता हुआ प्रकृति का पाठ पढ़ता हुआ समस्त ज्ञान को जीवन का अंग बनाया करता है। बहते नदी नाले उसकी पुस्तकें होती हैं (Books in running brooks) और पर्वत के पत्थर उसके लिये सर्मन (उपदेश)

१—ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति ॥
अथर्व० ११। ५। १८ ॥

२—आदौ वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यसि ॥

३—आचार्यो ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्विराजति, विराडिन्द्रो ऽभवद्वशी ॥
अथर्व० ११। ५। १६ ॥

४—अमा घृतं कृणुते, केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ........अथर्व० ११। ५। १५ ॥

५—देखो शतपथ ११। ३। ३। ५। ११। ३। ३। ७ ॥

६—तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ अथर्व० ११। ५। ३ ॥

७—पार० कां० २, कं० २—अग्निराचार्यस्तवासौ। कस्य ब्रह्मचार्यसि भवतः इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि। अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव ॥

८—उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो ऽजायत ।

होते हैं (Sermones in stones)। इस प्रकार यह आश्रम Conservation of energy-शक्तिसंचय का आश्रम है।

इसमें परमार्थ साधन के उद्देश्य से स्वार्थसाधना की जाती है। इस आश्रम में बालक की प्रवृत्तियों के अनुसार उसको भिन्न २ प्रकार की शिक्षा दी जाती है। और निश्चित समय की (कम से कम २५ वर्ष) अवधि समाप्त होने पर आचार्य ब्रह्मचारी को प्रवृत्तियों के अनुसार वर्ण[1] देकर दूसरे आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति देता है। शास्त्रों में इस आश्रम की अवधि[2] कम से कम २५ वर्ष की बताई गई है। २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करने वाले ब्रह्मचारी को "वसु" कहा गया है। इससे आगे ३६ तथा ४८[3] वर्ष तक (कहीं कहीं ४४ वर्ष तक) के ब्रह्मचर्य पालन का भी वर्णन पाया जाता है। तब उन ब्रह्मचारियों को "रुद्र" तथा "आदित्य" के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार वसु, रुद्र तथा आदित्य क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम ब्रह्मचारी माने गये हैं। जो ब्रह्मचारी २५ वर्ष तक विद्याध्ययन में लगा रहा है, वह जिस समय बाहर निकलता है—देश के एक कोने[4] से दूसरे कोने तक घूमता है, उस समय सामान्य गृहस्थी लोग उसमें देव भावों के निचोड़[5] को क्यों न पावेंगे? क्यों न बुद्धिमान् लोग उसके पास अपनी हरप्रकार की शंकायें[6] और शिकायतें रखेंगे? ऐसे देदीप्यमान[7] ज्ञानी ब्रह्मचारी के लिये उत्सुक हुए २ लोग क्यों न पूछेंगे कि आज ब्रह्मचारी कहां हैं? कल कहां थे? ऐसे ब्रह्मचारी को सामने आता देखकर महाराजा लोग भी रास्ता छोड़कर हट जांय[8]—इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

उपरि लिखित विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में जिस युवक ने ज्ञान और वीर्यरूप ब्रह्म का संचय किया है वह जाति और देश की कैसी अमूल्य सम्पत्ति बन जाता है!। यह जीवन के प्रथम सोपान की कथा हुई।

गृहस्थाश्रम

जैसे हर एक पदार्थ में समय २ पर विकार पैदा होते हैं ऐसे ही मनुष्य के शरीर में भी समय २ पर

१—आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति साविश्या सा सत्यासाजरामरा॥
मनु० २। १४८॥

२—षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ मनु० ३। १॥

३—पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रात-स्सवनम्.... इत्यादि। छा० उ० ३ प्रपा०, १६ खं०॥

४—स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ अथर्ववेद ११। ५। ६॥

५—देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥
अथर्व० ११। ५। २३॥

६—ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधिविश्वे समोताः। प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥ अथर्व० ११। ५। २४॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहित मुदरम्॥
अथर्व० ११। ५। २५॥

७—तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपो तिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते॥
अथर्व० ११। ५। २६॥

८—स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च।
मनु० २। १३८॥

शारीरिक और मानसिक विकार पैदा होते हैं। ब्रह्म-चर्य आश्रम में रह कर जो व्यक्ति विद्या और शक्ति का उपार्जन करके ऋषि[1] ऋण उतार चुका है वह पितृ ऋण उतारने को स्वाभाविक इच्छा पैदा होने पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में जिन शक्तियों का सञ्चय किया है अब उनके प्रयोग का समय आया है। जिसने संचय[2] ही न किया हो वह प्रयोग का अधिकारी ही नहीं है (पर कोई संचय ही संचय करता जाय तो भी अनुचित होगा) साधारण मनुष्य ब्रह्मचर्य में 'अति' करने से अनेक मानसिक तथा शारीरिक व्याधियों का शिकार बन जाता है। वैसे तो ब्रह्मचर्य अवस्था में ही युवा पुरुष में दूसरे साथी की प्राप्ति की इच्छा तथा उसके लिये आकर्षण प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु सरस्वती में अव्यभिचारिणी भक्ति होने के कारण उस काल में फंसावट से किसी तरह से बच भी सकता है। लेकिन आयु की वृद्धि के साथ मनुष्य अपने दूसरे साथी की खोज में रहता है, जिस साथी के विना मानो वह आधा रह जाता है। प्रकृति ने हर जगह नर अर्धाङ्ग को, 'मादा' अर्धाङ्ग दिया है। मनुष्य को स्त्री दी गई

१—जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणैः ऋणावा जायते ।
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः ।
एष वै अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वास्ति ॥
तै० ६ । ३ । १० ॥

अथ यदेवानुब्रवीत तेन ऋषिभ्यः ऋणं जायते ।
अथ यदेव प्रजामिच्छते तेन पितृभ्यः ऋणं जायते ॥
शतपथ १ । ७ । २ । १,३,४,५ ॥

२—अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ।

है जो कि उस की अर्धाङ्गिनी[3] है। शास्त्रों ने तो सृष्टि की उत्पत्ति में परमात्मा तक के मानसिक काम[4] का वर्णन किया है, फिर मनुष्य की तो क्या बात ? इस लिये सामान्य मनुष्यों के लिये ब्रह्मचर्य पालन के बाद[5] गृहस्थी होना आवश्यक है। ऐसी भगवान् की भी आज्ञा है—

ममेयमस्तु पोष्या, मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम् ॥
अथर्व० १४ । १ । ५२ ॥

कोई २ दिव्य देव पुरुष या देवी ही ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास को प्राप्त करते हैं और संसार के कल्याण में अपनी शक्ति को लगा देते हैं।

उपनिषद् ने कहा है—

"एकाकी नारमत, आत्मानं द्वेधा व्यभजत, पतिश्च पत्नी चाभवत्।"

इस प्रकार दूसरे आश्रम में प्रविष्ट हुआ मनुष्य अपने समान वर्ण की देवी के साथ रह कर निःस्वार्थभाव से देश और जाति की सेवा करता है। ब्रह्म-

३—अयज्ञो वै एष यो अपत्नीकः ।
अर्धो वै एष आत्मनो यस्य स्त्री ॥
तै० उप० । ३ । ८ । २३, ३ । ३ । ३, ६ । १ । ८ ॥
अर्धो ह वै एष आत्मनो यत् जाया । तस्मात्.....जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते ।........हि तावत् भवति ।
अथ यदा एव जायां विन्दते अथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति, तस्मात् जायां विन्देत् ॥ शत० ५।२।१।१० ॥

४—कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ॥
(नासदीय सूक्त) ऋ० १० । १२९ । ४ ॥

५—चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ मनु० ४।१॥

चर्याश्रम में जहां उसका अपना "स्व" "आत्मा" अपने तक ही सीमित था, जहां पर उसने स्वार्थ को अपना केन्द्र बनाया था वहां इस आश्रम में आकर उसका "स्व[1]" फैलता है। वह अपने सिर पर जान बूझकर पुत्र कलत्र का भार लेता है। पहिले जहां वे परवाही और अनुत्तरदायित्व का जीवन बिता रहा था वहां अब उत्तरदायित्व को रख कर चलता है। वह अपने प्रेम को केवल पत्नी में ही सीमित न रख कर पुत्रों में भी बखेरता है। इसलिये पुत्र उसकी आत्मा[2] है। वह दस[3] पुत्र तक पैदा कर सकता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति त्रिमूर्त्ति का रूप धारण करता है। वह अपने "स्व" को तीन[4] रूपों में बांट देता है। यही मनुष्य का पूर्णरूप[5] है। इस प्रकार स्वार्थ का केन्द्र बदलता है और मनुष्य "परार्थ" की तरफ़ झुकता है। मनुष्य अपने पुत्र के द्वारा अमृत हुआ करता है महान् आनन्द प्राप्त करता है जिन अपने ध्येयों को वह अपनी आयु[6] में पूर्ण नहीं कर सकता है उनको वह पुत्र द्वारा पूर्ण करके अपने आप को अपने जीवन के बाद भी जिलाता है और इस प्रकार मानो अमर[7] बना रहता है। गृहस्थाश्रम में जाने की शास्त्रों ने इस लिये आज्ञा नहीं दी है कि मनुष्य अपनी भोग-वासना को तृप्त करे, बल्कि इसलिये कि मनुष्य का मन इधर उधर अनेक विषयों में फंस कर सर्वथा क्षीण न हो जाय। इसकी अपेक्षा वह एक अपनी मनोनीत देवी में अपने मन का घोंसला[8] (Nest) बनाकर रहे तो उसका जीवन-फूल विकसित हो सकता है। और साथ ही गृहस्थ का यह भी लाभ है कि मनुष्य अपने उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये तथा वृद्धावस्था के लिये सन्तानोत्पादन[9] करें। इसके विपरीत जो लोग पुत्रों-

१—ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्मपूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज ॥
अथर्व० १४। १। ६४ ॥

२—अंगादंगात्प्रभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि वर्धस्व शरदां शतम् ॥
कौ० ब्रा० महा० १। ९। ९।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः।
(" पृथिव्यां भोगाः यावन्तो जातवेदसि यावन्तः)

३—इमां त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥
ऋ० १०। २५। ४५ ॥

४—एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥
मनु० ९। ४५ ॥

५—प्रजया हि पूर्णः सर्वं वै पूर्णं—तै० ब्रा० ३। ३। १,
श० प० ५। २। ३। १ ॥

६—पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुः सा यद्यनेन किंचिदक्षणया आकृतं भवति। तस्मादेनं सर्वस्मात् पुत्रो मुंचति तस्मात् पुत्रो नाम ॥ श० प० १४। ४। ३। २६ ॥

७—प्रजामनुमजायसे तदुते मर्त्यामृतम्। तै० कां० १।५।५॥
ऋणमस्मिन् स नयति अमृतत्वं च गच्छति।
ऐ० ब्रा० ३३। १ ॥
प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्। ऋ० ५। ४। १० ॥

८—अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसः कुलायं
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥
अ० १४। १। ५७ ॥

९—पुत्रं ब्राह्मणा इच्छध्वम् ॥ ऐ० ब्रा० ३३। १ ॥
एष पन्था उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिणु आक्रमन्ते विशोकाः।
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च तस्मात्ते पुत्रास्र मिथुनी भवन्ति ॥ ३३। २ ॥

त्पत्ति को accident समझते हैं और कामाग्नि को तृप्त करते हैं वे ग़लती में हैं—क्योंकि यह अग्नि तृप्त नहीं हो सकती है। शास्त्र ने भी अधिक से अधिक दस बार ही स्पर्श करने की आज्ञा दी है। ऋतुकाल[1] से अतिरिक्त समय में गृहस्थी को ब्रह्मचारी रहने का विधान है। वेद के अध्ययन से तो यह बात प्रतीत होती है कि गृहस्थाश्रम मोक्षप्राप्ति में साधक[2] है, बाधक नहीं। यह तभी हो सकता है जब गृहस्थाश्रम का सच्चा अर्थ समझा जाय। गृहस्थाश्रम में पुत्र कलत्रों से होने वाले दुःखों को अपना दुःख समझ कर जो पुरुष धैर्य से उनको सहता है वह ब्रह्मचर्य के तप से तप कर कुन्दन बने ब्रह्मचारी से किसी दरजे कम नहीं है। जिन निष्काम कर्म तथा सेवा के भावों का, एक गृहस्थी अपने पुत्रों का पालन करता हुआ, अनुभव करता है वे भाव उसको सच्चा कर्मयोगी बना देते हैं। विपत्तियों का बहादुरी से मुकाबला करने वाला गृहस्थी "भगवान् की तुरीयावस्था[3]" का ध्यान कराता है। गृहस्थ में जिस समय ब्रह्मचारी "सोम" (स्नातक) और ब्रह्मचारिणी तेजस्विनी दूर देश से आई हुई (दुहिता) "सूर्या[4]" पहुँचती है उस समय गृहस्थाश्रम स्वर्गधाम बन जाता है। सूर्या घर की रानी[5] और गृहस्थी की नौका[6] बनकर पंच महायज्ञ को पूरा करती हुई गृहस्थाश्रम को पवित्र बनाये रखती है। तथा "सोम" सूर्या को अपने ख़जाने से भी ज्यादह प्यारा तथा विष्णु की तरह पूज्य समझता हुआ, उसके अभाव में चकवे की तरह दुःख अनुभव करता हुआ घर की देख रेख रखता है। दोनों पति पत्नी खेलते कूदते एक दूसरे से कभी वियुक्त न होते[7] हुए गृहस्थ को तैरें ऐसी वेद[8] की आज्ञा है। दोनों ऋक् और साम की तरह, सूर्य और पृथिवी की तरह एक दूसरे के आश्रित रहें। दोनों के बीच में खेलने वाली उनकी सन्तान, मां बाप को तारने वाली नौका[9] होती है ऐसा शास्त्रों ने हमें बताया है। इस लिये गृहस्थ उनके लिये ही नरकधाम हो जाता है जो गृहस्थ के सच्चे अर्थों को नहीं समझते हैं।

१—ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन्॥ मनु० ३। ५०॥

२—आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणुत्वं॥
अथर्व० १४। १। ६१॥

३—राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम्।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥
अथर्व० १४। २। ३६॥

४—"पत्युरस्तं परेत्य", "परेत्य शब्द का आशय है कि "दूर जाकर विवाह करें"। यही भाव 'दुहिता' के 'दूरेहिता' इस निर्वचन से भी पुष्ट होता है॥ अथर्व० १४।१।४३॥

५—एषां त्वं सम्राज्ञ्येधि॥ अथर्व० १४। १। ४३॥

६—सुमंगली प्रतरिणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः।
अथर्व० १४। २। २६॥

७—इहैव स्तं मा वियोष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥
अथर्व० १४। १। २२॥

८—अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं।
ताविह संभवाव प्रजामा जनयावहै॥
अथर्व० १४। २। ७१॥

९—शश्वत् पुत्रेण पितरः अत्यायन् बहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञे आत्मनः स इरावती अतितारिणी॥
ऐ० ३३। १॥

इस आश्रम की महिमा तो समुद्र[1] की सी है। क्या ब्रह्मचारी, क्या वानप्रस्थी और क्या संन्यासी—सब के सब आश्रम[2] वाले गृहस्थ के द्वार को खटखटाते हैं। और गृहस्थी "दानभाव" को अपना कवच बनाकर उन सबकी रक्षा करता है। न केवल आश्रम ही, बल्कि चारों के चारों वर्ण भी गृहस्थाश्रम में ही अपने स्वरूप को विकसित हुआ २ पाते हैं। शास्त्रों ने तो गृहस्थ को ही केवल[3] आश्रम कहा है। इसका भी कारण है। यदि "गृहस्थ आश्रम" न चले, तो न ब्रह्मचारी ही पैदा हो, न फिर देश को वनस्थ ही मिलें और न संन्यासी। इसलिये गृहस्थाश्रम, आश्रमों में समुद्र के तुल्य है। लेकिन इस आश्रम में जाकर जहां मनुष्य अपने २ वर्णों के कर्त्तव्य तथा अधिकार का सेवन करता है। वहां वह स्वाध्याय से विमुख नहीं होता है। ब्रह्मचर्य समाप्ति पर होने वाला आचार्य का अमूल्य उपदेश उसके लिये प्रकाश-स्तम्भ का काम करता है। जहाँ उसमें विद्यादान, धनदान, शक्तिदान आदि सब दान होने आवश्यक हैं, वहां उसमें "शक्ति संचय" के होने की भी जरूरत है। ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा बलिवैश्वदेवयज्ञ उसके अनिवार्य यज्ञ हैं। उसका काम केवल अपने पुत्रों व पत्नी का पालन ही नहीं, बल्कि कुत्ते, दलित[4], रोगी, चाण्डाल, कृमि और कौए आदि को पालने का भी है। अतिथि सेवा तो उसके[5] लिये साक्षात् प्राजापत्य यज्ञ है। गृहस्थी प्रातःकाल अतिथि का दर्शन करके अपने को कृतकृत्य समझता है। अतिथि के दर्शन न होने पर अपने को अपराधी समझता है। जिस समाज-व्यवस्था में ऐसे आश्रम धर्म का विधान हो वहां पर अनाथालयों, भिखारियों, भूखे और बेकारों का होना कैसे सम्भव हो सकता है? जिस व्यवस्था में ज्ञान और[6] वीर्यशक्ति सम्पन्न पति पत्नी धार्मिक (परमात्मप्राप्ति) जीवन व्यतीत करते हुए अपनी शारीरिक, मानसिक आदि उन्नति करते हों, ऐसी व्यवस्था वाले देश में अधार्मिक तथा नामर्द सन्तान कैसे पैदा हो सकती[7] हैं। वहां तो, जहां

१—यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ मनु० ६।९०॥
शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ॥ यहां गृहस्थ को समुद्र कहा है। अथर्व० १४। १।। १३ ॥

२—यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥
मनु० ३। ७८ ॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥
मनु० ६। ८९ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥
मनु० ६। ८७ ॥

३—ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्ष विधानात् गार्हस्थ्यस्य गार्हस्थस्य।
(वशिष्ठ धर्मसूत्र)

४—शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥
मनु० ३। ९२ ॥

५—प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति।
अथर्व० ९। ६। २ पर्याय ११ मंत्र

६—अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ऋ० १०। १०१। ११ ॥

७—यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च। ऋ० १०।१५९॥
मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
अथर्व० १४। १। ५२ ॥

अगली संतति अपने से कहीं बढ़कर पैदा होती है Roce betterment का यह कितना सुन्दर उपाय है। आदर्श पति पत्नी "वीरसू" होते हैं। मृत्यु, बीमारियों से न होकर, युद्ध में प्राण बलिदान करने से होती हैं। उस देश में न्याय और शान्ति का राज्य हुआ करता है।

वैदिक गृहस्थाश्रम धर्म ईश्वर की प्रेरणा से पालन किया जाता है। इसलिये पत्नी धर्म[1] से पत्नी मानी जाती है। जबतक पति पत्नी का परस्पर धार्मिक सम्बन्ध है तबतक ही सच्चा गृहस्थाश्रम है। पतिपत्नी लाजा होम, तथा स्वयंवर की भावना के साथ और फेरे लगाने के समय जिस अभिन्नता को प्रकट करते हैं वह उनमें आजन्म सम्बन्ध को बांध देता हैं। इस लिये यहाँ "तलाक़" का तो नाम ही नहीं। यहां सख्यभाव[2] है दास्य जरा नहीं। लेकिन यदि किन्हीं दैवीय कारणों से पति का देहावसान हो जाय, उस हालत में "स्त्री" अपनी रक्षा के लिये पुनर्विवाह कर सकती है। वेद की दृष्टि में मनुष्य से स्त्री का महत्त्व किसी भी दर्जे न्यून नहीं, प्रत्युत अधिक ही है। यदि मनुष्य को पुनर्विवाह की आज्ञा देदी गई है तो स्त्रियों को भी देना साधारण सी बात है। इस लिये वेद "विधवा[3] विवाह" की भी आज्ञा देता है वेद[4] में एक पुरुष की एक पत्नी तथा एक पत्नी का एक ही पति होना चाहिये यह बात आज्ञारूप से कही है तथापि साधारण मनुष्यों की कमजोरी को ख्याल में रख कर "नियोग" की भी अनुमति वेद ने दी है। नियोग[5] उसे कहते हैं "जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो, वह पुरुष-ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर सकते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि 'जिस स्त्री का पुरुष व किसी पुरुष की स्त्री मर जाय अथवा उनमें किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाय (ग्राही आदि) वा नपुंसक वन्ध्यादोष हो जाय और उनकी युवावस्था हो तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो तो उस अवस्था में शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से नियोग होना चाहिये।" इस प्रकार वेद ने गृहस्थाश्रम की जो शिक्षा दी है, वह मनुष्य-समाज को आचार, व्यवहार-सब दृष्टियों से ऊंचा उठाकर जीवन-संग्राम में समर्थ बनाने के लिये दी है और मनुष्य को मुक्ति तक पहुंचाने के उद्देश्य से दी है। लेकिन गृहस्थ में प्रवेश, गृहस्थ का कीड़ा बनने के लिये नहीं, अपितु गृहस्थ से निकल कर आगे जाने के लिये है। और रहे सहे स्वार्थ के थोड़े से भी बन्धन को छोड़, परार्थ के शिखर पर जाने के लिये है। २५, २५ वर्ष तक गृहस्थाश्रम सेवन करके जीवन के पथ पर अग्रसर होने के लिये है। अभी तक उसका परार्थ

१—पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव। अथर्व० १४।१।५१॥

२—यदेतत् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव॥ पा० गृ० सू०॥
भद्रावधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्॥
ऋ० १०।२७।१२॥

३—इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥
अथर्व० १८।३।१॥

४—उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानो ऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं निषूदधिध्वमखनन्त उत्सम्॥
ऋ० १०।१०१।११॥

५—देखो ऋषि दयानन्द की "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" नियोग विषय।

का केन्द्र थोड़े से प्राणियों में ही सीमित था। अब उसको इस केन्द्र को बढ़ाने के लिये आगे भी बढ़ना है। आज तो लोग गृहस्थ के कीड़े बने हुए अपना जीवन स्वार्थमय लड़ाई झगड़ों, मान और पद की लड़ाइयों में बिता देते हैं। इससे जहां अपनी भी हानि करते हैं, वहां जाति के भी कलह के बीज बोते हैं। किन्तु प्राचीन ऋषियों के आदर्श State स्टेट में गृहस्थ को फिर उसी स्थान पर जाना[1] पड़ता है, जहां से वह आया था। उसको घर छोड़ कर उसी वन में पूर्ण परार्थ साधन के लिये जाना है, जिस से कि वह गृहस्थ में आया था। भारत के इतिहास में घर छोड़ कर जंगलों में जाने वाले वनस्थियों के चित्र सुनहरे अक्षरों में लिखे पड़े हैं।

वानप्रस्थाश्रम

इस प्रकार २५ वर्ष तक द्वितीय आश्रम में प्रेम-भाव के विस्तार के पाठ को पढ़ कर जब गृहस्थी[2] के शरीर पर झुर्रियां[3] पड़ने लग जावें, बालों में सफ़ेदी आने लगे, और लड़कों के लड़के (पौत्र[4]) भी जब उसके पास खेलने लगें, तब घर बार, स्वार्थ बुद्धि, सब छोड़ जंगल में जा बसे। पत्नी[5] की इच्छा हो तो उस को भी अपने साथ ले लेवे। पहिले संचित किये हुए धन से अपना तथा पत्नी का निर्वाह करे, तथा ब्रह्मचर्याश्रम में जो आदर गुरु में था, गृहस्थाश्रम में जो भावना देश और जाति के लिये थी, अब उसको परमात्मा की तरफ लगा देवे। इस प्रकार व्यक्तिगत कल्याण करता हुआ अपने जीवन के अनुभवों से, परिपक्व ज्ञान से जाति की सन्तानों का लालन, पालन तथा शिक्षण का काम करता रहे। वैदिक आश्रम व्यवस्था में वनस्थ को 'अग्नि' कहा है। क्योंकि वह अग्नि प्रधान होता है। ऋग्वेद के वनस्थ सूक्त में बहुत उत्तम शब्दों में यह बताया गया है कि 'अग्नि' वनस्थ राष्ट्र के बालकों को किस प्रकार शिक्षित करे। वनस्थ का ही काम है कि वह शिक्षा द्वारा राष्ट्र की निष्काम सेवा करे। बिना किसी प्रकार की तनख्वाह लिये अपने पुत्रों के समान जाति के बच्चों को पढ़ाते हुए वानप्रस्थी लोग अपने मोहभाव का समूलोन्मूलन कर देते हैं। उनका रहन सहन, खानपान, बिलकुल जंगल की अवस्थाओं के अनुकूल तथा प्रकृति के सान्निध्य में ही होता है। दोनों समय ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथि-यज्ञ का अनुष्ठान करता हुआ, इस आश्रम में आध्यात्मिक उन्नति की शिक्षा लेता है। इस आश्रम में उस

१—पुत्र संक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद् वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम्।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम् ॥ (रघुवंश)
अथ स विषय व्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे,
नृपति ककुदं दत्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये,
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ (रघुवंश)

२—ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृहीभूत्वा वनी भवेत्,
वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ श० प० ॥

३—कृचिज्जायते सनयासुनव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः।
अस्नातापो वृषभो न प्रवेति सचेतसो यं प्रणयन्त मर्ताः ॥
ऋ० १० । ४ । ५ ॥

४—गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ यजु० ६ । २ ॥

५—संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदं,
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥
मनु० ६ । ३ ॥

का कार्य देने ही देने का है, लेने का : काम एक ही है और वह है—"सर्वभूतात्मवाद की भावना को हृदय में लेना" (विश्व प्रेम को अपनाना) । इस आश्रम को संन्यास आश्रम का School (विद्यालय) कह सकते हैं । इस आश्रम में हर प्रकार के ज्ञान की वृद्धि करके संन्यास में उसको औरों के लिये देना होता है। इस प्रकार यह आश्रम भी एक तरह से Conservation of knowledge "ज्ञान संचय" का आश्रम है । जिस समाज व्यवस्था में शहरों को, चारों तरफ़ के जंगलों में रहने वाले वनस्थियों के आश्रमों ने घेरा हुआ हो, और जहां पर जाति की शिक्षा का निर्माण होता हो, यह व्यवस्था कैसी सुवर्णीय होगी ? इस प्रकार गृहस्थ के बाद वानप्रस्थी होने से स्वार्थ और परार्थ का समन्वय होजाता है । जहां पर गृहस्थी केवल अपने पुत्रों को ही पुत्र समझता है, वहां अब राष्ट्र के पुत्रों को भी अपना समझने लगता है । यह 'सर्वात्म भावना, की प्रथम सीढ़ी है । इसलिये संन्यास यदि उद्देश्य है तो वनस्थ उसकी सीढ़ी है । ५० वर्ष तक का जीवन यदि स्वार्थों से भरा पड़ा है तो अब जंगल में आकर पूर्णत्याग का सबक़ भी सीखना है । जिस समाज को इस प्रकार के अनुभवी, उदारहृदय, महामना, निस्स्वार्थ, वानप्रस्थी मिल जायं, उसमें न्यायकार्य तथा शिक्षाकार्य के लिये धन खर्च करने की भी जरूरत नहीं होती है और ये सब के सब काम बहुत ही अच्छी प्रकार सम्पन्न हो जाते हैं । यहां यह बात कह देनी चाहिये कि यदि कोई चाहे तो गृहस्थ से सीधा संन्यास में जा सकता है । जिसने गृहस्थ में ही पर्याप्त ज्ञान संचय कर लिया हो वह सीधा संन्यासी भी बन सकता है । तथापि सामान्य मनुष्यों को गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ आश्रम में अवश्यमेव प्रवेश करना होता है । इस आश्रम में २५ साल तक केवल जंगल में शहरों के हर प्रकार के आनन्द को—मंगल को समझते हुए रहना होता है । ऋग्वेद के १०।१४६ 'अरण्यानी सूक्त' में यह बात उत्तम रूप से बताई गई है ।

संन्यासाश्रम

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों-पड़ावों—जीवन के विभागों को पार करता हुआ व्यक्ति अपने जीवन में कहां तक त्याग की भावना को बढ़ा सकता है ? इसके लिये चौथा संन्यासाश्रम है । इसका अर्थ ही 'सं—न्यास'-सब वस्तुओं का पूर्ण त्याग है । इससे पूर्व के तीनों आश्रम ही उत्तरोत्तर त्याग परार्थ की तरफ़ मनुष्य को खेंचे जा रहे होते हैं । जिसमें त्यागवृत्ति[1] उत्कट हो वह ब्रह्मचर्य से ही सीधा संन्यासी बन सकता है, गृहस्थ से भी बन सकता है और स्वाभाविक क्रम अर्थात् वानप्रस्थ से भी बन सकता है । इस आश्रम में आकर तो अपना पराया सब भूल कर सर्वसंन्यास करके मनुष्य को विचारना होता है । वानप्रस्थाश्रम कर्मप्रधान होता है । उसमें वेद का पढ़ना पढ़ाना, यज्ञ करना आदि कर्त्तव्य करने ही होते हैं । पर इसमें तो भगवा वस्त्र धारण कर अपने शरीर को ही यज्ञमय—अग्निमय बनाना होता है । फिर उसके लिये यज्ञ की जरूरत नहीं होती है क्योंकि यज्ञ का तत्त्व "स्वाहा" तथा "इदं न मम" तो उनका सारा शरीर पुकार २ कर कह रहा होता है । कहीं २ तो "वेद" तक का संन्यास

१—यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्, वनाद्वा, गृहाद्वा, ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् । (ब्राह्मण) ॥ प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्वं वेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति । (श० प०)

लिखा है। तात्पर्य यह है कि दुनियां में यदि किसी भी चीज में गांठ या-मोहबन्धन बंधा हो, उन सबको काट देने में ही सच्चा संन्यास रखा है। वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा तो गृहस्थी मनुष्य में रहती हैं। वानप्रस्थ में इन सब को लात मार कर स्वाध्याय तथा यज्ञ आदि करने होते हैं। इसलिये इसमें भी कुछ बन्धन रह ही गए हैं पर संन्यासी को तो न केवल पुत्र तथा वित्त[1] की इच्छा छोड़नी है बल्कि नाम की इच्छा भी छोड़नी है। काम और नाम की इच्छा छोड़ना अतिशय दुष्कर है। ऋषि इमर्सन ने लिखा है-"Fame is the last infirmity of the noble mind." शास्त्रों ने कहा है कि—प्रतिष्ठा शौकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम्"। मनु ने लिखा है:—

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

नीट्शे का सुपरमैन और प्लेटो का फ़िलासफर वैदिक आश्रम व्यवस्था के सब से सुन्दर चमकते हुए संन्यासी रूप हीरे के सामने फीके पड़ जाते हैं। यहां तो कामिनी, कांचन और मान-सब की इच्छा हट चुकी होती है और निर्द्वन्द्व बनकर दुनियां के एक छोर से दूसरे छोर तक किसी भी गृहस्थी पर बेजा बोझा न लादते हुए—जहां २ फंसावट हो, उसको हटाते हुए—तीन दिन से अधिक कहीं न ठहरते हुए विचरना ही विचरना है। संन्यासी का अवलम्ब निःस्व[2] लोगों का भगवान् ही हुआ करता है। इस बात को ऋग्वेद के ९ मं० ११३ सूक्त (इन्द्र सूक्त) में स्पष्ट बताया है। उसके सहारे से सब सत्यासत्य का निर्णय करता हुआ, संसार का सच्चा उपदेष्टा बन जाता है। अब उसको लेना तो कुछ बाक़ी नहीं, इसलिये वह जो कुछ भी कहता है—निःस्वार्थ भाव से, पूर्ण परोपकार की भावना से। इस प्रकार के "त्यागमय" आश्रम में जाति के विरले लोग ही आते हैं। कोई २ ब्राह्मण-वृत्ति का पुरुष ही यहां तक पहुंच सकता है। 'चतुर्थोऽस्मिन् वा" इसके लिये कहा है कि यह है या नहीं है। इस प्रकार चतुर्थ आश्रम का मतलब यह समझा जाता है कि मनुष्य अपनी जीवन यात्रा की अन्तिम मंज़िल पर है, जीवन के परमोद्देश्य मुक्ति की तरफ़ प्रयाण कर रहा है। यह हुई चौथे आश्रम की कथा।

विहगावलोकन

इस प्रकार हमने चारों आश्रमों का वर्णन किया है। ये मनुष्य जीवन की यात्रा के चार पड़ाव हैं! १०० वर्ष के जीवन में चलता २ मनुष्य थक न जाय, उसको यात्रा Monotonous नीरस न मालूम पड़ने लगे—इन दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए क्रमशः इन चारों आश्रमों को, मनुष्य में ज्ञान, कर्म और संन्यास आदि भावनाओं को प्रेरित करने के लिये बनाया गया है।

व्यवस्था की विशेषताएं

१. इन आश्रमों में उत्तरोत्तर त्याग भाव को ही महत्त्व दिया गया है। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ—ये दो आश्रम यदि स्वार्थप्रधान हैं—धर्म, अर्थ, काम प्रधान हैं तो अगले दो आश्रम-संन्यास तथा वानप्रस्थाश्रम—संन्यास-त्याग-परार्थ प्रधान हैं। इस प्रकार स्वार्थ-परार्थ-

१—इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाया थ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ श० प० १४।५।२।१॥

२—इन्द्रायेन्दो परिस्रुव॥ ऋ० ९।११३।४॥

वाद का कैसा अद्भुत समन्वय वैदिक व्यवस्था में है ।

२ इस व्यवस्था में एक और गूढ़ तत्व है, शक्ति संचय और शक्ति-विस्तार का समन्वय । प्रथम आश्रम में मनुष्य ज्ञान तथा वीर्य का संचय करता है, अपने में सीमित रहता है । पर दूसरे आश्रम में वह अपनी शक्ति से समाज की सेवा भी करता है और पुत्र कलत्र को पालन करने के उत्तरदायित्व को लेकर अपनी शक्तियों तथा प्रेम की भावनाओं को दूर तक फैलाता है और मानो स्वतः फैल जाता है। तृतीय आश्रम में फिर ज्ञान, भक्ति, कर्म का संचय एकान्त में जाकर करता है और साथ ही साथ अपने प्रेम की भावना को अपने से परायों के लिये विस्तृत करता है। और चतुर्थ आश्रम में आकर तो वह देश, जाति सब सम्बन्धों से ऊपर आकर सब का हो जाता है और किसी का भी नहीं होता। इस प्रकार मनुष्य कैसे वेग से अपने जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सकता है। इस विषय की विवेचना मनो वैज्ञानिक रूप से प्राचीन तत्त्वदर्शियों ने हमारे सामने रक्खी है। यदि आज इस प्रकार की आश्रम व्यवस्था का कुछ निर्देश Plato प्लेटो ने Republic में भी किया है। यह आश्रम व्यवस्था सैद्धान्तिक रूप से सर्वथा निर्दुष्ट कही जा सकती है। इस व्यवस्था का प्रचार State की सहायता से हो या न हो, तो भी किया जा सकता है। इसके प्रचार से आजकल भी अनेक समस्याएं हल हो सकती हैं।

क्रियात्मक लाभ

१—ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था—

(I) राष्ट्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा कम से कम २५ साल होने से, अकालमृत्यु (Death rare)[1] संख्या में बहुत कमी आ सकती है। उत्तरोत्तर सन्ततियाँ सबल बनने से भी राष्ट्र सबल बन सकता है। इस लिये Race betterment के लिये यह विधान कितना उत्तम है।

(II) राष्ट्र में शिक्षा का अभाव नहीं रह सकता है।

(III) २५ वर्ष तक गुरु के साथ अमीर और ग़रीब के लड़कों के इकट्ठा रहने से "साम्यवाद" का उदात्तदन्त बाल्यकाल से ही जाति के मुख में अंकुरित हो जाता है।

(IV) तथा २५ वर्ष तक विवाह आदि न होने से बालविवाह तथा विधवाविवाह आदि से होने वाली हानियों से भी जातियां बच जाती हैं।

(V) फिर २५ वर्ष तक किसी प्रकार की कमाई में न लगने से स्वभावतः Unemployment बेकारी नहीं रहती है।

(VI) गुरु के पास कोमल वय में तथा उस वय में रहने से जिसमें कि मनुष्य के विचार जैसे बनने होते हैं—बन जाते हैं—वर्ण-निर्णय में बड़ी सहूलियत हो जाती है। जिसके कारण जाति में संगठन भी उत्तम बना रहता है।

(VII) १५ साल से अधिक ब्रह्मचर्य धारण करने वाले यदि कुछ लोग हों तो जाति को अमूल्य मनुष्य मिल जाते हैं। जिनसे कि जाति का धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान आदि उन्नत हो सकता है। जाति की बौद्धिक, व्यापारिक तथा अन्य अनेक प्रकार की उन्नति हो सकती है।

१—ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ (ब्रह्मचर्य सूक्त)

(VIII) इस काल में भिक्षावृत्ति करने के कारण जाति के नवयुवकों में (Social responsibility) की भावना आती है और समाज सेवा के लिये स्वाभाविक प्रेरणा हो सकती है।

२–गृहस्थाश्रम की व्यवस्था—

(I) २५ वर्ष तक गृहस्थ में जाने से जाति को नई समर्थ संतति मिलती है, जाति की मनुष्यसंख्या बढ़ती है।

(II) सब के सब वर्ण विभक्त होकर एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूरा करके मानव जाति का कल्याण करते हैं।

(III) बलिवैश्वदेव यज्ञ दैनिक करने से पशुओं, गरीबों और दलितों में प्रेम पैदा होना स्वाभाविक है–जिसका परिणाम Slaughter houses orphanages इत्यादि का बन्द होना है।

(IV) तलाक़, वैश्यावृत्ति, पर्दा System, स्त्रियों का दास्य—इन सब का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं।

३–वानप्रस्थ आश्रम की व्यवस्था—

(I) ५० साल के बाद घर छोड़ कर जंगल में चले जाने से सास, ससुर के झगड़ों से, पिता पुत्र के वैमनस्य के कारण अप्रीति वृद्धि आदि से जाति की शान्तिभंग नहीं होने पाती।

(II) जाति को ऐसे सैकड़ों सेवक मिल जाते हैं, जो अनुभवी, निःस्वार्थ तथा परिपक्व मति होकर धन लिये विना राष्ट्र के न्याय विभाग, शिक्षा विभाग आदि कार्यों को चला सकें। शिक्षा पर होनेवाला महान् धन व्यय कितनी सरलता से बच जाता है और शिक्षा कितने उपयुक्त हाथों में आ जाती है।

(III) वानप्रस्थ में वित्त संचय की आज्ञा न होने से स्वभावतः बेकारी में कमी आजाती है। आज तो ५०, ५० वर्ष के वृद्ध भी पैसे, पद, प्रतिष्ठा में लड़ते रहते हैं—जिससे वे संसार को नरकधाम बनाते हैं, पुत्रों को अपना शत्रु बना लेते हैं और शक्ति के स्थान पर कलह का बीज बो देते हैं। अतः राष्ट्र की शिक्षा को सस्ती तथा सर्वसाधारण और Efficient बनाने के लिये इस आश्रम की आवश्यकता है।

(IV) अपने पूर्व संचित धन से अपना निर्वाह करने से Insurance प्रथा क्रियात्मक रूप से समाज का अंग बन जाती है।

४–सन्यास आश्रम की व्यवस्था—

(I) राष्ट्र को सच्चे निःस्वार्थ उपदेष्टा मिलते हैं।

(II) राष्ट्र के भिन्न २ विभागों में होनेवाली त्रुटियों को देखकर राष्ट्र को उन्नति के पथ पर ले जाने वाले महापुरुष मिलते हैं।

(III) राष्ट्र में Materialism से बढ़ने वाली प्रवृत्तियों को रोक कर अध्यात्मभावना के स्रोत बहाकर राष्ट्र की रक्षा करते रहते हैं।

(क्रमशः)

वैदिक राष्ट्र-गीति

(३)

[ले०—श्री पं० सूर्यदेवजी शर्मा साहित्यालंकार M. A]

(२१)

अग्निवासाः पृथिव्यसि तन्नूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

है व्याप्त अग्नि से जो नित मातृभू हमारी।
जो कृष्ण कज्जलों से हो ज्ञात भव्य भारी॥
वह मातृभू बनावे हम को प्रकाशकारी।
तेजस्वि हों यशस्वी ध्रुवधर्म ध्येय धारी॥२१॥

(२२)

भूम्यं देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरं कृतम् भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ॥ सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

जिस भूमि में अलंकृत नित देव यज्ञ करते।
मानव स्वधान्न से जहँ जीवन सुखेन धरते॥
वह मातृभू हमें भी दीर्घायु प्राण देवे।
निज गोद में बिठाके सद्-वृद्धि त्राण देवे॥२२॥

(२३)

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः॥ यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु ॥ मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२३॥

जो गंध भूमि तेरी जल औषधादि पाते।
गन्धर्व सूर्य रश्मी जिसको सदैव ध्याते॥
उस गंध से हमें भी सुरभित यशस्वि कीजै।
कोई बने न द्वेषी बरदान दिव्य दीजै॥२३॥

(२४)

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ॥ अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु ॥ मानो द्विक्षत कश्चन ॥२४॥

जो गंधभूमि तेरा पुष्कर प्रवेश पाता।
प्रातः पवन उषा में जिसको विविध बहाता॥
उस गंध से हमें भी सुरभित यशस्वि कीजै।
कोई बने न द्वेषी बरदान दिव्य दीजै॥२४॥

(२५)

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ॥ यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ॥ कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्मां अपि संसृज ॥ मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२५॥

जो गंध नारि नर में हो तेज रूप आया।
मृग अश्व हाथियों में जो ओज हो समाया॥
माता! कुमारिका सा तेजोनिधान कीजै।
कोई बने न द्वेषी बरदान दिव्य दीजै॥२५॥

(२६)

शिलाभूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृताधृता ॥ तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥

पाषाण पर्वतों से वा पूर्ण पांशु से है।
यह मातृभू हमारी उत्तम उपांशु से है॥
आकर अनेक जिसमें कनकादि धातु के हैं।
उसको करें नमस्ते हम पुत्र मात के हैं॥२६॥

(२७)

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्तिविश्वहा । पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥२७॥

जिस भूमि में वनस्पति वृक्षादि फूलते हैं।
स्थिर वितान ताने झुकते न झूलते हैं॥
वह विश्व की विधात्री है मातृभू हमारी।
माता तुझे नमस्ते कल्याण कीर्तिकारी ॥२७॥

(२८)

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ॥ पद्भ्यां दक्षिणासव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥

आसीन हों कहीं हम होवें खड़े कहीं वा।
चलते हुए रहें वा लेटे पड़ें कहीं वा॥
इस भूमि में हमारा पग से यदी भ्रमण हो।
कोई न कष्ट पावे रमणीय हो, रमण हो ॥२८॥

(२९)

विमृग्वरीं पृथिवी मावदामि क्षमां भूमिंब्रह्मणा वावृधानाम् ॥ ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥२९॥

अन्वेषणीय जो है अखिलेशने बढ़ाई।
घृत अन्न शक्तिशीला बल पुष्टि जहँ समाई॥
विस्तृत वसुन्धरा है माता महा मही है।
दीजै शरण हमें भी बस प्रार्थना यही है ॥२९॥

(३०)

शुद्धान आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुर प्रिये तं निदध्मः॥ पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥३०॥

हे मातृभू ! बहें जल निर्मल यहां सदा ही।
सब स्वास्थ्य सहित सेवें सानन्द सम्पदा ही॥
माता ! अलग करो जो हम को अनिष्ट होवे।
पावन करो उसी से जो पुण्य इष्ट होवे ॥३०॥

वेदों में अलङ्कार

[ले०—श्री पं० प्रेमचन्दजी, काव्यतीर्थ]

जिस प्रकार मनुष्यों की शोभा को बढ़ाने वाले कनक, कुण्डल आदि अलंकार होते हैं। उसी प्रकार काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले उपमा आदि अलंकार हुआ करते हैं। मनुष्य के शरीर में यह आवश्यक नहीं है कि कोई न कोई अलंकार (आभूषण) जरूर ही हो इसी प्रकार काव्य में भी यह आवश्यक नहीं है कि कोई न कोई अलंकार जरूर ही हो, अलंकारों से तो मनुष्य की तथा काव्य की केवल शोभा ही बढ़ती है। मनुष्य के शरीर पर यदि कोई अलंकार (आभूषण) न हो तो मनुष्य, मनुष्यत्व से गिर जाता है—यह बात नहीं है। ऐसे ही यदि काव्य में कोई अलंकार न हो तो वह काव्य, काव्यत्व से रहित हो जाय—यह बात नहीं हो सकती। विना आभूषण के वह मनुष्य मनुष्य तो रहेगा ही, इसी प्रकार विना अलंकार के वह काव्य भी काव्य रहेगा, परन्तु इतना जरूर है कि आभूषण और अलंकार के विना उस मनुष्य की तथा ऐसे ही उस काव्य की उतनी शोभा नहीं होगी जितनी कि आभूषण और अलंकार के होने पर होगी।

वर्त्तमान संस्कृत साहित्य में अनेक कवियों के बनाये ग्रन्थ अपनी २ किसी विशेषता के कारण प्रसिद्ध तथा हृदयग्राही हैं। यह विशेषता प्रायः अलं-

कारों के कारण ही है, कवि-कुलशिरोमणि महाकवि कालिदास का रघुवंश, उपमा के लिये; त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू तथा सुबन्धु की वासवदत्ता, सुन्दर श्लेष के लिये अनुपम हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी में श्लेष-मय सरल भाषा की कोई कमी नहीं है, पुराणों में भी इष्ट देवों के नामों का श्लिष्ट भाषा में ही वर्णन है; ये अपनी इन विशेषताओं के कारण ही सुन्दर और मनोहर हैं। इन उत्कृष्ट विद्वान् कवियों की इन रचनाओं ने अब भी विद्वानों को मुग्ध कर रखा है। विद्वान इन रचनाओं पर-बार २ पढ़कर-मुग्ध होते हैं, इनकी सराहना करते हैं। यह सब इसीलिये कि इन रचनाओं में अलंकारों ने एक खास ही विचित्रता और सुन्दरता उत्पन्न करदी है, इनको सरस बना दिया है।

विचार यह करना है कि ये अलंकार जो इतने उपयोगी हैं, कि जिनसे भाषा में सरसता और सजीवता उत्पन्न हो जाती है, जिन के कारण पढ़ने वाले का मन फड़क उठता है और सहृदयजन वाह २ करने लग जाता है—कहाँ से आए? क्या ये अलंकार इन विद्वानों ने मम्मट,वाग्भट, विश्वनाथ और दण्डी आदि के बनाये अलंकार-ग्रन्थों से सीखे हैं? नहीं। ये अलंकार-ग्रन्थ तो इन कवियों की रचनाओं से बहुत पीछे बने हैं, क्योंकि इन रचनाओं के उद्धरण उदाहरण के तौर पर इन अलंकार ग्रन्थों में विद्यमान हैं। फिर ये अलंकार कहाँ से सीखें, जिनसे कि रचना में इतना लालित्य उत्पन्न हो जाता है और कवि की रचना-चातुरी की प्रशंसा विद्वान् स्वयं करने लग जाता है? विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि सब से पुराने साहित्य अर्थात् वेदों में ये अलंकार, आधुनिक संस्कृत साहित्य की रचनाओं से कई गुणा अधिक मात्रा में विद्यमान हैं; वर्त्तमान संस्कृत साहित्य की रचनाओं में तो कविजन कोश प्रोक्त नानार्थों पर ही निर्भर थे और अब भी हैं, परन्तु वैदिक भाषा का प्रत्येक शब्द यौगिक होने से किसी कोष की सहायता की अपेक्षा के विना ही नानार्थों को बतलाता है। इसलिये वेद की भाषा बहुत अद्भुत और रहस्यमयी हो गई है। उत्तम कवियों को भी जब कोश प्रोक्त नानार्थों की सीमा में बंध कर परतन्त्रता का अनुभव हुआ, रचना करने में बाधा मालूम हुई, तब वे भी कोष प्रोक्त नानार्थों को स्पष्ट तिरस्कृत कर स्वतन्त्रतापूर्वक शब्दों की यौगिक रचना के आधार पर ही अद्भुत और व्यंगपूर्ण रचना के करने में समर्थ हुए, क्योंकि आधुनिक रचना कोशप्रोक्त नानार्थों के आधार पर ही है और वैदिक रचना, यौगिक शब्दों के कारण अत्युत्तम रचना है, इसलिये उत्तम कोटि के कवियों की रचनाओं में कहीं २ बहुत स्वल्प दृष्टान्त वेदवाणी की अलंकारिता के दीख पड़ते हैं। वेदों की भाषा अति जटिल चित्रोक्तियों, अलंकारों और शब्द-श्लेषों से पूर्ण है।

वेद भी परमात्मा के सुन्दर काव्य हैं। इनमें भी मन्त्र उपमा, श्लेष, रूपक, पुनरुक्तवदाभास आदि २ अलङ्कारों से अलंकृत हैं। श्रीमन्मम्मटाचार्य आदि अलंकार शास्त्रियों ने इन सब अलंकारों को क्रमबद्ध करके बड़े सुन्दर प्रकार से व्यवस्थित कर दिया है। एक २ अलंकार के कई २ भेद और उपभेद बताकर विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। परन्तु इस लेख में सामान्यतया और संक्षेप से ही वेद मन्त्रों में अलंकारों के दिखाने का प्रयत्न किया जायगा। वेदमन्त्र इन अलंकारों से कितने सुन्दर ढंग से अलंकृत हैं, यह वेद मन्त्रों का भाव और अलंकारों का भाव दोनों की संगति देखने से विदित हो सकेगा।

१—उपमा और पुनरुक्तवदाभास

यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव ॥ यजु० १७।४८॥

अर्थात् 'जिस युद्ध में बाण चारों ओर से ऐसे गिर रहे हैं जैसे विशिख (शिखा से रहित) कुमार चारों ओर घूमते और दौड़ते फिरते हैं।'

इस मन्त्र में दो अलंकार हैं—एक उपमा और दूसरा पुनरुक्तवदाभास। जिस प्रकार विशिख अर्थात् शिखा से रहित घुटमुंडे बहुतसे बालक इकट्ठे होकर इधर उधर बेलगाम खेलते कूदते फिरते हैं, उसी प्रकार बाण चारों ओर से बरस रहे हैं। कितना सुंदर उपमान है। यह पूर्णोपमा अलंकार है। संस्कृत साहित्य में 'विशिख' शब्द के दो अर्थ होते हैं। 'विशिख' का अर्थ (वि + शिख) शिखा से रहित भी होता है और 'विशिख' का अर्थ बाण भी होता है। इस वेदमन्त्र में आपाततः 'विशिख' का अर्थ बाण प्रतीत होता है। इस तरह अर्थ करने पर पुनरुक्ति का दोष आता है, क्योंकि 'विशिख' से पहिले भी 'बाण' शब्द विद्यमान है, पुनः बाण शब्द के पर्यायवाची विशिख शब्द का प्रयोग होना शब्द पुनरुक्ति ही है। किन्तु 'विशिख' शब्द का अर्थ (वि + शिख) शिखा से रहित कर लेने पर यह पुनरुक्ति का दोष नहीं रह जाता, प्रत्युत एक बड़ा ही सुन्दर अलंकार 'पुनरुक्तवदाभास' बन जाता है। क्योंकि 'पुनरुक्तवदाभास' वहां होता है जहां कि कोई पद पुनरुक्त तो न हो किन्तु पुनरुक्त के समान आभासित होता हो। यहां 'विशिख' शब्द वास्तव में पुनरुक्त तो नहीं, किन्तु पुनरुक्त के समान आभासित होता है।

कितने अच्छे ढंग से एक वेद-मन्त्र के अंश में दो अलंकार का समावेश है। जैसे एक अंगूठी में सुन्दर चमकदार एक नगीना जड़ा हुआ हो और फिर उस अंगूठी का प्रतिबिम्ब उस सुन्दर चमकदार नगीने में पड़कर एक और ही किस्म का नगीना मालूम होने लगता है, वही हालत इस वेदमन्त्र की है। वास्तव में मुख्य अलंकार तो इस मन्त्र में 'पूर्णोपमा' ही है किन्तु 'विशिख' शब्द ऐसा प्रयुक्त किया गया है कि जिस पर पिछले बाण शब्द का प्रतिबिम्ब पड़ने से एक और ही सुन्दर अलंकार 'पुनरुक्तवदाभास' बन जाता है।

२—कारणमाला और मालादीपक

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥
यजु० १९। ३० ॥

'व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।' इस मन्त्र में भी दो ही अलंकार हैं—एक कारण माला और दूसरा माला दीपक 'कारणमाला' वहां होता है जहां कि उत्तर २ वस्तु के प्रति पूर्व २ वस्तु कारण हो या पूर्व २ वस्तु उत्तर २ वस्तु का कारण बनती चली जाय। इस मन्त्र में बड़ी सफलतापूर्वक 'कारणमाला' को संगत किया जा सकता है। 'व्रत से दीक्षा' दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य, इस प्रकार पूर्व २ वस्तु उत्तर २ वस्तु का बड़ी अच्छी तरह से कारण बन गई है। व्रत दीक्षा का कारण है। दीक्षा दक्षिणा का कारण है। दक्षिणा श्रद्धा का कारण है और श्रद्धा सत्य का कारण है। दूसरा अलंकार इस मन्त्र में है—मालादीपक। पूर्व २ वस्तु से उत्तर २ वस्तु यदि उपकृत हो तो 'मालादीपक' हुआ करता है। इस मन्त्र में किस प्रकार पूर्व २ वस्तु से उत्तर २ वस्तु उपकृत होती है यह स्पष्ट ही है। व्रत से दीक्षा उपकृत होती है और दीक्षा से दक्षिणा इत्यादि।

इस एक मन्त्र में भी दो अलंकारों का बड़े अच्छे तरीक़े से समन्वय किया गया है और हम देख चुके हैं कि इन दोनों अलंकारों से मन्त्र का स्वरूप कितना सुन्दर प्रतीत होता है।

३—अतिशयोक्ति और उपमा

यदिमावाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥

यजु० १२ । ८५ ॥

'जब इन औषधियों का प्रयोग करने के लिये मैं इनको हाथ में लेता हूं तो उसी समय 'राजयक्ष्मा' रोग का आत्मा नष्ट हो जाता है, जैसे कि हिंसा के लिये वध्यस्थल में लाये हुए जीव का आत्मा पहिले ही नष्ट हो जाता है, होश हवास गुम हो जाते हैं'।

इस वेदमन्त्र में भी दो अलंकार दृष्टिगोचर होते हैं एक अतिशयोक्ति और दूसरा उपमा। सामान्यतया अतिशयोक्ति का तात्पर्य—लोकप्रसिद्धि का अतिक्रमण करने वाली उक्ति है। लोक में यह कहीं नहीं देखा गया कि औषध के हाथ में लेते ही, सेवन करने से पहिले ही, रोग नष्ट हो जाय किन्तु यहां ऐसा ही वर्णन है, लोकप्रसिद्ध बात का अतिक्रमण है। औषध के हाथ में लेते ही, सेवन करने से पहिले ही, रोग का आत्मा नष्ट हो जाता है। रोगी औषध को लेकर वैद्यक शास्त्र के अनुकूल वैद्य से बताई हुई विधि द्वारा उसका सेवन करता है, सेवन करने के कुछ काल पश्चात् रोगी को औषध का कुछ असर प्रतीत हुआ करता है और 'राजयक्ष्मा' जैसे भयंकर और सब रोगों के शिरोमणि रोग का नाश तो बहुत अधिक प्रभावोत्पादक औषध से भी कम से कम कई दिनों के बाद ही होना सम्भव प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ तो सेवन करने से पहिले ही ऐसे भयंकर रोग का नाश कर दिया गया है यही अतिशयोक्ति है। दूसरा उपमा है। स्पष्ट है। कितनी सुन्दर उपमा दी गई है। वैदिक साहित्य की उत्कृष्टता की परख यहाँ भी हो सकती है। आधुनिक लौकिक संस्कृत साहित्य के कवि ऐसी २ उपमाओं को वेद में देख कर दाँतों तले अंगुली दबाते हैं। सचमुच, जिस की मौत अभी दो तीन मिनिट में होने वाली है और वह जानता है कि मेरी मौत अब हुई, तो उस समय वह किसी के मारने से पहिले ही मर जाता है; बेहोश हो जाता है, उस के होश हवास गुम हो जाते हैं। इसी प्रकार जब रोग देखता है कि मेरे नाश के लिये औषध आगया है तो वह भी अपना नाश उपस्थित देख, औषध सेवन के विना ही, पहिले मर जाता है, दूर हो जाता है। रोग के नाश की, वध्य जीव के नाश के साथ कितनी सुन्दर उपमा है, और कितनी सुन्दर अतिशयोक्ति है।

४—रूपक

द्वा सुवर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

ऋग्वेद १ । १६४ । २० ॥

'साथ रहने वाले, मित्र बने हुए दो पक्षी, एक ही वृक्ष पर साथ २ रहते हैं। उन में से एक तो स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा खाता तो नहीं केवल प्रकाश करता है'। कितना सुन्दर रूपक है। इस संसार में प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा ये तीन वस्तुएं हैं। जीवात्मा और परमात्मा में चेतनता आदि कुछ समानताएं हैं कि जिन के कारण ये दोनों 'सयुज' तथा 'सखा' हैं। एक प्रकृति भोग्य वस्तु है। जीवात्मा तो प्रकृति का भोग करता है और दूसरा परमात्मा- भोग नहीं करता।

यहाँ प्रकृति का वृक्ष में, और जीवात्मा तथा परमात्मा का दो पक्षियों में आरोप किया गया है। कितने सुन्दर ढंग से वृक्ष और पक्षियों में प्रकृति और जीवात्मा तथा परमात्मा का आरोप करके गूढ़ रहस्य का स्पष्टीकरण किया गया है, साफ़ खोल कर धर दिया है। इस रूपक से यह गूढ़ रहस्य बहुत ही सरल रीति से समझा दिया गया है।

५–श्लेष

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥
अथर्व० ११। ५। १८॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध भाग का अर्थ तो स्पष्ट ही है कि 'कन्या ब्रह्मचर्य से युवा पति को प्राप्त होती है'। परन्तु उत्तरार्थ भाग का अर्थ स्पष्ट नहीं है। इस उत्तर भाग में श्लेष है, इसलिये इस का अर्थ समझने में कठिनता प्रतीत होता है। सामान्यतया इस उत्तर भाग का अर्थ यह हो सकता है कि 'बैल और घोड़ा ब्रह्मचर्य से घास को खाते हैं' यह अर्थ ठीक है, परन्तु इस की पूर्वभाग से संगति नहीं होती। पूर्व भाग में तो, कन्या ब्रह्मचर्य से युवा पति को प्राप्त होती है और उत्तर भाग में बैल और घोड़ा घास खाते हैं यह असंगत है। परन्तु इसका समाधान इस प्रकार होता है कि उत्तर भाग में तीन शब्द-अनड्वान्, अश्व और घास श्लिष्ट हैं। इन शब्दों के दो २ अर्थ हैं। अनड्वान् और अश्व का अर्थ-पुरुष, तथा घास का अर्थ भोग है।

अब, जब कि यह पता लग गया कि इस मन्त्र में 'श्लेष अलंकार' है तो इस मन्त्र का वास्तविक संगत अर्थ इस प्रकार हो सकता है कि–'कन्या ब्रह्मचर्य से युवा पति को प्राप्त होती है और पुरुष ब्रह्मचर्य से भोगों की इच्छा करता है'। इस प्रकार अलंकार को समझ कर मन्त्र का अर्थ और भाव समझने में कुछ कठिनता प्रतीत नहीं होती।

इस प्रकार हमने देखा कि वेदमन्त्रों में अलंकार हैं और बहुत ही सुन्दर हैं।

इस लेख में कुछ उदाहरणों द्वारा इस बात की पुष्टि की गई है कि वैदिक भाषा में गूढ़ रहस्य भरे पड़े हैं और वे अलंकारों द्वारा सुसज्जित किये हुए हैं। मैंने तो केवल दिग्दर्शन ही कराया है, लेकिन वेदों की प्रत्येक वाणी अलंकारों और व्यंग्यार्थों तथा श्लेषों से भरपूर है। वेदों में कई जगह श्लेष और रूपक हुआ करते हैं। लेकिन जो वैदिक भाषा के तत्त्व को नहीं समझते वे वेदों में–इतिहास तथा असंगत बातें हैं—ऐसा समझ लिया करते हैं। कई कथाएं प्रचलित हैं जिन्हें कि लोग कहते हैं कि ये वेद में हैं। परन्तु यदि वे इस भाषा का तत्त्व अच्छी प्रकार समझ लें तो उन्हें कहीं भी इतिहास आदि प्रतीत न होगा और उन्हें भी मालूम हो जायगा कि वैदिक भाषा में अलंकार बहुत अधिक मात्रा में हैं और वेदों से ही वाणी को अलंकृत करना आधुनिक उत्कृष्ट विद्वानों ने भी सीखा है।
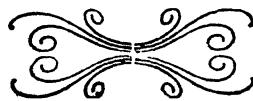
वेद और विकासवाद

[ले०—सम्पादक]

वेदों की विशेषता यह है कि वेद सभी साहित्य ग्रन्थों से प्राचीन बल्कि अत्यन्त प्राचीन हैं और साथ ही वेद वर्त्तमान समय के उच्चतम कोटि के विचारों का पूरा मुक़ाबला करते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि पश्चिम के विद्वानों का एक सिद्धान्त है कि जैसे २ हम पिछले समय की ओर जाते हैं वैसे ही वैसे हमें सभ्यता की निचली कोटि या सीढ़ी का भी दर्शन होता जाता है। संक्षिप्त शब्दों में यदि हम विद्वानों के इस सिद्धान्त को रखना चाहें तो हम कह सकते हैं कि संसार में क्रमिक विकास या शनैः २ उन्नति दिखाई देती है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार हमें ऐसा मानना आवश्यक होजाता है कि 'जैसे २ हम प्राचीन समय की ओर जायेंगे वैसे ही वैसे प्राचीन समय के लोग हमें विचार, आचार, नीति तथा विज्ञान की दृष्टियों से आजकल के लोगों की अपेक्षा निचले दर्जे के प्रतीत होंगे"।

परन्तु प्राचीनतम साहित्य वेदों के पढ़ने से प्रतीत होता है कि पश्चिम के लोगों के इस सिद्धान्त के शिकार वेद नहीं बन सके। वेद आदि-मनुष्य-सृष्टि के समय के हैं और साथ ही विचार, आचार, नीति और विज्ञान में वर्त्तमान समय की बराबरी भी करते हैं और वर्त्तमान समय से आगे बढ़े हुए भी प्रतीत होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में यूँ भी कह सकते हैं कि चूँकि Evolution theory अर्थात् विकास-सिद्धान्त वेदों के उच्च विचारों का कोई भी समाधान पेश नहीं कर सकता अतः इस बात के मानने में हमें वाधित होना पड़ता है कि वेदों की उत्पत्ति का कारण मनुष्य को न मान कर परमात्मा को ही माना जाय।

वेद विकासवाद के सिद्धान्त का मूक खण्डन किस प्रकार करता है इसके कतिपय उदाहरण यहाँ उपस्थित किये जाते हैं। यथाः—

(१) विकासवादी कहते हैं कि असभ्य जातियों में ऊँचे दर्जे की सभ्यता वाली वर्त्तमान समय की जातियों में प्रमाण मिलते भी हैं। इस कसौटी पर जब वेदों को कसा जाता है तो वेद इस कसौटी पर बहुत खरे उतरते हैं। यजुर्वेद के १७ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में गिनती का वर्णन है। इस मन्त्र में गिन्ती एक अङ्क के पीछे १२ विन्दुओं के लगाने तक जाती है। यथाः—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके॥

यजु० १७। २॥

इसमें गिनती इस प्रकार दर्शाई गई है:—

१ (एक), १० (दश) १०० (शत), १००० (सहस्र), १०००० (अयुत), १००००० (नियुत), १०००००० (प्रयुत), १००००००० (अर्बुद), १००००००००० (न्यर्बुद), १०००००००००० (समुद्र), १००००००००० (मध्य), १०००००००००००० (अन्त), १००००००००००००० (परार्ध)।

अतः गणना की दृष्टि से वेद अवश्य ऊंचे प्रतीत होते हैं।

(२) विकासवादियों का कहना है कि असभ्य जातियों में लिखने की विद्या का भी अभाव होता है और वर्त्तमान समय की असभ्य जातियों में यह कथन चरितार्थ भी होता है। परन्तु हैरानी की बात है कि अथर्ववेद में लिखने की विद्या का भी वर्णन मिलता है। अथर्ववेद के १४ वें काण्ड का ६८ वां, ७१ वां और ७२ वां सूक्त और उनका हिन्दी अनुवाद यहाँ उपस्थित किया जाता है। यथाः—

"अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्य मि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥"
अथर्व० १९। ६८। १॥

'व्यापक और परिच्छिन्न के भेद को मैं बुद्धि द्वारा खोलता हूँ, उन के परस्पर भेद के जानने के लिये हम वेद को उठाते हैं और तदनुसार कर्म करते है॥'

"स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्॥" अथर्व० १९। ७१। १॥

"मैंने वेदमाता की स्तुति की है, वह द्विजों को पवित्र करने वाली है, अतः उसका प्रचार करो॥"

"यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्त पसावतेह॥"
अथर्व० १९। ७२। १॥

"जिस कोष अर्थात् खजाने या सन्दूक में से हम ने वेद को उठाया है उसी खजाने या सन्दूक के अन्दर हम इसे रखते हैं। क्योंकि ब्रह्म अर्थात् वेद के सामर्थ्य से हमने इष्ट का सम्पादन कर लिया है।"

इस अनुवाद में "वेद को उठाने (१९। ६८। १)," "वेद को सन्दूक में से उठाने" और "उसको फिर सन्दूक में रख देने (१९। ७२। १) का वर्णन है, जो वेदों के लिखे हुए होने का स्पष्ट सबूत है। सायणाचार्य तथा उनके अनुयायी पश्चिम के विद्वान् यहाँ वेद का अर्थ झाड़ू करते हैं। इस बात का निर्णय करना कोई कठिन बात नहीं है कि वेद के सम्बन्ध में यह वर्णन कि वेद व्यापक और परिच्छिन्न के भेद को खोलता है, वह द्विजों को पवित्र करता है तथा उस का प्रचार करो—ज्ञानमय वेद में सम्भव है या झाड़ू में। तथा यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मन्त्रों में वेद का दूसरा नाम ब्रह्म लिखा है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म पद का अर्थ वेद प्रसिद्ध है इसे सभी वैदिक विद्वान जानते हैं। ऐसी अवस्था में क्या सायणाचार्य तथा उसके अनुयायी यूरोप के विद्वान यहां ब्रह्म पद का अर्थ झाड़ू ही करेंगे। ब्रह्म पद पर वैदिक साहित्य में कहीं भी झाड़ू अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। इस प्रकार निष्पक्ष दृष्टि से यदि देखा जाय तो इन मन्त्रों में "लिखे हुए वेद" का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

(३) वेद में पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक शीघ्र जा सकने का निर्देश भी मिलता है। यथाः—

न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव। सद्यः सर्वां परिपश्यासि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन् समुद्रे॥ अथर्व० ११।२।२५॥

तथा—

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥
अथर्व० १०। २। २१॥

इन दोनों मन्त्रों में पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र अर्थात् Arctic ocean या North sea तक जाने का वर्णन है। प्रोफ़ेसर ह्विटनी पहले मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि इस मन्त्र में North sea

तक जाने का वर्णन हैरानी में डालने वाला है। यथाः—

We are surprised to find a 'northern' ocean spoken of, and set over against the 'eastern' one (cf. xi. 5. 6), but uttara cannot well mean anything else.

कारण यह कि पश्चिम के विद्वान् तो वेदों को असभ्य पुरुषों द्वारा रचित मानते हैं। तब असभ्य पुरुषों के ग्रन्थों में पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक शीघ्र जाने का वर्णन उनकी दृष्टि में हैरानी को पैदा करने वाला कैसे न हो। वर्त्तमान सभ्य समय में भी North pole या North sea तक जाना कुछ सहज काम नहीं। तब भारत के प्राचीन और असभ्य जाति के धर्म-ग्रन्थों में पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र तक शीघ्र जाने का वर्णन अवश्यमेव एक अजीब समस्या है जिसका हल विकास सिद्धान्त द्वारा असम्भव है। इस ओर ऐसी ही अन्य वैदिक समस्याओं का हल वाले अधिकतर इसी कल्पना द्वारा होना सम्भव है कि वेद पौरुषेय नहीं अपितु अपौरुषेय हैं।

(४) और देखिये वेद में ऊंचे दर्जे की और भिन्न २ प्रकार की सड़कों का भी वर्णन है। अथर्ववेद, काण्ड १२, सूक्त १ के ४७ वें मन्त्र में तीन प्रकार की सड़कों का वर्णन है। यथाः—

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड ॥ अथर्व० १२।१।४७॥

एक सड़क वह जिस पर कि मनुष्य चलते हैं, इस सड़क का नाम वेद में "जनायन" आता है। इसका अर्थ है—जनों का अयन अर्थात् मार्ग या सड़क।

इसी मन्त्र में सड़कों के दो नाम और आये हैं। एक रथवर्त्म और दूसरा अनोवर्त्म। रथवर्त्म का अर्थ है—जिस पर रथ चलें और अनोवर्त्म का अर्थ है—जिस पर छकड़े या बैलगाड़ियां चलें। एक ही शहर में साथ २ इस प्रकार की तीन सड़कों का होना, उस शहर की समृद्धिशालिता तथा उच्च-सभ्यता का सूचक है। वेद में इस प्रकार की तीन सड़कों का वर्णन भी विकासवाद द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में एक बात और देखिये। सड़कें केवल जमीन पर ही नहीं होतीं, विमानों के चलाने के लिये आकाश में भी विमानों के चलने के मार्ग निश्चित करने पड़ते हैं। इसलिये आकाश की सड़कों की कल्पना भी अवश्य करनी होती है। इन सड़कों के रास्ते उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा को दिखाने वाले Magnetic Compass द्वारा निश्चित किये जाते हैं। वेद में आकाश की इन सड़कों का भी वर्णन मिलता है। अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त १५ का दूसरा मन्त्र और उसका अर्थ निम्नलिखित है। यथाः—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥
अथर्व० ३।१५।२॥

"जो बहुत से पन्था अर्थात् मार्ग हैं जिनके द्वारा व्यापारी लोग जाते आते हैं, और जो द्युलोक और पृथिवी के बीच में हैं, जो कि खूब चलतू हैं, उन मार्गों में दूध और घी मुझे आनन्दित करें (अर्थात् उन मार्गों पर दूध और घी का प्रबन्ध हो जिससे

व्यापारी लोग भूख प्यास से व्याकुल न रहें)। इस प्रकार खरीद फ़रोख्त करके मैं धन को एकत्र करता हूं"।

इस मन्त्र में सड़कों का वर्णन वर्त्तमान की उच्च सभ्यता का मुक़ाबिला करता है। इस मन्त्र में जो यह वर्णन आया है कि व्यापारी लोगों का सड़कें द्युलोक और पृथिवी-लोक के मध्य में हैं जिन द्वारा व्यापारी खरीद फ़रोख्त करके धन का संग्रह करते हैं, विशेष ध्यान देने योग्य है।

आकाश की सड़कों का व्यापार के ढंग का उपयोग अभी हाल में ही थोड़ा बहुत वर्त्तमान समय की सभ्य जातियों ने किया है। इसलिये पाश्चात्य विद्वानों का विकास सिद्धान्त वेद में वर्णित और व्यापार के लिये प्रयुक्त की जाने वाली इन आकाश की सड़कों का क्या समाधान दे सकता है?

अब इन सड़कों पर चलने वाले रथ आदिकों का भी वर्णन देखिये। वेद में बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऐसी गाड़ी जिसके आगे कई घोड़े जुते हों, ऐसे सामान्य यानों अर्थात् 'Means of conveyances' का वर्णन तो प्रायः करके आता ही है। वेद में ऐसे रथ का भी वर्णन आता है जिस पर कि एक ही समय में सैकड़ों मनुष्य सवार होसकें। यथा:—अथर्ववेद, काण्ड २०, सूक्त ७६, मं० २ में—"त्रिशोकः रथः कुत्सेन शतं नॄन् आवहत्"। इसका अर्थ है कि "रथ, कुत्स के द्वारा, सैकड़ों मनुष्यों को लेजाता है"।

एक और रथ का भी वर्णन देखिये। ऋग्वेद मण्डल १, सू० ३७, मं० १ में एक ऐसे रथ का वर्णन है जोकि वायु के वेग से चलता है। वह मन्त्र निम्नलिखित है, यथा:—

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
कण्वा अभि प्र गायत॥

इसका अर्थ यह है कि "हे बुद्धिमानो! तुम ऐसे बल की स्तुति या गुण वर्णन करो जो कि मरुत् अर्थात् वायु के कारण पैदा होता है, जिसके पैदा करने के लिये घोड़े आदि पशुओं की आवश्यकता नहीं होती तथा जिसका प्रयोग यदि रथ में किया जाय तो रथ की शोभा बढ़ जाती है, तथा जो बल क्रीड़ा के निमित्त विशेष साधनरूप है।"

इसमें "वायु के बल को रथ में प्रयुक्त करने का निर्देश" मिलता है। मन्त्र में यह भी कहा है कि इस प्रकार रथ में वायु के बल के प्रयोग से रथ के चलाने के लिये घोड़े आदि जानवरों की आवश्यकता नहीं रहती। तथा यह वायु का बल क्रीड़ा अर्थात् आनन्द का हेतु भी है। मोटरकार आदि रथों को हम क्रीड़-रथ कह सकते हैं जो कि मरुत् अर्थात् वायु के वेग से चलते हैं।

यह तो संक्षेप से वर्णन हुआ ज़मीन की सड़कों के रथों का। अब एक मन्त्र आकाश की सड़कों पर चलने वाले विमान-रथ के सम्बन्ध का भी देखिये। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ११६ का ४ थे मन्त्र निम्नलिखित है। यथा:—

तिस्रः क्षपस्त्रिरहाति व्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः॥

इस मन्त्र में तीन क्षपा अर्थात् रातों और तीन अहः अर्थात् दिनों में अर्थात् ७२ घण्टा में, आकाश में उड़ते हुए विमान द्वारा आर्द्र-समुद्र के पार जाने का वर्णन है। मन्त्र में इन विमानों का वर्णन "पतंगैः" शब्द द्वारा किया गया है। पतंग का अर्थ होता है

पक्षी। विमान को पक्षी कहते हुए वेद का यह अभिप्राय यहां स्पष्ट प्रतीत होरहा है कि इस मन्त्र में आकाश में उड़ने वाले विमानों का ही वर्णन है, समुद्री-जहाजों का नहीं। साथ ही इस मन्त्र के इस वर्णन पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये कि ये विमान आकाश में रात में भी उड़ते हैं। प्रतीत होता है कि रात में विमानों के उड़ने के लिये जिन २ और विशेष साधनों या उपकरणों की आवश्यकता होती है, वेद ने उनकी भी पूर्व कल्पना करली है।

इन रथों तथा विमानों का वर्णन विकासवाद की जड़ को हिला रहा है।

(६) और भी देखिये। वेद में शत्रु के मारने के लिये सिक्के या सिक्के की गोली का भी वर्णन मिलता है। अथर्ववेद, काण्ड १, सू० १६ का ४र्थ मन्त्र विशेष ध्यान देने योग्य है। यथाः —

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नो सो अवीरहा॥

इसका अर्थ है कि "अगर तू हमारी गौ का वध करता है या घोड़े का, अथवा पुरुष का, तो हम तुझे सिक्के से बीन्धते हैं, ताकि तू अवीरों को हत्या करने वाला न होसके"।

इस मन्त्र में "सीसेन विध्यामः" इन शब्दों का प्रयोग अत्यन्त गौरव का है। इसमें विध्यामः पद स्पष्ट रूप से बींधने अर्थ को जतला रहा है, जोकि बन्दूक द्वारा गोली चलाने की विधि को सूचित करता है। बन्दूक द्वारा गोली चलाने का वर्णन "नालिका" शब्द द्वारा हुआ है।

इस मन्त्र का मि० ग्रिफिथ द्वारा किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद भी यहां उद्धृत किया जाता है, यथाः-

"If thou destroy a cow of ours, a human being, or a steed, we pierce thee with this piece of lead so that thou mayst not slay our men."

क्या विकास सिद्धान्त अथर्ववेद के "सिक्के द्वारा शत्रु के बींधने" के वर्णन का समाधान कर सकता है? कदापि नहीं।

(७ और देखिये। अथर्ववेद १०। २। ११ में रक्तप्रवाह का भी वर्णन है। इस मन्त्र में यह दर्शाया है कि शरीर में खून गति करता रहता है। यथाः—

को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।

तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥

इसका अभिप्राय यह है कि "इस पुरुष में किस ने जलों (Liquids) को रक्खा है, जो कि शरीर में सब ओर गति करते हैं, जो लाल, नीले आदि भिन्न २ रङ्गों वाले हैं, जिनमें लोहा विद्यमान है, जो हृदय की ओर तथा उसकी विमुख दिशा में गति करते हैं।"

इस वर्णन में खून की गति का स्पष्ट वर्णन है। इसी प्रकार वेद में हृदय और खून की नाड़ियों की उपमा समुद्र और नदियों से दी गई है। इस उपमा में हृदय को समुद्र, खून की नाड़ियों को नदियां तथा खून को जल कहा गया है। वेद ने इस उपमा से स्पष्ट समझा दिया कि शरीर की नाड़ियों में खून इसी प्रकार हरकत कर रहा है जिस प्रकार नदियों में पानी।

पश्चिमी संसार में इस सिद्धान्त का ज्ञान कि खून शरीर में हरकत करता है, ईस्वी सन् १८०० में हुआ था। तो वेद में, जो कि ईसा से अत्यन्त प्राचीन है, खून की गति या प्रवाह का सिद्धान्त कैसे आया—इस का ठीक उत्तर विकास सिद्धान्त नहीं दे सकता।

इस उपमा द्वारा एक और सिद्धान्त का भी वर्णन वेद ने कर दिया है। नदियों द्वारा जो जल समुद्र में गिरता है, वह उस जल की अपेक्षा, जो कि समुद्र से भाप बनकर आकाश में जाता है और फिर वर्षा के द्वारा नदियों में आता है, अशुद्ध होता है। समुद्र से आकाश मार्ग में शुद्ध जल उड़कर जाता है और नदियों द्वारा वह अशुद्ध होकर फिर समुद्र में जा गिरता है। इस प्रकार यह शुद्ध और अशुद्ध जल का चक्र सदैव चलता रहता है। इस शरीर की दुनियां में, जहाँ कि हृदय समुद्र है नाड़ियां नदियां और खून जल है। शुद्ध खून हृदय के समुद्र से निकलता और वह बहता २ अशुद्ध होकर फिर हृदय में आ गिरता है। इस शुद्ध और अशुद्ध खून का निर्देश उपरोक्त मन्त्र में "अरुणाः" और "ताम्रधूम्राः" शब्दों द्वारा किया गया है।

इस प्रकार वेद में केवल यह ही नहीं दर्शाया कि शरीर में खून सदैव गति करता रहता है अपितु साथ ही यह भी दर्शा दिया है कि हृदय से बाहिर जाने वाला खून शुद्ध हुआ करता है और शरीर का चक्र करने के बाद जो खून हृदय की ओर आता है वह अशुद्ध हुआ करता है।

क्या कोई यह दर्शा सकता है कि खून के सम्बन्ध के ये दो सिद्धान्त, एक तो खून की गति का और दूसरा इसके शुद्ध और अशुद्ध का, भारत के प्राचीन असभ्यों को कैसे ज्ञात हो गये थे। जब कि पश्चिम के विद्वानों को खून की हरकत का ज्ञान ईसा की १८ वीं शताब्दी में हुआ।

ऊपर के मन्त्र में "लोहिनीः" शब्द भी आया है। इसका अर्थ है—"लोहे वाला"। रक्त में लोहा हुआ करता है इसे आजकल का वैज्ञानिक संसार मानता है। वेद में इस वैज्ञानिक खोज का भी वर्णन 'लोहिनीः' शब्द द्वारा कर दिया गया है। यह वर्णन भी विकासवाद की जड़ पर कुठाराघात है।

इस प्रकार वेदों में सैकड़ों दृष्टान्त मौजूद हैं जो कि वर्त्तमान शताब्दी के बड़े से बड़े विचार के साथ टक्कर खा सकते हैं, परन्तु इस लेख में उन सब का लिखना असम्भव है। वेदों में ऐसे वर्णनों का जवाब विकास सिद्धान्त नहीं दे सकता। वेदों के पाश्चात्य तथा भारतीय कतिपय विद्वान् भी वेदों को पढ़ते हुए स्थान २ पर ऐसे २ उच्च विचारों को देखते हैं जिनसे कि वे एकदम निस्तब्ध हो जाते हैं और खुले दिल से लिखने के लिये बाधित हो जाते हैं कि वेद के अमुक २ विचार असभ्य लोगों की सम्पत्ति में शामिल नहीं किये जा सकते। इसकी पुष्टि में निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे।

(१) ग्रिफिथ महोदय "सत्येनोत्तभिता भूमिः" (अथर्व० १४। १) के अनुवाद के सिलसिले में अपनी टिप्पणी में लिखते हैं। यथाः—

It sounds, no doubt, very well to translate 'सत्येनोत्तभिता भूमिः'' by 'the earth is founded on truth, and I believe every translator has taken Satya in that sense here. But such an idea, if it contains any tangible meaning at all, is far too abstract for those early poets & philosophers.'

इसका अभिप्राय यह है कि—"सत्येनोत्तभिता भूमिः" इसका अनुवाद यही उचित प्रतीत होता है

कि सत्य नियमों पर भूमि ठहरी हुई है। मेरे विचार में प्रत्येक अनुवादक ने सत्य पद का यही अर्थ यहां लिखा है। परन्तु ऐसा विचार प्राचीनकाल के कवियों तथा तत्त्ववेत्ताओं की समझ से बिल्कुल बाहिरका है।

इससे ग्रिफिथ महोदय यह सूचित करते प्रतीत होते हैं कि यह मन्त्र प्राचीन समय की सभ्यता का परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि उसके मत में वह सभ्यता इतनी ऊँची न थी, जितनी ऊँची कि वह इस मन्त्र के अर्थ से प्रतीत होती है।

(२) प्रोफ़ेसर मैक्समूलर अपनी पुस्तक "The six systems of philosophy" के ५० पृष्ठ पर ऋग्वेद १०। १२९ के नासदीय सूक्त पर (जिसमें कि प्रलयावस्था और सृष्टि का वर्णन है) लिखते हैं। यथा:—

But the step from a sexual to sex less god, from a mythological to a meta-physical had evidently been made at that early time. It is strange to meet with this bold guess in a collection of hymns the greater part of which consists of what must seem to us childish petitions addressed to the numerous Devas or gods of nature. Even the question which in Europe was asked at a much later date, where the Creator could have found a........for creating the world out of matter or out of nothing, had evidently passed through the minds of the Vedic seers when they asked Rv.X,8I, 2 and 4 'what was the stand, what was the support, what and how was it, from whence the all seeing Visvakarman produced by his might the earth and stretched out the sky ?' These startling outbursts of philosophic thoughts seem indeed to require the admission of a long continued effort of meditation and speculation before so complete a rupture with the old conception of physical gods could have become possible. We must not, however, measure every nation with the same measure. It is not necessary that the historical progress of thought, whether religious or philosophical, should have been exactly the same in every country, nor must we forget that there always have been privileged individuals whose mind was untrammelled by the thoughts of the great mass of the people, and who saw and proclaimed, as if inspired by a power not themselves, truths far beyond the reach of their fellow men.

इसका अभिप्राय यह कि—इस सूक्त के समय के ऋषियों ने मनुष्य प्राकृतिक परमात्मा को त्याग कर अवश्य ही अलिङ्ग परमात्मा के ज्ञान की ओर पग बढ़ाया था।

ऋग्वेद संहिता जिसके भागों में प्रायः करके भिन्न २ और नाना देवताओं के प्रति बालसुलभ प्रार्थनाओं का वर्णन हमें प्रतीत होता है, उनके मध्य में इस प्रकार के दार्शनिक तत्त्वों का आजाना वास्तव में आश्चर्य कारक है।

वह समस्या जो कि यूरोप में वैदिक युग के बहुत पीछे के समय में ही उपस्थित हुई है, जो कि संसार

के मूल कारण के सम्बन्ध की है, वह निश्चित रूप से ऋ० १०। ८१। २,४। के द्रष्टा ऋषियों के मन में वैदिक समय में उपस्थित हो चुकी थी।

दार्शनिक तत्त्वों के सम्बन्ध में ये आश्चर्यजनक उद्गार अवश्य ही इससे पूर्व समय में विद्यमान चिर-काल व्यापी विचार और मनन के ही परिणाम हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि धर्म सम्बन्धी या दर्शन सम्बन्धी विचारों की उन्नति का क्रम सभी देशों में एक ही जैसा हो। हमें यह भी भूलना नहीं चाहिये कि देशों में प्रायः करके विशेष २ व्यक्ति भी पैदा हुए हैं, जिनके विचार जनसमुदाय के विचारों से बहुत आगे बढ़े हुए थे। और जिन्होंने मानो कि किसी दैवी शक्ति द्वारा प्रेरित हुए २ ऐसी सचाइयों को भी देख लिया था—जिनका देखना उस समय के जन समुदाय की पहुंच से बाहिर था"।

यह प्रो० मैक्समूलर के लम्बे लेख का भावानुवाद है। ऋग्वेद के इस नासदीय सूक्त से मोहित होकर, मैक्समूलर ने, इस लेख में अपने विकास सिद्धान्त को कुछ देर के लिये दूर हटा कर सचाई के असली रूप को देखा प्रतीत होता है। इस लेख से मैक्समूलर ने यह भी स्वीकार किया है कि नासदीय सूक्त के ये उच्च विचार स्वभावतः किसी दैवी शक्ति द्वारा प्रेरित हों। प्रो० मैक्समूलर के ये शब्द वेदों में उच्च भावों की सत्ता तथा उसके दैवी होने में क्या प्रबल प्रमाण से प्रतीत नहीं हो रहे?

३—स्वर्गीय पं० सत्यव्रत सामश्रमी जो कि कल-कत्ता यूनिवर्सिटी में वैदिक साहित्य के उपाध्याय थे, अपनी पुस्तक 'त्रयी परिचय' की भूमिका में लिखते हैं। यथाः—

६

Our opinion is that in vedic times our country had made extra ordinary progress. In those days the science of Geology, Astronomy, and Chemistry were called आधिदैविक विद्या, and those of physiology Psychology and Theology अध्यात्मविद्या. Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, there are sufficient indications in Vedic works of those sciences having been widely known in those days. It is needless to say.

जिसका कि भाव इस प्रकार है। यथाः—"हमारी सम्मति है कि वैदिक समय में हमारा देश अर्थात् भारतवर्ष विशेष उन्नत था। उस समय में भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र और रसायन शास्त्र को आधिदैविक विद्या और शरीर शास्त्र, मनोविज्ञान और धर्मशास्त्र को अध्यात्म विद्या के नाम से पुकारा जाता था। यद्यपि उस समय के विज्ञान के ग्रन्थ इस समय विलुप्त हैं; परन्तु तो भी वैदिक साहित्य में उन विज्ञानों के सम्बन्ध के पर्याप्त निर्देश हैं जो कि वैदिक समय में सर्वसाधारण तक ज्ञात थे। इसके कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि वर्त्तमान समय में वेदों में आये हुए वैज्ञानिक निर्देशों को न समझ सकने का कारण विज्ञानशास्त्र से अनभिज्ञ प्राचीन वेद-भाष्यकारों के अशुद्ध भाष्य ही हैं।

वेदों के कुछ हिस्सों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में कई वैज्ञानिक अन्वेषण इतनी पूर्णा-वस्था तक पहुंच चुके थे जहां तक वर्त्तमान समय के योरूप तथा अमरीका वासी भी अभी तक नहीं पहुंच पाये। वास्तव में पूर्ण और सन्तोषजनक वेदभाष्य

बनाने के लिये आवश्यक है कि भाष्यकर्त्ता विज्ञान की भिन्न २ शाखाओं का अच्छा पण्डित हो। इसलिये यह स्पष्ट ही है कि वेदों का भाष्यकर्त्ता वही हो सकता है जो कि कृषि शास्त्र, व्यापार, भूगर्भशास्त्र, ज्योतिष, Hydrostatics, अग्नि विद्या, वनस्पति, प्राणिशास्त्र, शरीरशास्त्र तथा युद्ध शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो।

इस प्रकार स्वर्गीय पं० सत्यव्रत का लेख भी, जो कि वेदों को उच्च प्रकार के वैज्ञानिक विचारों की खानि मानता है, विकास सिद्धान्त को जड़ से हिला रहा है।

४–मि० पावगी जो कि महाराष्ट्र देश के नामी वैदिक विद्वान् हैं, उन्होंने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है "The vedic fathers of geology"। उसमें उन्होंने यह दर्शाने की कोशिश की है कि वेदों में, वर्त्तमान समय के geology के सभी मुख्य २ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है। और वे इस परिश्रम में पर्याप्त सफल भी हुए हैं।

इसलिये जब कि वेदों में हर प्रकार के उच्च विचार मिलते हैं जिनकी सत्ता को भारत के तथा पश्चिम के उच्च कोटि के वैदिक विद्वान् भी मानते हैं तब प्रश्न पैदा होता है कि प्राचीन समय की असभ्य जाति ने ऐसे उच्च विचारों को कैसे जाना? इस प्रश्न का विकास सिद्धान्त कोई उत्तर नहीं दे सकता। इसलिये जब तक कोई और नई कल्पना वैज्ञानिक संसार बना नहीं लेता जिसके कि आधार पर इस विषम समस्या का हल हो सके तब तक हमें पुरा काल से आई हुए, उपनिषदों तथा दर्शन कर्त्ताओं द्वारा स्वीकृत तथा वेदों की अन्तः साक्षी द्वारा प्रमाणित की गई कल्पना को ही शिरोधार्य करना चाहिये। वह यही कि वेद पौरुषेय नहीं, ये अपौरुषेय हैं, परमात्मा की वाणी हैं। इस प्रकार ये वेद अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी सत्य विद्याओं के भण्डार प्रतीत होते हैं।

शतपथ ब्राह्मण व्याख्या

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थ ब्राह्मणम्

[ले०—श्री पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति]

हविषोऽवहननम्

ब्राह्मण—अथकृष्णाजिनमादत्ते यज्ञस्येवसर्वलाय। यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम। सकृष्णो भूत्वा चचार। तस्यदेवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाऽऽजह्रुः ॥१॥

अर्थ—पात्रों को शुद्ध कर लेने के अनन्तर अब अन्न कूटना है अतः प्रथम काले हरिण के चर्म को ग्रहण करता है। इसका प्रयोजन इतना ही है कि यज्ञ पूरा होजाय। यज्ञ[1] देवों से भाग निकला। वह यज्ञ कृष्ण अर्थात् आकर्षक[2] होकर विचरने लगा। देवों ने

१—कृष्णाजिन का क्या महत्त्व है, उस महत्त्व को उपाख्यान से प्रकट करते हैं।

२—यज्ञ का स्वरूप कृष्ण अर्थात् आकर्षक था। यज्ञ

पहिचान कर उसकी त्वचा अर्थात् आकर्षकभाव अर्थात् वाह्य आवरण को ही उतार कर रख लिया॥१॥

ब्राह्मण—तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि तन्यृचां च साम्नां च रूपं यानि च शुक्लानि तानि साम्नां रूपं यानि कृष्णानि तान्यृचां, यदि वेतरया यान्येव कृष्णानि तानि साम्नां रूपं यानि शुक्लानि तान्यृचां, यान्येव बभ्रूणीव हरीणि यजुषां रूपम् ॥२॥

अर्थ—उसके जो सफेद और काले रोम हैं वे ऋचाओं के और सामो के रूप हैं अर्थात् जो सफेद हैं वे सामों के रूप है और जो काले हैं वे ऋचाओं के हैं, अथवा[3] दूसरी तरह से अर्थात् जो काले हैं वे सामों के रूप हैं और जो सफेद हैं वे ऋचाओं के हैं और जो भूरे से रङ्ग के हरे २ हैं वे यजुः के रूप हैं॥२॥

ब्राह्मण—सैषा त्रयीविद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्प मेष वर्णस्तद्यत्कृष्णाजिनं भवति, यज्ञस्यैव सर्वत्वाय, तस्मात्कृष्णाजिन मधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय, तस्माद्ध्यव हननमधिपेषणं भवति, अस्कन्नंहविरसदिति। तद्यदेवोत्र तण्डुलोवा पिष्टं वा स्कन्दात्, तद्यज्ञे यज्ञः प्रतितिष्ठादिति। तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति॥३॥

अर्थ—यह त्रयीविद्या[4] यज्ञ है। उस त्रयीविद्या के स्वरूप को जो जानता वही यज्ञ की ओर खिंच जाता अर्थात् यज्ञ करने को तय्यार होजाता। देवों ने यह ख्याल करके कि अयथाविधि से सम्पादन किया हुआ यज्ञ विघातक होता है और इस का रूप कृष्ण है अर्थात् आकर्षक है, इसलिये देवों ने यज्ञ के आकर्षक भाव वाह्य आवरण को ही उतार कर रख लिया अर्थात् उसका आकर्षकभाव हटा दिया।

३—कल्पना किसी प्रकार से भी की जा सकती है। तीन रूप हैं शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित। मिश्रित को यजुः समझने से शुक्ल कृष्ण में किसी को भी ऋक् साम समझा जा सकता है, क्योंकि त्रिविद्या के आधार पर कार्य करने के लिये संकेत रूप से आधार रूप कृष्णाजिन का ग्रहण किया है॥

४—सम्पूर्ण यज्ञ का आधार त्रयीविद्या को बताया है, और त्रयीविद्या को भी यज्ञ रूप कहा है। इससे स्पष्ट है कि जितनी रचना है वह यज्ञ रूप है और उस यज्ञ का स्वरूप त्रयीविद्या अर्थात ऋक्, यजुः, साम है, अर्थात् सम्पूर्ण रचना ऋक् यजु साम मय है। किसी भी रचना को तीन भागों में बांटा गया है। एक भाग रचना में घटक अवयवों का सम्बन्ध है दूसरा भाग घटक अवयवों के सम्बन्ध से बना हुआ आकार है और तीसरा भाग उस रचना का वह क्षेत्र है जितने क्षेत्र में उस रचना का प्रभाव उत्पन्न हो रहा है। रचना का आकार ऋक् है यह छन्द रूप है क्योंकि उस रचना को अन्य रचना से पृथक् कर रहा है। रचना का प्रभाव जितनी दूर तक हो रहा है वह सीमा साम है। रचना के ऋक् के बीच में जिस प्राण शक्ति से घटक अवयवों में सम्बन्ध होकर वह रचना बनी है वह प्राण शक्ति यजु है। घटक अवयवों में प्राण का बल जितना अधिक होता है उसी के अनुसार ऋक् की दृढ़ता रूप में छन्द होता है और उस प्राण के बल के अनुसार ही उस रचना के ऋक का साम होता है। यजुः के बलाबल के अनुसार ही ऋक् का छन्द और साम घटते बढ़ते रहते हैं। रचना के घटक अवयवों में प्राण का जो बल है वह एक इन्द्र है। इस इन्द्र के अनुसार घटक अवयवों में गति रूप इन्द्र प्रकट होता है और रचना बन जाती है। ऋक् और साम इन्द्र के तारतम्य के अनुसार बदलते रहते हैं। यह ऋक् यजुः और साम का भाव प्रत्येक रचना में होने से प्रत्येक रचना ऋक् यजुः साम मय अर्थात् त्रयीविद्या रूप समझी जाती है। सम्पूर्ण रचना ही यज्ञ होने से त्रयीविद्या को यज्ञ कहा है॥

का ही यह शिल्प[५] अर्थात प्रतिकृति वा नकल और रूप है जो यह कृष्णाजिन है, वह यज्ञ को पूरा रखने के लिए ही है इस कारण कृष्णाजिन के ऊपर दीक्षा लेते हैं कि यज्ञ पूरा बना रहे उसमें कमी न आवे; इस कारण कृष्णाजिन के ऊपर खोटना पीसना होता है कि अन्न जमीन पर न गिरे, अर्थात् जो भी कुछ तण्डुल वा पीठी गिरे वह यज्ञ रूप कृष्णाजिन पर यज्ञ रूप से ही पड़ी रहे, इसी कारण कृष्णाजिन के ऊपर खोटना पीसना होता है ॥ ३ ॥

मन्त्र—शर्मास्यवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथु बुध्नः प्रतित्वाऽदित्या स्त्वग्वेत्तु ॥ यजु० अ० १ मं० १४॥

ब्राह्मण—अथ कृष्णाजिन मादत्ते शर्मासीति । चर्म वा एतत् कृष्णस्य, तदस्यतन्मानुषं शर्म देवत्रा तस्मादाह शर्मासीति । तदवधूनोति—'अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातय' इति । तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्त्यतिनत्येव । पात्राण्यवधूनोति । यद्ध्यस्यामेध्यमभूत् तद्ध्यस्यैतदवधूनोति ॥ ४ ॥

अर्थ—त्रयीविद्यारूप कृष्णाजिन को लेते हुए मन्त्र बोले 'शर्मासि' मन्त्र का अर्थ है कि तू शर्म है । है तो यह वस्तुतः कृष्ण का चर्म, परन्तु वहां यज्ञ में इसका वह चर्म नाम कहना मानुष प्रयोग करना

५—रचना और शिल्प में कुछ भेद नहीं है । रचना को ही शिल्प कहते हैं । शिल्प दो प्रकार का है—एक अपूर्व शिल्प होता है दूसरा प्रति रूप शिल्प होता है सृष्टि के अन्दर दो प्रकार का शिल्प है—एक ईश्वर कृत शिल्प है और दूसरा जीव कृत शिल्प है । जो शिल्प ईश्वर कृत है वह इसलिये ईश्वर कृत कहाता है क्योंकि जीव उस शिल्प को, विना ईश्वरीय शिल्प की सहायता के स्वतंत्रता से नहीं बना सकता ईश्वरीय शिल्प उसके अपने ही शिल्प का सर्वदा अनुकरण होने से सर्वदा प्रतिरूप शिल्प होता है । ईश्वरीय शिल्प की कल्पना सर्वदा यथापूर्व हुआ करती है । परन्तु जीवकृत शिल्प ईश्वरीय शिल्प के प्रतिरूप भी होता है और अपूर्व भी होता है । जो जीवकृत शिल्प ईश्वरीय शिल्प के प्रतिरूप होता है वह ईश्वरीय शिल्प में भी पाया जाता है, जैसे मट्टी का बना हुआ घोड़ा, काठ का बना हाथी और चर्म का बना हुआ मृग इत्यादि; परन्तु जो शिल्प अपूर्व होता है वह ईश्वरीय शिल्प में नहीं पाया जाता, जैसे मकान, कुर्सी, मेज वर्तन, वस्त्र, तोप, बन्दूक, यन्त्र आदि । जितना भी शिल्प है चाहे ईश्वरीय हो और चाहे जैव हो वह सब बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है । बाह्य शिल्प वाङ्मय है स्थूल है और आभ्यन्तर शिल्प मनोमय है सूक्ष्म है । जीव को वाङ्मय शिल्प बनाने में ईश्वरीय शिल्प के अंक को ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ती है परन्तु मनोमय शिल्प के लिये ईश्वरीय शिल्प के थोड़े भी अंश को लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती । मनोमय शिल्प का प्रतिरूप वाङ्मय शिल्प होता है । जीव का मनोमय शिल्प अपूर्व और प्रतिरूप दोनों तरह का होता है, परन्तु ईश्वरीय मनोमय शिल्प अपूर्व ही होता है स्थूल पदार्थों के आकारों के अन्दर स्थूलता को उत्पन्न करने वाला जो पदार्थ (matter) भरा हुआ है उसका नाम वाक् है । उस वाक् से बना हुआ जितना शिल्प है वह वाङ्मय शिल्प है । सोते समय स्वप्न के अन्दर, और विषय के सन्मुख न रहते हुए भी जागृत समय में विषय की सन्मुखता, तथा सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर में भी सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान रूप से अस्तित्व, यह सब मनोमय शिल्प है । इस प्रकार यज्ञ के अन्दर कृष्णाजिन, त्रयीविद्या रूप यज्ञ का प्रति रूप शिल्प है । कृष्णाजिन की प्रतिरूपता त्रयीविद्या के साथ क्या है यह पहिले बतलाई जा चुकी है ॥

है देव लोग इसे शर्म[1] नाम से कहते हैं, इसीलिए वह कहता है कि तू शर्म है। अब वह उस कृष्णा-

जिन को झटकता है। झटकते हुए मन्त्र पढ़ता है 'अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः' अर्थात् राक्षस झटक दिए अराति झटक दिए। वहां कृष्णाजिन में नाशकारी[2] ही ये राक्षस होते हैं इसलिए उन्हें दूर करता है। झटकने का काम कुछ बहुत झुक करके करता है कि कहीं पात्रों पर नाष्ट्र न बैठ जावें। झटकने से कहीं समीपस्थ पात्रों में न चले गए हों इसलिए वह पात्रों को भी झाड़ लेता है। पात्रों को झाड़ते हुए भी वही मन्त्र बोलता है। इस प्रकार जो भी कुछ अमेध्यता अर्थात् अयज्ञियता होगई होती है उस सब को निकाल देता है ॥ ४ ॥

ब्राह्मण—तत्प्रतीचीनग्रीवमुपस्तृणाति—'अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु' इति। इयं वै पृथिव्यदितिः, तस्या अस्यै त्वग्य दिदमस्यामधि किञ्च, तस्मादाहाऽदित्यास्त्वगसीति। प्रति त्वाऽदितिर्वेत्त्विति—प्रति हि स्वः संजानीते, तत्संज्ञा मेवैतत् कृष्णाजिनाय च वदति, नेदन्योऽन्यं हिनसात इति अभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिन की ग्रीवा को पश्चिम दिशा में रखता हुआ बिछाता है। बिछाते हुए मन्त्र बोलता है 'अदित्या स्त्वगसि प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु' इसका अर्थ है कि तू अदिति का त्वक् है, अदिति तुझको पहिचान ले। यह पृथिवी ही अदिति[3] है। उस पृथिवी अदिति

१—देव जिस नाम को रखते हैं उसमें कुछ गूढ़ रहस्य छिपा रहता है। चर्म जो शरीर की त्वचा होता है वह शरीर के अन्दर के सब अवयवों की रक्षा करता है। शरीर को समाज के रूप में समझा जाय तो समाज रूपी शरीर के अन्दर के अवयवों की रक्षा के लिये शरीर की त्वचावत् समाज में ब्राह्मण लोग होते हैं। सामाजिक लोगों का कार्य ठीक चलता रहे, उनमें किसी प्रकार की गड़बड़ न होने पावे, सुव्यवस्था से रहने से उनके जीवन नीरोग दीर्घ हों वे सदाचारी रहें, और आवश्यक दोषों को ढके रहें। इस प्रकार से रक्षा करने का कार्य शरीर की त्वचावत् ब्राह्मण लोगों का है। इसलिये उसी संकेत के अनुसार ब्राह्मण लोगों को शर्मा कहा जाता है। जो मनुष्य अपने नाम के आगे शर्मा लगाते हैं वे समाज के प्रति अपने फ़र्ज़ को प्रकट करते हैं चूंकि वे समाज के अन्दरूनी जीवन सम्बन्धी मामलों के रक्षक हैं। इसी प्रकार शरीर के ऊपर आने वाले बाह्य आघातों से शरीर को बचाने के लिये कवच पहिना जाता है। कवच को वर्म कहते हैं। कवच स्थानीय जो लोग बाहर के आक्रमणों से समाज की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हैं और अपने फ़र्ज़ को प्रकट करने के लिये अपने नाम के आगे वर्मा लगाते हैं। जो मनुष्य समाज की रक्षा धन आदि से समृद्धि बढ़ाकर करते हैं वे अपने फ़र्ज़ को प्रकट करने के लिये अपने नाम के आगे गुप्त लगाते हैं। जो मनुष्य तीनों उच्च वर्णों के लोगों के कार्यों को सुचारु रूप से चलते रहने देने के लिये उनकी मदद करते हैं वे शूद्र हैं और अपने फ़र्ज़ को सूचित करने के लिये अपने नाम के आगे दास लगाते हैं। इस प्रकार त्वचा का नाम देव लोगों ने शर्म कह कर एक बड़ा गूढ़ भाव अभिव्यक्त किया ॥

२—जहां २ राक्षस के साथ नाष्ट्र शब्द लगा हुआ है वहां २ क्रिमिरूप राक्षस और तत्सम्बद्ध दुष्टवायु ही लिये जाते हैं अन्य मनुष्य देहधारी राक्षस नहीं लिये जाते हैं ॥

३—किसी मनुष्य के लिये, पृथिवी का वह भाग जिस पर सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्य का प्रकाश रहता है, अदिति कहलाता है ॥

के ऊपर जो भी कुछ है वह सब इस पृथिवी का त्वक् है अर्थात् पृथिवी को ढकने का साधन है। कृष्णाजिन[४] भी उन्हीं ढकने के साधनों में से एक साधन है, इस कारण कहता है कि तू अदिति का त्वक् है। 'प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु' इसका अर्थ है कि अदिति तुझको[५] पहिचान ले, क्योंकि आत्मा आत्मीय को वा अपना अपने को पहिचानता है। बस! उस पहिचान को ही कृष्णाजिन के सामने बोलता है कि कहीं आपस में अनुकूलता न बनी रहे। पहिचन-वाते हुए अपना बांया[६] हाथ कृष्णाजिन पर रक्खे ही रहता है ॥ ५ ॥

४—पृथिवी के ऊपर वर्तमान अन्य पदार्थों में त्वक्पना रहते हुए भी ऐसा पदार्थ चुना गया है जो ईश्वरीय शिल्प का है, त्रयीविद्या का प्रतिनिधि हो सकता है और जो स्वयं त्वक् ही है जिसे बिछाकर उस पर कुछ कार्य किया जा सकता है। ये सब लक्षण किसी अन्य त्वचा में रहते हुए भी किसी व्यवस्था को कायम करना आवश्यक है। प्राचीन व्यवस्था को बिगाड़ने के लिये कुछ कारण न होने से और उससे सम्यक् कार्य निकल जाने से नई व्यवस्था कल्पना करना व्यर्थ है अतः व्यवस्था के अनुसार पद्धति को स्थिर रखने के लिये कृष्णाजिन का ही ग्रहण करना उचित है अन्य का नहीं ॥

५—जैसे कोई आदमी, दूसरे आदमी को परस्पर अनुकूलता प्रकट करने के पहिचान करता है अथवा आत्मा आत्मीय के साथ अनुकूलता प्रकट करने के लिये पहिचानता है जैसे कोई पुरुष अपने पुत्र को देखकर अनुकूलता प्रकट करने के लिये कहता है कि यह मेरा पुत्र है वैसे ही कोई पुरुष पिता पुत्र में या आत्मा आत्मीय में अनुकूलता प्रकट करने के लिये परिचय करवाता है कि यह आपका पुत्र है अथवा यह आप की वस्तु है। इस प्रकार परिचय में एक प्राण दूसरे के प्राण के साथ मिलकर दूसरे के प्राण को अपने प्राण के अन्दर ले आता है। परस्पर प्राणों के मिलने से दोनों के प्राणों की वृद्धि होती है, दोनों के प्राण का क्षेत्र बढ़ जाता है। जब तक क्षेत्र बढ़ता है तब तक समृद्धि होने के कारण एक प्रकार का आनन्द आता है जिसे समृद्धानन्द वा हर्ष वा सुख कहते हैं और जब बढ़ने की क्रिया समाप्त होकर शान्त होजाती है तब उसी आनन्द को शान्तानन्द वा आनन्द कहते हैं। इस प्रकार परिचय से पहिले प्राणों में न मिलना रूप जो प्रतिकूलता वा हिंसा थी वह दूर हो जाती है। यज्ञ के अन्दर उपयुक्त सब पदार्थों में प्राणों की परस्पर अनुकूलता रहती है उसी से यज्ञ समृद्ध रहता है फलवान् होता है और किसी भी स्थान में यदि अनुकूलता टूट जावे तो यज्ञ विनिष्ट होजाता है, निष्फल होजाता है वा कमजोर पड़ जाता है। प्राण सर्वत्र व्याप्त है इसलिये जड़ वा चेतन सब पदार्थों के प्राणों मे अनुकूलता वा प्रतिकूलता हुआ करती है। जैसे कोई मनुष्य अन्य दो मनुष्यों में परिचय करवाकर अनुकूलता स्थापित करवाता है और प्रतिकूलता को दूर करवाता है, वैसे ही यहां भी कृष्णाजिन और अदिति में अपने संकल्प से वा आज्ञा से अनुकूलता स्थापित की जाती है और प्रतिकूलता दूर की जाती है ॥

६—एक मनुष्य के जब दो ऐसे मित्र एक साथ उसके पास उपस्थित होते हैं जिनमें परस्पर पहिचान नहीं होती है तब वे अपने मित्र के पास पहुंचकर आपस में परिचय न होने के कारण कुछ उपरिसा अनुभव करते हैं, परन्तु जब उनका आपस में परिचय करवा दिया जाता है तब वे अपने आपको एक दूसरे से अलग सा अनुभव नहीं करते किन्तु एक दूसरे के साथ योग देने लगते हैं क्योंकि परिचय के कारण परस्पर आत्माओं का सम्बन्ध होता है। पहिचनवाने के अन्दर जैसे अपना हाथ मित्र के कन्धे पर, पीठ पर वा उसकी ओर ही रक्खा जाता है वैसे यहां भी अपना बायां हाथ कृष्णाजिन पर रक्खे ही रहता है।

सम्पादकीय टिप्पणियां

१—ब्राह्मी की सेवन-विधि।

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती, महाराजा जोधपुर को पत्र लिखते हुए जोधपुर के महाराज कुमार के सम्बन्ध में लिखते हैं किः—

आप अपने पुत्र जो कि महा (रा) ज कुमार हैं इनको खाने पीने आदि से संकोचित मत रखियेगा पाव भर गाय के दूध में मासा भर सोंठ को मिला छान थोड़ा सा गरम कर ठंढा करके ब्राह्मी औषधी के साथ मिलवाते रहिये जिससे महाराजकुमार के बुद्धि बल पराक्रम आयु और विद्या बढ़ती रहे।

२—संन्ध्या का अंग्रेज़ी में अनुवाद।

राव राजा तेजसिंहजी के नाम एक पत्र महर्षि का है जिसके ७वें पैराग्राफ़ में लिखा है किः—

"और जो संध्या का अनुवाद अंग्रेजी का गुटका आप लेगये थे वह भिजवा दीजिये।" इससे पता लगता है कि महर्षि ने अपनी सन्ध्या का अनुवाद अंग्रेजी में करवाया था, इससे यह सूचित होता है कि महर्षि यह चाहते थे कि उनके सिद्धान्तों का प्रचार उन लोगों में भी हो जोकि विदेशी भाषा के जानने वाले हैं या विदेशी हैं। आर्यसमाज को चाहिये कि महर्षि के ग्रन्थों के विशुद्ध अनुवाद जहाँ तक होसके मुख्य २ सभी विदेशी भाषाओं में करवाए।

३—स्वस्तिक चिन्ह।

भारत में यह मंगल-चिन्ह समझा जाता है। आजकल स्वस्तिक का मुख्य आकार 卐 यह प्रचलित है। वर्त्तमान भारत में शुभ अवसरों पर मांगलिक द्रव्यों से यह स्वस्तिक चिन्ह अङ्कित किया जाता है। स्वस्तिक चिन्ह कई आकारों तथा प्रकारों का होता है। पौराणिक सनातनी भाई आजकल मंगल कार्य के समय गणेश पूजन से पूर्व इन चिन्ह को प्रायः बनाते हैं। प्राचीन भारत में भी इस स्वस्तिक चिन्ह का वर्णन आता है। Inquirer पत्र में स्वस्तिक चिन्ह की बहु देश व्यापिता का वर्णन किया गया है। स्वस्तिक शब्द संस्कृत का है इसमें कोई शक नहीं। शान्ति और कल्याण का सन्देश है।

न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, एशिया, आफ्रिका, यूरोप तथा अमरीका में सर्वत्र थोड़े बहुत आकार-प्रकार के भेद के साथ स्वस्तिक चिन्ह का व्यवहार किया जाता है। मध्य-इटली के प्राचीन नगर एट्रेरिआ के वर्तनों पर स्वस्तिक चिन्ह पाया जाता है। चीन और जापान में बुद्ध की मूर्त्तियों पर कई शताब्दियों तक स्वस्तिक चिन्ह रहा है। अमरीका में भी प्राचीन खुदाइयों में स्वस्तिक चिन्ह मिला है। इंगलैण्ड में स्वस्तिक चिन्ह को Flyflot देर तक कहते रहे हैं। फ्रांस में स्वस्तिक का नाम है Croix gammee. स्कण्डिनेविया में इसे थोर देवता का मुद्गर (Thor's Hammer) कहते हैं। स्वस्तिक जीडस, ज्युपिटर, बाल, अग्नि और इन्द्र देवताओं का भी चिन्ह रहा है। यह स्वस्तिक जीवन, सूर्य, आकाश, आग, प्रकाश, विद्युत् और जल का भी चिन्ह रहा है। आर्टेमिस, हेरा, अस्टर्टे और डमेटेट आदि प्रसिद्ध देवियों के साथ भी स्वस्तिक चिन्ह का सम्बन्ध रहा है। स्वस्तिक चिन्ह वर्त्तमान समय में जर्मनी का जातीय चिन्ह भी है। सम्भवतः यह स्वस्तिक चिन्ह पहले कभी राजनैतिक प्रयोजन के लिये प्रयुक्त नहीं किया गया। जर्मनी के डिक्टेटर मिस्टर हिटलर ने इस समय इस चिन्ह को

अपने राजनैतिक प्रयोजनों की सिद्धि के निमित्त प्रयुक्त किया है जो कि स्वस्तिक पद के वाच्यार्थ तथा भावार्थ के नितान्त विपरीत है। क्योंकि स्वस्तिक पद शान्ति तथा कल्याण के भावों को मुख्यरूप से द्योतित करता है।

भूलसुधार

वैदिक विज्ञान के निर्वाणाङ्क (अङ्क १,२) में मेरा एक लेख 'वेदों में इतिहासवाद' पृष्ठ ४१ से ४५ तक प्रकाशित हुआ है। उसमें मेरे उदाहृत अन्तोदात्त शब्दों का जैसा स्वर संस्थान छपना चाहिये था वैसा न छपकर सम्भवतः प्रूफ् को शोधने वालों की असावधानी से अशुद्ध छप गया है। अन्तोदात्त 'कुरव', 'नहुषः', का जैसा स्वर संस्थान यहां प्रदर्शित किया गया है ऐसा ही होना चाहिये।

आशा है कि स्वरज्ञ पाठकगण इससे रुष्ट न होंगे। पृष्ठ ४२ के दूसरे स्तम्भ (column) के तीसरे वाक्य समूह (Paragraph) में 'सम्भावना' शब्द से वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द 'सम्भाविता (Probability) समझना चाहिये।

सम्भाविता का जो मान दिया गया है वह दशमलव (Decimal) भिन्न में है। दशमलव भिन्न का चिन्ह छपने से रह गया है। यह मान भी बहुत ही स्थूल रूप में निकाला गया है। सूक्ष्म विधियों को काम में लाने से मान और भी कम हो जायेगा।

दुर्गाप्रसाद मिश्र.

प्रश्नोत्तर

श्रीयुत नारायण दलपतरामजी भगत, खाडिया, धीलेश्वर महादेव (अहमदाबाद) ने कुछ प्रश्न किये हैं। वे प्रश्न और उनके उत्तर पाठकों के मनोरञ्जन के लिये यहां दिये जाते हैं।

प्रश्न—सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥१॥
अथर्व० १९। अनु० ७। मं० १॥

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥२॥
अथर्व० १९। अनु० ७। मं० ४॥

इन दोनों मन्त्रों में सायं सायं—प्रातः प्रातः तथा प्रातः प्रातः—साय सायं," पद दोहराए गये हैं। क्या यह पुनरुक्ति नहीं है?

उत्तर—इन मन्त्रों में पुनरुक्ति नहीं है। पुनरुक्ति तब होती, यदि पहले मन्त्र के क्रम के अनुसार ही अगले मन्त्र के शब्द दोहराये जाते। अपितु वहां यह किया गया है कि पहिले मन्त्र के 'सायं' और 'प्रातः' शब्दों के स्थानों को अगले मन्त्र में बदल दिया है। इस संगठन द्वारा इन मन्त्रों में एक आलंकारिक चमत्कार पैदा हो गया है। भाव पर जोर देने का यह एक उत्तम साधन है। इस प्रकार के उदाहरण वेद में स्थान २ पर मिलते हैं। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि इन दो मन्त्रों में इन शब्दों के दुहराने का विशेष अभिप्राय भी है। पहले मन्त्र में "सायं सायं गृहपतिः" शब्द आया है और दूसरे मन्त्र में "प्रातः प्रातर्गृहपतिः" पद आये है। "सायं सायं" और "प्रातः प्रातः" शब्दों के दुहराने का अभिप्राय है "प्रत्येक सायं काल में तथा प्रत्येक प्रातःकाल में"। प्रत्येक प्रातःकाल और प्रत्येक सायंकाल के भाव को सूचित करने के लिये प्रातः और सायं शब्द दो २ वार दुहराये गये हैं। पहले मन्त्र में भाव यह है कि "अग्नि प्रत्येक सायंकाल में गृहपति है अर्थात् घर की रक्षा करता है और दूसरे मन्त्र में भाव यह है कि अग्नि प्रत्येक प्रातःकाल में गृहपति है अर्थात् घर की रक्षा करता है"। इसी प्रकार इन दोनों भावों में पुनरुक्ति नहीं है। इसी प्रकार प्रथम मन्त्र में "प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता" शब्द पढ़े हैं, तथा दूसरे मन्त्र में "सायं सायं सौमनस्य दाता" शब्द पढ़े हैं। इनका भी यही अभिप्राय है कि अग्नि "प्रत्येक प्रातःकाल में प्रसन्नता का देनेवाला है" तथा अग्नि प्रत्येक सायंकाल में प्रसन्नता का देने वाला है। अतः इन दो स्थलों में भी पुनरुक्ति नहीं है। —सम्पादक

प्रथम भाग छप कर तैयार होगया।

महर्षि दयानन्द के निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी का प्रामाणिक

जीवन-चरित

ऋषि के अनन्य भक्त स्वर्गीय श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी. मेरठ, द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्रबाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक का भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान् न होते हुए भी इस कार्य को बिना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का सङ्कल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफ़र करना पड़ा और एक-एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री संकलित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्राम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवन-चरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही रह गई। इस हृदय-विदारक समाचार को पाकर—

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, (जो देवेन्द्रबाबू के परम परिचितों में थे) ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक काग़ज़ को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी वर्षों परिश्रम और बहुतसा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों काग़ज़, हजारों छोटे छोटे पुर्जे, नोट-बुकें और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक होगा।

यह जीवन-चरित लगभग ८०० रायल अठपेजी के पृष्ठों में समाप्त होगा, बहुत से सादे व तिरंगे चित्र होंगे और मनोहर सुनहरी जिल्द होगी। इसकी १००० प्रतियों के छपाने व प्रकाशित करने आदि में ७, ८ हजार रुपया व्यय कूता गया है। इतना द्रव्य व्यय करने से एक पुस्तक पर लगभग ८) रु० लागत आती है। इतना मूल्यवान् ग्रन्थ आर्य-सभासद् तथा आर्यसमाजों के अतिरिक्त और कौन ले सकता है, आर्यमित्र तथा आर्य-मार्तण्ड ने इस जीवन-चरित के प्रकाशन के लिए बहुत आन्दोलन किया, फिर भी कोई प्रकाशक आगे न आया। ऐसी परिस्थिति देख तथा महर्षि दयानन्द के प्रति अपना परम कर्त्तव्य समझ—

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर,

ने इसके प्रकाशन का कार्य अपने ऊपर लिया है और **प्रथम भाग छप कर तैयार भी होगया है।**

हजारों आर्यसमाजों व लाखों सभासदों के होते हुए ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक हजार प्रतियां बात की बात में बिक सकती हैं, यदि ऋषि के अनुगामी उसके सच्चे तथा प्रामाणिक जीवन-चरित को अपने अपने घरों व समाजों में रखना तथा उसका नित्य स्वाध्याय करना अपना परम कर्तव्य समझलें।

यह बात फिर नोट कर लेनी चाहिये कि यह जीवन-चरित बहुत ही अपूर्व व अमूल्य है, इसका बार-बार प्रकाशित होना बहुत कठिन काम है, अतः आर्डर भेजने में विलम्ब न करना चाहिये।

मैनेजिंग डाइरेक्टर,—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।

VOL. II. FEBRUARY 1934. No. 5.

MONTHLY ॐ MAGAZINE

VEDIC VIJJAN

The premier Magazine for research of Vedas and ancient occult Literature.

Annual Subs. 4-0-0. Per copy 0-6-0.

Hon Editor. Prof. Vishwanath Vidyalankar, Gurukul, Kangri.

आर्य्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुखपत्र

विषय-सूची

अवैतनिक सम्पादक—प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।),नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये
२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।
३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उनपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज, प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।
४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।
५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।
६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।
७—लेख हर महीने की ५ तारीख तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।
८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।
९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो, अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करा लेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।
१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।
११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।
१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।
१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:—
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

BEAUTY'S BOON

The constant use of our "French Beauty Cream", a scientific invention removes all wrinkles, ugly stains, scars, boil marks, pimples, pox dips, and other spots from the skin and renders it delicate, tender and velvetine It wards off prickly heat, roughness etc. and ensures a never fading beauty and an ever charming face. A trial will convince you. Price for each bottle Re. 1. only. Postage extra.

SUPERFLUOUS HAIR

Buy a bottle of "Destroyer" that will remove all ugly and superfluous hair in three minutes. "Destroyer" completly extracts the hair roots thus preventing further growth. 'Destroyer' leaves the skin soft, supple and smooth as child's. It has no harmful effect and causes no irritation. Bottle containing a complete cure costs Rs. 2. only. Postage extra.

N.B. Beware of fraudulent immitations.

Note:-We guarantee to refund the money in full if not benifited-

Manager, The Gulzar Trading Agency. Post Box No. 72 LAHORE.

GERMAN PISTOL

A handy little weapon to frighten thieves, dacoits etc. When fired it gives noise as loud as that of real pistol. Pocket size. Suitable for open air Games, hunting and defense. Magzine takes 10 shots automatic repeator. No license required throughout, British India. Price each Pistol with 25 shots Rs. 5. only Postage extra. Re. 1. for extra 50 shots.

Manager The Gulzar Trading Agency,
Post Box No. 72. LAHORE.

केवल ४) रु० में ५ घड़ियां

१ असली जर्मन टाइमपीस, २ डमी पाकेटवाच
२ डमी रिस्टवाच

यह घड़ियां हमने खास तौर पर विलायत से बड़ी भारी संख्या में मंगवाई हैं मज़बूती और पायदारी के कारण यह घड़ियां अपूर्व हैं। अपनी फर्म की सालग्रह की खुशी में हमने केवल १०००० घड़ियां इस रियासत क़ीमत पर बेचने का फैसला किया है। नियत संख्या के समाप्त हो जाने पर यही घड़ियां अपनी असली कीमत पर बेची जायेंगी। इस लिये जल्दी कीजिये अन्यथा ऐसे शुभ अवसर बार-बार हाथ नहीं आया करते। डाक व्यय ॥) अतिरिक्त

पता—मैनेजर जर्मन वाच कम्पनी
पोस्ट बक्स नं० ५६ लाहौर

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन
तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २	फाल्गुन संवत् १९९० वि०, फरवरी सन् १९३४ ई०	सं० ५

वेदोपदेश

ब्रह्म-तत्त्व

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योतिमसतश्च वि वः ॥ अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

"आरम्भ में पहले ब्रह्म ज्ञान वाला हुआ, उसमें मेधावी ने सीमा स्थल में प्रकाशमान (ताराओं) के आवरण को हटाया, जड़ में रहने वाले वे तारागण इसकी उपमा हैं और इसकी स्थिति के स्थान हैं, उसने सन् और असत् की योनि को खोला था।"

(१)—जज्ञानंः—यह मन्त्र ब्रह्म सम्बन्धी गहरे ज्ञान का उपदेश दे रहा है। तुर्यावस्था के ब्रह्म का प्रकृति के साथ उतना ही सम्बन्ध रहता है जितना कि गाढ प्रसुप्तावस्था में जीव का इस शरीर के साथ। इस सुषुप्ति अवस्था में जीव का शक्तिमात्र से शरीर और शरीर के अंगों के साथ सम्बन्ध होता है। जीव इस अवस्था में शरीर में केवल चेतनता का संचार कर रहा होता है, वह भी ज्ञानावस्था में नहीं, अपितु अपनी

सन्निधिमात्र से, केवल समीप रहने मात्र से। इसी प्रकार यह समग्र संसार जब प्रकृति अवस्था में लीन हो जाता है उस समय ब्रह्म की अवस्था तुर्यावस्था कही जाती है। इस तुर्यावस्था में ब्रह्म का प्रकृति से सम्बन्ध छूटता भी नहीं और सम्बन्ध रहता हुआ भी ऐसा सम्बन्ध नहीं होता कि उसके कारण प्रकृति में विकृतिरूप से परिवर्त्तन होने आरम्भ हो जायं। ब्रह्म की इस अवस्था को तुर्यावस्था कहते हैं।

समय आया! अब प्रकृति में परिवर्त्तन होना है। इसके लिये प्रकृति को परिवर्तनोन्मुख करना है। पड़ी हुई मट्टी—जो कि घड़े को बना नहीं रही—घड़े की प्रकृति अवश्य है, परन्तु यह अभी परिवर्त्तनोन्मुख नहीं। जिस समय कुम्हार, घड़ा बनाने के लिये, इस मट्टी में हरकत करने लगता है, उस समय यह मट्टी परिवर्त्तनोन्मुख हो जाती है। इस प्रकार प्रकृति को संसार बनाने के निमित्त, ब्रह्म, परिवर्तनोन्मुख करता है। प्रकृति को परिवर्तनोन्मुख करने के लिये ब्रह्म के सामने प्रथम मानों वह सब स्थूल और सूक्ष्म मानसिक नक्शा आ उपस्थित होता है जिसके कि आधार पर ब्रह्म की कर्तृत्व शक्ति से यह स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् बनना है। इस नक्शे का उपस्थित होना ही ब्रह्म का ज्ञानवान् होना है। कारीगर किसी वस्तु को बनाना चाहता है। इस वस्तु के बनाने से पूर्व वह इसकी इति कर्त्तव्यता पर दृष्टि दौड़ाता है, आय-व्यय का हिसाब देखता है, प्रयोजन पर विचार करता है, इसकी सामग्री की आलोचना करता है-ये सब भाव, वस्तु की रचना से पूर्व, कर्त्ता में होने आवश्यक होते हैं। कर्त्ता में यदि ये ज्ञान नहीं होते तो कर्त्ता कभी कर्त्ता बन ही नहीं सकता। इसी प्रकार का ज्ञान, आलोचनात्मक ज्ञान या ईक्षण परमात्मा में होता है, जब कि वह प्रकृति से जगत् की रचना करने में सन्नद्ध होता है। मन्त्र का "जज्ञानम्" पद इसी भान या ज्ञान का सूचक है।

(२) आवः—यह जगत् स्वयं बन गया, प्रकृति इस जगत् का निर्माण स्वयं अपनी निज-शक्ति से कर रही है। ये वचन केवल प्रलापमात्र हैं। प्रकृतिवादी वास्तव में प्रकृति के गहरे तत्त्व को नहीं समझते। संसार की जिन अलौकिक रचनाओं को बड़े २ दिमाग तथा मस्तिष्क नहीं समझते, जिसका निर्माण करना तो दूर रहा, जिसके समझने में भी मस्तिष्क ने हार खाई हुई है, आज नहीं अपितु सृष्टि के आरम्भ से हार खाई है, उस रचना को अन्धी, ज्ञानशून्य तथा जड़ प्रकृति ने रच दिया—यह कल्पना मन में बैठती नहीं। आकाश के, जगत् के सीमा-प्रान्त के, प्रकाश तथा कान्ति के पुञ्ज ये असंख्य तारे, उस मेधावी की ही कृति हैं। उसी ने इनके आवरण को हटाया है। प्रलयावस्था में मानो इन पर आवरण आ गया था, ये प्रकृति के पड़दे में छिप गये थे, ब्रह्म ने इस आवरण को हटा दिया और ये अपने उज्ज्वलरूप में चमकने लगे।

(३) उपमाः, विष्ठाः—ब्रह्म की रचना अपार है, उसकी रचना का कोई अन्त नहीं। हम तो इस पृथिवी की ही रचना को देखकर चकित हो जाते हैं, परन्तु पृथिवी तो ब्रह्म की अपार रचना का एक कण है। उसकी शेष सारी रचना हमारे सिरों की ओर रात को दिखाई देती है। जितनी गहरी रात होगी इसकी रचना उतनी ही अधिक दिखाई देगी। तारागणों से जड़ा हुआ आकाश इसकी अपार रचना का नमूना है। एक ओर

इस पृथिवी का कण और दूसरी ओर पृथिवियों और सूर्यों का समुद्र मानो उमड़ा हुआ खड़ा है। इस परमात्मा की उपमाएं केवल इस पृथिवी पर ढूंढ़ते हैं, उसके गुणों, कर्मों तथा स्वभावों को हम पृथिवी के दृष्टान्तों से समझते तथा समझाते हैं, परन्तु नहीं समझते कि तारागणों का यह अक्षय भण्डार परमात्मा के किन २ गुणों, कर्मों तथा स्वभावों की उपमा रूप है। वस्तुतः परमात्मा की उपमा तो यह अक्षय भण्डार है जो कि दृश्यमान जगत् की सीमा में, छत में, खुला हुआ दृष्टिगोचर होता है। अपनी इन दिव्य रचनाओं में वह विधाता बैठा हुआ है, स्थित है। मानो ये दिव्य रचनाएं इस ब्रह्म की स्थिति के पवित्र स्थान हैं।

(४) योनिम्:—सूर्य, चन्द्र, तारा तथा नक्षत्र मानो प्रकृति-माता के शिशु हैं। ये सब प्रकृति-माता की योनि से, उत्पत्ति स्थान से, उत्पन्न हुए हैं। सत् जगत् और असत् जगत् सब का सब इसी माता की महा योनि से उत्पन्न हुआ है। स्थूल और सूक्ष्म सभी संसार इसी माता की महा-कोख से जन्म लिये हुए हैं। इस माता की योनि को खोलने वाला यही ब्रह्म है। इस माता की योनि के खुलते यह सारा जगत् प्रकट हुआ। इस माता की योनि में संसार के बीज को देने वाला पिता यही ब्रह्म है। इस माता की योनि को खोलने वाला वैद्य भी यही ब्रह्म है।

इस प्रकार इस मन्त्र में नाना भावों से ब्रह्म-तत्त्व का वर्णन किया गया है।

वेद और धनुर्विद्या

[ले०—श्री पं० प्रेमचन्द्रजी काव्यतीर्थ]

धनुर्विद्या के कतिपय अंगों का प्रचार अब भी भारतवर्ष के अतिरिक्त शायद अन्य किसी देश में नहीं है। यहां भी जो प्रचार और धनुः शास्त्र निपुणता पहिले थी उसका कुछ भी अंश अब शेष नहीं रहा। शब्दवेधी बाण छोड़कर शत्रु को परास्त करना इस देश के ही वीरों का काम था। ऊपर लटकते हुए मत्स्य की, नीचे रक्खे हुए तेल में परछाई देखकर, ऊपर घूमते चक्र के बीच में से उस मत्स्य का लक्ष्य-वेध करके दिग्विजय प्राप्त करना यहां के ही धनुर्विद्या-विशारद के सिवाय और किस का काम हो सकता था? ऐसे निपुण धनुर्धारी और कहां थे जिनके अस्त्र शत्रु को गिरा कर फिर वापिस पीछे लौट आया करते थे। ऐसी कृतहस्तता और कहाँ के वीरों में होसकती थी कि भौंकते हुए कुत्ते के एक बार मुंह खोलने में ही उसके मुंह को भौंकना बन्द करने मात्र के लिये, बाणों से तरकस की तरह भर देते थे, पर क्या मजाल कि कुत्ता मर जाय। एक बाण से ही गोलाकार खड़े हुए सात वृक्षों को एक साथ ही बांध देना यहाँ के ही वीरों का काम था। धनुर्विद्या में ऐसे २ निपुण थे कि एक वीर अकेला सौ शत्रुओं से युद्ध कर सकता था।

भारतवासियों में यह शिक्षा ज्ञान के आदि स्रोत वेदों से ही आई है। वेदों का प्रचार पहिले भारतवर्ष में अधिक था और अन्य देशों में न के बराबर था।

यही कारण है कि भारतवासी पहिले सब देशों से उन्नत थे और तोप, बन्दूक तथा धनुष, बाण आदि का आविष्कार वेदों के आधार पर किया करते थे। रामायण और महाभारत में इन अस्त्रशस्त्रों का अनेक स्थान पर वर्णन यह सिद्ध करता है कि भारत के सिवाय ये अस्त्र-शस्त्र अन्य किसी देश में पहिले पहिल नहीं थे। इन अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार सब से पहिले भारतीयों ने किया, भारतीयों का विज्ञान अन्य सब देशवासियो के विज्ञानों से विस्तृत तथा महान् है— इत्यादि विषयों में अन्य देशवासियों के आधुनिक ग्रन्थों की साक्षी देना व्यर्थ है। सूर्य को दीपक से प्रकाशित करना है।

धनुर्विद्या के अन्दर धनुष, बाण, तोप, बन्दूक, तलवार, भाला और बरछा इत्यादि सब विद्याओं का समावेश हो जाता है। धनुष की विद्या इन सब में प्रधान है इसीलिये इसे धनुर्विद्या कहते हैं। वेदों में धनुर्विद्या का वर्णन किस प्रकार आया है—यह इस छोटे लेख में संक्षेप से प्रदर्शित किया गया है।

युद्धभूमि का चित्र

नमो विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो,
नमो नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो।
नमः शयानेभ्य आसीनेभ्यश्च वो,
नमो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः॥

यजुर्वेद १६। २३॥

"शत्रुओं पर बाण छोड़ने वालों और शत्रुओं को वेधने वालों को नमस्कार हो। युद्ध के डेरों में सोने वाले या युद्ध में आहत होकर लेट जाने वाले और जागकर पहरा देने वाले हे पुरुषो! तुम को आदर प्राप्त हो। सोने वाले, खड़े हुए और दौड़ने वालों को भी आदर योग्य पद प्राप्त हो।"

इस मन्त्र में युद्ध-भूमि का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है! युद्ध में कहीं कोई शत्रुओं पर बाण छोड़ते हैं, कोई शत्रुओं को बेधते हैं, कोई युद्ध समाप्त हो जाने पर डेरों में जाकर सो जाते हैं, कोई आहत होकर युद्ध स्थल में लेट जाते हैं, कोई छावनी में पहरा देते रहते हैं, कोई खड़े रहते हैं और कोई इधर उधर भागते फिरते हैं। यह सब वर्णन इस मन्त्र में अच्छी प्रकार किया गया है। इसके साथ ही साथ इस मन्त्र में हमें कई महत्त्व पूर्ण युद्ध-नीति की शिक्षाएं भी विशेष मिलती हैं। जैसे—

(१) अपने डेरों का रात में जाग कर पहरा देना, ताकि शत्रु रात में धोखे से आक्रमण न करदें।

(२) युद्ध के बाद सोना या आराम भी करना चाहिये, ताकि अगले युद्ध में जल्दी न थक जायं।

(३) यदि शत्रु अपने से अधिक प्रबल हो तो उसके आगे से भी भाग जाना चाहिये, ताकि अपना व्यर्थ नाश न हो जाय।

आयुधों का सामान्य वर्णन

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।

ऋग्वेद १। ३। १८। २॥

इस मन्त्र का अर्थ स्वामी दयानन्दजी इस प्रकार करते हैं कि—

"ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे जीवो! तुम्हारे लिये आयुध अर्थात् तोप, बन्दूक, धनुष, बाण, तलवार, बरछी आदि शस्त्र स्थिर और दृढ़ हों, किस प्रयोजन के लिये? तुम्हारे शत्रुओं के पराजय के लिये, जिससे तुम्हारे कोई दुष्ट शत्रु लोग

कभी दुःख न देसकें और शत्रुओं के वेग को थांमने के लिये।"

इससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वेद में तोप, बन्दूक, धनुष, बाण आदि सब आयुधों का वर्णन है और यह भी सूचित हो जाता है कि ये आयुध शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये तथा दुष्ट शत्रुओं का पराजय करने के लिये प्रयोग में आते हैं।

तोप, बन्दूक, धनुष आदि

जिह्वा ज्या भवति कुड्मलं वाङ्नालीका दन्तास्तपसाभिदाग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुभिर्देवजूतैः ॥

अथर्ववेद ५ । १८ । ८ ॥

देवों का विरोध करने वालों के लिये ज्ञानी विद्वान् ब्राह्मणों की जिह्वा धनुष की डोरी का काम करती है, वाणी धनुष की कोटि का, दांत बन्दूक के छर्रे या गोली का और हृदय-बल धनुष का काम करता है।

इस मन्त्र में धनुष की डोरी, धनुष की कोटि, बन्दूक के छर्रे या गोलो आदि का नाम आया है। यहां हमें 'नालीकाः' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। महाभारत और शुक्रनीति आदि में बन्दूक और तोप का वर्णन 'नालीक' नाम से ही किया गया है। बन्दूक का नाम 'लघुनालीक' और तोप का नाम 'बृहन्नालीक' आया है। 'नालीक' शब्द पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता इसलिये है कि शायद विकासवाद और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित मनुष्य यह समझे हुए हों कि वैदिक काल में तोप और बन्दूक आदि का आविष्कार भारत के प्राचीन आर्य न जानते थे, परन्तु वेद के ऐसे २ स्थलों को देखकर उन्हें भी अपना यह विचार कि प्राचीन आर्य असभ्य थे, सर्वथा छोड़ देना चाहिये और इस बात पर विश्वास कर लेना चाहिये कि बन्दूक आदि का आविष्कार इस पाश्चात्य सभ्यता के युग में ही नहीं हुआ, अपितु वैदिक काल में भी इसका ज्ञान था।

सीसे की गोली

सीसामाध्याहवरुणः सीसामाग्निरुपावति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छन् तदंग यातुचातनम् ॥

अथर्व० १ । १६ । २ ॥

वरुण, शत्रुओं के नाश के लिये सीसे का उपदेश करता है, अग्नि हमें अपनी रक्षा के लिये सीसे का उपदेश करता है। इन्द्र भी दुष्ट शत्रुओं का नाश करने वाला सीसा ही मुझे अपनी रक्षा करने के लिये देता है।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥

अथर्व० १ । १६ । ४ ॥

यदि तू हमारी गौ को मारता है, यदि घोड़े को और यदि हमारे पुरुष को मारता है, तो हम तुझे सीसे (गोली) से बींधते हैं जिससे तू हमारे वीरों को मारने वाला न हो।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में सीसे का नाम स्पष्ट है। सीसा बड़े २ ढेले के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, उसकी गोलियां या छर्रे बना कर ही उसे प्रयोग में लाया जा सकता है। शत्रुओं को मारना और शत्रुओं से अपनी रक्षा करना ही सीसे का प्रयोग बतलाया गया है। शत्रुओं को सीसे से बींधने का यह अभिप्राय निकलता है कि शत्रु को बींधने के लिये सीसा दूर से फैंकना चाहिये और उसकी चोट ज़ोर

से होनी चाहिये। पास से फेंक कर शत्रु का शरीर बींधा नहीं जा सकता। वह बींधना बन्दूक से ही हो सकता है। इस प्रकार इन मन्त्रों से सीसे की गोली के अतिरिक्त बन्दूक का प्रयोग भी सिद्ध हो जाता।

धनुष से दिग्विजय

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥

यजु० २९। ३९॥

धनुष से गौ आदि पशु-धन जीतें, धनुष से युद्ध में विजय प्राप्त करें, धनुष से क्रूर घमण्डी शत्रुओं को जीतें। धनुष शत्रु का अनिष्ट करने वाला है, धनुष से हम सब दिशाओं पर विजय प्राप्त करें।

धनुष का वर्णन तो इस मन्त्र में है ही, पर इसके साथ यह भी सूचित कर दिया गया है कि धनुष से हम क्या २ कर सकते हैं। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि हम धनुष से दिग्विजय प्राप्त कर सकते हैं।

बाण हमारा कल्याण करे

यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रा अस्मभ्यमिषवः शर्म यंसन्।

यजु० २९। ४८॥

"जिस युद्धभूमि में मनुष्य इधर उधर दौड़ते फिरते हैं वहां बाण हमारा कल्याण करे।"

इस मन्त्र में बाणों के कल्याणकारी होने की प्रार्थना की गई है। जहां युद्ध में वीर अपने शत्रुओं को मारने के लिये या अपने वीर शत्रुओं से बचने के लिये इधर उधर दौड़ फिर रहे हों, वहां बाणों से ही अपनी रक्षा की जा सकती है। बाणों की वर्षा करने वाले इधर उधर दौड़ते हुए वीरों के बाण हमें न लग जाएं इसलिये बाणों से कल्याण की प्रार्थना की गई है। बरसते हुए बाणों को अपने बाणों द्वारा रोका जा सकता है उन्हें बीच में ही काटा जा सकता है और उन बाणों को रोक कर या बीच में ही काट कर दूसरे पर अपने बाण द्वारा प्रहार भी किया जा सकता है और उन से बचा जा सकता है।

तरकस और तलवार का म्यान

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषंगधिः॥

यजु० १६। १०॥

जटाधारी वीर पुरुष का धनुष, डोरी से रहित कभी हो सकता है? नहीं। तरकस कभी बाणों से खाली हो सकता है?, नहीं। इसके बाण कभी नष्ट हो सकते हैं?, नहीं। तलवार का म्यान कभी खाली रह सकता है?, नहीं।

वीर मनुष्य के धनुष पर डोरी सदा चढ़ी रहनी चाहिये, उसका तरकस कभी बाणों से खाली नहीं होना चाहिये और तलवार का म्यान कभी तलवार से खाली नहीं रहना चाहिये अर्थात् वीर पुरुष के पास तलवार हर समय रहनी चाहिये। इस प्रकार इस मन्त्र में धनुष, धनुष की डोरी और बाणों के अतिरिक्त तरकस और तलवार के म्यान का भी वर्णन है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन आर्य असभ्य नहीं थे। उस समय बाणों के रखने के लिये तरकस और तलवार को रखने के लिये म्यान भी होते थे।

इस छोटे लेख में यह दिखाया गया है कि वर्त्तमान विकासवादियों की दृष्टि में असभ्य समझे जाने वाले प्राचीन आर्य लोग असभ्य नहीं थे,

बल्कि वे आधुनिक सभ्यता के जन्मदाता थे। इन उपर्युक्त मन्त्रों में धनुष, बाण, बन्दूक़, सीसे की गोली, तरकस और म्यान आदि का वर्णन आया है और यह वर्णन यह सिद्ध करता है कि धनुर्विद्या का आरम्भ सबसे पहिले वेदों से ही हुआ। वेदों में इन विषयों के अनेक स्थलों पर अनेक मन्त्र आये हैं और उनमें इससे भी अधिक धनुर्विद्या का वर्णन है। पर इस अंक में इतना ही पर्याप्त समझा गया है।

अद्वैतवाद

[ले०—श्री प्रो० नन्दलालजी खन्ना M. A.]

अद्वैतवाद (Pantheism) के प्रायः सारे रूपों के दो विशेष चिह्न हैं (क) एक तो यह कि जगत् की अन्तिम सत्ता एक है, और (ख) दूसरा यह कि यह अन्तिम सत्ता कोई Person नहीं है जो कि स्वतन्त्र इच्छा से काम करती हो, परन्तु Impersonal है जो कि आवश्यक और अनिवार्य तौर पर कार्य कर रही है, संसार के सब प्रकार के अद्वैतवाद को हम दो श्रेणियों में बांट सकते हैं (क) एक श्रेणी के तो यह कहते हैं कि जगत् जिस रूप में कि हम इसे देख रहे हैं। यही वास्तविक है और यही God भी है, और इसलिये एक है; या यह कि जगत् अन्त में Matter या किसी Material Principle अर्थात् जल अग्नि आदि से बना है इस को भौतिक अद्वैतवाद (Lower Pantheism) कह सकते हैं। (ख) दूसरी श्रेणी के यह कहते हैं कि अन्तिम सत्ता आध्यात्मिक या अप्राकृतिक Spiritual या Nonmaterial है और यह जगत् जिस रूप में नजर आ रहा है—भ्रमात्मक या अवास्तविक है; या यह कि अनुभव में आने वाली सब चीजें प्रतीतिमान (Phenomena) हैं इनकी तह में द्रव्य (Substance) आध्यात्मिक या अप्राकृतिक (Spiritual या Non-Material) है, इसे आध्यात्मिक अद्वैतवाद (Higher Pantheism) कहा जाता है। पहले प्रकार के अद्वैतवाद के विषय में कहा जा सकता है कि यह वास्तव में अद्वैतवाद नहीं। जो संसार हमारे अनुभव में आता है वह एक नहीं है, इसमें अनेक चीजें, शक्तियां और अवस्थाएं हैं, जैसे कि पशु, पक्षी पहाड़, नक्षत्र, ताप, प्रकाश, विद्युत्, विचार, भाव, प्रयत्न आदि इन चीज़ों को साधर्म्य दृष्ट्या (Generalisation) द्वारा हम कई प्रकार की एकता (Unity) दे सकते हैं परन्तु यह एकता बाह्य होगी, किसी उद्देश्य विशेष के लिये होगी, और हमारे विशेष विशेष दृष्टि-बिन्दु पर आश्रित होगी, इस प्रकार की एकताएं चीज़ों की संख्या से भी अधिक हो सकती हैं। उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि सब चीजें प्रमेय हैं या सब चीजें समय में या स्थान में या दोनों में हैं, परन्तु ऐसी किसी एकता को वास्तविक एकता नहीं कह सकते। किसी भी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों

१–इस लेख का पूर्व भाग वैदिक विज्ञान के २य वर्ष के ३ अंक में छपा है।

को कई दृष्टियों से बांटा जा सकता है। यदि अलग २ कालिजों की दृष्टि से बांटा जाय तो कई एक श्रेणी में आ जायंगे और दूसरे दूसरी श्रेणियों में। यदि इस दृष्टि से बांटा जाय कि कई लम्बे हैं और कई छोटे तो जो पहिले एक ही श्रेणी में थे फिर अलग २ श्रेणियों में हो जायेंगे और यदि इस दृष्टि से बांटा जाय कि कई विद्यार्थी हैं और कुछ कर्मचारी, तो सब विद्यार्थी एक श्रेणी में आ जायेंगे। यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकार की सब एकताएं कृत्रिम हैं, ये केवल चीज़ों को देखने के हमारे दृष्टि बिन्दु हैं, इनसे चीज़ों में वास्तव में कोई एकता नहीं आती, वे अलग २ ही रहती हैं। यदि कहा जाय कि चीज़ें समास हैं और ये अपने तत्वों में घटाई जा सकती हैं तो भी हम एकता तक नहीं पहुंचते। क्योंकि ९० के लगभग तत्त्व आज कल का विज्ञान मानता है जो किसी अधिक सादी चीज़ में घटाए नहीं जा सकते। आजकल रेडियम-शक्ति (Radio-activity) के परीक्षणों द्वारा सिद्ध किया गया है कि कई तत्त्व दूसरे तत्त्वों में घटाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ हुआ है उससे तो यही सिद्ध हो सकता है कि कई तत्त्व वास्तव में एक तत्त्व की भिन्न २ अवस्था रूप (Allotropic Modifications) हैं और तत्त्वों की संख्या जितनी समझी जाती है तत्त्व उससे कुछ कम हैं। यदि तत्त्वों की संख्या घटते घटते दो भी रह जाय तब भी अद्वैत सिद्ध नहीं होगा। वास्तव में तो तत्त्वों की संख्या ४,५ ही घटी है और विज्ञान (Science) की वर्त्तमान अवस्था में तो तत्त्वों की संख्या बढ़ भी सकती है क्योंकि और नये तत्त्व मालूम हो सकते हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि अन्त में एक ही प्रकार का भौतिक-तत्त्व (Matter) है। परन्तु यदि मान भी लिया जाय कि सब चीज़ें अन्त में एक ही प्रकार के तत्त्व से बनी हैं, जैसे कि Thales द्वारा स्वीकृत जल से या Heraclitus द्वारा स्वीकृत अग्नि से तो इससे भी यही सिद्ध होगा कि अन्तिम सत्ता एक प्रकार का भौतिक-तत्त्व है, यह नहीं कि अन्तिम सत्ता एक है। एक प्रकार का भौतिक तत्त्व एक या Unity नहीं है। यह हिस्सों का समूह है जिनमें से प्रत्येक हिस्सा इसी प्रकार से एक द्रव्य (Substance) है जैसा कि वह समग्र भौतिक तत्त्व इस समग्र से कुछ भाग यहां से लिया जा सकता है और कुछ भाग दो मील की दूरी पर से भी, ये दोनों भाग परस्पर सर्वथा सदृश होंगे, परन्तु एक नहीं, अपितु भिन्न २ भाग होंगे। कल्पना करो कि संसार में केवल लोह चूर्ण ही हो जो ऐसा बिछा हुआ हो जैसे दरिया के प्रवाह-क्षेत्र (bed) में रेत, तो हम कह सकते हैं कि सर्वत्र एक ही तत्व है न कि यह कि सर्वत्र एक ही चीज़ है, वास्तव में उतनी ही चीज़ें हैं जितने कि कण हैं या उतनी जितने कि परमाणु हैं। इस प्रकार भौतिक-तत्त्व और एकता परस्पर विरोधी चीज़ें हैं। फिर संसार में शक्ति प्रकट हो रही है। किसी प्रकार का भी एक भौतिक-तत्त्व शक्ति का कारण कैसे हो सकता है? संसार में जीवन, विचार या चेतनता है, सदाचार है, नियम है, जगत् के हिस्सों की परस्पर अनुकूलता है, सौन्दर्य है इन चीज़ों की किसी प्रकार का भी एक भौतिक-तत्त्व क्या व्याख्या कर सकता है। अतः जल, अग्नि या किसी एक प्रकार के भौतिक-तत्त्व से सब चीज़ों का बनना एक निराधार कल्पनामात्र है। यह बात विचार में ही

नहीं आ सकती कि अकेले एक ही प्रकार के भौतिक तत्त्व से इतने प्रकार की चीजें और इतने प्रकार के गुणों (Quality) के भेद उत्पन्न हो जायं। जो लोग किसी प्रकार की भौतिक शक्ति Physical force को अन्तिम सत्ता मानते हैं उनपर भी यही आक्षेप किया जा सकता है। प्राकृतिक-शक्ति (Physical Force) भी एक प्रकार की हो सकती है एक या अविभाज्य नहीं, और फिर एक प्रकार की शक्ति में से ऐसे भिन्न गुणों वाली चीजें कैसे निकल सकती हैं ? एक ही प्राकृतिक शक्ति तो अनिवार्य्य तौर पर एक ही तरह काम कर सकती है, जिसके परिणाम रूप में एक ही तरह की चीज़ बिना किसी परिवर्त्तन और विभिन्नता के हो सकती है और शक्ति तो किसी शक्तिमान् (Agent) की ही हो सकती है। हमें किसी शक्ति का अनुभव नहीं है जो किसी शक्तिमान् की न हो। बिना किसी आश्रय या आधार के केवल शक्ति हमारी समझ में नहीं आ सकती।

दूसरे प्रकार का अद्वतवाद या आध्यात्मिक अद्वैतवाद, जैसा कि ऊपर के वर्णन से मालूम होता है, कई रूपों में प्रकट हुआ है। एक प्रकार का अद्वैतवाद कहता है कि केवल एक ही भाव या चेतन (Being) की सत्ता है। इन्द्रिय-गोचर संसार और वैयक्तिक चेतनाएं सब धोखा है। जो चीजें हमारे अनुभव में आती हैं या जो भेद हमारी बुद्धि को प्रतीत होते हैं वास्तविक नहीं। परन्तु प्रश्न यह है कि एक वास्तविक सत्ता के अतिरिक्त जो प्रतीतियां हैं उनका क्या कारण है ? प्रतीति या भ्रम तभी हो सकता है यदि निराकांक्ष (Absolute) सत्ता के अतिरिक्त कोई मन (Minds) हों जिनको कि यह प्रतीति या भ्रम होता है। यदि कहें कि ये प्रतीतियाँ स्वयं निराकांक्ष-तत्व को हो रही हैं तो ये प्रतीतियां चूंकि निराकांक्ष-तत्व के विचार का विषय होंगी अतः इनकी नित्य सत्ता होगी और यदि नित्य सत्ता हो तो ये प्रतीतियां अवास्तविक कैसे हुईं? यदि कहा जाय कि निराकांक्ष-तत्व को यह भ्रम कभी कभी होता है तब तो इस तत्व में परिवर्त्तन आ गया और फिर एक नित्य सत्ता न रही। एक और भी कठिनाई है कि भ्रम भी एक प्रकार की चेतनता है और चेतनता के लिये ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध आवश्यक है। अतः निराकांक्ष-तत्व भी भ्रम के विषय को अ-स्व (Not-self) के रूप में ही जान सकेगा। इसलिये एक नित्य अ-स्व Not-self) होगया, जिसको कि निराकांक्ष-तत्व जानता है। इसलिये एक नहीं, दो सत्ताएं हो गईं। यदि वह अपने आपको ही भ्रमात्मक रूप में जानता है तो इसका कारण क्या ? वह अपने आपको वास्तविक रूप में क्यों नहीं जानता ? फिर जो अद्वैतवाद कहता है कि केवल एक ही सत्ता है वह अविश्वास का आश्रय लेकर ही कह सकता है, क्योंकि ऐसी अवस्था में अद्वैतवाद को कहना पड़ेगा कि इन्द्रियां जो कि विभिन्नता की सूचना देती हैं झूठी हैं और चेतनता जो कि स्व (Self) के अतिरिक्त एक अ-स्व (Not-self) की गवाही देती है वह भी झूठी है। प्रत्येक को अपना अनुभव असीम (Absolute) के रूप में नहीं होता, अपितु एक परिमित व्यक्ति के रूप में होता है—यह अनुभव भी झूठा कहना पड़ेगा। परन्तु Hume का विचार इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि सन्देह (Scepticism) का ज़रा सा भी प्रयोग किया जाय तो परमात्मा, जगत् और अपने आप पर भी (अर्थात् आत्मा पर) अविश्वास करना

पड़ता है और चेतनता की धारा के अतिरिक्त कुछ नहीं बचता। इसलिये किसी एक System (पद्धति) को किसी दूसरे के विरुद्ध अविश्वास या सन्देह के प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि इससे प्रत्येक System का खण्डन हो जायगा। न केवल बहुसत्तावाद का, परन्तु एकसत्तावाद का भी। यदि समय (Time) की सत्ता अविश्वास योग्य होजायगी तो नित्यता या अनन्तता (Eternity) की भी सत्ता नहीं रहेगी जिसमें कि निराकांक्ष-तत्व रह सके। मालूम होता है कि शङ्कर इस बात को खूब जानता था। इसीलिये अन्य पद्धतियों (Systems) का अविश्वासवाद द्वारा खण्डन करके उसने स्वयं युक्ति द्वारा अपने System के मण्डन करने का प्रयत्न नहीं किया। Spinoza ऐसी एकता (Unity) की कल्पना करता है कि जिसके अन्दर भेद (Variety) आ जाती है। उसका द्रव्य (Substance) वह है जो अपने आप में ही सोचा जा सके। इस प्रकार यह एक विचार का विषय है। इसलिये द्रव्य (Substance और द्रव्य की भावना (Idea of substance) दो चीज़ें हुई और ये दोनों एक दूसरे में नहीं घटाई जा सकतीं। "द्रव्य की भावना" द्रव्य नहीं है। क्योंकि द्रव्य की सत्ता का प्रमाण ही द्रव्य सम्बन्धिनी भावना है, और न ही द्रव्य "भावना-रूप" है क्योंकि द्रव्य में अनन्त गुण हैं और द्रव्य की भावना में केवल दो गुण।

(Schelling) एक ऐसा निराकांक्षतत्त्व मानता है जिसमें आत्मा (Spirit) और सृष्टि (Nature) अर्थात् विषयी (Subject) और विषय (Object) एक ही हो जाते हैं। आत्मा अदृश्य सृष्टि है और सृष्टि दृश्य आत्मा है। निराकांक्ष-तत्त्व इन दोनों का स्रोत है जो आत्म-विकास द्वारा संसार को शरीर के रूप में बनाता है। यह निराकांक्ष-तत्त्व ऐसा है जिसमें कि विकास और परिवर्त्तन हो सकता है। परन्तु जिसमें विकास हो सकता है वह न तो असीम (Infinite) हो सकता है न निराकांक्ष (Absolute) साथ ही विषयी और विषय (Subject-object) की एकता भी अविचारणीय है। यह एकता ऐसी ही है जैसे कि काले और सफ़ेद की एकता। मनुष्य तो ऐसी एकता को कभी सोच ही नहीं सकता। चेतनता तो सदा Subject और Object में एक सम्बन्ध रूप में ही होती है और कभी इससे ऊपर नहीं उठ सकती। यदि इस प्रकार के निराकांक्ष-तत्व को मान भी लिया जाय तो यह समझ में नहीं आता कि इसमें से संसार की सब चीज़ें कैसे निकल आईं ? Schelling स्वयं मानता था कि मैं निराकांक्ष-तत्व द्वारा वास्तविक संसार की व्याख्या करने में अशक्त हूं।

Fichte, निराकांक्ष-तत्त्व को एक विश्वात्मा या सर्वगत आत्मा (Universal Ego) समझता है जिस के अन्दर कि प्रत्येक वैयक्तिक आत्मा (Ego या Self) आ जाती है। यह विश्वात्मा "अ-स्व" को (Not-Self) या संसार को बनाती है और अपने आप को संसार के ऋत-सत्य या नैतिक नियम (Moral Order), में प्रगट करती है। इस विश्वात्मा (Ego) में चेतनता नहीं है। यह केवल वैयक्तिक आत्माओं (Ego या Selves) में चेतनता प्राप्त कर लेता है। अपने आप में यह ऋत सत्य या नैतिक नियमों के अतिरिक्त कुछ नहीं। परन्तु जिसमें चेतनता नहीं है, जो अपने आप को एक "अ-स्व" से अलग

नहीं जानता उसे आत्मा कैसे कह सकते हैं ? फिर प्रत्येक वैयक्तिक आत्मा के रूप में भी यह चेतनता प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वैयक्तिक मनुष्यों में केवल अपनी ही चेतनता होती है। इनमें एक विश्वगत अचेतन-आत्मा का कुछ ज्ञान नहीं होता। यदि ऐसी विश्वात्मा को मान भी लिया जाय तो प्रश्न यह है कि "इन्द्रिय गोचर संसार" चेतनताएं इसमें से कैसे निकल आये ? भौतिक-संसार की व्याख्या करने का तो (Fichte) ने प्रयत्न ही नहीं किया।

Hegel निराकांक्ष-तत्व को विचार (Thought) ही समझता था। इसके मत में भौतिक और नैतिक संसार, प्रकृति, मानवीय इतिहास, विज्ञान, कला, धर्म्म ये सब एक विचार के विकास की ही मञ्जिलें हैं। Hegel अपने मत के प्रत्येक क्रम को पूर्ण रूप से सिद्ध करने का दावा करता है। यह सादे-से-सादे विचार या सत्ता (Being से प्रारम्भ करता है और सारा विचार और सब चीजें न्याय के नियमों के अनुसार एक एक करके इसमें से निकालता है। वह "भाव और तद्भाव में तादात्म्य" के नियम (Identity of Contraries) का प्रयोग करता है। सत् अ-सत् के बराबर है, स्वतन्त्रता दासता के बराबर है। अर्थात् उसका सारा विचार न्याय के आधारभूत नियम के विरोध पर आश्रित है। Hegel का निराकांक्ष तत्व भी विकास की क्रिया के आधीन है और इसलिये वह तत्व ठीक अर्थों में निराकांक्ष-तत्व नहीं हो सकता। Hegel का परमात्मा पहले अचेतन था फिर आहिस्ते आहिस्ते वह चेतन (Conscious) हुआ और फिर वह Hegel की अद्भुत बुद्धि के उच्च शिखर पर पहुंचा। (Hegel) हर जगह विचार (Thought) और सत्ता (Being) को एक मान कर चलता है। जो कुछ जाना जा सकता है उसकी सत्ता है और जिसकी सत्ता है वह जाना जा सकता है। इस पर हमारा कथन अनन्त ज्ञान और अनन्त सत्ता समानान्तर हो सकते हैं, परन्तु एक नहीं फिर ऐसा विचार जो किसी का विचार नहीं और जिसमें कोई चेतनता नहीं, अचिन्तनीय है।

शौपनहार (Schopenhaur) जड़ कृति (Blind Will) को ही निराकांक्ष-तत्व समझता है। हर्टमन (Hartmann) अचेतन (Unconscious) को ही अन्तिम सत्ता समझता है। और बहनसन (Bahnsen) Irrational को। इसीलिये इन लोगों का अद्वैतवाद, नास्तिकवाद और निराशावाद है। प्रोफ़ेसर फ्लिण्ट लिखता है कि अद्वैतवाद, निराशावाद और नास्तिकवाद तो बन चुका है आगे मालूम नहीं यह क्या बनेगा। केवल शून्यवाद और शैतान की पूजा ही शेष रह गई है। अद्वैतवाद एक सत्ता मानने के कारण या तो प्रकृति और मन दोनों को तिलाञ्जलि दे कर एक अनिर्वचनीय सत्ता को वास्तविक समझता है और प्रकृति तथा मन दोनों को इससे निकला हुआ मानता है या प्रकृति और मन दोनों में से एक को तिलाञ्जलि दे देता है अद्वैतवाद इन दोनों में से एक को वास्तविक सत्ता और दूसरे को भ्रमात्मक प्रतीति या अप्रतीति मात्र समझता है। यदि हम अनिर्वचनीय को मानें तो समझ में नहीं आता कि किस तरह भौतिक और मानसिक सत्ताएं इसमें से निकल आईं। क्योंकि इसका कोई गुण हमें मालूम नहीं। और यदि प्रकृति और मन दोनों में से एक को छोड़ दें तो अविश्वास या संदेह-

वाद द्वारा ही छोड़ सकते हैं, परन्तु संदेहवाद के स्पर्शमात्र से ही एक नहीं, दोनों नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि सीधा अनुभव तो हमें अपनी मानसिक अवस्थाओं या चेतनता का होता है प्रकृति और मन इन दोनों का तो इनसे अनुमान किया जाता है। इसलिये यदि अनुमान पर अविश्वास किया जाय तो प्रकृति और मन मे से एक नहीं, दोनों उड़ जाते हैं और शेष मानसिक अवस्थाएं ही रह जाती हैं। हमारी "चेतनता की साक्षियां" हमारे ज्ञान के अन्तिम आधार हैं। उनमें से एक यह है। और हमारी चेतनता हर घड़ी इस बात की गवाही देती है कि हम अलग व्यक्ति हैं और परमात्मा या किसी सत्ता का भागमात्र नहीं है यदि हम परमात्मा का एक हिस्सा ही हैं तो हमारा आत्मानुभव या स्वानुभव परमात्मा की भी स्वानुभूति होनी चाहिये। परन्तु अपनी चेतनता में हमें अपनी ही चेतनता मालूम होती है, उसमें परमात्मा की चेतनता का अनुभव तो नहीं होता। संसार में असंख्य व्यक्तियां हैं, परन्तु अद्वैतवाद के अनुसार सब की साक्षी झूठी है। प्रत्येक जब अपने आप को एक व्यक्ति समझता है तो वास्तव में एक भ्रम का शिकार है। न वह कर्म करने में स्वतन्त्र है, न अपने कामों के लिये जिम्मेवार है, न उसका कोई कर्त्तव्य है, न पृथक् सत्ता है, यह सब केवल भ्रम और प्रतीति है। इस प्रकार अद्वैतवाद की एकता को ग्रहण करने के लिये अपने गहरे से गहरे विश्वासों और आकांक्षाओं को छोड़ना पड़ता है। यदि परमात्मा की चेतनता वैयक्तिक चेतनताओं से अलग चीज मानी जाय तो एक से अधिक सत्ताएं हो जाएंगी। इसलिये अद्वैतवाद यही कहेगा कि परमात्मा या निराकांक्ष-तत्व की चेतनता वैयक्तिक चेतनताओं के समूह का ही नाम है या उनसे मिलकर बनी है, जैसे कि ईंटों से मिलकर मकान बनता है। यदि कहें कि परमात्मा वैयक्तिक चेतनताओं का समूह है, तो समूह तो एक नहीं होता, उसमें तो स्पष्ट तौर पर नानात्व होता है। यदि कहें कि वैयक्तिक चेतनताएं मिलकर एक बड़ी चेतनता बनाती है तो यह भी असम्भव है। भिन्न चेतनताएं स्वयं मिलकर एक नहीं हो सकतीं।

"अ" की चेतनता और "ब" की चेतनता स्वयं मिलकर कभी अ+ब की चेतनता नहीं बन सकती। अ+ब की चेतनता में अ "ब" को जानता है और ब "अ" को। परन्तु अ की चेतनता और ब की चेतनता, दो चेतनताएं हैं जिनमें अ केवल अ को जानता है और ब केवल ब को। भौतिक जगत् में तो कोई मेल या योग (Combination) हो ही नहीं सकता। जिसको हम वृक्षों की कतार कहते हैं वह कतार एक इसलिये है कि हम उनको इकट्ठा देखते हैं। जिसको हम एक पत्थर का बुत कहते हैं वह भी वास्तव में अपने आप में बहुत से कण हैं जो एक दूसरे से एक विशेष दूरी पर हैं। एक कीड़े को जो कि इस बुत पर रींग रहा हो बुत एक नहीं मालूम होगा, परन्तु बहुत से कण प्रतीत होंगे। बुत "दर्शक" के लिये एक है। अर्थात् कोई देखनेवाली आत्मा (Self) बुत के उन कणों को इकट्ठा अनुभव करती है और यह एकता की चेतनता या ज्ञान आत्मा की अपनी प्रति क्रिया (Reaction) या जवाब है, उससे कण एक नहीं बन जाते। मानसिक जगत् में अ+ब की चेतनता हो सकती है परन्तु यह अ की चेतनता और ब की चेतनता का योगमात्र नहीं है परन्तु अ और ब

दोनों चेतनताओं के प्रति एक ही आत्मा या चेतनता का जवाब है, अर्थात् यह एक तीसरी अनुभूति (Consciousness) है जो कि उपरोक्त दोनों चेतनताओं के कारण एक आत्मा में पैदा होती है। यदि १२ आदमियों को एक कतार में खड़ा कर दिया जाय और बारह शब्दों का एक वाक्य लेकर एक एक को एक एक शब्द बता दिया जाय तो सारे वाक्य की चेतनता कभी किसी एक की नहीं पैदा हो सकती। वाक्य की चेतनता तभी पैदा होगी यदि १२ शब्द या इनकी चेतनताएं एक आत्मा पर प्रभाव डाले। एक अन्धा शब्द सुन रहा हो और एक बहरा रंग देख रहा हो यदि अन्धे को बहरे के कन्धों पर चढ़ा दिया जाय तो रंग और शब्द की चेतनताएं मिल न जाएंगी। एक आत्मा की एक चेतनता दो चेतनताओं के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में तो हो सकती है परन्तु तभी यदि वह दोनों को इकट्ठा अनुभव करे। इसी प्रकार संसार की असंख्य वैयक्तिक चेतनताएं स्वयं मिलकर कभी एक नहीं हो सकतीं। एक तभी हो सकती हैं जब कि ये सब चेतनताएं मिलकर एक ऊंची आत्मा या Mental Agent पर प्रभाव डालें। इस प्रकार की एक चेतनता, उस आत्मा का सब चेतनताओं के प्रति प्रतिक्रिया या जवाब होगा। परन्तु यदि ऐसे आत्मा को मान लिया जाय तो यह वैयक्तिक चेतनताओं से अतिरिक्त और पृथक् होगा और इससे अद्वैतवाद नहीं ईश्वरवाद और द्वैतवाद सिद्ध हो जायगा। यदि ऐसे आत्मा को न माना जाय तो चेतनताएं स्वयं मिल कर एक बन ही नहीं सकती। एक और कठिनाई भी है। वह यह कि यदि हम केवल निराकांक्ष-तत्व के भाग ही हैं और हमारी चेतनता निराकांक्ष-तत्व की चेतनता का एक भाग ही है तो हमारी चेतनता उसी रूप में हो सकती है जिस रूप में निराकांक्ष-तत्व हमारी चेतनता को जानता है, परन्तु निराकांक्ष-तत्व तो हमें औरों के साथ इकट्ठा जानता है अलग २ नहीं जानता। और बाह्यशून्यवाद (Idealism) के अनुसार निराकांक्ष-तत्व के अनुभव से अतिरिक्त हमारी सत्ता नहीं है। तो तब हम अपने आप को औरों से अलग और औरों को न जानते हुए भी कैसे जानते हैं। यही नहीं कि हमारी चेतनता निराकांक्ष-तत्व की चेतनता से कम होने के कारण भिन्न हो है, परन्तु हमारी चेतनता निराकांक्ष-तत्व की चेतनता से कुछ अधिक भी है। अपने अज्ञान के कारण हम में कौतूहल और सन्देह होते हैं जो सर्वज्ञ निराकांक्ष तत्व (Absolute) में नहीं हो सकते। इसी प्रकार अपनी अशक्ति और अपूर्णता के कारण हम में पीड़ा और पाप हैं जो निराकांक्ष में नहीं हो सकते। इसलिये निराकांक्ष-तत्व की चेतनता हमारी चेतनताओं का योगमात्र नहीं हो सकती। प्रोफ़ेसर जेम्स लिखता है है कि यदि हम निराकांक्ष-तत्व के भागमात्र हों तो निराकांक्ष-तत्व से हमारा भिन्न होना ऐसा ही है जैसा कि किसी नावल के पात्र किसी नावल की किताब के वरकों में से उठ कर चल पड़ें और कहानी में अपने Part के अतिरिक्त कुछ काम काज करते फिरें।

अद्वैतवाद Problem of evil अर्थात् संसार में पाप, त्रुटि और बुराई का क्या जवाब दे सकता है? निराकांक्ष तत्व पूर्ण है फिर संसार में यह कुरूपता और त्रुटि क्यों है? वैदिक ईश्वरवाद के अतिरिक्त इसका सन्तोषजनक उत्तर कहीं नहीं। संसार में त्रुटि है क्योंकि प्रकृति उपादान कारण है और प्रकृति पूर्ण

नहीं है, जगत् में पाप है क्योंकि आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता है और उनमें स्वतन्त्रेच्छा मौजूद है। इससे ईश्वर का कोई दोष या त्रुटि प्रकट नहीं होती। ईसाई मत आदि इस समस्या का हास्यप्रद जवाब देते है कि मनुष्य ने शैतान के कहने से परमात्मा की आज्ञा का भंग किया, उसका पतन हुआ और पाप ने संसार में प्रवेश किया। या परमात्मा में स्वतन्त्रेच्छा है और स्वतंत्रेच्छा भी ऐसी जो कि ज्ञान के अनुकूल भी कार्य्य नहीं करती। नहीं तो ज्ञान की भी बाधा हो जाएगी। इस लिये परमात्मा विना कारण के किसी को रक्षा के लिये और किसी को दण्डने के लिये चुन लेता है, किसी को अच्छा बनने देता है किसी को बुरा। अद्वैतवाद के अनुसार तो निराकांक्ष-तत्व ही जगत् है या जगत का स्रोत है। तब पाप कहां से आयेगा। यदि कहा जाय कि समष्टि की दृष्टि से देखा जाय या निराकांक्ष-तत्व जिस रूप में संसार को जानता है उस रूप में संसार पूर्ण ही है। तो फिर क्या यह बहुत से वैयक्तिक दर्शक जो संसार को अपूर्ण देखते हैं संसार की पूर्णता में दोष नहीं? इनके विना संसार शायद अधिक पूर्ण होता। साथ ही प्रश्न होता कि निराकांक्ष-तत्व ने अपनी दृष्टि और अनुभव को छोड़ कर अपने आपको अपूर्ण दृष्टियों में विभक्त क्यों कर दिया?

अद्वैतवाद धर्म का महत्व बिलकुल घटा देता है। "जो कुछ हमें दिखाई देता है उस में परमात्मा नहीं, किन्तु वह स्वयं परमात्मा है या परमात्मा उसका उपादान है और ये चीजें केवल प्रतीतिमात्र हैं" इसका अर्थ यह है कि परमात्मा की सत्ता चीजों की सत्ता के अतिरिक्त कुछ नहीं, अर्थात् परमात्मा की सत्ता से चीजों का गौरव कुछ बढ़ नहीं जाता। ईश्वरवाद भी परमात्मा को जगत् में व्यापक मानता है, परन्तु इसके अनुसार ईश्वर चीजों के अन्दर एक श्रेष्ठ और अनन्त न्याय्य सत्येच्छा (Righteous Will) और बुद्धि (Reason) के तौर पर मौजूद है, जिसके होने से संसार-चक्र एक विशेष मार्ग में चल रहा है और सब मनुष्यों की तथा सब जन्तुओं की भलाई, सुख और पूर्णता सुरक्षित है। संसार का इतिहास केवलमात्र परिवर्त्तनों की एक शृङ्खला नहीं है, परन्तु किसी उद्देश्य की ओर स्थिर गति है। मनुष्य के इतिहास में भी नेकी का राज्य है, थोड़े समय के लिये ऊपर से देखने से चाहे इसके विपरीत मालूम हो, प्रत्येक मनुष्य स्वार्थ की ओर दौड़ रहा हो, युद्ध और खूंरेजी हो रही हो, परन्तु परिणाम उन्नति और नेकी का विजय ही होता है और पाप का दण्ड अवश्यमेव मिलता है।

अद्वैतवाद के अनुसार परमात्मा सूर्य की किरणों में केवल उसकी गर्मी और प्रकाश के रूप में ही मौजूद है, अर्थात् परमात्मा के होने या न होने से कुछ भेद नहीं आता। मनुष्य के अन्दर भी परमात्मा ऐसे रूप में विद्यमान होगा कि मनुष्य की शक्ति वास्तव में परमात्मा की शक्ति है, क्योंकि मनुष्य परमात्मा का एक भाग है। इसलिये मनुष्य को कोई आश्वासन नहीं हो सकता कि मेरी अपनी शक्ति के अतिरिक्त परमात्मा मेरी सहायता के लिये मेरे अन्दर और मेरे साथ है। मनुष्य के हृदय में अमरता के लिये एक उत्कट इच्छा मौजूद है।

अद्वैतवाद इस इच्छा को क्या सन्तोष देता है? यही कि कुछ काल में मनुष्य की वैयक्तिक सत्ता न रहेगी और वह ब्रह्म में लीन हो जायगा। अद्वैतवाद का ब्रह्म एक निर्गुण-सत्ता (Impersonal Process)

है। ऐसी चीज़ से न भय हो सकता है, न प्रेम, न श्रद्धा, न भक्ति और न आशा। जब मनुष्य पर सब ओर से कष्ट आ रहे हों, जब उसकी सहायता करना अन्य मनुष्यों की शक्ति से बाहिर हो, या जब अन्य मनुष्य कृतघ्न या विमुख हों, या जब मनुष्य पूर्णतया अनुभव कर रहा हो कि मैं निस्सहाय हूँ, उस समय ईश्वर मनुष्य को सहारा होता है और उसी ओर ही मनुष्य स्वभावतः फिरता है। तब एक अवर्णनीय निर्गुण सत्ता (या Impersonal Process) क्या सन्तोष दे सकती है? परमात्मा का भय और यह ज्ञान कि परमात्मा हमें सर्वत्र देख रहा है, कितने लोगों को पाप से बचाता है, परन्तु एक निर्गुण-सत्ता का किसे डर हो सकता है? मनुष्य-स्वभाव में पूजा और श्रद्धा की आवश्यकता है, अपनी कमज़ोरियों और पापों के लिये सहायता की आवश्यकता मनुष्य प्रायः अनुभव करता है, उसे मालूम होता है कि मेरे अन्दर असुर का विजय हो रहा है, परन्तु निर्गुण सत्ता उसे कैसे सहायता दे सकती है? अद्वैतवाद यही कह सकता है कि सब सत्ता एक ही है इसलिये सुरासुर का भेद वास्तविक नहीं है, पाप से घृणा या पश्चात्ताप की आवश्कयता नहीं, मनुष्य-स्वभाव जो हर समय साक्षी देता है कि पाप घृणा योग्य है, इससे लज्जा होनी चाहिये, वह झूठी है। परन्तु एक ईश्वरवादी को पाप से घृणा और लज्जा भी हो सकती है, वह इसका यथाशक्ति मुक़ाबला भी कर सकता है, और यदि पूरी विजय न भी प्राप्त कर सके तो ईश्वर से प्रार्थना कर सकता है किः—

मेरे गुनाह तेरे कर्म्म दोनों बे शुमार।
रखदे कहीं लपेट के फ़र्दें हिसाब की॥

संसार में जब मुश्किलें, कष्ट, आपत्तियां, बीमारियां आवें तो अद्वैती Stoic की तरह यही कह सकता है कि हमारी दृष्टि मे जो बुरा है वह विश्व की दृष्टि से शायद अच्छा ही हो इसलिये मुझे विना शिकायत के दुःखों को सहन करना चाहिये, जैसे कि पैरों को सारे शरीर की ख़ातिर ठण्डे पानी में जाना पड़ता है। परन्तु ईश्वरवादी प्रसन्नता पूर्वक कष्ट को स्वीकार करता है क्योंकि वह समझता है कि परमात्मा ने मेरे हित के लिये, मुझे ऊपर उठाने के लिये कष्ट भेजा है, वह समझता है कि परमात्मा मेरी शुद्धि के लिये मुझे कष्टों में से ऐसे ही गुज़ार रहा है जैसे कि सुनार सोने को शुद्ध करने के लिये उसे भट्ठी में से गुज़ारता है। उस्ताद एक लड़के को एक लात मार देता है, लड़का कुढ़ता हुआ चुपकर रहता है कि क्या करूं, कुछ चारा नहीं, यदि बोलूं तो उस्ताद शायद एक और लात मार देगा, उस्ताद कैसा कमबख़्त है, इसकी टांग टूट जाय तो अच्छा है। परन्तु स्वामी दयानन्द को उसके गुरु विरजानन्द ने लात मारी तो स्वामी दयानन्द ने उस लात को दबाना शुरू किया और समझा कि यह गुरु तो लातें मार कर मानों मेरे अन्दर गुण दबा दबा कर भर रहा है, गुरु को कहीं कष्ट न हुआ हो इसलिये दयानन्द ने गुरु की लात दबाई जो भेद इस अंश में बच्चे और स्वामी दयानन्द में है वही भेद अद्वैती और ईश्वरवादी में संसार के कष्टों के प्रति मानसिक अवस्थाओं में है। इस प्रकार अद्वैतवाद मनुष्य की धार्मिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। न तो हीगल (Hegel) के निराकांक्ष विचार-तत्त्व की पूजा हो सकती है, न शंकर के ब्रह्म की।

इसीलिये भारतवर्ष में तो अनेक देवी-देवता पूजा के पात्र बन गये और पश्चिम में Hegel, Cousin, Carlyle, और Emerson ने Hero-Worship, या मनुष्य पूजा का प्रचार किया।

अद्वैतवाद एक सत्ता को मानता है परन्तु इसका सारा इतिहास दिखाता है कि संसार को असार मान कर या ईश्वर की पृथक् सत्ता से इनकार करके ही एक सत्ता को मानना सम्भव हुआ। डाक्टर लिड्डन (Dr Liddon) लिखता है कि परमात्मा का विचार बनाने में अद्वैतवाद के सामने एक ही विकल्प है वह यह कि परमात्मा सब कुछ है, प्रकृति, आत्मा, मनुष्य, सब प्रकार की नेकी सब प्रकार की बदी और पाप सब परमात्मा हैं। यदि इससे इनकार किया जाय तो परमात्मा एक Abstraction बन जायगा जैसे Neo-platonic लोगों के मत में—जिसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता—यह भी नहीं कि उस की सत्ता है इस प्रकार परमात्मा नेस्ती के बराबर हो जाता है और प्रकृति तथा संसार ही वास्तविक रह जाता है। अद्वैतवाद किसी समय और किसी देश में भी इस विकल्प से बच नहीं सका। प्रोफेसर फ्लिण्ट लिखता है कि यदि लोगों के सामने यह विकल्प पेश किया जाय कि ईश्वर को वास्तविक मान लो या जगत् को तो थोड़े से भक्त जन ईश्वर को वास्तविक समझेंगे, परन्तु बहुत लोग संसार की चीजों को अवास्तविक समझने में असक्त होंगे, और इसी को ईश्वर कह देंगे। प्रायः अद्वैत-वादी लोग ईश्वरप्रार्थना, भक्ति आदि भी जारी रखते हैं और अद्वैती भी बने रहते हैं। परन्तु इस अवस्था में इनके सिद्धान्तों और क्रियात्मक धर्म में परस्पर विरोध होता है। अद्वैतवाद और सदाचार-नीति भी परस्पर प्रतिकूल है। अद्वैत मत में बुरी से बुरी इच्छाएं और बुरे से बुरे काम ब्रह्म या Absolute की अवस्थाएं या प्रतीतिमात्र हैं, ब्रह्म पूर्ण है इसलिये वास्तव में बुरा नहीं है। किसी काम के करने से गर्व और खुशी होती है और दूसरे प्रकार के कामों से लज्जा, भय, आत्मा-भर्त्सना होती है, हमारे अन्दर चेतनता है जो किसी काम को सत्य और किसी को अनृत कहती है, हमारे अन्दर देव (Higherself) और असुर (Lower Self) का परस्पर युद्ध हो रहा है परन्तु अद्वैत-मत में यह सब भ्रम है। इस मत में जगत् में जो कुछ है वह ठीक हो रहा है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में शंकर समझता था कि पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य पाप कुछ नहीं। यूरोप में हेगल इस बात को मानता था कि जो कुछ हो रहा है ठीक हो रहा है यूरोप में हेगल के विचार के विरोध का एक कारण यह भी था कि मजदूर और ग़रीब लोग—जो कि दबे हुए थे और पिस रहे थे—उनके विषय में हेगल का विचार यह मालूम होता था कि यह सब ठीक हो रहा है।

प्रतिक्षण प्रत्येक काम करते हुए हमें यह प्रतीत होता है कि हम कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, हम अपनी इच्छा से यह काम कर रहे हैं, चाहें तो अन्यथा भी कर सकते हैं। परन्तु अद्वैतवाद कहता है कि जगत् में एक ही सत्ता है, जो एक सगुण नहीं है और इसी लिये स्वतन्त्र इच्छा से काम नहीं करती, इसलिये जगत् में जो भी कुछ हो रहा है उस सत्ता के स्वभाव का अनिवार्य्य परिणाम है। इसलिये न मनुष्य स्वतन्त्र है, न कोई और चीज़ स्वतन्त्र है। इससे परिणाम स्पष्ट और पर निकलेगा कि मनुष्य अपने कामों

के लिये जिम्मेवार नहीं और उसका कोई कर्त्तव्य भी नहीं, क्योंकि कर्त्तव्य वहीं हो सकता है जहां शक्ति हो। शक्ति के विना कर्त्तव्य का कुछ अर्थ नहीं। अद्वैतवादी प्रायः सदाचार को स्वीकार करते हैं परन्तु उनके मन्तव्य-तत्त्वों के अन्दर सदाचार के लिये स्थान नहीं है। व्यवहार में लोग प्रायः Stoicism की तरह अपने अद्वैत-वाद को भूल जाते हैं और इसीलिये धर्म और सदाचार को भी मानते रहते हैं। अद्वैतवाद के पक्षपाती कहते हैं कि यह वाद हमें कार्य के लिये भी और सहन करने के लिये भी शक्ति देता है क्योंकि हमें निश्चय होता है कि परमात्मा हमारे अन्दर कार्य्य कर रहा है। राजा, Hero और विजेता वास्तव में दैवी-शक्ति के आविष्कार हैं। अपनी ऊंची से ऊंची शक्ति और विजय के समयों में हम में मानो परमात्मा की शक्ति काम कर रही होती है। परन्तु ईश्वरवाद भी तो कहता है कि ईश्वर हमारी सहायता करता है। हम चूँकि ईश्वर से अलग हैं इसलिये अपने कर्मों में हमें कुछ गर्व और प्रसन्नता भी हो सकती है। परन्तु यदि हम ईश्वर के भाग हों तो हमारा काम सर्वथा ईश्वर का काम है, इसलिये हमें प्रसन्नता कैसी? ईश्वर की अनन्त शक्ति की तुलना से तो हमारा काम तुच्छ ही होगा इस दृष्टि से भी प्रसन्नता के लिये कोई अवसर नहीं रहेगा। और फिर यही क्यों कहा जाय कि ऊंची चीजें परमात्मा की शक्ति का आविर्भाव हैं, तुच्छ और बुरी चीजें उसकी शक्ति के आविर्भाव क्यों नहीं? ईश्वरवादी तो कह सकता है कि परमात्मा जगत् से भिन्न है परन्तु अद्वैतवादी इस आक्षेप से किसी तरह नहीं बच सकता।

कहा जाता है कि सौन्दर्यप्रिय मनुष्यों को अद्वैतवाद अधिक सन्तोष देता है क्योंकि यह वाद कहता है कि एक ही अनन्त शक्ति है जो प्रकृति में विविध सुन्दर रूप धारण कर रही है। परन्तु ईश्वरवाद भी यही कहता है कि ईश्वर जगत् को धारण कर रहा है और इसमें व्यापक है, साथ ही यह भी कि संसार में एक ऋत-सत्य या नैतिक नियम काम कर रहा है, कर्मफल का नियम काम कर रहा है, इसलिये भौतिक-सौन्दर्य, आध्यात्मिक-सौन्दर्य और उद्देश्य के साथ और इसके आधीन होकर काम कर रहा है। परन्तु अद्वैतवाद केवल भौतिक-सौन्दर्य को ही मान सकता है और फिर संसार तो सौन्दर्य के अतिरिक्त भी नजर आता है। अद्वैतवाद को इसे भी अनन्त शक्ति का ही आविष्कार मानना पड़ेगा। कला, गान, कविता, चित्रकारी आदि के विषय में अद्वैतवाद यही कह सकता है कि इनका उद्देश्य सौन्दर्य ही है, इनकी आवश्यकता सदाचार की दृष्टि से कोई नहीं Dr. Flint के शब्दों में परिणाम यह होगा कि काम (Cupid) आदि देवों के सुन्दर चित्र बनाए जाएंगे परन्तु इस कला का कोई ऊंचा उद्देश्य न रहेगा। इस प्रकार अद्वैतवाद की सूखी एकता हम से बहुत त्याग चाहती है—हमारी इन्द्रियाँ झूठी, बुद्धि झूठी, आत्मा झूठी, चेतना झूठी, हमारे स्वभाव की गहरी से गहरी आकांक्षाएं और विश्वास झूठे, हमारी वैयक्तिक सत्ता झूठी और इतने बड़े त्याग पर इतनी मूल्यवान् वस्तुओं को खोकर, निर्गुण-सत्ता को प्राप्त कर सकते हैं जिसके साथ हमारा कोई वैयक्तिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। क्योंकि इस सम्बन्ध का मतलब है वैयक्तिक नाश, जिसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता ऐसा सम्बन्ध यह भी नहीं कि अद्वैत-तत्त्व की सत्ता है ही या वह विचाररूप या Reason है अपितु ऐसा है जो कि किसी के विचार का विषय नहीं और जिसमें चेतनता भी नहीं है। अद्वैतवादियों के ऐसे ब्रह्म से हमारा क्या मतलब?

वेद में स्त्रियों की स्थिति

[ले० श्री पं० यशपालजी सिद्धान्तालंकार, वैदिक मिशनरी]

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिने सरस्वति महि विश्रुति।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्।

यजुर्वेद ८। ४३॥

(इडे) स्तुति योग्य (रन्ते) रमणीय (हव्ये) स्वीकार करने योग्य (काम्ये) कमनीय (ज्योते) श्रेष्ठ शील से प्रकाशमान (चन्द्रे) चन्द्र के समान आह्लादकारिणी (अदिते) अविनाशिनि! अखण्ड चरित्र (सरस्वति) विज्ञान से युक्त विदुषी (महि) पूजनीय (विश्रुति) विविध गुणों से प्रसिद्ध, विविध विद्याओं में कुशल (अघ्न्ये) तिरस्कार करने के अयोग्य (ते) तेरे (एता) ये (नामानि) नाम हैं, तू (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (मा) मुझको (सुकृतम्) उत्तम उपदेश (ब्रूतात्) किया कर।

अर्थात् उपरोक्त गुणों से युक्त स्त्री अपने पति तथा अन्य सब स्त्रियों को यथायोग्य उत्तम कर्म सिखलावे जिससे किसी तरह वे अधर्म की ओर न डिगें।

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्य आयुर्मे दाः।
पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः॥
सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाः।
आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः
विधृतिरुपरिष्टाद्बृहस्पतेराधिपत्य ओजो मे दा।
विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि॥

यजु० १७। १२॥

हे स्त्रि! तू (अनाधृष्टा) किसी से भी तिरस्कृत न होकर (पुरस्तात्) पूर्व दिशा से (अग्नेः) अग्नि के (आधिपत्ये) स्वामित्व में रहकर अर्थात् जैसे अग्नि व सूर्य जीवनप्रद अन्न का प्रदान करने वाले हैं उसी प्रकार तू भी (मे) मुझ पति को (आयुः) जीवन के हेतु अन्न को (दाः) दे (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा से (इन्द्रस्य आधिपत्ये) इन्द्र के आधिपत्य में (पुत्रवती) उत्तम पुत्रों वाली होकर (मे) मेरे लिये (प्रजां) सन्तान (दाः) दे, (सुषदा) सुख को देने वाली (पश्चात्) पश्चिम से (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) सूर्यमण्डल के (आधिपत्ये) आधिपत्य में (मे) मेरे लिये (चक्षुः) नेत्र (दाः) दे (आश्रुतिः) विदुषी तू (उत्तरतः) उत्तर दिशा से (धातुः) धारण-कर्त्ता वायु के (आधिपत्ये) आधिपत्य में (रायः पुष्टिः) धन समृद्धि को (मे दाः) मुझे प्रदान कर (विधृतिः) विविध पदार्थों के धारण करने में समर्थ होकर तू (बृहस्पतेः) ज्ञान के (आधिपत्ये) आधिपत्य में (मे) मुझे (ओजः) बल, पराक्रम (दाः) दे (मा) मुझको (विश्वाभ्यः) सब (नाष्ट्राभ्यः) दुष्ट प्रवृत्तियों से (पाहि) रक्षा कर तू (मनोः) मननशील अन्तःकरण में (अश्वा) व्यापिका (असि) है।

अर्थात् जैसे अग्नि जीवन को, विद्युत् प्रजा को, सूर्य दर्शन शक्ति को देता है उसी प्रकार सुलक्षणा पत्नी सब सुखों को देती है और अपने पति को अधर्माचरण से बचाती है।

मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी ।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥

यजुर्वेद १४ । २१ ॥

हे स्त्रि ! तू (मूर्द्धासि) द्यौ वा सूर्य के समान सब से उच्च शिरोभाग पर स्थित है (राट्) तू सूर्य के समान ही तेजस्विनी है (ध्रुवा) ध्रुव के समान निश्चल है (धरुणा) पुष्ट करने वाली (धर्त्री) धारण करने वाली (असि) है (धरणी) भूमि के समान सब गृहस्थ का धारण करने वाली है, उस (त्वा) तुझ (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये (कृष्यै) उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिये (क्षेमाय) कल्याण के लिये स्वीकार करता हूं ।

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री ।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ... ...॥

यजुर्वेद १४ । २२ ॥

हे स्त्रि ! तू (यन्त्री) समस्त गृहस्थ को नियम में रखने वाली (राट्) तेज से प्रकाशमती (यन्त्री) नियमकारिणी (असि) है तू (यमनी) नियम व्यवस्थाकारिणी (असि) है (धरित्री) प्रजा को धारण करने वाली (ध्रुवा असि) स्थिर है (त्वा) तुझे (इषे) सम्पदा की वृद्धि के लिये (त्वा) तुझ को (ऊर्जे) पराक्रम की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझ को (रय्यै) ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये (त्वा) तुझ को (पोषाय) पुष्टि के लिये मैं ग्रहण करता हूं ।

अर्थात् जो स्त्री पृथिवी के समान क्षमायुक्त, आकाश के समान निश्चल होती है वह कुल का प्रकाश करने वाली है ।

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः।
स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान् ॥ अथर्ववेद १४।२।२६॥

हे वरानने! तू (सुमङ्गली) अच्छे मङ्गलाचरण करने (प्रतरणी) दोष तथा शोकादि से पृथक् करने हारी (गृहाणां) गृहकार्यों में चतुर तथा तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुख युक्त होकर (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्र्वै) सासू के लिये (शम्भूः) सुखकर्त्री और (स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुखपूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथा सो दीर्घं त आयुः सविताकृणोतु ।

अथर्व० १४।२।७५॥

हे पत्नि ! तू (शत शारदाय) शत वर्ष पर्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ काल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धि युक्त (बुध्यमाना) सज्ञान हो कर (गृहान) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और गृहपत्नी मुझे घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घकाल पर्यन्त (आयुः) जीवन (असः) होवे वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस आशा को (सविता) परमात्मा (कृणोतु) अपनी इच्छा से सिद्ध करे जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैताः वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्य प्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥

मनु० अ० ३ । श्लो० ५५-५८॥

अर्थात् पिता, माता, पति और देवर को योग्य है कि अपनी कन्या, बहिन, स्त्री और भौजाई आदि स्त्रियों की सदा पूजा करें अर्थात् यथायोग्य मधुर भाषण, भोजन, वस्त्र, आभूषणादि से प्रसन्न रक्खें। जिनकी कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न दें। जिस कुल में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है उस कुल में दिव्य गुण, दिव्य भोग और उत्तम सन्तान होते हैं और जिस कुलों में स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहां जानो उनकी सब क्रिया निष्फल है। जिस कुल में स्त्रियाँ अपने २ पुरुषों के वेश्यागमन वा व्यभिचारादि दोषों से शोकातुर रहती हैं वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है और जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तमाचरणों से प्रसन्न रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है। जिन कुलों और घरों में अपूजित अर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रियां जिन गृहस्थों को शाप देती हैं वे कुल तथा गृहस्थ जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें वैसे चारों ओर से नष्ट भ्रष्ट हो जाते है।

प्रजननार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियश्च श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥
मनु० ९। २६॥

सन्तानोत्पत्ति के लिये महा भाग्योदय करने हारी पूजा के योग्य, गृहाश्रम को प्रकाश करती, सन्तानोत्पत्ति करने हारी, घरों में स्त्रियां हैं वे श्री अर्थात् लक्ष्मीस्वरूप होती हैं। क्योंकि लक्ष्मी शोभा और स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है।

पुरुषो वै यज्ञः। अयज्ञो वै एष, यो अपत्नीकः। अर्धो वै एष आत्मनो, यत् पत्नी।

(तै० ब्रा० ३। ८। २३), (तै० ब्रा० ३। ३। ३), ० सं० ६। १। १। ८)।

पुरुष निश्चय यज्ञ कर्म के लिये है। यह निश्चय यज्ञ कर्म के अयोग्य है, जो पत्नी से रहित है। क्योंकि पुरुष के शरीर का यह आधा भाग है, जो पत्नी है।

अर्धो ह वा एष आत्मनो, यत् जाया। तस्मात् यावत् जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते। असर्वो हि तावत् भवति॥ शत० ५। २। १। १०॥

आधा भाग है प्रसिद्ध निश्चय यह पुरुष का, जो स्त्री है। इसलिये मनुष्य जब तक स्त्री को नहीं पाता है, नही निश्चय तब तक पुत्र वाला होता है। निःसन्देह अपूर्ण ही तब तक रहता है।

यत्र एष पतिः, तत्र जाया। जाया पत्नी। गृहाः वै पत्न्यै प्रतिष्ठा। तद् गृहेषु एव एनाम् एतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति॥
शत० १२-,८-,२-६। ३-३-१-१०॥

जहां ही पति रहे, वहां ही स्त्री रहे। जो स्त्री है, वही पत्नी है। घर ही निश्चय पत्नी की प्रतिष्ठा का कारण है। इसलिये घरो में ही जो इसकी प्रतिष्ठा का कारण है, प्रतिष्ठा पूर्वक रखे।

पत्नी हि पारिणह्यस्य ईशे॥ तै०सं०६। २। १॥

पत्नी निस्सन्देह घर के पदार्थ मात्र की ईश्वरा अर्थात् स्वामिनी है।

स्त्री वै एषा यत् श्रीः। न वै तस्मात् स्त्रियं घ्नन्ति॥
शत० ११।४।३।२॥

पत्नी निःसन्देह यह है, जो घर का ऐश्वर्य है। इसलिये घर के ऐश्वर्य की कामना वाले मनुष्य निश्चय किसी काल में भी स्त्री का अनादर नहीं करते।

वेदों, मनुस्मृति तथा ब्राह्मणग्रन्थों के उपरोक्त प्रमाणों से यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि वेद तथा वैदिक साहित्य में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त महत्त्व पूर्ण तथा उन्नत थी। यदि पाठक उपरोक्त उद्ध-

रणों पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो वे इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

क्या कन्याओं को वेदाध्ययन और यज्ञोपवीत का अधिकार है?

१-द्विविधाः स्त्रियः। ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं स्वगृहे भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनामुपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनं कृत्वा विवाहः न कार्यः।

अर्थात् स्त्री दो प्रकार की होती हैं-ब्रह्मवादिनी और सद्योवधूः। उनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उपनयन (यज्ञोपवीत), अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और अपने घर में भिक्षाचर्या का विधान है। तथा सद्योवधुओं का विवाह समय उपस्थित होने पर उपनयनमात्र करा कर विवाह करना चाहिये।

२-पुरा कल्पेषु नारीणां मौञ्जी बन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनं तथा॥ इति यमोक्तेः।

अर्थात् पुराकल्पों में स्त्रियों को मौञ्जी बांधना, वेदों का पढ़ाना और गायत्री का उपदेश इष्ट था क्या कन्याओं को वेदाध्ययन और यज्ञोपपीत का अधिकार है? यहां पर कल्प का अर्थ समयवाचक माना जाय तो पुरा शब्द के होने से "इष्यते" यह वर्तमान काल का प्रयोग ठीक नहीं। क्योंकि 'परोक्षे लिट्' इस पाणिनि के सूत्रानुसार भूत अनद्यतन परोक्षकाल में लिट् लकार आना चाहिये। 'इष्यते' का अर्थ है इष्ट होता है, न कि इष्ट था। इसलिये यहां कल्प शब्द का यह अर्थ करेंगे कि 'पूर्वविधिषु' अर्थात् अन्य वेदाध्यापन, सावित्री वाचन तथा विवाहादि विधि करने से पूर्वविधि में प्रथम स्त्रियों को मौञ्जी बन्धन' यज्ञोपवीत संस्कार इष्ट है। तत्पश्चात् वेदों का पढ़ाना और गायत्री मन्त्र का जपादि विधि करनी चाहिये। इसके लिये प्रमाण—

'कल्पे विधिक्रमौ'। अमर० १७।४०।

अर्थात् कल्प, विधि, क्रम। ये तीन नाम नियोग विधान शास्त्र के हैं। भगवान मनु भी कहते हैं कि—
'नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्' ॥मनु० २।१७१॥

अर्थात् यज्ञोपवीत से पूर्व वेद का उच्चारण न करें। कल्प शब्द विधि अर्थ में साहित्य में भी प्रयुक्त होता रहा है। 'तदनन्तरं' भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ, उत्तररामचरित। अर्थात् भगवान् वाल्मीकि ने एकादश वर्ष होने पर क्षात्रकल्प (विधि) से उपनयन संस्कार कराकर दोनों लव तथा कुश को त्रयी विद्या पढ़ाई। यहां कल्प शब्द पर वीर राघव कृत यह टीका है—"कल्प्यतेऽनुष्ठीयतेऽनेनेति कल्प अनुष्ठान परिपाटी प्रकाशक ग्रन्थः"।

३-यह प्रश्न उठता है कि जैसे बालकों के यज्ञोपवीत की विधि, अमुकवर्ण के बालक को अमुकवर्ष में मुण्डन और कौपीनादि कराकर यज्ञोपवीत की विधि है इसी प्रकार कन्याओं के लिये यज्ञोपवीत की विधि का पृथक् विधान कहीं भी देखने में नहीं आता।

(उत्तर) जो विद्वान् लोग संस्कृत भाषा और शास्त्रों में कुछ योग्यता रखते हैं वे अच्छी प्रकार समझते हैं कि शास्त्रकारों ने शास्त्रों के सामान्य विधान में जहां कहीं पुंल्लिंग निर्देश किया है वहां स्त्रियों का भी ग्रहण किया है। वैद्यक शास्त्र तथा Penal Code में पुरुष निर्देश से प्रयोग होता है तो क्या उस प्रकार का अपराध करने वाली स्त्री दण्डनीया नहीं हो सकती? जैसा कि 'यः कोऽपि विषं भुङ्क्ते स म्रियते'। इस वाक्य में 'य' तथा 'स' पुंल्लिंग हैं तो इससे क्या कोई स्त्री विष

खायेगी तो नहीं मरेगी ? He who will commit theft will be punished अर्थात् जो कोई चोरी करेगा वह दण्ड-भागी बनेगा। यहां भी He प्रयोग पुंलिंग है। तो क्या चोरी करने वाली स्त्री दण्डनीय न होगी? इससे यह स्पष्ट है कि पुंलिंग वचन होते ही स्त्री-लिंग का भी ग्रहण होता है।

मीमांसादर्शन में जैमिनि लिखते हैं कि:—

जातिं तु वादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्।

अध्याय ६। पाद १। सू० ८॥

'तु' शब्द पूर्व शब्द की व्यावृत्ति के लिये है। अर्थात् व्यासमुनि का यह मन्तव्य है कि जाति अर्थ की समानता से स्त्री भी मनुष्यजाति में होने से संस्कार, पठन-पाठन, तथा यज्ञादि कर्मों में स्त्री का भी ग्रहण-अधिकार हो सकता है। इस सूत्र पर शावराचार्य लिखते हैं कि:—

'जातिं तु वादरायणोऽधिकृतां मन्यते स्म। किन्तर्हि? स्वर्गकाम शब्देनोभावपि स्त्री पुंसावाधिक्रियेते इति। अतो न विवक्षितं पुंलिंगमिति। कुतः? अविशेषात्। स्वर्गे कामो यस्य, तमेव लक्षयति शब्दः। तेन लक्षणाधिकृतो यजेतेति शब्देन उच्यते। तत्र लक्षणमविशिष्टं स्त्रियां पुंसिच। तस्माच्छब्देनोभावपि स्त्री पुंसावाधिकृताविति गम्यते'।

अर्थात् व्यास देव जाति को अधिकृत मानते हैं। इससे क्या ? स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे यहां स्वर्गकाम शब्द से दोनों स्त्री पुरुष यज्ञादिक में अधिकारी होते हैं। इसलिये पुंलिंग विवक्षित नहीं है। क्यों? अविशेष होने से। जिनकी स्वर्ग में कामना हो उनको ही शब्द लक्ष्य कर रहा है। उस लक्षण से अधिकृत याग करे यह भाव शब्द से विवक्षित है। यहां स्त्री-पुरुष दोनों में स्वर्गकामना रूप लक्षण समान है। 'तस्मात्' इस शब्द से स्त्री पुरुष को यज्ञ में समान अधिकार है, यह सुविदित है।

अन्य संस्कारों में भी पुंलिंग निर्देश आया है, परन्तु उससे दोनों विवक्षित हैं।

(i) "प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते"।

मनु० २-२९।

अर्थात् नाभि छेदन के पूर्व पुरुष का जात कर्म करे। यहां भी 'पुंसः' से लड़का तथा लड़की दोनों का ग्रहण होता है।

(ii) नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।

(iii) चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्। षष्ठेऽन्नप्राशनम् ··· ··· ······ ।

यहां पर नामकरण में 'अस्य' तथा निष्क्रमण और अन्नप्राशन में 'शिशोः' शब्द पुंलिंग होने पर भी दोनों के लिये विवक्षित है।

इसी प्रकार—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तुद्वादशे विशः॥

इस श्लोक में भी पुरुष लिंग का निर्देश होते हुए भी कन्याओं के लिये भी समान रूप से यज्ञोपवीत का विधान है।

४—विवाहकाल में पत्नी का स्वयं वेदमन्त्र पढ़ने का विधान है। श्रौत सूत्र में—'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' इस मन्त्र को पत्नी पढ़े। 'वेदं पत्न्यै प्रादाय वाचयेत्'—पत्नी को वेद देकर पढ़वावे। शांखायन कल्प में भी आचार्य लिखते हैं कि—

घृतवन्तं कुलायिनं रायस्पोषं सदस्रिणं वेदो दधातु वाजिनमिति वेदे पत्नीं वाचयति ॥

शांखा० श्रौ० १–५ ॥

अर्थात् 'घृतवन्तं' आदि वेदमन्त्र वेद में से पत्नी को पढ़वावे।

५–'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिं'।

अथर्ववेद ११–७–१८ ॥

अर्थात् 'कन्या ब्रह्मचर्य सेवन से युवावस्था सम्पन्न पति को प्राप्त होती है'। ब्रह्मचर्य का अर्थ सायणाचार्य के शब्दों में 'ब्रह्म वेदः तदध्ययनार्थं आचर्यं आचरणीयं समिदाधान भैक्षचर्योर्ध्वरेतस्कत्वादिकं ब्रह्मचारिभिरनुष्ठीयमानं कर्म ब्रह्मचर्यम्'। अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसके अध्ययन के लिये आचरण करने योग्य समिदाधान, भिक्षाचार्य्य तथा ऊर्ध्ववीर्यता आदि ब्रह्मचारियों से अनुष्ठान करने योग्य जो कर्म है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य का यह अर्थ सायण ने ११। ७। १७ के भाष्य में किया है। तथा 'तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धन चिह्नितम्'। २–१७०। अर्थात् यज्ञोपवीत से चिह्नित होना यह उसका ब्रह्म अर्थात् वेद-जन्म होना है। तात्पर्य यह कि वेद पढ़ने के लिये यज्ञोपवीत-धारण आवश्यक है।

६—वेद मन्त्रों की द्रष्टा ऋषिकाएं भी हुई हैं:—

नाम	ऋग्वेद मण्डल	सूक्त	ऋचा
रोमशा	१.	२६.	७
लोपामुद्रा	१.	१७९.	१–६
विश्ववारा	५.	२८.	१–६
शश्वती	८.	१.	३८
अपाला	८.	९१.	१–७
यमी	१०.	१०.	१,३,५,७,११,१३
घोषा	१०.	३९,४०.	१–१८
सूर्या	१०.	८५.	१–४७
इन्द्राणी	१०.	८६.	१–२३
उर्वशी	१०.	९५.	२,४,५,७,११,१३,१५,१६,१८
दक्षिणा	१०.	१०७.	१–११
सरमा	१०.	१०८.	२,४,६,८,१०,११
वाक्	१०.	१२५.	१–८
गोधा	१०.	१३४.	७
श्रद्धा	१०.	१५१.	१–५

इत्यादि.

७—यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।

ब्रह्मराजन्याभ्या२ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च ॥

इस ऋचा में तो स्पष्ट ही स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार दिया गया है ।

८—प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदायन् जपेत् सोमोऽद्दद् गन्धर्वाय ॥ गोभिलीय गृह्यसूत्र प्र० २ का० १ सू० १९ ॥

उत्तरीयवस्त्रादि से आच्छादित तथा यज्ञोपवीत धारण की हुई कन्या को विवाह-मण्डप में लावे ॥

९—पत्नी को यज्ञ में बैठने का भी स्पष्ट अधिकार है

(i) पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । अष्टाध्यायी ४—१—३३ ।

पतिशब्दस्य नकारादेशः स्यात् यज्ञेन सम्बन्धे ।

अर्थात् पत्नी शब्द ही यज्ञ के सम्बन्ध का बोधक है । वेद में भी—

सुपत्नी पत्या प्रजावत्या स्वागन् यज्ञः प्रतिकुम्भं गृभाय ।

अथर्व ११।१।१॥

अर्थात् पति के साथ श्रेष्ठतमा पत्नी शोभनपुत्र और प्रजायुक्त होती है, ऐसी पत्नी को यज्ञ प्राप्त होता है ।

(ii) कामं गृह्येऽग्नौ पत्नी जुहुतात्सायं प्रातर्होमौ, गृहाः पत्नी, गृह्य एषोऽग्निर्भवतीति ॥

गोभि० गृ० प्र० १ । का० ३ । सू०१५॥

इस पर भाष्यकार लिखता है कि "पत्नीमध्यापयेत् कस्मात् ? पत्नी जुहुयादितिवचनात् । न खल्वनधीत्य शक्नोति पत्नी होतुमिति ॥ अर्थात् पत्नी को वेदादि पढ़ाना चाहिये क्योंकि पत्नी अग्निहोत्र करे यह विधान पाये जाने से । विना पढ़ी पत्नी हवन यज्ञ करने के योग्य नहीं हो सकती ।

(iii) दम्पती एव । गोभि० गृ० प्र० १ का०४ सू० १७ ॥

इसपर भाष्यकार चन्द्रकान्त लिखते हैं—गृहपतिस्त्पत्नो तावुभौ दम्पती एव बलीन् हरयेतामिति सम्बध्यते । अर्थात पति पत्नी दोनों बलिवैश्वदेवादि यज्ञ करें ।

(iv) मीमांसा दर्शन में—

स्ववतोऽस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् । अ० ६—१—१७॥

वचनात्तयोः सह क्रिया । एवं हि स्मरन्ति, धर्मे, चार्थे च कामे च नातिचरितव्येति । ....

तत्र यागोऽवश्यं सहपत्न्या कर्त्तव्य इति ॥ (शावरभाष्य)

अर्थात् स्त्री पुरुष दोनों को एक कर्म के बोधक वचन पाये जाने से दोनों का एक साथ कर्म करने का विधान है । धर्म, अर्थ और काम में स्त्री को पृथक् नहीं करना चाहिये—ऐसी स्मृति है । अतः अवश्य पत्नी के साथ यज्ञ यागादि करने चाहियें ।

पुनः——

फलवतां च दर्शयति ॥ मीमांसा अ० ६ पा० १ सू० २१॥

संपत्नी पत्या सुकृतेन गच्छतां यज्ञस्य धुर्यायुक्तावभूताम् सञ्जानानौ विजहीताम् । अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारभेतामिति दम्पत्योः फलं दर्शयति । तस्मादप्युभौ अधिकृताविति सिद्धम् ॥

अर्थात् पति के साथ पत्नी सुकृत करती चले । दोनों यज्ञ के वाहक बन जावें । दोनों मिल कर आगे बढ़ते रहें । स्वर्ग में अविनाशि ज्योति का दोनों आरम्भ करें । इस प्रकार शास्त्र स्त्री पुरुष दोनों को एक साथ कर्म करने का अधिकार देता है ।

१०—शंकरदिग्विजय में लिखा है कि:—

तत्राधिकारमधिगच्छति सद्वितीयः ।

कृत्वा विवाहमिति वेदविदां प्रवादः ॥—१४ ॥

अर्थात विवाह करके परिणीता पत्नी के साथ पुरुष को यज्ञादि कर्म में अधिकार प्राप्त होता है, ऐसा वेद के जानने वालों का कथन है ।

११—इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है:—

(i) सर्वाणि शास्त्राणि षडंग वेदान् ।
काव्यादिकान् वेत्ति परं च सर्वम् ॥
तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र बाला ।
तस्मादभूच्चित्रपदं जनानाम् ॥ शंकरदिग्विजय ।

वह बाला उभय भारती न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्व मीमांसा, वेदान्त तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष तथा चारो वेदों और काव्यादि ग्रन्थों में पारङ्गत थी। ऐसा कुछ न था जो कि उभय भारती न जानती हो।

(ii) ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिगी ।
अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता ॥
किष्किन्धाकाण्ड स० १६–१२॥

विजय चाहने वाली और वेदमन्त्र को जानने वाली स्वस्ति अयन करके स्त्रियों के साथ शोकार्त्ता अन्तःपुर में दाखिल हुई।

(iii) सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यव्रत-परायणा ।
अग्निं जुहोति स्म मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥
अयोध्याकाण्ड २०–१५॥

अर्थात् कौशल्या मन्त्रों सहित अग्निहोत्र कर रही थी।

(iv) साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसतिमद् विधे ।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥
महाभारत शान्तिपर्व ३२१–८३॥

अर्थात् सुलभा राजा जनक के प्रश्न पर उत्तर देती है कि मैं प्रभावशाली क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुई हूं और गुरुओं से मैंने शिक्षा पाई है। ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर योग्य पति न मिलने से मैंने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आश्रय लेकर संन्यास व्रत ग्रहण किया है।

(v) अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथ विदोवसन्ति ।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ॥

उत्तर रामचरित में आत्रेयी कहती है कि अर्थात् परब्रह्म विद्या में पारंगत ऋषियों से वेद विद्या पढ़ने के लिये यहां आई हूं।

(vi) उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ मनु० २–१४०॥

जैसा आचार्य का लक्षण तथा कर्त्तव्य है उसी प्रकार पुंल्लिंग निर्देश जात्य विशेष से स्वयं व्याख्यात्री आचार्या को भी समझना चाहिये। 'आचार्यादणत्वं च' पर कौमुदीकार लिखता है कि आचार्य की पत्नी आचार्यानी कहलायेगी परन्तु स्वयं वेद विद्या पढ़ने वाली व्याख्यात्री आचार्या कहलायेगी।

कर्नल टाड ने एक स्थान पर लिखा है कि—

"It is universally admitted that there is no better criterion of the refinement of a nation than the condition of the fair sex.'

अर्थात् "यह बात सर्वसम्मत है कि यदि किसी जाति की उन्नति या सभ्यता का अन्दाज़ा लगाना हो तो उस देश की स्त्रियों की स्थिति का अन्दाज़ा लगा लिया जाय।" उपरोक्त लेख के अध्ययन से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक काल में हमारे देश में स्त्रियों की स्थिति कितनी उन्नत थी। परिवार में उन्हें लक्ष्मी तथा मूर्धा समझा जाता था। समाज तथा राष्ट्र में उन्हें अत्यन्त सम्मान से देखा जाता था। संसार परिवर्त्तनशील है उसको कोई बांध नहीं सकता। आज जो उन्नति के शिखर पर है कल वही अवनति के गढ़े में पड़ा दिखाई देता है। हमारा देश

दिन प्रतिदिन पराधीन होता गया। भिन्न २ जातियों के सम्पर्क से समाज नियमों में दूषणता तथा शिथिलता आती गई जिससे स्त्री-समाज की दशा बिगड़ती गई। मध्यकाल में स्त्रियों की दशा अत्यन्त हीन हो गई। लोग वैदिक मार्ग से विमुख हो गये। जहां अन्य बातों में आर्य जाति गिरावट की ओर गई वहां स्त्रियों के सम्बन्ध में प्राचीन गौरव के तथा मान के भाव भी लुप्त हो गये और आर्य जाति के सामूहिक पतन के साथ स्त्रियों का भी पतन हो गया। इसमें हमारे प्राचीन वेदों, शास्त्रों तथा ऋषियो का तनिक भी दोष नहीं है। आर्य जाति के उत्थान के लिये, भारतीय संस्कृति के पुनर्जीवन के लिये तथा स्त्रीजाति के उद्धार के लिये १९ वीं सदी में भारत में एक ऋषि पैदा हुआ जिसने सर्वतोमुखी क्रान्ति करके स्त्रियों को देवी के सुन्दर पद पर बैठाया और उनके प्राचीन गौरव की रक्षा की।

रंगा ऐय्यर ने अपनी Father India नामक पुस्तक में लिखा है कि "In the nineteenth Century Rishi Dayanand came as a Massiah to preach the restoration of women to their ancient glory" अर्थात् १९वीं सदी में स्त्रियों की पुरानी महत्ता तथा गौरव को क़ायम करने के लिये ऋषि दयानन्द ने मसीहा के रूप में जन्म लिया।

आज संसार में सर्वतोमुखी जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। सदियों से गुलामी की अवस्था में रहने से स्त्रीजाति को नाना प्रकार के अत्याचारों का सहन करना पड़ा। अब जब कि सारे विश्व में देवियों में जागृति के चिह्न दिखाई दे रहे हैं और प्राचीन गुलामी के विरुद्ध योरोप की देवियों ने घोर आन्दोलन शुरू कर दिया है उस अवस्था में भारतीय नारी भी इस सम्बन्ध में निष्क्रिय नहीं रह सकतीं। भारत में भी उसी प्रकार के जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ऐसे परिवर्तन के समयों में प्रायः लाभ के स्थान पर हानियाँ उठानी पड़ती हैं और जातियाँ अपने उद्देश्य से बहुत दूर चली जाया करती हैं। स्वतन्त्रता के मद में भारतीय नारी भी योरोप की देवियो के सदृश अपने असली उद्देश्य से विचलित हो रही हैं। अब तो स्त्रीजाति की अवस्था सांप छछून्दर की तरह हो रही है। इधर गढ़ा तो उधर खाई। हमारी सम्मति में वर्त्तमान सर्वव्यापी आन्दोलन देवियो को गढ़े से निकाल कर खाई में गिरा देगा।

सहस्रों अत्याचार, अनाचार और प्रवञ्चनाओं के साथ युद्ध करके आज पाश्चात्य स्त्रियो ने अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की है और वे म्युनिसिपैलिटी, सिनेट, अदालत तथा अन्यान्य स्थानो पर प्रवेश पाने लगी हैं। स्त्रियां आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार की नौकरियां करने लगी हैं। विवाह या वैवाहिक जीवन को गुलामी समझने लगी हैं। विवाह को बन्धन मान कर उसमें आने के लिये वे सङ्कोच करने लगी हैं। तुर्किस्तान, सोवियट रसिया, टर्की इत्यादि देशों में नारी-स्वातन्त्र्य का बीज बोया जा चुका है। सती धर्म की सर्वत्र हीनता प्रतिपादन की जा रही है। सतीत्व को गुलामी का कारण समझा जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन परिवर्त्तनों से थोड़े काल के लिये तो सम्भवतः देवियां प्रसन्न हों परन्तु इसका परिणाम अन्ततो गत्वा अत्यन्त भयानक होगा। जिसको स्मरण करके हृदय कांप

उठता है। इस आन्दोलन के भयङ्कर परिणामों का घातक परिणाम अब भी अमेरिका (यूरोप के अहम्मन्य सभ्य देश) में देखा जा सकता है। जहां तक इस आन्दोलन का सम्बन्ध—स्त्रियों में शिक्षा प्रचार, पर्दे का बहिष्कार करना, बहु विवाह की कुरीति को दूर करना, यथावसर देश की सेवा करने की योग्यता प्राप्त करना, उनको घर की दासी और भोग विलास का साधन न समझना, पशुओं के समान उनसे व्यवहार न करना, गृहस्थ कार्यों में उनकी सम्मति का मान होना, वेश्यालयों का सर्वथा उच्छेद—इत्यादि बातों के साथ है वहां तक इस आन्दोलन के साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति है और इसके सफल करने में पुरुषों को भी पूर्ण मन से देवियों का सहयोग देना चाहिये परन्तु विवाह को बन्धन समझना, विवाह से पूर्व स्त्री-पुरुष का सहवास, बालकों तथा कन्याओं का सहशिक्षण, आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने के लिये स्त्रियों का स्वयं नौकरी करना और बच्चों को आया के सुपुर्द करना, इत्यादि बातें मानव जाति के सुख तथा शान्ति को भंग करने वाली हैं। इन बातों का परिणाम सर्वथा भयङ्कर होगा। फ़ारस में महिलाओं की एक समिति स्थापित हुई है, जिसके पांच उद्देश्य हैं।

१—स्त्रियां स्वतन्त्र हों, उन के मुख से पर्दा उठा दिया जाय।

२—समाज, राजनीति और देशसेवा में उनका अधिकार स्थापित हो।

३—सोलह वर्ष से कम आयु वाली कन्याओं का विवाह न हो।

४—बहुविवाह देश से सर्वथा उठ जाए।

५—पुरुष की ओर से तलाक के समय दहेज या स्त्रीधन वसूल करने के लिये कुछ विशेष नियम बनाया जाय।

इन उद्देश्यों से किसकी सहमति न होगी। हमारा यह निश्चित मत है कि Sex disqualification उड़ा देना चाहिये और केवल स्त्री होना ही किसी देवी के लिये सार्वजनिक जीवन में भाग लेने में बाधक न हो परन्तु हम यह भी मानते हैं कि स्त्री का कार्य गृहस्थ का संचालन करना है न कि सार्वजनिक संस्थाओं में जाकर व्याख्यान देना। स्त्रियों को अधिकार होना चाहिये, उनमें योग्यता होनी चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर वे देश तथा धर्म की सेवा करने के लिये सुलभा तथा दुर्गा बनकर मैदान में आयें। परन्तु साधारणतया उनका यह कार्य नहीं। वेद में एक मन्त्र आया है—

"मम पुत्राः शत्रुहणः अथो मे दुहिता विराट्"

ऋ० १० । १५९ । ३ ॥

कुदरत ने दोनों के स्वभावों तथा कार्यों में अत्यन्त भेद या विभिन्नता पैदा की है। सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने तथा युद्ध के मैदान में वीरता दिखाने के सैकड़ों दृष्टान्त प्राचीन भारतीय इतिहास में उपलब्ध होते हैं। अधिकार तथा योग्यता निर्विवाद है परन्तु ये अधिकार समय आने पर और अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर, भयानक संकट के समयों में ही प्रयुक्त करने चाहियें। साधारणतया गृहस्थ का संचालन, बच्चों का पालन-पोषण और उन्हें देशभक्ति तथा धर्म की सेवा के लिये तैयार करना अत्यन्त महत्त्व पूर्ण कार्य हैं इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इस महान् कार्य का उत्तरदायित्व नौकरों

को भी नहीं दिया जा सकता। यदि पति-पत्नी दोनों आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने के लिये नौकरी पर चले जाएं तो गृहस्थ तथा शिशुपालन का महत्त्वपूर्ण कार्य कौन करेगा।

विवाह के समय वर अपनी पत्नी से यह मन्त्र पढ़वाता है कि:—

आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽववाधस्व पृतनायतः॥

हे स्त्रि! तू इस पत्थर पर चढ़ जा और इस पत्थर के समान दृढ़ बन। जो कोई तेरा विरोध करे अथवा तुझ पर आक्रमण करे तू उनका सामना कर और उनको जीत ले। हमारे शास्त्र स्त्री को अबला नहीं बनाते परन्तु दुष्टों का दमन करने की शक्ति पैदा करने की आज्ञा भी देते हैं परन्तु उनका मुख्य कार्य गृहस्थ धर्म का संचालन ही है।

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥
ऋ० १० । ८५ । ३६ ॥

अर्थात् ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की वृद्धि तथा गृहस्थाश्रम कर्त्तव्यानुष्ठान ही विवाह का मुख्य उद्देश्य है।

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठनारि तवसं रभस्व।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रतिकुम्भं गृभाय॥
अथर्व० १४। १। १४॥

इस मन्त्र में स्त्री के कर्त्तव्य बतलाये गये हैं। १—स्त्री सब से प्रथम आलस्य छोड़कर शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल प्राप्त करे। २-पतिव्रता धर्म का उत्तम पालन करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करे। उनके शरीर, बुद्धि तथा आत्मा का बल बढ़ाने योग्य उत्तम शिक्षा द्वारा उनको उत्तम शिक्षित करके उत्तम सन्तान वाली बने। ३—अपने घर के कार्य स्वयं अच्छी तरह करके अपने घर को आदर्श गृह बनावे। ४—अन्य स्त्रियों को अपने घर में बुला कर स्त्रियों का मेल करके स्त्रियों की उन्नति करे।

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं संस्पृशस्वाथजिर्विर्विदथमावदासि॥
अथर्व० १४। १। २१॥

यहां तेरे तथा सन्तति के लिये हित बढ़े। इस घर में घर की व्यवस्था के लिये सावधान रह। इस पति के साथ शरीर सुख-प्राप्त कर और ज्ञान-वृद्ध बन कर सभा में वक्तृत्व कर अथवा कर्त्तव्योपदेश कर। अर्थात् स्त्री अपनी प्रजा के लिये तथा अपने पति आदि के हित के लिये प्रयत्न करे। घर की व्यवस्था उत्तम रक्खे तथा ज्ञान प्राप्त करके यशस्विनी बने।

आशासाना सौमनसं प्रजासौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्॥
अथर्व० १४। १। ४२॥

अर्थात् स्त्री अपने मन को सदा प्रसन्न रख कर सन्तान, ऐश्वर्य और धन की कामना करे, पति के अनुकूल सदा ही अपना आचरण रक्खे तथा अपने सुख साधन ऐसे करे कि जो अमरत्व अर्थात् मोक्षरूप स्वातन्त्र्य को प्राप्त कराने वाले हों और बन्धन बढ़ाने वाले न हों।

स्योनाद्योनेरधिबुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥
अथर्व० १४। २। ४३॥

(स्योनात् योनेः) सुखकारक घर में (अधिबुध्यमानौ) ज्ञान प्राप्त करते हुए (हसामुदौ) हास्य

और आनन्द करते हुए (महसा मोदमानौ) प्रेम से परस्पर आनन्दित होकर (सुगू) उत्तम चाल चलन करने वाले (सुपुत्रौ) उत्तम पुत्रों से युक्त होकर (सुगृहौ) उत्तम घर बना कर (जीवौ) जीवन को सार्थक करने वाले होकर (विभातीः उषसः) तेजस्वी उषःकालों को (तराथ) पार करो।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि अपने २ कर्त्तव्य का पालन प्रत्येक को करना चाहिये तभी सुख तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है। स्त्रियां अपने कार्य को पूरी तरह से निभाएं। पुरुष अपना २ कार्य करें। एक दूसरे को हीन, तुच्छ या छोटा न समझते हुए पारस्परिक सहयोग से कार्य करने से सर्वदा सुख होगा। आज स्त्री तथा पुरुष में Co-operation सहयोग न होकर Competition प्रतियोगिता का भाव बढ़ रहा है। जिसका आवश्यक परिणाम यह होगा कि गृहस्थ की सरलता तथा मधुरता का सर्वथा नाश होकर मानव-जाति में संघर्ष तथा दुःख की वृद्धि होगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में वैदिक-काल में जो स्त्रियों की अवस्था थी उसमें अब बहुत परिवर्त्तन आगया है। उन दिनों वे विद्या की प्रगाढ़ पण्डिता होती थीं, उन्होंने समय पड़ने पर पुरुषों से शास्त्रार्थ भी किये हैं परन्तु आज स्त्रियों को जूती से उपमा दी जाती है। रामायण-काल में स्त्रियों की दशा उन्नत तथा समाज में उनको अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था। जिस समय अपनी प्रतिज्ञा भुलाकर सुग्रीव राजमहलों में आराम कर रहे थे उस समय लक्ष्मण उनको उनकी प्रतिज्ञा याद दिलाने गये थे। क्रुद्ध लक्ष्मण को आते देख और अपना कल्याण न समझ कर सुग्रीव ने तारा को सामने कर दिया था।

त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति।
नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम्॥

अर्थात् 'तू सामने चली जा, तुझे देखकर लक्ष्मण का क्रोध शान्त हो जायगा। क्योंकि आर्य जन स्त्रियों पर कठोरता नहीं करते'। भगवान् राम दुष्ट रावण से क्यों लड़ने गये। क्योंकि उस नर-पिशाच ने सती सीता का अपहरण किया। आज यदि कोई हमारी बहिनों तथा माताओं को हरण करता है तो पतित हिन्दू समाज उसका उद्धार करने के बजाय उस अबला को ही कोसता है, उसके चरित्र को हीन बतला कर उस असहाया निरपराधिनी को त्याग देता है। महाभारत में भी गदाधारी भीम ने द्रौपदी के अपमान का बदला दुःशासन का शोणित पीकर लिया था। यवन-काल में भी सैंकड़ों उदाहरण मिलते हैं कि हिन्दू जाति ने स्त्रियों के अपमान का बदला हमेशा लिया। आज विद्या प्रचार का अभाव, दहेज की कुप्रथा इत्यादि कारणों ने स्त्रियों को अपने आदर्श से बहुत गिरा दिया है। हमारा यह कर्त्तव्य है कि उनका उद्धार करें। परन्तु यह स्पष्ट है कि पश्चिमीय नारी का अनुकरण भारतीय देवी के लिये किसी भी अवस्था में हितकर नहीं हो सकता। भारतीय देवी को प्राचीन भारतीय सभ्यता के ढंग पर ही अभ्युदय तथा उन्नति का यत्न करना चाहिये नहीं तो वे भी गढ़े से निकल कर खाई में गिरेंगी और उनका उत्थान सर्वथा असम्भव हो जायगा।

प्रत्येक अनुकरण उसी सीमा तक उपयोगी और ग्राह्य है, जहां तक वह हमारी आत्मा में आत्म-सम्मान और स्वदेश के प्रति अनुराग को उत्तेजना प्रदान करता है। जब अनुकरण हमें अपनी वस्तु से, अपने

विचारों से, अपने आचारों से और अपनी भावनाओं से घृणा करना सिखलाता है, तब वह घातक बन जाता है। आज हमारी देवियों की अनुकरण प्रवृत्ति घातक रूप धारण करती जा रही है। दाम्पत्य जीवन में सरसता तथा मधुरता के स्थान पर कटुता आने लग गई है। परिणामतः परिवार का जीवन बड़ा दुःखद और अस्त व्यस्त सा हो रहा है। नारी मातृत्व के भार से मुक्त होने के लिये व्यग्र है। सन्तति निरोधक उपायों (Contraception) पर बल दिया जा रहा है। इसका परिणाम योरोप में भी बड़ा भयानक निकल रहा है। सदाचार का वहां दिवाला निकल चुका है। भोग विलास ही जीवन का लक्ष्य बन गया है। जजलिण्डसे ने २५ वर्ष के अनुभव से Revolt of the modern youth नामक पुस्तक लिखी है जिसको पढ़कर संसार की स्त्रियों की वर्त्तमान प्रगति पर दो खून के आंसू स्वयं निकल पड़ते हैं और यह कल्पना करके कि इसके अनुकरण से भारतीय नारी का क्या परिणाम होगा, हृदय कांप उठता है।

आज भारत में सह-शिक्षण (Co-education) के प्रचार करने का यत्न किया जा रहा है, परन्तु वहां इसका जो परिणाम निकला है वह अत्यन्त भयानक है "इन हाईस्कूलों के छात्र और छात्राओं के सम्बन्ध में पहली बात यह है कि जितने युवक और युवतियां सहभोजों या नाच में भाग लेती हैं या साथ २ मोटरों में बैठकर सैर करती हैं उनमें ९० प्रतिशत ऐसी होती हैं जो आलिङ्गन और चुम्बन का अनुभव करती हैं" ...

"जो लोग चुम्बन और आलिङ्गन आरम्भ कर देते हैं उनमें से कम से कम ५० प्रतिशतक यहीं तक रुके नहीं रह सकते। वे और आगे बढ़ते हैं और विषय-वासना सम्बन्धी दूसरे प्रकार की ऐसी स्वच्छन्दता भी लेने लगते हैं जो समस्त सभ्य समाजों में घोर अनुचित समझी जाती हैं" आगे चलकर लेखक लिखता है कि "जहां एक युवती के विषय भोग सम्बन्धी अपराध का भण्डा-फोड़ होता है, वहां बहुत सी पूर्ण रूपेण बच जाती हैं। उदाहरणार्थ हाईस्कूल की ४६५ युवतियों ने मुझसे कहा था कि वे युवकों के साथ विषय भोग का अनुभव कर चुकी हैं। पर उनमें से केवल २५ गर्भवती हुईं। दूसरी युवतियों ने गर्भ धारण नहीं किया। कुछ ने सौभाग्य से और कुछ ने कृत्रिम-गर्भ-निरोध द्वारा गर्भ रोक लिया। इस प्रकार गर्भ-निरोध की क्रिया में युवतियां खूब पारंगत हैं। यह है—अमेरिका में सह शिक्षण तथा वहां के विद्यार्थी जीवन का मलिन चित्र। यदि भारतीय भारत में यह दशा लाना चाहते हैं, तो दूसरी बात है। भारतीय सुधारक भी भारत में पाश्चात्य समाज के समान व्यभिचार-लीला का अभिनय करना चाहते हैं इसलिये वे सन्तति निरोध (Birth-Control) और विवाह-विच्छेद (Divorce) जैसी समाज घातक बुराइयों को अपनाकर स्त्री-स्वातन्त्र्य के नाम पर समाज में फैलाना चाहते हैं। Paul Burean नामक फ्रेञ्च लेखक अपने Towards Moral Bankruptcy (सदाचार का दिवाला) ग्रन्थ में गर्भ-निरोध तथा विवाह-विच्छेद के फलस्वरूप जो व्यभिचार और पापाचार फ्रांस में छा रहा है, उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

"यह निश्चय है कि विगत २५ वर्षों से गर्भ-निरोध के उपाय प्रयोग में अनवरतरूप से लाये जा रहे हैं परन्तु फिर भी गर्भपात के अपराधों की संख्या कम नहीं हुई"।

उनका विचार है कि "फ्रान्स में प्रतिवर्ष पौने तीन लाख से सवा तीन लाख तक गर्भपात होते हैं"।

वेद तो स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को स्थिर बतलाता है और विवाह-विच्छेद की आज्ञा नहीं देता।

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥

अथर्व० १४। १। २२ ॥

अर्थात् स्त्री पुरुष एकत्रित रहें। कभी विभक्त न हों अर्थात् विवाह-सम्बन्ध तोड़कर एक दूसरे को त्याग न दें। अपने घर में सुख अनुभव करने योग्य परिस्थिति बनाकर अपने बालबच्चों के साथ आनन्द से रहते हुए ही सम्पूर्ण आयु प्राप्त करके दीर्घ आयु तक जीवित रहें। इस मन्त्र में 'स्तं' 'वियौष्टं' 'अश्नुतम्' 'क्रीडन्तौ' 'मोदमानौ' ये शब्द बलपूर्वक एक काल में एक पतिव्रत तथा एक पत्नीव्रत का आदेश कर रहे हैं।

अमेरिका विवाह-विच्छेद की महामारी से अत्यन्त व्याकुल है। लिण्डसे ने, सन् १९२४ ई० में जो विवाह और विवाह-विच्छेद हुए, उनकी एक तालिका दी है, जिसे पढ़कर आश्चर्य की सीमा नहीं रहती।

एटलाण्टा	विवाह	३३५०
	विवाह-विच्छेद	१८४५
लास एन जेल्स	विवाह	१६६०५
	विवाह-विच्छेद	७८८२
कनसास सिटी	विवाह	४८२१
	विवाह-विच्छेद	२४००
ओहियो स्टेट	विवाह	५३३०००
	विवाह-विच्छेद	११८०५
डेन वेर	विवाह	३०००
	विवाह-विच्छेद	१५००

विवाह-विच्छेद तथा सन्तति-निरोध के समर्थकों का बड़े से बड़ा तर्क अमेरिका और फ्रांस के इन पतित दृश्यों के सामने व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि कृत्रिम-गर्भ-निरोध से न नारी का शारीरिक विकास होगा और न उसे अधिक सुख मिल सकेगा। हां, इससे काम-शक्ति अवश्य प्रबल हो जायगी। जो नारी मातृत्व का महान् आदर्श समाज के सामने प्रस्तुत करती है, जिस शक्ति द्वारा वह एक बालक को जन्म देकर बलिदान, त्याग, मधुरता का उच्च आदर्श मानव जाति के सामने रखती है वह कृत्रिम-निरोध के उपायों के अवलम्बन करने से सम्भोगशक्ति और कामदेव की तृप्ति में व्यय होगा। हम स्त्रीजाति के सुधार के विरोधी नहीं, जैसा कि हमारे उपरोक्त लेख के पढ़ने से पाठकों को ज्ञात होगा। परन्तु हम चाहते हैं कि भारतीय नारित्व का विकास और उत्कर्ष अपनी संस्कृति के प्रकाश में हो। मातृत्व नारी का महान् लक्ष्य हो। इसमें बलिदान, त्याग, परोपकार, प्रेम, वात्सल्य इत्यादि मधुर भावनाओं का प्रकाश हो। इसी मातृत्व की रक्षा में, इसके विकास तथा उत्कर्ष में ही नारी-जीवन की सार्थकता है।

निस्सन्देह पर्दा बुरा है। इससे देवियों को तपेदिक इत्यादि नाना प्रकार की प्राणघातक बीमारियों का शिकार होना पड़ता है। यह स्वास्थ्य के लिये भी अत्यन्त घातक है। विवाह के समय वर यह मन्त्र पढ़ता है:—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं विपरेतन ॥

ऋ० १०। ८५। ३३ ॥

अर्थात् यह वधू मङ्गलकारिणी है। तुम सब इस

का दर्शन करो और इसे सौभाग्य आदि का आशीर्वाद देकर अपने २ घर को जाओ ॥

इस मन्त्र में पर्दे का स्पष्ट निषेध है। परन्तु पर्दे की कुरीति को दूर करने का यह तात्पर्य नहीं कि घर से पति का बिलकुल बहिष्कार कर दिया जाय और उसकी पत्नी अपने मित्र से स्वच्छन्द होकर मिले। चाहे उसके मित्र पति के मन के कितने ही प्रतिकूल हों। Extremes are always dangerous बहुत स्वतन्त्रता से घर में पति की उपेक्षा तथा अनादर होता है और गार्हस्थ्य-सुख दुःख में परिणत हो जाता है। एक लेखक ने वर्त्तमान अवस्था का चित्र इन शब्दों में चित्रित किया है:—

"Men are not by ettiquette allowed to peep or pry into the room where the wife freely mixes with her friends and associates, be they men or women. It is serious breach of decorum or decency if the unlucky husband involuntarily tears open the cover of a letter addressed to his wife and reads its contents ....In a ball or a comedy dances, in the billiard room or the race course, at the opera or the cinema, pingpong or twing twang women have the absolute liberty to discard their husbands as choose as their partner whomever they take a liking to. As a natural result, flirting has became a national vice and poor husbands find themselves unable to cope with the evil. The sanctity of marriage is done away with and the doctrine of free-life has taken its place. Matrimong is considered as a evil contract which can be broken at any time.

अर्थात् "जिस कमरे में पत्नी अपने मित्रों के साथ बैठी गपशप मार रही हो, पति का उस कमरे में झांकना या जाना सभ्यता के विरुद्ध माना जाता है। नाचों, सिनेमों तथा अन्य खेलों में अपने पति की सर्वथा उपेक्षा करके पत्नी जिसको चाहे अपना साथी बना सकती है। परिणामस्वरूप Flirting जातीय बुराई बन गई है और पति इस बुराई का सामना करने में असमर्थ हो गए हैं। विवाह की पवित्रता नष्ट हो गई है और विवाह को ठेका समझा जाने लगा है। विवाह के सम्बन्ध का कभी ही स्वेच्छा से विच्छेद किया जा सकता है"

इतना होने पर भी तथा Trial marriage के प्रचलित होने पर तलाकों की संख्या बढ़ती जा रही है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। वही लेखक आगे चल कर लिखता है कि—

"All the business of the world will suffer and mercantile transactions will come to a stand still if no binding force is given by law to our words and promises

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्दे की कुरीति को दूर करने का यह तात्पर्य कभी भी नहीं हो सकता कि स्त्रियों को इतनी स्वतन्त्रता दी जाए जिससे कि घर ही दुखी बन जाय।

हम भारतवर्ष में गार्गी, लीलावती, सुलभा सी विदुषियां तथा सीता, सावित्री सी पतिव्रता देवियां पैदा करना चाहते हैं। इन्हीं से भारतवर्ष का गौरव है। वर्त्तमान पाश्चात्य सभ्यता—जिसके दुष्परिणामों से योराप के लोगों का सामाजिक तथा गार्हस्थ्य जीवन नरकमय बन गया है—उसको हम देश में अनुकरण करने की प्रवृत्ति को रोकना चाहते हैं। हमारे देश को रंग विरंगी तितलियों की आवश्यकता नहीं। परन्तु पतिव्रता, सदाचारिणी तथा आत्म-बलिदान के भावपूर्ण और सेवा तथा सहृदयता के भावों वाली देवियो की आवश्यकता है। स्त्री जाति का सुधार होना चाहिये, पर वह सुधार आर्य आदर्श के अनुसार हो।

इस प्रकार से इस लेख में वैदिक कालीन स्त्रियों की अवस्था का विशद वर्णन करते हुए वैदिक सभ्यता के प्रकाश में वर्त्तमान की कुछ समस्याओं पर भी संक्षेप से विचार किया है। अन्त में—

पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धारामम्रतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समंग्धीष्टापूर्तमभिरक्षत्येनाम्॥

हे नारि! अमृतरस से परिपूर्ण इस घड़े को भर कर ला। अमृत से मिली हुई घृत की धारा को ला। पीने वाले को अमृतरस से तृप्त कर।

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्॥

ऋ० १०। १५९। २॥

मैं ज्ञानवती हूं, घर की मुखिया हूं, धैर्यवती हूं, व्याख्यात्री हूं, शत्रु का नाश करने वाली हूं। इसलिये मेरा पति मेरी सलाह से कार्य करे।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥

ऋ० १०। १५९। ३॥

मेरा पुत्र शत्रुनाशक हो। मेरी पुत्री तेजस्विनी हो। और मैं स्वयं विजयिनी हूं। मेरी ओर से पति के लिये उत्तम प्रशंसा हो।

वैदिक राष्ट्र-गीत

[वैदिक धर्म विशारद श्री पं० सूर्यदेवजी शर्मा साहित्यालंकार M. A.]

(४)

(३१)

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्॥ स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः॥ ३१॥

(रोलाछन्दः)

पूर्व उदीची दिशा भूमि! जो श्रेष्ठ तुम्हारी।
अधर उपरि पश्चात् उपदिशा प्रदिशा हारी॥
गमन शील ममहेतु बनें वे सब सुखकारी।
रहें देश में, हो न कभी अवनती हमारी॥ ३१॥

(३२)

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तराद् धरादुत॥
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनोवरीयो यावया वधम्। ३२॥

पूर्व और पाश्चात्य दिशासे नाश न कीजै।
ऊपर नीचे कहीं हमारा ह्रास न कीजै॥
मातृभूमि सुख शान्ति, हमें अरि त्रास न दीजै।
श्रेष्ठ बनें हम हनें शत्रु को पास न कीजै॥३२॥

(३३)

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

मातृभूमि ! मैं लखूँ जहाँ तक तव विस्तारा ।
देखूं ज्ञान प्रकाश "सूर्य" मोद-प्रद द्वारा ॥
तब तक भोगूँ अन्त आयु का पूर्ण पसारा ।
हों न इन्द्रियां शिथिल ध्येय हो सफल हमारा ॥३३॥

(३४)

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्ठीभिरधि शेमहि ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

मातृभूमि ! जब गोद आपकी में हम सोवें।
दक्षिण बायें लें करवट या ऊपर जोवें ॥
पश्चिम दिशि में पैर कहीं कैसे भी होवें।
दो सबका आधार न जीवन अपना खोवें ॥३४॥

(३५)

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

भूमे ! हम हल आदि चला जो खोदें, बोवें ।
तुझमें वह सब उगें शीघ्र ही परिवृढ होवें ॥
विशेषता से तुझे खोज कर माता ! सेवें ।
मर्म स्थान न वेध, हृदय को कष्ट न देवें ॥३५॥

(३६)

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनी रहोरत्रि पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६

भूमे तव ऋतु विहित, हमें अति निर्वृति देवें ।
गर्मी, वर्षा, शरद, हेम, शिशिरादिक सेवें ॥
हो वसन्त, बस अन्त दुःख का नाम न लेवें ।
रात्रिदिवस भी पृथिवि ! पार सुख नौका खेवें ॥३६॥

(३७)

यापसर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व न्तः । परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् । शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

जो हिल २ करचले जहां अति अन्वेषण है ।
मेघस्थित जहँ अग्निदेव का दिव्य रमण है ॥
जो पृथ्वी बल हेतु इन्द्र का करे वरण है ।
दले दस्यु दल वहीं देवगण हेतु शरण है ॥३७॥

(३८)

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते । ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः । युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

जहँ शाला जहँ हविः यज्ञ का यूप निहित है ।
जिसमें ऋग्यजु साम सहित प्रभुवर पूजित है ॥
जिस में ऋत्विज लोग करें जो वेद विहित है ।
सोमपान के लिये इन्द्र ही नित योजित है ॥३८॥

(३९)

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः । सप्तसत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

जिसमें पहले हुए आर्य ऋषि अद्भुत कारी ।
पावन ज्ञानी सप्त महा वीरव्रत धारी ॥
गाते महिमा यज्ञ आदि से तप से भारी ।
मातृभूमि की सदा करें सुख से रखवारी ॥३९॥

(४०)

सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनु प्रयुँक्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

मातृभूमि दे हमें राशि सम्पति की, धनकी ।
करे कामना पूर्ण हमारे चित की, मनकी ॥
हो ऐश्वर्य समेत प्रतिष्ठा पावें प्रण की ।
नेता होवे इन्द्र विजयश्री गावे रण की ॥४०॥

(क्रमशः)

शतपथ ब्राह्मण व्याख्या

[ले०—श्री पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति]

ब्राह्मण—अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति, नेदिह पुरा नाष्ट्रारक्षांस्याऽऽविशानिति। ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता, तस्मादभिनिहितमेव सव्येन पाणिना भवति ॥६॥

अर्थ—कृष्णाजिन को बायें हाथ से दबाये हुए ही अब वह दाहिने हाथ से ओखली को ग्रहण करता है, कि कहीं नाशकारी राक्षस यहां पहिले से ही न घुस पड़ें। चूंकि ब्राह्मण[1] राक्षसों को नाश कर डालता है इस कारण बायें[2] हाथ को रक्खे ही रहता है ॥ ६ ॥

ब्राह्मण—अथोलूखलं निदधाति-'अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्न इति वा', तद्यथैवादः सोमं राजानं ग्रावभिरभिषुण्वन्ति, एवमेवैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञमभिषुणोति। अद्रय इति वै तेषामेकं नाम, तस्मादाहाद्रिरसीति। वानस्पत्य इति वानस्पत्यो ह्येष; ग्रावासि पृथुबुध्नइति-ग्रावाह्येष पृथुबुध्नोह्येष। प्रतित्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्त्विति तत्सञ्ज्ञामेवैतन् कृष्णाजिनाय च वदति, नेदन्योऽन्यं हिनसात इति ॥७॥

अर्थ—अब जब वह उलूखल को उठाकर रखता है तब मन्त्र पढ़ता है 'अद्रिरसि वानस्पत्यः, ग्रावासि पृथुबुध्न.'। इसका अर्थ यह है कि तू लकड़ी का बना

१—पहिले कह चुके हैं कि अग्नि राक्षसो को नाश कर डालता है 'अग्नि र्हि रक्षसामपहन्ता' और यहां कहते हैं कि ब्राह्मण राक्षसों को नाश कर डालता है 'ब्राह्मणो हि रक्षसामपहन्ता' इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण में भी वही धर्म है जो अग्नि में है। ब्राह्मण के शरीर में एक प्रकार का अग्नि है जिसे संवर्ताग्नि कहते हैं। इस संवर्ताग्नि में जितना बलरूप इन्द्र रहता है उतना ही इसमें शरीर पर हो सकने वाले छूत के प्रभाव को नाश करने का सामर्थ्य रहता है। यह संवर्ताग्नि प्राणरूप है इसमें मन की इच्छा शक्ति के अनुसार बल घटता बढ़ता रहता है। जो वस्तुतः ब्राह्मण है उसकी इच्छा शक्ति बड़ी ज़बरदस्त होती है। इसलिये उसके प्राण रूप संवर्त अग्नि में भी बड़ा ज़बरदस्त बल रहता है। जितना उसकी इच्छा शक्ति का तारतम्य रहता है उतना ही दूर उसके प्राणरूप अग्नि का छाया-मण्डल बंधता है इसी कारण इसे संवर्ताग्नि कहते हैं। सामान्य प्राणी में यह मण्डल बहुत छोटा होता है, कभी २ शरीर मात्र तक ही रहता है और वह भी हीन अवस्था में। ब्राह्मण के उत्कृष्टतम संवर्ताग्नि के प्रबलतम मण्डल में कोई भी आया हुआ सूक्ष्म क्रिमि वा घातक नाशकारी प्रभाव जिसे छूत कहते हैं नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण जिस प्रकार की इच्छाशक्ति से अपने संवर्ताग्नि के मण्डल को भावित कर लेता है वैसा ही प्रभाव वह दूसरों पर डाल सकता है। इस प्रकार ब्राह्मण अग्नि की प्रबलता से अग्नि रूप होकर नाष्ट्र राक्षसों को नाश कर डालता है।

२—कृष्णाजिन पर अपना बायां हाथ रखकर कृष्णाजिन को अपने प्राणों से भावित रखने से नाष्ट्र आक्रमण नहीं करने पाते हैं। इस कारण दायें हाथ से उलूखल उठाते हुए अपना बायां हाथ कृष्णाजिन पर रक्खे ही रहता है चूंकि दायें हाथ से ओखली ठीक संभलती है इस कारण बायां ही हाथ रखता है।

हुआ अद्रि[3] है और चौड़े[4] पेंदे वाला ग्रावा[5] है। जैसे वहां पर सोम राजा को पत्थरों से कूटकर सोम रस को निकालते हैं वैसे ही यहां पर ऊखल-मूसल से अन्न रूप यज्ञ को खोटता और सिल बट्टे से पीसकर तय्यार करता है।

अद्रि यह उनका[6] एक नाम है, इस कारण कहता है कि तू अद्रि है। लकड़ी का बना होने से यह वानस्पत्य है। इसी प्रकार शब्द करने वाला होने से ग्रावा और चौड़े पेंदे वाला होने से यह पृथुबुध्न है।

जब ओखली को कृष्णाजिन पर रक्खे तब मन्त्र बोले 'प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेतु'। इसका अर्थ है कि अदिति की त्वक् कृष्णाजिन तुझको[1] पहिचानले। इस प्रकार कृष्णाजिन के साथ ओखली की पहिचान[2] करवाता है कि एक दूसरे की हिंसा न करें ॥७॥

मन्त्र—अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनन्देववीतये त्वा गृह्णामि, बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः, स इदन्देवेभ्यो हविः शमीष्व। हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ यजु० अ० १ मं० १५॥

ब्राह्मण—अथ हविरावपति—अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनमिति। यज्ञो हि तेनाग्ने स्तनूः। वाचो विसर्जनमिति—यां वा अमूं हवि र्ग्रहीष्यन् वाचं यच्छत्यथ वै तां विसृजते। तद्यदेतामत्र वाचं विसृजत एष हि यज्ञ उलूखले प्रत्यष्ठात्, एष हि प्रासारि, तस्मादाह वाचो विसर्जनमिति ॥८॥

अर्थ—अब ऊखल में हवि डालता[3] है। हवि डालता हुआ मन्त्र पढ़ता है 'अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनम्'। इसका अर्थ है कि तू अग्नि का शरीर[4] है,

३—अद्रि उसे कहते हैं जो हिले जुले नहीं, स्थिर रहें।

४—ऊखल भी ऐसी ही होती है अतः उसे अद्रि कहा है और चूंकि चौड़ा पेंदा होने से ठीक प्रकार से टिकी हुई है इसीलिये उसे पृथुबुध्न कहा है।

५—जो वस्तु अधिक मज़बूत पक्की होती है वह अवयवों के अत्यधिक संघटित होने के कारण ठनकार की एक विशेष प्रकार की आवाज़ किया करती है, उसी आवाज़ के करने के कारण वह ग्रावा अर्थात् शब्द करने वाली कहलाती है इसी कारण ओखली भी मज़बूत लकड़ी की बनी हुई होने से ठनकारने से शब्द करती है अतः ओखली को ग्रावा कहा है।

६—क्योंकि ऊखल मूसल के नाम उनके गुणधर्मों के अनुसार अनेक हो सकते हैं। उन्हीं नामों में से पूर्वोक्त प्रकार से उनका अद्रि नाम है।

१—यह भी यज्ञ सम्पादनार्थ मेरा साथी ही है मेरे से इसका कुछ विरोधी भाव नहीं है।

२—इस प्रकार कृष्णाजिन और ऊखल के प्राणों में अपनी भावना से अनुकूलता पैदा करता है। यह भावना इस लिये करनी पड़ती है कि दोनों के प्राण अननुकूलता के कारण एक दूसरे के विघातक न हों॥

३—हवि डालने का काम अग्नीध्र का वा पत्नी का है। इनमें से कोई मनुष्य हवि को ऊखल में डालदे॥

४—संसार के सब पदार्थों में अग्नि का चयन हुआ र है। अग्नि के चयन से पदार्थों का स्वरूप बना हुआ है। पदार्थों में अग्नि मूर्छित होने से जाज्वल्यमान नहीं है। जब पदार्थ में अग्नि को प्रज्वलित कर दिया जाता है तब अग्नि जाज्वाल्यमान होकर पदार्थ में से ऊपर भाग जाता है और पदार्थ का स्वरूप खाली हो जाता है। जो भाग पृथ्वी अपने आकर्षण से नहीं जाने देती है वह शेष रह जाता है। मूर्छित हुआ अग्नि वाक् कहलाता है। वाक् वह स्थूल द्रव्य है जिस से पदार्थों का शरीर बना है। अग्नि की मूर्छा सोम से होती है। परमेष्ठि मण्डल का सोम निरन्तर सूर्य की किरणों द्वारा पृथ्वी पर आ रहा है, और पार्थिव अग्नि के साथ मिलकर पदार्थों के स्वरूप को बना रहा है। इसी प्रकार हवि को भी

और 'वाचोविसर्जनम्' कहकर वाग्यमन का त्याग करता है। चूंकि हवि यज्ञ है, इस कारण अग्नि का शरीर है। 'वाचो विसर्जनम्' कहने से वाग्यमन छूट जाता है। हविः ग्रहण करते समय जिस लौकिक वाणी का यमन किया था उस लौकिक वाणी का यहां विसर्जन करता है अर्थात् लौकिक वाणीका प्रयोग[४] करता है।

शरीर बना है। इसलिये यज्ञ रूप हवि अग्नि का शरीर है, और मनुष्य के शरीर में जो अग्नि का चयन है उस अग्नि को शरीर रूप में चयन करने वाला चूंकि अन्न है, इसलिये भी यज्ञ रूप हवि को अग्नि का शरीर कहा है ॥

५—प्रथमाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में कहे अनुसार जब अध्वर्यु हवि लेने जाता है तो वाग्यमन करता है। उस समय से अब तक वाग्यमन ही किये रहता है। उलूखल में हवि डालने पर वाग्यमन का अन्त हो जाता है, अर्थात् इस समय वाग्विसर्जन किया जाता है। वैसे तो वाक् रूप हवि को ऊखल में डालने से वाक् का विसर्जन होता ही है, परन्तु साथ ही अध्वर्यु अपने मुख से भी 'वाचो विसर्जनम्' कहता हुआ वाक् का विसर्जन करता है अर्थात् वाग्यमन छोड़ देता है। वाग्यमन का प्रयोजन यह था कि और तरफ से ध्यान हटा कर हवि लाकर ऊखल स्थापित किया जाय और यज्ञ का विस्तार हो, सो वह हवि ऊखल में स्थित हो चुका और यज्ञ भी विस्तृत हो चुका अर्थात् यज्ञ का काम चल निकला अतः अब वाग्यमन की आवश्यकता न रहने से अध्वर्यु 'वाचो विसर्जनम्' कहकर वाग्यमन को तोड़ देता है। इस का यही अभिप्राय है कि ऊखल में यज्ञ की प्रतिष्ठा हो चुकी और यज्ञ फैल गया, इसी कारण वह 'वाचो विसर्जनम्' कहता है प्रत्येक कार्य अपने रूप में यज्ञ है, जब तक वह कार्य पूरा न हो जाय तब तक मन वचन कर्म से कुछ और छेड़ बैठना यज्ञ में विघ्न करना है, इससे यज्ञ सम्बद्ध न

तो चूंकि यहां इस वाणी का विसर्जन करता है उसका अभिप्राय यह है कि हविर्यज्ञ, जिसका नाम वाक् है, उलूखल में रक्खा जाय और विस्तार को प्राप्त हो; इस कारण 'वाचो विसर्जनम्' कहता है ॥ ८ ॥

ब्राह्मण—स यदिदं पुरा मानुषीं वाचं व्याहरेत्, तत्रो वैष्णवीमृचं वा यजुर्वा जपेत्। यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञं पुनरारभते। तस्यो हैषा प्रायश्चित्तिः। देववीतये त्वा गृह्णामीति—देवानवदित्यु हि हवि र्गृह्णते ॥९॥

अर्थ—वह यदि इससे पहिले मानुष वाक् का व्यवहार करे अर्थात् किसी प्रकार की बात चीत करे तो वहां उस ऋचा वा यजु का जप करे जो विष्णु[१] देवता की हो। विष्णु यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ का फिर[२] आरम्भ हो जाता है। मानुष वाक् को व्यवहार करने का यह ही प्रायश्चित्त है। जब वह ऊखल में

रहने से यज्ञ की आत्मा टूटती है। ऐसा यदि हो जावे तो उसके लिये प्रायश्चित्ति करनी पड़ती है। जो भाग छूट गया है निकल गया है उसको फिर जोड़ना वा पूरा करना प्रायश्चित्ति कहलाता है। हविः सम्पादन एक कर्म था वह ऊखल में रख चुकने पर सम्पन्न (पूरा) हो चुका। इस एक कर्म को पूरा करने के लिये बीच में किसी प्रकार की मानुषी वाक् का व्यवहार करना अनुचित था अतएव वाग्यमन किया था। उस कर्म के पूरा हो चुकने पर वाग्यमन तोड़ दिया गया है।

१—जिसके प्रथम चरण में विष्णु का नाम आता हो, क्योंकि ऋचा के प्रथम चरण में जिस देवता का नाम आता है उसी देवता की वह ऋचा कहलाती है।

२—ऐसा करने से यज्ञ की आत्मा का पुनः सन्धान हो जाता है। यज्ञ से ध्यान हट जाने से जो यज्ञ विच्छिन्न हो गया था उसका फिर चयन हो जाता है ॥

हविः डाले तो कहे कि देवों के भोजन के लिये तुझ को ग्रहण करता हूं। देवों[3]की रक्षा हो इसलिये हविः ग्रहण कीजाती है ॥९॥

ब्राह्मण—अथ मुसलमादत्ते—बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य इति। बृहद्ग्रावा ह्येष वानस्पत्यः। तदवदधाति स——इदं देवेभ्योः हविः शमीष्व सुशमि शमीष्वेति। स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुरु, इत्येवैतदाह ॥१०॥

अर्थ—अब यह मूसल को पकड़ता है और साथ ही मन्त्र बोलता है—"बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः"। इस मन्त्र के बोलने का मतलब यह है कि पता लग जाय कि खोटने का कार्य करने के लिये यह मूसल बहुत अच्छा है, क्योंकि यह बड़ा[4] शब्द करने वाला है और कठोर लकड़ी का बना हुआ है। वह मूसल पर अच्छी तरह से गौर करता है और मन्त्र बोलता है—इदं देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व"। चूंकि मूसल बहुत अच्छा है और उससे हविः अच्छी तय्यार हो सकती है इस कारण खुशी में वह यह मन्त्र बोलकर मूसल से कहता है कि इस हविः का देवों केलिये संस्कार कर, ऐसा संस्कार कर कि बहुत[5] अच्छा बन जावे ॥१०॥

३-जिस २ देवता के निमित्त से हवि का ग्रहण किया गया है, हवि के खाते हुए उसी २ देवता का स्मरण होता है, और वह हवि शरीर के भीतर गया हुआ मनः संकल्प द्वारा शरीरस्थ उसी २ देवता की तृप्ति और पुष्टि करता है ॥

४-ठोस और पक्की लकड़ी का बना हुआ मूसल पटकने से अधिक शब्द होता है। कच्ची और हलकी लकड़ी के मूसल को पटकने से अन्न पर चोट भी अच्छी नहीं लगती शब्द भी हलका होता है, अतः अन्न का संस्कार भी अच्छा नहीं होता।

५-संस्कार का बहुत अच्छापन यह है कि तुष हटकर चावल बड़े साफ निकल आवें और टूटें भी नहीं।

सम्पादकीय टिप्पणियां

१—बच्चों की शिक्षा विदेशियों के हाथ में न दो।

बारहठ कृष्णसिंहजी उदयपुर से संवत् १९४० श्रावण, शुक्ला २ को महर्षि दयानन्द को पत्र नं० १८ लिखते हुए लिखते हैं कि:—

—"लाहोर का पत्र ज्यो आपनें भेजा था वो भी अधीसो के दृष्टिगोचर हुआ था परन्तु बिस्मर्ण हो गया था सो आपके इस पत्र आनें पर स्मर्ण कराया गया तो आगया की के अभी एक बंगाली बाबू हैडमास्टर है वो परिक्षार्थ रखा गया है यदि इसका काम ठीक नहीं देखा जावेगा तो फिर आप से सूचनां की जावेगा इस जगह पर यूरोपियन नहीं रखा जावेगा ....श्रीमांनों नें आप कों नमस्तें कहा है ....।

(नोट) इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि महर्षि यह चाहते थे कि भारतीय बच्चों की शिक्षा विदेशियों के हाथ में और विशेषकर युरोपियनों के हाथ में न होनी चाहिये।

२—महर्षि का लिखा हुआ कुरान और इंजील का खण्डन ।

बारहठ कृष्णसिंहजी उदयपुर से संवत् १९४० श्रावण वदि ९, शनैश्चरवार को महर्षि दयानन्दजी को लिखते हैं किः—

"पत्र आपका आया और कुरांन तथा ईंजील का षंडन भेजा सो भी पहुंचा वो सब श्रीमानों की सेवा में अर्पण कीये गये श्रीमानों ने पढ़ कर आग्या की के हमारा अभिप्राय शास्त्रार्थ कराने का नहीं है किन्तु यह इच्छा थी के जैसें ईसाई लोग अपनें इच्छानुसार व्याख्यान करते हैं इसी तरह यह भी होता ……"।

(नोट) उपरोक्त उद्धरण से ज्ञात होता है कि महर्षि ने कुरान तथा इञ्जील का खण्डन लिख कर उदयपुर नरेश को भेजा था। ये खण्डन सत्यार्थप्रकाश के ही १३वां और १४वां समुल्लास रूप हैं या इनसे पृथक् हैं इस विषय पर यहां कुछ प्रकाश इस पत्र द्वारा नहीं पड़ता। यदि ये दोनों खण्डनात्मक लेख सत्यार्थ-प्रकाश के उपरोक्त समुल्लासों से पृथक् हैं तो इनके ढूंढने का अवश्य यत्न करना चाहिये। शायद उदय-पुर राज्य में ये मिल जांय।

उपरोक्त खण्डन ग्रन्थ किसलिये लिखे गये थे यह स्पष्ट हो जायगा जबकि हम महर्षि दयानन्द का श्रीयुत बारहठ कृष्णसिंहजी के नाम लिखा पत्र पढ़ेंगे जोकि निम्नलिखित हैः—

ओम्

(१)

श्रीयुत बारहठ किसनजी आनंदित रहो—

पत्र आपका आया समाचार विदित हुआ यह पत्र सर्वाधीशों के दृष्टीगोचर करा देना।

१—मेरी भी यह मनसा नहीं है न थी कि पाद-रियों के सामने शास्त्रार्थ ही किया जाय किन्तु जिससें कोई अपनी प्रजा का पुरुष उनके मर्कत्र में न फसे वैसा उपदेश किया जाय इसलिये वे छोटे २ खंडन जोकि मैंने भेजे हैं वे छपवा के योग्य २ पुरुषों को चाहे वे पंडिन्त हो वा बुद्धिमान् हों बांट कर प्रचार करनें से उनके फंदे में कोई भी न फसेगा आप से आप बहुत से उपदेशक उसी राज्य के पुरुष हो जायेंगे इस का बांटना विशेष कर सरदार हाक़म भूमिये थाने वा अच्छे २ गामों में अथवा जहां कहीं कोई बुद्धिमान् हो इसको देखकर उन ईसाईयों को हटा दे सकेंगे और यदि श्रीमानों के नियमानुसार उपदेश कहीं करना हो तो वहां राज के नौकर बहुत से पंडित्त हैं जिसको योग्य समझे उसको यह दोनों पुस्तक देके उपदेशक कर देवें।

२—जैसा श्रीमान् महाशयों ने लिखा है वैसा उपदेशक आर्यसमाज से आने में असक्य नहीं है किन्तु जो उस पत्र में नियम लिखे हैं उनके अनुसार और ईसाइ आदि का खंडन होना असक्य है क्योंकि जब तक उपदेशक झूठ मत को मानेगा और दूसरे झूठे मत के खंडन में प्रवृत्त होगा कुछ भी न कर सकेगा जब तक मनुष्य स्वयं झूठी बातों का त्याग करके सत्य बातों में निश्चित प्रवृत्त नहीं होता तब तक वह अलौकिक शक्ति परमात्मा की ओर से नहीं मिलती और न दृढोत्साही वह हो सकता है यावत् इन ईसाई आदि के सामने वैदिक मतानुसार ईश्वर धर्म आदि को नहीं मानता और मूर्त्तिपूजा आदि को मानता है तब तक वह जायगा खंडन करने को आप खंडित हो रहेगा जैसे कोई किसी को दुर्व्यसन छुड़ाने का उपदेश

करता और आप इसी दुर्व्यसन में फसा है उसका उपदेश कोई भी न मानेगा इसलिये असभ्यता लिखी भी नहीं सो पंडित तो क्या किन्तु एक कोई साधारण उपदेशक भी आर्यसमाज का आवे तो इनका कुछ भी बल न चले इसलिये जो उपाय मैंने उनके निवारण के लिये लिखा है वह अच्छा है परन्तु ईसाई आदि के सामने जब कभी बात चीत हो तब उसको अति उचित है कि उस समय मूर्त्ति और पुराण का पक्ष छोड़ ही के बोले तभी कृतकारी होगा ....।

(नोट) इस पत्र पर कोई तारीख नहीं न किसी के हस्ताक्षर हैं।

३—अमेरिका के नर-पशु

अमेरिका-निवासियों ने नीग्रो जाति के साथ इतिहास में बहुत ही पाशविकता का बर्ताव किया है। आए दिन नीग्रो जाति के व्यक्तियों के साथ अब भी वे अमेरिकन पैशाच व्यवहार करते रहते हैं। इन पैशाच व्यवहारों के संवाद दैनिक पत्रों में प्रायः आते रहते हैं। ५ जनवरी १९३४ के दैनिक लीडर में संवाद आया है कि "८ दिसम्बर १९३३ को कुसटज नगर में —जोकि यूनाईटेड-स्टेट्स अमेरिका की टेक्सस स्टेट में है—गोरी जनता के ३०० व्यक्तियों ने पोलिस से एक मृत नीग्रो के शरीर को छीन लिया और उसे मोटर के पीछे बांध दिया, आध घण्टा तक इस नगर के उस भाग में जहां कि नीग्रो जाति के लोग रहते हैं इसे मोटर के पीछे २ घसीटा गया, पीछे इस मृत शरीर में से दिल आदि अङ्गों को निकाल कर इसे चिता पर जला दिया गया"।

इस नीग्रो ने एक गौराङ्गना पर जबरदस्ती की थी और उसे मार डाला था इसलिये पोलिस इसके पीछे लगी हुई थी। पोलिस ने इसे गोली से मार दिया था।

गौरांग व्यक्तियों की आचार-भ्रष्टता के ज्वलन्त उदाहरण हम सदा सुनते रहते हैं। परन्तु कोई भी राज्य व्यवस्था इस प्रकार की आचार-भ्रष्टता का बदला इनसे इस प्रकार से नही लेती। आचार-भ्रष्टता वास्तव में नीच है और उग्ररूप से दण्डनीय है। परंतु दण्ड दाताओं को चाहिये कि वे पहले अपनी आचार कालिमा को धोवें, तभी वे दूसरों की आचार-कालिमा के मिटाने में उचित निर्णय कर सकने के अधिकारी बन सकेंगे।

४—राजपूताने में महर्षि दयानन्द का छात्रशाला के स्थापन का उद्योग।

इस सम्बन्ध में दर्बार, स्कूल मसूदा जिला अजमेर के द्वितीय संस्कृताध्यापक पं० छगनलालजी द्विवेदी का बिना मिती का पत्र जो महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के नाम है, उसका उद्धरण नीचे दिया जाता है:—

श्रीमते ॥ पाखंडमतखंडन सत्सिद्धांत मार्त्तंड वादींद्र वारण पंचानन सकल विद्वज्जन कमल कुल प्रकाश मार्त्तंडमूर्त्ति स्वप्रतापकृतदिग्विजय श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामि महाराजाय परम गुरवे नमस्तेऽग्रेभाषया ऽवगन्तव्यम्। आर्य्यानुचरों की यह विज्ञप्ति विदित होवें कि महाराज यांहां साहेपुराधीशों को छात्रशाला की आज्ञा फरमाई थी सो तो आज तक गोलमाल पोलपाल हो रही है ....

.... अग्निहोत्र के होने से सर्वलोगों को बड़ा आनन्द आया अग्निहोत्रादि कार्य आप साहेपुराधीशों को

फरमाया था सो तो कितनेक कार्य होगया है, परन्तु छात्रशाला होने का कार्य आजतक हुवा नहिं सो अब आप छात्रशाला जलदी सें होजाय ऐसी आज्ञा राजाधिराज सें लिख देवै इति भावार्थः ······· ।

५—बाईबल की हस्तलिखित प्राचीनतम पुस्तक

लण्डन के समाचार पत्रों में यह प्रकाशित हुआ है कि ब्रिटिश म्यूज़ियम के संरक्षकों ने सोवियट-गवर्नमैण्ट से बाईबल की हस्तलिखित एक प्राचीनतम पुस्तक (Codex Sinaiticus) के खरीदने की आयोजना की है। इसका मूल्य १००,००० पौण्ड नियत हुआ है। ब्रिटिश-गवर्नमैण्ट ने इस शर्त पर इस निमित्त आधा धन देना स्वीकार कर लिया है कि इसका शेष आधा धन प्रजाजन देवे। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक का इतना दाम कभी भी नहीं दिया गया। परन्तु यह धन शीघ्र एकत्रित हो जायगा ऐसा निश्चय है। बाईबल की प्राचीनतम हस्तलिखित ३ पुस्तकों में से यह भी (Codex Sinaiticus) एक है। शेष दो के नाम हैं Codex Vaticanus और Codex Alexandrinus। इनमें से पहिली तो Vatican पुस्तकालय में है और दूसरी ब्रिटिश म्यूज़ियम में। इन तीनों में से Codex Vaticanus को अपेक्षाकृत शेष दो से कुछ प्राचीन माना जाता है। परन्तु तोभी ये तीनों ही हस्तलिखित पुस्तक इसी ५ वीं शताब्दी से पहले के माने जाते हैं। बाईबल के उपलब्ध अनुवाद इन्हीं तीन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर किये गये थे। इसलिये सोवियट सरकार से उपलब्ध वर्त्तमान हस्तलिखित पुस्तक ईसाई-जगत् के लिये बहुमूल्य है। इस पुस्तक की फ़ोटो लेने की आयोजना हो रही है ताकि अन्वेषक-विद्वान् इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी २ खोज संसार के संमुख उपस्थित कर सकें।

महर्षि दयानन्द के हस्तलिखित-पुस्तक अभी तक अजमेर में परोपकारिणी के प्रबन्ध में सुरक्षित हैं। परन्तु काल का हाथ इनपर भी प्रकट होरहा है। परोपकारिणी सभा ने महर्षि के निर्वाणोत्सव के समय सत्यार्थप्रकाश की हस्तलिखित पुस्तक की फ़ोटो उतारी है। देखें, इसकी कापियां आर्य-विद्वानों को कबतक प्राप्त हो सकेगी। हमें ज्ञात हुआ है कि इन कापियों के प्राप्त होने की निकट भविष्य में कोई सम्भावना नहीं। क्योंकि परोपकारिणी सभा को भय है कि इन कापियों के प्रकाशित हो जाने पर आर्य-जगत् में उथल-पुथल होने की सम्भावना है। परन्तु असलीयत का छिपाना भी तो महर्षि दयानन्द ने पाप गिना है और यह अपराध सत्य की दृष्टि में है भी महापाप। इस लिये हम आशा करते हैं कि परोपकारिणी सभा हस्तलिखित-सत्यार्थप्रकाश की फ़ोटो-कापियों को शीघ्र ही आर्य-विद्वानों के हाथ में देने का अवश्य प्रबन्ध करेगी।

प्रश्नोत्तर

(गतांक से आगे)

२—प्रश्न-सोम, गन्धर्व, अग्नि-ये तीन देव स्त्री के पति हैं—ऐसा कहा है (अथर्व० १४।२।३-४) इस का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर-सोम, गन्धर्व और अग्नि-ये तीन देव स्त्री के पति हैं। इनका गम्भीर भाव बहुत सुन्दर है। इस मन्त्र में स्त्री के चौथे 'पति को मनुष्यज' कहा है इससे पता लगता है कि स्त्री का चौथा पति मनुष्य है। अर्थात् सोम, गन्धर्व और अग्नि-ये तीन पति मनुष्य नहीं हैं। इनका भाव यह है कि—मनुष्य सृष्टि में प्रकृति ने पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे अधिक कोमलता और सोम्य भाव भरा है और बालक की अपेक्षा कन्या में ये दोनो गुण अधिक स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। बच्चे को 'सौम्य' इस शब्द से प्रायः बुलाया जाता है। इसी सौम्य प्रकृति और सौम्य स्वभाव को सूचित करने के लिये वेद ने सुकुमारी कन्या के सम्बन्ध में यह कहा कि मानो उस सुकुमारावस्था में उस का देवता सोम है। इस सुकुमारावस्था से जब कन्या बढ़ती है, और उसके देह पर अंग खिलने लगते हैं और वह स्वभाव से ही जब पुरुष के साथ एकान्त में बैठने से सकुचाती है—यह अवस्था इस बात की सूचक है कि कन्या में अनुराग के विशेष भाव अंकुरित होने लगे हैं। अब से अगली अवस्था को 'गन्धर्व' शब्द सूचित करता है। इसमे गन्ध के लिये पुष्पों का लेना, तथा अन्य कृत्रिम गन्धों की और रुचि होना, कन्या की इस अवस्था का स्वाभाविक परिणाम है। इस अवस्था को ही 'गन्धर्व' शब्द सूचित कर रहा है।

कन्या और आगे बढ़ती है, और वह अवस्था आती है जबकि इसमें अग्नि तत्त्व जोश मारने लगता है। इस अग्नि तत्त्व के जोश का परिणाम यह होता है कि कन्या में ऋतुदर्शन हो जाता है अर्थात् वह रजस्वला हो जाती है। तीन वर्ष तक बराबर रजस्वला होने के बाद उसे मनुष्यज पति अर्थात् मनुष्य की सन्तान रूपी पति के साथ सम्बन्ध करने का अधिकार होता है।

इन सब स्थानों में पति का अर्थ है-रक्षक। पहिले सौम्य अवस्था कन्या की रक्षक होती है। आगे गन्धर्व और अग्नि अवस्था। और उसके बाद मनुष्य सन्तान अर्थात् विवाहित पुरुष उसका रक्षक होता है।

३—प्रश्न—राज्याभिषेक के समय के ये वचन हैं:—

(i) इयं ते राट्॥

To thee this state is given.

(ii) यन्तासि यमनः॥

Thou art the ruler, the Ruling Lord.

(iii) ध्रुवोऽसि धरुणः॥

Thou art firm & steadfast.

ऐसा पं० जयसवाल ने Modern Review में एक बार लिखा था। ये वाक्य यजुर्वेद ९।२२ में हैं।

इस मन्त्र मे यन्ता और यमन का अर्थ समान किया है तथा ध्रुव और धरुण का अर्थ समान है।

(१) सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्ते परः पतिः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥

अथर्व० १४।२।३॥

मेरे विचार में उनमें अवश्य भेद है, इसलिये दो दो शब्द हैं। इसमें गम्भीर उपदेश है, अतएव यन्ता और यमन का भिन्न अर्थ होना चाहिये तथा ध्रुव और धरुण का भी भिन्न अर्थ होना चाहिये।

उत्तर—यजुर्वेद के राज्याभिषेक के इन उपर्युक्त वचनों में यन्ता, यमनः और ध्रुवः, धरुणः आदि शब्द पुनरुक्त प्रतीत नहीं होते। इसके दो उत्तर हो सकते हैं।

(१) एक मन्त्र है कि "तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि" इसमें (क) तनूपाः और (ख) तन्वं पाहि, इन दोनों में भाव एक ही है। जो तनूपाः है, वह तनू की रक्षा करेगा ही। परन्तु इस स्थान में एक विशेष अभिप्राय है। 'तनूपाः' शब्द से यह दर्शाया है कि तनू की रक्षा करना अग्नि का स्वभाव है और 'तन्वं पाहि' शब्दों द्वारा अग्निरूप परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि तू अपने उस स्वभाव को प्रकट कर अर्थात् क्रिया रूप में ला। इस प्रकार स्वभाव और उस स्वभाव का क्रिया रूप में लाना ये दो भाव अलग २ हैं। इसी प्रकार 'यन्ता और यमनः' में एक शब्द नियमन के स्वभाव को सूचित करता है और दूसरा शब्द उस स्वभाव का क्रिया रूप में प्रकट होने की दशा को सूचित करता है। अर्थात् 'यन्ता असि' (तू स्वभाव से नियमन करने वाला है) 'यमनः (भव)' अर्थात् तू प्रजा का नियमन करने वाला बन। इस प्रकार ये दो भाव यहां प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार 'ध्रुवोऽसि धरुणः' में भी समझना चाहिये।

(२) दूसरा भाव इसका यह भी हो सकता है कि तू (अपना) नियन्ता है, इसलिये तू (यमनः) प्रजा को भी नियम में रख। इसी प्रकार (ध्रुवः असि) तू स्वभाव से अटल है, (धरुणः) तू प्रजा को भी वैसा बना और प्रजा का धारण पोषण कर।

—सम्पादक

श्री लाला चरणदास प्यारेलाल, ओवरसियर नहर, लोधरान (मुलतान) से पूछते हैं कि—

प्रश्न—'क्या जनेऊ के मन्त्र हरएक वर्ण के लिये पृथक् २ होने चाहियें या एक ही'?

उत्तर—वेदों में हरएक वर्ण के लिये जनेऊ के पृथक् २ होने की कोई आज्ञा नहीं। और न ही ऐसे मन्त्र मिलते हैं जोकि इस बात को दर्शाएं कि हरएक वर्ण के जनेऊ पृथक् २ होने चाहिये। हां, पिछले लोगों ने जिन्हें कि हम मुनि कह सकते हैं, प्रत्येक वर्ण के जनेऊ को अलग २ रंग का तथा अलग २ सूत का कर दिया। इसमें उनका विशेष भाव था। यदि उस भाव को दृष्टि में न रखा जाय तो जनेऊ का अलग २ रखना वास्तव में एक बेहूदा बात प्रतीत होती है।

जैसा मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक ४४[1] में वैश्य के लिये यज्ञोपवीत ऊन का लिखा है, ऊन चूंकि भेड़ों से उत्पन्न होती है इसलिये पशुपालन रूपी कर्त्तव्य तथा पशुओं से होने वाली खेती के कर्त्तव्य को वैश्यों के लिये प्रधान कर्म रूप से जताने के लिये वैश्यों का यज्ञोपवीत ऊन का माना गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास से और क्षत्रिय का सन के सूत्र से बना हुआ लिखा है। सम्भवतः इन दो वस्तुओं के साथ भी उस समय ऐसे भावों

१—कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥
मनु० अ० २ श्लोक ४४॥

का सम्बन्ध हो जो क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रियों के पेशे और गुण कर्मों तथा स्वभावों का वर्णन करते हों।

इस प्रकार यज्ञोपवीतों का भेद वर्णों के गुण कर्म या पेशों का निर्देश करने वाला होगा यह कल्पना मनु के इस अध्याय के ४२वें श्लोक के एक और वर्णन से भी प्रतीत होती है। इस श्लोक में भिन्न भिन्न वर्णों की मेखलाओं का वर्णन है। इन मेखलाओं को हम तडागी कह सकते हैं। 'क्षत्रिय की मेखला ज्या अर्थात् धनुष की डोरी होनी चाहिये' यह वर्णन इस ४२वें श्लोक[2] में आता है। क्षत्रिय और धनुष की डोरी का आपस में क्या सम्बन्ध है इसे सब समझ सकते हैं। धनुष की डोरी क्षत्रिय के पेशे और काम को सूचित करती है। इसी प्रकार आपस्तम्ब धर्म सूत्र[3] १।१।२।३६ में वैश्य की मेखला ऊन के सूत की लिखी है। इस ऊन के साथ वैश्य के पेशे का क्या सम्बन्ध है यह ऊपर लिखा जा चुका है। इसी प्रकार आपस्तम्ब धर्मसूत्र[4] १।१।२।३४-३५ में लिखा है कि क्षत्रिय की मेखला या तो धनुष की डोरी होना चाहिये या लोह मिश्रित मूंज की रस्सी। धनुष की डोरी का अभिप्राय ऊपर स्पष्ट हो चुका है।

मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक ४२[5] में 'ब्राह्मण की मेखला मूंज की बनी हुई होनी चाहिये' ऐसा लिखा है। परन्तु आपस्तम्ब के उपरोक्त सूत्र में क्षत्रिय की मेखला के लिये सादी मूंज की रस्सी न लिखकर लोहे से मिली हुई मूंज की रस्सी का विधान किया है। इस मूंज की रस्सी में लोहा या लोहे की तार मिलाने का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि मूंज की रस्सी अधिक कठोर और सख्त हो जाय। आपस्तम्ब ने १।१।२।३३[6] में ब्राह्मण की मेखला के लिये शुद्ध मूंज का ही विधान किया है। परन्तु सूत्र १।१।२।३५ में क्षत्रिय की मेखला के लिये लोहे से मिली हुई मूंज की रस्सी का विधान किया है। ब्राह्मण का स्वभाव नरम होना चाहिये, इसलिये उस की मेखला केवल मूंज की कही गई। और क्षत्रिय को चूंकि कठोर और उग्र होना चाहिये इसलिये उस की मेखला लोहे से मिली हुई मूंज की बताई। इन दोनों विधानों से प्रतीत होता है कि मुनि के मन में यह भाव अवश्य काम कर रहा था कि ये मेखलाएं भिन्न २ वर्णों के भिन्न २ पेशों या गुण कर्मों की दृष्टि से ही भिन्न २ रखी गई हैं।

जैसे आजकल भी हम देखते हैं कि नागरिक (Civilians) तथा फ़ौजी (Military) लोगों की पोशाकों में भेद है। तथा स्कूल के साधारण लड़कों और अपने कर्त्तव्य पर लगे हुए बालचरों (Scouts, cubs) की पोशाक में भेद है तथा नौकरी पर तैनात सिपाही और अन्य शहरवासियों की पोशाक में भेद होता है। आजकल इन पोशाकों के भेद में भी अवश्य कोई गहरा भाव छिपा हुआ है जिसे सब समझ सकते हैं। इसीप्रकार पुराने शास्त्रकारों ने भिन्न २ कर्त्तव्यों के दर्शाने के लिये तथा व्य-

२-क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या। मनु० अ० २ श्लोक ४२॥

३-आर्वी सूत्रं वैश्यस्य॥ आप० धर्म १।१।२।३६॥

४-ज्या राजन्यस्य॥ आप० धर्म० १।१।२।३४॥
मौञ्जी वायोमिश्रा॥ आप० धर्म० १।१।२।३५॥

५-मौञ्जी त्रिवृत् समारलक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला। मनु० अ० २ श्लोक ४२॥

६-मौञ्जीमेखला त्रिवृद्ब्राह्मणस्य शक्ति विषये दक्षिणावृत्तानाम्॥ आप० धर्म० १।१।२।३३॥

क्तियो मे उनकी प्रवृत्तियों के अनुकूल भिन्न २ गुणों और कर्मों के बीज बोने के लिये वर्णों के भिन्न २ यज्ञोपवीत, भिन्न २ मेखलाएं, भिन्न २ वस्त्र तथा भिन्न भिन्न दण्ड नियत किये थे। इसी प्रकार उन्होने भिन्न भिन्न वर्णों के लिय भिन्न २ मन्त्र भी निश्चित कर लिये थे। ब्राह्मण का उपनयन मन्त्र उन्होंने गायत्री छन्द वाला माना था, क्षत्रिय का त्रिष्टुप् छन्द का और वैश्य का जगती छन्द का। प्राचीन साहित्य में यह भी वर्णन आता है कि गायत्री छन्द का सम्बन्ध अग्नि अर्थात ब्राह्मण के साथ है, त्रिष्टुप् छन्द का सम्बन्ध इन्द्र अर्थात क्षत्रिय के साथ, और जगती छन्द का सम्बन्ध विश्वेदेवा अर्थात् वैश्यो के साथ है।

प्रतीत होता है कि इन पुराने आचार्यों ने इस प्रकार का मन्त्रो का भेद भी वर्णों मे उनके स्वभाव से रहने वाले भिन्न २ पेशों तथा गुण कर्मों को सूचित तथा दृढ़ करने के लिये ही किया है। यही भाव उन का यज्ञोपवीतो के भेद में भी प्रतीत होता है।

साहित्य-समालोचन

कर्म-प्रभाकार (आह्निककृत्य) ले०—श्री० पं० गंगासहायजी शर्मा, डी० ए० वी हाईस्कूल, अजमेर ——इस पुस्तक में प्रातः उठने से लेकर रात्रिकाल के शयन तक दैनिक कर्त्तव्यों का स्मृति ग्रन्थों के आधार पर निरूपण किया है। संग्रह अच्छे परिश्रम से किया गया है। इस प्रकार कर्त्तव्य निदर्शक ग्रन्थों का हिन्दी में प्रायः अभाव है, इसी कारण-प्राचीनकाल की व्यवहारिक सभ्यता को हम भूले जा रहे हैं और उसका महत्व हमारे हृदय पटल पर न्यून रहता है। स्मृति ग्रन्थों मे दैनिकचर्या की प्रत्येक छोटी से छोटी बात को भी बड़े विवेक से दर्शाया है जिसका कुछ आभास इस पुस्तक से पता चलता है। बालकों को ऐसी पुस्तकों से धार्मिक शिक्षा देना उचित है। मूल्य ।=)

वेदकाल-निर्णय (हिन्दी अनुवाद)—यह मूल पुस्तक भारतवर्ष के प्रसिद्ध विद्वान श्रीबालगंगाधर तिलक ने 'ओरायन' नाम से अंग्रेजी में बनाया था उसमें आपने ज्योतिष के तारासंस्थानों की गणित के आधार पर वेदों के काल का बड़ा ही सोपपत्तिक वर्णन किया है। उस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा योरोपीयन विद्वानो को भी विवश होकर करनी पड़ी। इसकी विवेचना मे ज्योतिष शास्त्र की बहुत सी समस्याओं पर विवेचना की है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद जयपुर के प्रसिद्ध ज्योतिषी श्री० पं० केदारनाथजी साहित्यभूषण ने प्रस्तुत किया है। आपने बहुत सी गणित उपपत्तियों को सरल रूप मे भी दर्शाया है। हमें बड़ी प्रसन्नता है कि अब संस्कृत के विद्वानो का ध्यान वेद की ओर अधिकाधिक आता जा रहा है। इस पुस्तक के पाठ करने से जहा वेद के हिन्दी विज्ञ प्रेमी स्व० तिलक महाराज की लोकोत्तर प्रतिभा का अवलोकन करेंगे साथ ही साथ वेद की अद्भुत जटिल समस्याओं का रसास्वादन करेंगे। वेद के विवेचन में अन्य देश की भाषाएं किस प्रकार सहायक होती हैं इसका भी ज्ञान इस ग्रन्थ से होता है। मू० १) मिलने का पता—केदारनाथजी साहित्य भूषण संघीजी का रास्ता, जयपुर।

प्रथम भाग छप कर तैयार होगया।

महर्षि दयानन्द के निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी का प्रामाणिक

जीवन-चरित

ऋषि के अनन्य भक्त स्वर्गीय श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी. मेरठ, द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्रबाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक का भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान न होते हुए भी इस कार्य को बिना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का सङ्कल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफ़र करना पड़ा और एक-एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री संकलित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्रारम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवन-चरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही रह गई। इस हृदय-विदारक समाचार को पाकर—

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, (जो देवेन्द्रबाबू के परम परिचितों में थे) ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक काग़ज़ को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी वर्षों परिश्रम और बहुतसा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों काग़ज़, हज़ारों छोटे छोटे पुर्ज़े, नोट-बुकें और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक होगा।

यह जीवन-चरित लगभग ८०० रायल अठपेजी के पृष्ठों में समाप्त होगा, बहुत से सादे व तिरंगे चित्र होंगे और मनोहर सुनहरी जिल्द होगी। इसकी १००० प्रतियों के छपाने व प्रकाशित करने आदि में ७, ८ हज़ार रुपया व्यय कूता गया है। इतना द्रव्य व्यय करने से एक पुस्तक पर लगभग ८) रु० लागत आती है। इतना मूल्यवान् ग्रन्थ आर्य-सभासद् तथा आर्यसमाजों के अतिरिक्त और कौन ले सकता है, आर्यमित्र तथा आर्य-मार्तण्ड ने इस जीवन-चरित के प्रकाशन के लिए बहुत आन्दोलन किया, फिर भी कोई प्रकाशक आगे न आया। ऐसी परिस्थिति देख तथा महर्षि दयानन्द के प्रति अपना परम कर्त्तव्य समझ—

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर,

ने इसके प्रकाशन का कार्य अपने ऊपर लिया है और **प्रथम भाग छप कर तैयार भी होगया है।**

हज़ारों आर्यसमाजों व लाखों सभासदों के होते हुए ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक हज़ार प्रतियां बात की बात में बिक सकती हैं, यदि ऋषि के अनुगामी उसके सच्चे तथा प्रामाणिक जीवन-चरित को अपने अपने घरों व समाजों में रखना तथा उसका नित्य स्वाध्याय करना अपना परम कर्तव्य समझलें।

यह बात फिर नोट कर लेनी चाहिये कि यह जीवन-चरित बहुत ही अपूर्व व अमूल्य है, इसका बार-बार प्रकाशित होना बहुत कठिन काम है, अत: आर्डर भेजने में विलम्ब न करना चाहिये।

मैनेजिंग डाइरेक्टर,—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।

वर्ष २] मार्च सन् १९३४ ई० [अंक ६

आर्य्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुखपत्र

महर्षि दयानन्द सरस्वती

अवैतनिक सम्पादक—प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१— वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २॥), नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये

२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो –) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो, अपने ही पोस्ट आफिस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या –)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:—
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

विषय-सूची

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २ | चैत्र संवत् १९९०-९१ वि०, मार्च सन् १९३४ ई० | सं० ६

वेदोपदेश

आत्मिक-अग्निहोत्र

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ अथर्व० २ । ३५ । ५ ॥

"यज्ञ की आंख, आरम्भ करने वाले तथा मुख को, वाक्, श्रोत्र तथा मन द्वारा आहुति देता हूं। विश्व-कर्मा द्वारा फैलाये हुए इस यज्ञ को देव लोग प्रसन्न चित्त होकर प्राप्त हों"।

इस मन्त्र में परमात्माग्नि के प्रति अपनी शक्तियों की आहुति देने का वर्णन है। परमात्मा "यज्ञ की आंख" है।

हमारे जीवन में आंख सब से श्रेष्ठ इन्द्रिय है और इसका काम है मार्ग दिखाना, वस्तुओं के स्वरूपों को दर्शाना। आध्यात्मिक-व्यक्ति सदा परमात्मा की उपासना रूपी यज्ञ में मग्न रहता है। चलते-फिरते, संसार के कार्य-धन्धों तथा निज जीवन में आध्यात्मिक व्यक्ति सदा परमात्मा का ख्याल रखता है। अपने जीवन पर आत्मा की छाप लगा देना यह एक सर्वोत्तम यज्ञ

है। इस यज्ञ की आंख परमात्मा है। यह चर्म-चक्षु इस यज्ञ के मार्ग को नहीं दर्शा सकती। चर्म-चक्षु तो मनुष्य को संसार के रूप और आकार दिखा सकती है, क्योंकि इसका काम है बाह्य संसार दिखाना। आत्मिक-यज्ञ का रास्ता दिखाने वाला जगदाधार परमात्मा ही है। वह इस यज्ञ की आंख है। वही इस यज्ञ का मार्ग दर्शक है। व्यक्ति ज्यों २ इस मार्ग पर चलता है परमात्मा अगला मार्ग इसे दिखाते चलता है। व्यक्ति को परमात्मा के भरोसे इस मार्ग पर चलने का यत्न करना चाहिये, व्यक्ति शनैः २ स्वयं अनुभव करने लग जायगा कि उसका सच्चा सहारा उसे इस मार्ग पर आगे २ बढ़ाये लेजा रहा है।

वही परमात्मा इस यज्ञ का आरम्भ भी कराने वाला है। व्यक्ति वार २ संकल्प करता और इच्छा करता है कि वह इस मार्ग पर चल सके, परन्तु इस मार्ग पर चलने में वह अपनी शक्ति को अपर्याप्त अनुभव करता है। उसके संकल्प और इच्छाएं इस दृष्टि से अन्त में फल-हीन से प्रतीत होने लगते हैं। आध्यात्मिक-जीवन वाले व्यक्ति सदा यह अनुभव करते हैं कि उनकी सद्भावनाओं को मूर्त्त रूप देने वाला वही परमात्मा है।

परमात्मा इस यज्ञ का मुख भी है। मुख का काम है उपदेश देना। परमात्मा ने ही प्रथम इस आध्यात्मिक यज्ञ का उपदेश दिया है। वेदों में इस आध्यात्मिक यज्ञ का उपदेश स्थान २ पर मिलता है।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

वह इस उपदेश-मार्ग में गुरुओं का भी गुरु है। गुरु लोग उसी अनादि सच्चे गुरु से उपदेश पाकर संसार में उसके अनादि-उपदेश का विस्तार करते हैं। इसलिये परमात्मा इस यज्ञ का मुख भी है।

यज्ञ की आंख, आरम्भ करने वाले, तथा मुखरूप परमात्मा के प्रति आहुति देनी है। यज्ञ में आहुति देना आवश्यक होता है। आहुति के आधार पर ही कोई क्रिया यज्ञरूप में परिणत हो सकती है। जहाँ आहुति नहीं वहां यज्ञ नहीं, और जहां आहुति है वहां यज्ञ है। व्यक्ति इस परमात्माग्नि में अपनी वाक् शक्ति, श्रोत्रशक्ति, तथा मनः शक्ति की आहुति देना चाहता है। वह वाणी से बोले तो परमात्मा के निमित्त बोले, श्रोत्र से सुने तो परमात्मा के निमित्त सुने और मन से सोचे या संकल्प-विकल्प करे तो परमात्मा के निमित्त। व्यक्ति की जब ऐसी अवस्था हो जाती है तो मानो वह अपनी शक्तियों की आहुति परमात्मा के लिये दे रहा है। वह यज्ञ रचा रहा है। तब उसे किसी बाह्य यज्ञ की अपेक्षा नहीं रहती। इसे कहते हैं परमात्मा के प्रति आत्म समर्पण करना। यह आत्मिक-यज्ञ सर्वोच्च यज्ञ है।

इस यज्ञ का विस्तार कराने वाला, रचाने वाला वही विश्वकर्मा है। विश्व में जिसकी क्रिया शक्ति सर्वत्र क्रीड़ा करती दिखाई दे रही है वही इस यज्ञ का प्राण है।

इस आत्मिक-यज्ञ की तय्यारी करने के लिये व्यक्ति अपने आपको देव बनाने में यत्न करे। वह अपने में दिव्य भावनाओं और दिव्य विचारों को लाया करे और प्रसन्न चित्त से इस यज्ञ की ओर वह पग बढ़ाया करे तो कालान्तर में वह अनुभव करने लग जायगा कि विश्व का कर्त्ता इस मार्ग में उसके साथ है, वह इस मार्ग पर अकेला नहीं है।

देवत-पति वाद की आलोचना

[ले० श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज, आचार्य, दयानन्द उपदेशक-विद्यालय, लाहौर]

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥
ऋ० १० । ८५ । ४० ॥

इस मन्त्र में पहिला सोम, दूसरा गन्धर्व, तीसरा अग्नि और चौथा मनुष्य पति है—यह उल्लेख है । यह मन्त्र विवाह प्रकरण में पढ़ा गया है । अथर्ववेद में भी (१४ । २ । ४) कुछ पाठ बदल कर यह मन्त्र आया है, वहां भी विवाह का ही प्रकरण है ।

इस मन्त्र के अर्थ के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं । एक पक्ष यह है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि देवता हैं, और चौथा मनुष्य वास्तव में विवाहित पति है । दूसरा पक्ष यह है कि स्त्री का पहिला विवाहित पति सोम कहलाता है यदि वह मर जाय और स्त्री पुनः विवाह करे तो द्वितीय पति गन्धर्व नाम से, इसी प्रकार तृतीय अग्नि नाम से और चौथा मनुष्य नाम से सम्बोधित होता है । दूसरे पक्ष वाले इस प्रकार विवाह की संख्या ११ तक मानते हैं और चौथे से ग्यारहवें तक पति मनुष्य ही कहे जाते हैं परन्तु पहिले से तीसरे तक की संज्ञा सोम, गन्धर्व और अग्नि है । प्रथम पक्ष में पुनर्विवाह को स्वीकार नहीं किया है और सोम आदि को भी देवता होने से विवाहित पति नहीं कहा, उनको गौणरूप से पति कहा जाता है । उनका जो शरीर से सम्बन्ध है वह भी और ही प्रकार का है । यथाः—

पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोम गन्धर्व वह्निभिः ।
भुञ्जते मानवाः पश्चान्न ता दुष्यन्ति कर्हिचित् ॥
रोम दर्शन संप्राप्ते सोमो भुंक्ते तु कन्यकाम् ।
रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वः कुचं दृष्ट्वा तु पावकः ॥अत्रिस्मृति॥

अत्रिस्मृति में देवताओं द्वारा भोगना तो माना है परन्तु वह भोग मनुष्य पति के समान नहीं है । इस लिये अत्रि महाराज ने 'न दुष्यन्ति' ही लिखा है और स्वयं ही शरीर की अवस्थाओं का उल्लेख करके इसे स्पष्ट कर दिया है ताकि किसी को सन्देह न हो ।

वसिष्ठ स्मृति २८ । ५,६ में भी इससे मिलता जुलता ही लेख है । यथा:—

पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोम गन्धर्व वह्निभिः ।
गच्छन्ति मानुषान् पश्चात् नैता दुष्यन्ति धर्मतः ॥
तासां सोमो ददच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम् ।
अग्निश्च सर्व भक्षत्वं तस्मान्निष्कल्मषाः स्त्रियः ॥

वसिष्ठजी सोम, गन्धर्व और अग्नि को शौच, गिरा और भक्षण का सामर्थ्यदाता मानते हैं । यही भेद है ।

याज्ञवल्क्य भी इस विषय में वसिष्ठ के साथी हैं । यथा:—

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥

वसिष्ठजी ने 'सर्वभक्षत्वम्' लिखा है और याज्ञवल्क्यजी ने 'सर्वमेध्यत्वम्' लिखा है । इतना ही भेद है और सब वसिष्ठजी के ही समान है ।

इस भाव को, जो याज्ञवल्क्यजी ने लिखा है, पति पक्ष में भी लगाया जा सकता है, परन्तु इस समय तक प्रथम पक्ष वाले इसे देव पक्ष में ही लगाते हैं ।

अब चिन्तनीय यह है कि दूसरे पक्ष वाले, जो इन सोमादि को पति मानते हैं, उनके पक्ष को सिद्ध करने के लिये ये सोम आदि शब्द पति वाचक हैं या नहीं ? यदि ये शब्द पति वाचक हैं तो कल्पना सरल है और यदि पति वाचक नहीं हैं तो कल्पना क्लिष्ट हो जायगी। अतः दूसरे पक्ष के विषय में विचार करना आवश्यक है।

दूसरा पक्ष इसे इस प्रकार मानता है—वेद में इसी विवाह प्रकरण में पति के लिये जो शब्द आता है वह वही शब्द है जिसे हम प्रथम पति कहते हैं। यथाः—

सोमो वधूयुरभवत। ऋ० १०। ८५। ९॥

सब टीकाकार यहां सोम को वर ही स्वीकार करते हैं और वह भी विवाह इच्छा वाला मनुष्य, न कि देवता।

दूसरा शब्द गन्धर्व है।

योषित्कामा वै गन्धर्वाः। श० ब्रा० ३। ९। ३। २०॥

स्त्री कामा वै गन्धर्वाः। ऐत० १। २७॥

इनसे यही प्रतीत होता है कि गन्धर्व, स्त्री की कामना करने वाले को कहते हैं। स्त्री की कामना करने वाला मनुष्य ही होगा न कि देवता। ऐतरेय के भाष्य में सायण ने लिखा है कि गन्धर्व स्त्रीलम्पट होते हैं।

तीसरा शब्द है अग्नि। वेद में अग्नि को गृहपति कई स्थानों पर लिखा है। गृहपति मनुष्य ही होगा न कि देवता। शतपथ १०। ४। १। ६ में 'पुरुषो अग्निः' यह पाठ भी आता है।

चौथा मनुष्य है। इस सम्बन्ध में कुछ लिखना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है दोनोंपक्ष वाले इसे तो मनुष्य पति ही कहते हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि काम भिन्न २ क्यों दिये गये ? मेरी सम्मति में मनुष्य में स्वाभाविक प्रवृति होती है जिसे मनुजी ने 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' लिखा है। उससे प्रेरित होकर जो सम्बन्ध करता है उसे सोम कहते हैं। बृहदारण्यक (१।४।१७) में पाठ है—

'तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यात्'।

यही सोम है। यदि इसके पश्चात् दम्पती में मृत्यु आदि से वियोग हो, और उस समय विषय वासना भी प्रबल हो तब यदि वह सम्बन्ध करे तो गन्धर्व कहलायगा। दोनों में अर्थात् सोम और गन्धर्व में भावों का भेद होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार आपत्कालवश आगे बढ़े तो उसे अग्नि कहते हैं वह विषय के साथ २ गृह का चिन्तन भी करता है इसी कारण उसे अग्नि कहा जाता है। इसके आगे सामान्य रूप से सब का मनुष्य शब्द से वर्णन किया है। इस प्रकार ये नाम किसी देवता के न मानकर मनुष्य के माने जा सकते हैं इसलिये यह कल्पना भी सरल कल्पना ही है।

पहिले लिखा जा चुका है कि याज्ञवल्क्यजी का भाव इसमें घट सकता है, उन्होंने लिखा है कि सोम, गन्धर्व, अग्नि क्रम से शौच, गिरा और मेध्यत्व के दाता हैं। कल्पना करो कि यदि किसी का विवाह न हो और वह ब्रह्मचर्य का पालन भी न करना चाहे तो क्या होगा ? इसी से बचने का उपाय विवाह है इसी कारण पहिला पति शौच का दाता होने से स्मृतिकार ने सोम को शौच का दाता लिखा है। दूसरे विवाह में स्वभाव में अन्तर आना स्वाभाविक है। बातचीत, संसार के उतराव चढ़ाव, सम्बन्ध के सुख दुःख जानने से गन्धर्व गिरा दाता माना गया है। कई विषया की

से विवाह करना नहीं चाहते स्वयं चाहे विधुर ही हों। वे विधवा को अमेध्य मानते हैं। जो पति उससे विवाह करता है वह उसमें मेध्यत्व की स्थापना करता है इस लिये अग्नि को मेध्य का दाता लिखा है। इस प्रकार यह कल्पना हो सकती है।

मैं प्रथम पक्ष का पोषक नहीं हूं, मैं दूसरे पक्ष को मानता हूं। प्रथम पक्ष की यह बात समझ में नहीं आती कि स्त्री के पति देवता कैसे हो सकते हैं? समता पुरुष स्त्री की है, पति पत्नी भाव भी इनका ही होगा न कि मनुष्य स्त्री का, इस प्रकार के देवताओं से। देवता पक्ष में यह बात भी विचारणीय हो जाती है कि इन देवताओं का स्वरूप क्या है? इसलिये इस मन्त्र का अर्थ सत्यार्थप्रकाश में नियोग प्रकरण में जो ऋषिवर दयानन्दजी ने किया है, वही युक्ति युक्त प्रतीत होता है। यदि कोई सज्जन मुझे देवता पक्ष समझाना चाहें तो मैं समझने के लिये उद्यत हूं। परन्तु इस समय मेरा यही निश्चय है कि ऋषि दयानन्दजी का पक्ष युक्ति संगत होने से स्वीकरणीय है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

[ले० स्वाध्याय प्रेमी]

(२)

भिन्न २ दृष्टियां

शतपथ ब्राह्मण पर भिन्न २ दृष्टियों से विचार हो सकता है। यथा—

"शतपथ की गाथाएं और उनके ऐतिहासिक परिणाम" "शतपथ के समय की सामाजिक रीति नीति" "वैदिक साहित्य में शतपथ का साहित्यिक स्थान" "शतपथ की गाथाओं का रहस्यार्थ" "शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषत् में कालिक भेद है या नहीं" "शतपथ ब्राह्मण और उसके यज्ञ" "शतपथ ब्राह्मण और यजुर्वेद" इत्यादि।

परन्तु इस लेख में केवल "शतपथ ब्राह्मण और यजुर्वेद" इसी सम्बन्ध में कुछ लिखा जायगा।

ऋषि दयानन्द और वेदों के अयाज्ञिकार्थ

वेदों के स्वाध्याय करने वालों में यह प्रश्न देर से चला हुआ है कि वेदों के अर्थ वास्तव में किस ढंग से होने चाहिये। वे ढंग ४ हैं। आधियज्ञ, आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक।

आधियज्ञ में केवल यज्ञों का वर्णन आता है, प्रातःकाल और सायंकाल हवन करना, यही केवल यज्ञ नहीं। यज्ञों के कई भेद हैं। इन्हीं यज्ञों का वर्णन वेदों में है—यह आधियज्ञ पक्ष का अभिप्राय है।

आधिदैविक अर्थ में "सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा, पंचभूत" आदि का नाना प्रकार का वर्णन होता है। आधिदैविक पक्ष के अभिप्राय को यदि मैं वर्तमान काल की परिभाषा में रखूं तो मैं कहूंगा कि आधिदैविक पक्ष में Physics, Chemistry, Botany, Biology, Astronomy, Geology आदि के विषयों का वर्णन होता है। आधिभौतिक में समाज-नीति, राजनीति,

युद्धविद्या, व्यापार, शिल्प आदि का वर्णन होता है, जिनका कि होना एक उन्नत राष्ट्र तथा सार्वभौम उन्नति के लिये आवश्यक है। आध्यात्मिक अर्थ में हमारे देह, देह के अवयवों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, आत्मा, प्रकृति, परमात्मा—इन २ विषयों का वर्णन होता है।

वेदार्थ के इन प्रकारों में दो प्रबल पक्ष एक दूसरे के विरोधी हैं। एक पक्ष वाले तो याज्ञिक प्रकार को मुख्य गिनते हैं। इस पक्ष के अनुयायी सायणाचार्य, महीधर, उव्वट आदि मध्यकाल के विद्वान् तथा प्राचीनकाल के श्रौतसूत्रो तथा गृह्यसूत्रों के निर्माता हैं। इन्होने याज्ञिक अर्थों का एक अभेद्य दुर्ग तैयार कर रक्खा है जिसे भेद कर पराजित करना कोई सुलभ कार्य नही, परन्तु असम्भव भी नही।

दूसरे पक्ष वाले लोग वे हैं जिनका कि यह विचार है कि वेदों के मुख्य अर्थ याज्ञिक नही है, अपितु वेदों के मुख्य अर्थ हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। मध्यकाल का और प्राचीनकाल का कोई भी ऐसा भाष्य नही जिसमें कि वेदों के मंत्रो के क्रमानुसार आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ दिखलाकर इस दूसरे पक्ष को सुदृढ़ बनाया गया हो। यद्यपि यास्कीय निरुक्त, उपनिषदो और आरण्यक ग्रन्थो में कई स्थानों पर प्रकरणवश कतिपय मन्त्रों के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थों पर प्रकाश डाला गया है, तथापि वह प्रकाश इतना धीमा है कि उसके सहारे सम्पूर्ण किसी भी वेद के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थों के करने में हम पूरे समर्थ नहीं हो सकते। प्राचीन आचार्यों ने यद्यपि इस दूसरे पक्ष के दुर्ग बनाने में यत्र तत्र ईंटों, पत्थरों, तथा चूने, गारे को एकत्रित करने का यत्न तो किया है, पर वे उस सामग्री द्वारा वास्तव में दुर्ग बना नहीं पाए। इस दुर्ग के बनाने का श्रेय १९ वीं शताब्दी के स्वनामधन्य, वैदिक सूर्य महर्षि दयानन्द को ही है।

१—महर्षि दयानन्द जो अपने इस परिश्रम में सफल हो पाये हैं उसमें उन्होंने पर्याप्त मदद ब्राह्मण ग्रन्थों से भी ली है। लोगों का विचार है कि ब्राह्मण ग्रन्थ याज्ञिकविधि के पोषक हैं, न केवल यही बल्कि याज्ञिकविधि के उद्भावक हैं। परन्तु ब्राह्मण ग्रंथों को जो भी ध्यान से पढ़ेगा उसे प्रतीत हाने लगेगा कि याज्ञिकविधि एक ऐसा शरीर है जिसमें कि आत्मा आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विधि का ही है।

ब्राह्मण ग्रंथो के लिखने का यही प्रयोजन था कि याज्ञिकविधि के शरीर में आधिदैविक, आधिभौतिक, और आध्यात्मिक विधि का आत्मा डाला जाय। शरीर, बिना आत्मा के नीरस है, अनुपादेय है, बल्कि जलाने और दबाने के योग्य है। इस कथन के उपपादन में ब्राह्मण ग्रन्थो के ही कतिपय उदाहरण पेश किये जाते हैं। यथा:—

(क) यज्ञ में एक आहवनीय अग्नि होती है। उस अग्नि के उत्तर में जल को रक्खे—यह एक याज्ञिक विधि है। ब्राह्मणकार ने प्रश्न उठाया कि यह ऐसा क्यों किया जाता है? इसका उत्तर शतपथ ब्राह्मण में निम्नलिखित शब्दो में दिया है।

"ता उत्तरेणाहवनीयं प्रणयति। योषा वा आपो वृषाग्नि र्मिथुन मेवैतत् प्रजननं क्रियते। एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तम्। उत्तरतो हि स्त्री पुमांसमुपशेते॥"

श० कां० १ अ० १ ब्रा० १ कं० २०॥

इसका अर्थ यह है कि "जल स्त्री का रूप है और अग्नि पुरुष का रूप है। इस प्रकार स्त्री पुरुष का एक उत्पादक जोड़ा तैयार किया जाता है। क्योंकि पुरुष के उत्तर भाग में स्त्री शयन करती है।"

पुरुष की शक्ति Positive हुआ करती है और स्त्री की Negative। इसीलिये ब्राह्मणकार ने अग्नि को पुरुष कहा है और जल को स्त्री। पुरुष-शरीर का दाहिना आधा हिस्सा पुरुष शक्ति वाला और बायाँ आधा हिस्सा स्त्री शक्ति वाला है—ऐसा माना जाता है। इसलिये पुरुष के उत्तर भाग में ही स्त्री का स्थान युक्ति सिद्ध प्रतीत होता है।

इस प्रकार यूजेनिक्स के विज्ञान अर्थात् आधिभौतिक अथवा आध्यात्मिक अर्थ को सामने रख कर ब्राह्मणकार ने उस याज्ञिकविधि का उपपादन किया है कि जल को आहवनीय अग्नि के उत्तर में क्यों रखा जाय।

(ख) यज्ञ में दो पवित्रों का विधान है। दूबा घास की एक Blade, काण्ड या पत्ते का एक पवित्र होता है। ऐसे दो Blades को यदि ले लिया जाय तो याज्ञिकविधि में इन दो Blades का नाम होगा—दो पवित्र। दूबा घास के इन दो Blades से जिन्हें कि पवित्र कहते हैं, जल छिटकने का या घी पुनने का काम लिया जाता था। प्रश्न किया कि ये दो ही पवित्र क्यों हों। एक क्यों न हो या दो से अधिक क्यों न हो। इस पर ब्राह्मणकार ने उत्तर निम्न लिखित दिया है। यथा:—

"पवित्रे करोति। ते वै द्वे भवतः। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते। सोऽयमेक इवैव पवते। सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च। तौ इमौ प्राणोदानौ। तदेतस्यैवानुमात्रां तस्मात् द्वे भवतः॥

श० कां० १ अ० १ ब्रा० ३ कं० १। २॥

इसका अर्थ यह है कि "पवित्र लेता है। वे संख्या में दो होते हैं। यह वायु, निश्चय से, पवित्र है जो कि बह रहा है। वह अकेला सा है। वह पुरुष में प्रविष्ट होकर नासिका से बाहिर और उसके भीतर बहता है। इनका नाम है प्राण और उदान। इस वायु की संख्या के अनुसार यज्ञिय पवित्र भी दो होते हैं"।

यहां ब्राह्मणकार ने यह जतलाया है कि हमारे शरीर में दो पवित्र हैं। एक प्राणवायु और दूसरी अपान। जोकि शरीर के भीतर जाते और बाहिर आते हैं। यह शरीर को पवित्र करते हैं अतः ये पवित्र अर्थात् पवित्रता के साधन हैं। चूंकि ये दो हैं इसलिये याज्ञिकविधि में भी दो ही पवित्र होने चाहियें। इस प्रकार यहां भी याज्ञिकविधि के शरीर के साथ आध्यात्मिक अर्थ की आत्मा को जोड़ कर ही ब्राह्मणकार ने याज्ञिकविधि के मृतप्राय शरीर को सजीव किया है।

(ग) याज्ञिकविधि में दर्श पौर्णमास में ८ कपाल होते हैं। उनमें पुरोडाश को पकाया जाता है। घड़े के पेंदे के छोटे २ ठीकरों को कपाल कहते हैं। ये संख्या में ८ होने चाहियें, और इस प्रकार घड़े हुए होने चाहियें कि एक दूसरे के साथ मिलाकर इन्हें रखने से ये एक दूसरे के साथ ऐसे मिल जांय कि मेल के स्थानों पर मध्य में अवकाश न रहे। और तण्डुल अथवा जौ की पीठी का पुरोडाश होता है। इन ८ कपालों पर पुरोडाश को रख कर उसे अग्नि पर पकाया जाता है। ब्राह्मणकार उस पर प्रश्न करता

है कि ऐसा क्यों किया जाय ? इस पर ब्राह्मणकार निम्नलिखित उत्तर देता है। यथाः—

"शिरो ह वा एतद् यज्ञस्य यत्पुरोडाशः। स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि एतान्येवास्य कपालानि। मस्तिष्क एव पिष्टानि।" श० कां० १ अ० २ ब्रा० ५ कं० २॥

इसका अर्थ यह है कि सिर के जिस प्रकार ८ कपाल अर्थात् हड्डियां होती हैं वैसे ही यज्ञविधि में भी ८ कपाल होते हैं, और जिस प्रकार सिर के कपालों में मस्तिष्क अर्थात् Brain होता है उसी प्रकार इस यज्ञ में कपाल रूपी अस्थियों में पुरोडाश रूपी मस्तिष्क रखा जाता है। और जिस प्रकार अग्नि से पुरोडाश को पकाया जाता है इसी प्रकार ज्ञानाग्नि द्वारा मस्तिष्क को भी पकाया जाता है। विना ज्ञानाग्नि के मनुष्य का मस्तिष्क कच्चा ही रह जाता है। यहां पर भी याज्ञिकविधि के शरीर में आध्यात्मिक अर्थ की आत्मा प्रवेश कराया है।

(घ) याज्ञिकविधि में एक स्रुवा होता है और तीन स्रुच्। तीन स्रुचों का नाम है जुहू, उपभृत् और ध्रुवा। स्रुवा द्वारा तीन स्रुचों में घी डाला जाता है। इन चार वस्तुओं का क्या उपयोग है तथा स्रुवा द्वारा ही तीन स्रुचों में घी क्यों डाला जाय ? यह प्रश्न याज्ञिकविधि में उत्पन्न हुआ। इसका उत्तर ब्राह्मणकार देते हैं। यथाः—

"पुरुषो वै यज्ञः। तस्येयमेव जुहूः। इयमुपभृत्। आत्मैव ध्रुवा। प्राण एव स्रुवः। सोऽयं प्राणः सर्वाणि अङ्गानि अनुसंचरति। तस्मादु स्रुवः सर्वा अनु स्रुचः संचरति।"

श० कां० १ अ० ३ ब्रा० ५ कं० १। २। ३॥

इसका अर्थ यह है कि यज्ञ पुरुष की आकृति वाला है और पुरुष व्यवहार का अनुकरण मात्र है। पुरुष का दाहिना हाथ जुहू है, बायां हाथ उपभृत् है तथा मध्य का भाग जिसे कबन्ध, काण्ड या Trunk कहते हैं ध्रुवा है। और शरीर में विचरने वाली वायु स्रुवा है। चूंकि वायु शरीर के अंगों में विचरती हुई उन्हें जीवन रस प्रदान करती है, इसलिये स्रुवा जो कि वायु रूप है वह भी यज्ञ शरीर के अन्य अङ्गों अर्थात् जुहू, उपभृत् और ध्रुवा में विचरता है और उन्हें घृत रूपी जीवन-रस प्रदान करता है। यहां भी याज्ञिकविधि के मृत शरीर को आध्यात्मिक विधि के आत्मा से अनुप्राणित किया गया है।

(ङ) यज्ञ की एक और विधि है। वह यह कि जुहू और उपभृत् इन दो स्रुचों में स्रुवा से घी डालते हैं। स्रुवा द्वारा ४ वार घी तो जुहू में डाला जाता है और ८ वार उपभृत् में। परन्तु जुहू में चार वार और उपभृत् में घी के आठ वार डालने पर भी जुहू में घी की मात्रा अधिक होनी चाहिये और उपभृत् में अपेक्षया कम। इस याज्ञिकविधि पर प्रश्न होता है कि यह क्यों ? ब्राह्मणकार इसका उत्तर निम्नलिखित शब्दों में देते हैं। यथाः—

"स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णाति अत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयांसं करोति। अथ यदष्टौ कृत्व उपभृति गृह्णात्याद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयांसं करोति। तद्धि समृद्धं यत्र अत्ता कनीयानाद्यो भूयान्। स यच्चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूय आज्यं गृह्णाति अत्तारमेवैतत्परिमिततरं कनीयांसं कुर्वन् तस्मिन् वीर्यं बलं दधाति। अथ यदष्टौकृत्व उपभृति गृह्णन् कनीय आज्यं गृह्णाति आद्यमेवैतदपरिमिततरं भूयांसं करोति तमवीर्यमबलीयांसं करोति।"

श० कां० १ अ० ३ ब्रा० ५ कं० ११। १२॥

इसका अभिप्राय यह है कि जुहू अत्ता है और उपभृत् आद्य है। अर्थात् जुहू भक्षक है और उपभृत्

भक्ष्य। जुहू में चार वार घी डालता है और उपभृत् में आठ वार। इससे यह दर्शाना चाहता है कि भक्षक संख्या में कम है और भक्ष्य संख्या में अधिक। परन्तु जुहू में चार वार घी डालते हुए जो अधिक घी डालता है और उपभृत में आठ वार घी डालते हुए भी जो थोड़ा घी डालता है वह इसलिये कि यह ज्ञात हो सके कि भक्षक संख्या में कम होते हुए भी जो भक्षक बन जाते हैं उसका कारण यह होता है कि उनमें बल वीर्य अधिक होता है और भक्ष्य जोकि संख्या में अधिक होते हुए भी भक्ष्य बने रहते हैं उसका कारण यह होता है कि उनमें बल वीर्य कम होता है[1]।

यहाँ आधिभौतिक अर्थ की आत्मा याज्ञिकविधि के शरीर में डाली गई है।

(च) इसी प्रकार जुहू और उपभृत् के ही सम्बन्ध में एक और याज्ञिकविधि है वह यह कि स्रुवा से जुहू और उपभृत् इन दोनों में ही घी डाला जाता है। परन्तु आहुति जुहू द्वारा ही दी जाती है उपभृत् द्वारा नहीं। उपभृत् का घी भी जुहू में डाला जाता है और इस प्रकार पुनः जुहू द्वारा ही घी अग्नि में छोड़ा जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि जब उपभृत् द्वारा आहुति देनी ही नहीं तो उपभृत् में घी डालते ही क्यों हैं? इसका उत्तर ब्राह्मणकार निम्नलिखित शब्दों में देते हैं। यथा:—

"कस्मा उ तर्हि उपभृति गृह्णीयाद्यदुपभृता न जुहोति। स यदुपभृता जुहुयात्पृथग्घैवेमाः प्रजाः स्यु र्नैवात्ता स्यान्नाद्यः स्यात्। अथ यज्जुह्वैव समानीय जुहोति तस्मादिमाः विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति। अथ यदुपभृति गृह्णाति तस्मादु क्षत्रियस्यैव वशे सति वैश्यं पशव उपतिष्ठन्ते।"

श० कां० १ अ० ३ ब्रा० ५ कं० १५॥

इसका अभिप्राय यह है कि उपभृत् में घी तो ले परन्तु आहुति जुहू द्वारा ही दे। कारण यह कि उपभृत् वैश्य है और जुहू शासक वर्ग है। प्रजाएँ राजकीय मदों में सीधा खर्च नहीं किया करती अपितु शासक वर्ग के द्वारा ही उन २ राष्ट्रीय मदों में खर्च करती हैं। इसीलिये उपभृत् द्वारा सीधे यज्ञ करने की विधि नहीं। उपभृत् अपना घी रूपी धन जुहू रूपी शासक को दे दे और जुहू रूपी शासक उसका त्याग अग्नि कुण्ड रूपी राष्ट्रयज्ञ में करे।

दूसरा प्रश्न यह था कि जब उपभृत् द्वारा आहुति देनी ही नहीं तो उपभृत् में घी डालना किस लिये? इसका उत्तर ब्राह्मणकार ने यह दिया कि उपभृत् वैश्य है और जुहू शासकवर्ग। वैश्य के पास यदि धन होगा ही नहीं तो शासकवर्ग के पास आएगा कहाँ से? अतः उपभृत् में घी तो डाले ताकि जुहू रूपी शासकवर्ग को वह घी रूपी धन मिल सके। परन्तु उपभृत् द्वारा आहुति न दे। अर्थात् वैश्य, शासकवर्ग के द्वारा ही, राष्ट्र-यज्ञ को चला सके, स्वतन्त्ररूप में नहीं। यहाँ भी याज्ञिकविधि के शरीर में राजनैतिक अर्थात् आधिभौतिक अर्थ की आत्मा डाली गई है।

इस प्रकार के अनगिनत उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। परन्तु उनसे अन्त में यही सिद्ध होगा कि ब्राह्मणकार याज्ञिकविधि की व्याख्या (Explanation) के लिये अयाज्ञिक अर्थों का ही सहारा लेते हैं। इसलिये ब्राह्मणकारों की इस प्रवृत्ति से यह

---

[1] जुहू और उपभृत दोनों की शकल एक सी है इससे सूचित किया कि खाद्य और खादक के देह तो एक जैसे ही हैं परन्तु फिर भी शक्ति के कारण एक भक्षक बन जाता है और दूसरा शक्ति के न होने के कारण भक्ष्य।

परिणाम निकलता है कि ब्राह्मणकारों की सम्मति में भी याज्ञिक अर्थ गौण हैं और अयाज्ञिक अर्थात् आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक अर्थ मुख्य हैं। दूसरे शब्दों में यूँ भी कहा जा सकता है कि याज्ञिक विधि मौलिक नहीं अपितु आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ ही मौलिक हैं। और इन आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक मौलिक अर्थों की नींव पर ही याज्ञिकविधि की रचना की गई है। इसीलिये मन्त्रों के याज्ञिक अर्थ भावशून्य, नीरस, निर्जीव तथा थोथे प्रतीत होते हैं तथा आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ भाव पूर्ण, सरस, सजीव और परिपूर्ण प्रतीत होते हैं। इसलिये अयाज्ञिक अर्थ ही मुख्य हैं और याज्ञिक अर्थ गौण हैं।

२—याज्ञिकविधि के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण के ही आधार पर दूसरी बात यह उपस्थित की जा सकती है कि याज्ञिक विधियों में भी भिन्न २ आचार्यों के भिन्न २ मत हैं। याज्ञिकविधि याज्ञिक आचार्यों द्वारा भी कोई ऐक मत्येन सब अंशों में स्वीकृत नहीं की गई। इस कथन की सत्यता में निम्नलिखित एक प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है। यथाः—

"उर्वन्तरिक्ष मन्वेमि" यजु० १। ७ पढ़ कर बैल-गाड़ी पर चढ़ने का विधान शतपथ ब्रा० १।१।२।४ में किया गया है। इसलिये कि बैलगाड़ी में पड़े हुए धान को यज्ञ के लिये लिया जाय। परन्तु इस विधि के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य से प्राचीन आचार्यों का मत-भेद है। श० प० ब्रा० १।१।२।७ में लिखा है कि "तस्मादनस एव यजूँषि सन्ति, न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति, तदघेन प्रति भस्त्रायै यजूँष्यासुः।"

इसका अर्थ यह है कि बैलगाड़ी से ही यज्ञ के लिये धान को ले। इसलिये 'उर्वन्तरिक्षमन्वेमि' यह मन्त्र बैलगाड़ी के ही सम्बन्ध में है। कोठे से और घड़े से धान को न लेवे। परन्तु पुराने ऋषि चमड़े के थैले से यज्ञार्थ धान को लेते थे, अतः उनके मत के अनुसार "उर्वन्तरिक्षमन्वेमि" यह मन्त्र चमड़े के थैले के सम्बन्ध में था। इस प्रकार इस मन्त्र में बैलगाड़ी का वर्णन है, कोठे का वर्णन है, घड़े का वर्णन है या चमड़े के थैले का—इस सम्बन्ध में याज्ञिकों का भी परस्पर मतभेद चला आया है। इस सम्बन्ध के कई प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में हैं, परन्तु इस लेख के लम्बे हो जाने के भय से इस सम्बन्ध में अन्य प्रमाणों को उपस्थित करने की आवश्यकता विशेष नहीं है।

३—याज्ञिकविधि के सम्बन्ध में तीसरी बात यह पेश की जा सकती है कि इस याज्ञिकविधि ने अना-दिकाल से प्रचलित मन्त्र पाठ के क्रम को बिगाड़ डाला है। यथाः—

शतपथ ब्राह्मण का आरम्भ तो करना चाहिये था यजुर्वेद के पहिले अध्याय के पहिले ही मन्त्र से, परन्तु ऐसा न करके यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के ५वें मन्त्र से शतपथ की व्याख्या प्रारम्भ होती है। पहिले ४ मन्त्रों की व्याख्या शतपथ में दो तीन अध्यायों के पश्चात् मिलती है। शतपथ ब्राह्मण के बनाने वाले को कर्मकाण्ड या याज्ञिकविधि की प्रचलित परिपाटी के अनुसार ऐसा करना आवश्यक हो गया। यह एक काफ़ी प्रबल प्रमाण है जिसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि याज्ञिकविधि सम्भवतः वेद के कर्त्ता को, इस याज्ञिकविधि के वर्त्तमान रूप में, अभीष्ट ही न हो। यदि वेद के कर्त्ता को भी शतपथ

में प्रचलित याज्ञिकविधि ही स्वीकृत होती तो वह अपने वेद के पहिले ४ मन्त्रों को वहीं पढ़ देता जहां पर कि पढ़ने से ये ४ मन्त्र याज्ञिकविधि के क्रम के अनुसार ठीक बैठ जावे। परन्तु वेद बनाने वाले ने ऐसा नहीं किया। इसलिये, ऐसे स्थल में जहां कि मूल लेखक की एक राय प्रतीत होती हो और उस मूल लेखक की पुस्तक पर टीका टिप्पणी के लिखने वाले की दूसरी, तो ऐसे स्थान में किसकी सम्मति अधिक मानने योग्य होगी? क्या मूल पुस्तक के लेखक की सम्मति अधिक मानने योग्य होगी या उस ग्रन्थ पर टीका टिप्पणी के करने वाले की?

इसलिये वेदों के वेही अर्थ ठीक माने जा सकते हैं जिनसे कि वेदों के प्रचलित क्रम में तबदीली न करनी पड़े। याज्ञिक अर्थों में चूंकि तबदीली करनी पड़ती है अतः इससे यह परिणाम निकल सकता है कि वेदों के याज्ञिक अर्थ सम्भवतः वैदिक भाव के अनुकूल न हों।

(४) याज्ञिक अर्थों में चौथा दोष यह आता है कि इस याज्ञिकविधि में कई विधियां ऐसी भी हैं जिन का आधार भूत कोई भी मन्त्र वेदों में नहीं है। ऐसी सैकड़ों विधियां ब्राह्मण ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं। इस युक्ति से भी यही प्रतीत होता है कि याज्ञिक अर्थ वेदों के मौलिक अर्थ नहीं हैं।

(५) इन याज्ञिक विधियों के आधार पर मन्त्रों में कई स्थानों पर विभक्तियों मन्त्र गतपदों की तथा वचनों में परिवर्त्तन भी करने पड़ते हैं इसका नाम संस्कृत में "विभक्ति वचन विपरिणाम" है। उसे ऊहा भी कहते हैं। इसके उदाहरण में निम्नलिखित मन्त्र पेश किया जा सकता है। यथा:—

"अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता"।

यह मन्त्र मैत्रायणी संहिता ४। १३। ४ का है। यह मन्त्र इसी प्रकार से याज्ञिकविधि में तब बोला जाता है जब कि यज्ञ में केवल एक ही पशु से काम हो। क्योंकि मन्त्र में "एनम्" यह एक वचनान्त पद है। परन्तु यदि दो पशु लेने आवश्यक हों तो ब्राह्मण कार इस मन्त्र का प्रयोग दो पशुओं के सम्बन्ध में करने के लिये मन्त्र में के "एनम्" पद को अपने आप बदलकर "एनौ" यह द्विवचनान्त प्रयोग कर देते हैं। तथा जब दो से अधिक पशु लेने की आवश्यकता हो तो "एनम्" पद को बदल कर उसके स्थान में "एनान्" यह बहुवचनान्त पद रख देते हैं। यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ब्राह्मणकारों का क्या हक है कि परम्परा से आये हुए मन्त्र के किसी भी शब्द में हेर फेर करके वे अपना मतलब सिद्ध करें? यह पांचवीं युक्ति है जिससे सिद्ध किया जा सकता है कि याज्ञिकविधि न केवल वेदों के भाव के अनुकूल ही नहीं अपितु याज्ञिकविधि ने अनादि परम्परा से प्रचलित वैदिक मन्त्रों के शब्दों में हेर फेर करके एक भारी अपराध किया है।

(६) इन याज्ञिक गुरुओं ने अपने आप कई मन्त्र गढ़ भी लिये हैं। क्योंकि इन्होंने जब याज्ञिक विधि को एक नियम से फैलाया तो कई विधियाँ मध्य मध्य में ऐसी भी लिखनी पड़ीं, जिनका आधार भूत उन्हें न तो कोई यजुर्वेद का मन्त्र ही मिला और न कोई वैदिक शब्द ही। इसलिये उन्होंने अपने ही नये मन्त्र बना लिये जिन्हें कि प्रमाण के रूप में उन्होंने पेश किया। जैसे कि यजुर्वेद १। १६ के पश्चात् धान के त्रिफलीकरण की विधि में "देवेभ्यः शुन्धध्वम्, देवेभ्यः

शुन्धध्वम्" यह एक नया मन्त्र गढ़ा है। इस तरह के और भी कई उदाहरण हैं, जिनका यहां लिखना अधिक उपयोगी न होगा।

इन पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर यह परिणाम निकलता है कि वास्तव में वेदों के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक अर्थ ही मुख्य हैं और याज्ञिक अर्थ गौण हैं। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने याज्ञिक अर्थों की अधिक परवाह न करके आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक अर्थों पर ही अपने वेदभाष्य में अधिक बल दिया है।

महर्षि दयानन्द

[ले० श्री० पं० लक्ष्मीनारायणजी विद्याभास्कर, महाविद्यालय ज्वालापुर]

वह कौन दिव्य देही भारत हिला गया है।
प्राचीन संस्कृति का उपकार कर गया है॥ १॥
अति दीन हीन बालक, जिनका न कोई पालक।
उन निर्धनों के विद्या मन्दिर बना गया है॥ २॥
भारत की उन्नती का वह सभ्यताभिमानी।
स्वाधीन गुरुकुलों का प्रेमी कहाँ गया है॥ ३॥
सद्भाव भावना का वह आज भव्य नेता।
जेता जिगीषुओं का भेता किधर गया है॥ ४॥
व्याख्यान शंख की वह तारध्वनी से किसका।
एक बार कर्णपुट कब पावन न कर गया है॥ ५॥
निर्भीक ईश सेवी तर्कों का ले कुठारा।
प्रतिकूल वादियों की युक्ति उड़ा गया है॥ ६॥
लेखों से वह खलों का सब खेल फेल करके।
व्यवहार से भलों का गलहार बन गया है॥ ७॥
भारत की भव्य भूति वह धन्य श्री दयानन्द।
तरसा[1] जगा के हमको सहसा कहाँ गया है॥ ८॥

१—बलात।
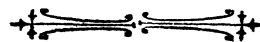
पुनर्जन्म

[ले० श्री० पं० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार]

(१)

(क) यह विश्वव्यापी सिद्धान्त है

जीवन मार्ग में प्रविष्ट होते हुए प्रत्येक व्यक्ति के सामने एक पहेली रक्खी जाती है, वह जीवन क्या है, कहाँ से आया है, किधर जारहा है ? इस पहेलो का उत्तर पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने बहुत काल तक दिया है। परन्तु आर्य जाति की पश्चिमीय शाखा ने संसार को भौतिक विजय को करते हुए असन्तोष को बढ़ा लिया है और प्राचीन विश्वास को खो दिया है। वे लोग ऐसे क्षेत्र में निकल गये हैं जहाँ जिस वस्तु को सिद्ध नहीं किया जा सकता उसे वे मानने को भी उद्यत नहीं होते। उनके लिये परमात्मा और आत्मा की अमरता अनुमान के ही विषय हैं और वे उनमें प्रत्यक्ष प्रमाण मिले बग़ैर विश्वास नहीं कर सकते। इस अविश्वास की अवस्था से अब युरोप में उलटी लहरें भी चलने लगी हैं जो पाश्चात्य विचारकों को आध्यात्मिकता की तरफ़ ले जा रही हैं। दिनों दिन बढ़ते विचार-स्वातन्त्र्य के साथ २ विद्वानों का पूर्वीय विचारों की तरफ़ झुकाव होता चला जा रहा है और इससे नवीन जागृति का युग आता दीख पड़ता है। जिस प्रकार यूरोप में एल्डेरेडो (पश्चिमीय अमरीका का वह स्थान जहाँ सोना बहुत अधिक था ऐसा मानते थे) के विचार से अभूत पूर्व शक्ति का संचार हुआ था वैसे ही पैलस्टाइन तथा भारत के नये २ विचाररूपी ख़ज़ानों के पता लगने से स्वर्ण से भी अधिक कीमती खजानों के प्राप्त होने की सम्भावना है।

जिस प्रकार नई दुनिया की खोज होने पर भी वह दुनिया भूगर्भ शास्त्र की दृष्टि से सब से पुरानी रही इसी प्रकार जो नई सचाइयाँ मालूम पड़ती हैं वे भी बहुत पुरानी होती हैं। यह निस्सन्देह आश्चर्य-जनक बात है। नये २ दार्शनिक विचार तो पुराने विचारों का ही नये शब्दों में रखना है। शिक्षा, शासन तथा शिल्प सम्बन्धी वर्तमान विचार भी प्राचीन ग्रीस तथा रोम के विचारों के ही नवीन रूप हैं। जिन अध्यापकों का विद्युत् तथा रसायन शास्त्र में एडिसन तथा क्रुक से भी अधिक ज्ञान था, उन्हीं के ज्ञान को वर्त्तमान विज्ञान नये शब्दों में दोहरा रहा है। वर्त्तमान भूगर्भ विज्ञान का संक्षेप बाइबल के प्रथम अध्याय में आ जाता है। इस ज़माने का उच्चतम विचार विकासवाद है परन्तु यह भी बहुत पुराना विचार है। प्रोफेसर क्रुक के अद्भुत परीक्षण, जिनमें प्रकृति के चतुर्थ परिमाण (Fourth dimention) का आविष्कार किया गया है, प्राचीन पूर्वीय तत्त्ववेत्ताओं के ज्ञान की बाहर की सीमा को छूते रहे हैं।

भिन्न २ सम्प्रदायों के अध्ययन से हमें अनुभव होने लगा है कि प्रारम्भिक धर्म ही पृथिवी को स्वर्ग बनाने वाले हैं। समय आने वाला है कि जब हम टूटी फूटी कल्पनाओं से विशाल भवन खड़े करने के

बजाय सत्य सिद्धान्त रूपी चट्टानों की आधार शिला पर अपने दार्शनिक विचारों के प्रासाद को खड़ा करेंगे।

यद्यपि यूरोप तथा अमरीका में पुनर्जन्म के विचार को साधारणतया छोड़ा जा रहा है तथापि वर्तमान समय में भी पहले की तरह ही सब जातियाँ इस विचार को अपनाती जा रही हैं। प्रारम्भ से अब तक मानव जाति का इसमें अपरिहार्य विश्वास रहा है। पूर्वीय जातियों पर तो इसका पूर्ण आधिपत्य रहा है। ईजिप्ट (मिश्र) की सभ्यता के आधार में यह सचाई मौजूद थी और उन्होंने पैथा गोरस, एम्पिडोक्लीस, प्लेटो, वर्जिल और ओविड को इस की शिक्षा दी थी। इन्होंने ग्रीस तथा इटली में इस का प्रचार किया। प्लेटो की शिक्षा में इसका स्थान २ पर वर्णन पाया जाता है। उसका कथन है कि आत्मा शरीर से पुरानी है और वह परलोक से निरन्तर इस संसार में उत्पन्न होती रहती है। उसकी सम्मति में सारा ज्ञान स्मरणात्मक है। वह कहता है "All knowledge is reminiscence" अर्थात् सम्पूर्ण 'ज्ञान' केवल 'स्मृति' है। इस जन्म में नवीन ज्ञान प्राप्त करने का अभिप्राय केवल पूर्व जन्म में अनुभव किए हुए पदार्थों के संस्कारों को फिर से जागृत करना है। प्लोटिनस और प्रोक्लस के न्यू-प्लेटोनिज्म में भी पुनर्जन्म का विचार पाया जाता है। भारत के असंख्य लोगों ने शासन, शिल्प, दर्शन तथा कविता में इस विचार को आधार बनाया है। पारसियों के यहाँ यह मुख्य सिद्धान्त था। एलेग्जेन्डर ने अपनी आँखों से कई हिन्दुओं को इसी विचार के कारण बड़े शान्त भाव से आग में अपने शरीर की आहुति देते देखा। सीजर ने फ्रांस के गौल्स में यह विचार पाया। ड्रूइड लोग पुनर्जन्म के चक्र को मानते थे। यहाँ तक कि वहाँ लोग बच्चे के उत्पन्न होने पर उसके चारों ओर इकट्ठे होकर रोते थे और मरे बच्चे के चारों ओर हँसते थे क्योंकि उनका यह सिद्धान्त था कि जीवन कैद है और मरना कैद से छूटना है। वेल्स के लोग भी पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। एक लेखक का कथन है कि वहाँ से एक आदमी भारत में आया और उसने यह विचार भारत के ब्राह्मणों को दिया। अरब के दार्शनिकों को भी यह विचार मान्य था और अब भी कई मुसलमान लेखकों के लेखों में इसकी झलक पाई जाती है। पेरू तथा मैक्सिको में भी यह विचार प्रचलित था। ईजिप्ट, ग्रीस, रोम, ब्रिटेन के धर्म पुरोहित अपने नये शिष्यों को इसकी दीक्षा दिया करते थे। यहूदियों ने बेबिलोनियन केप्टिविटी (Babylonian captivity) के बाद फैरिसीस तथा फाइलो से यह सिद्धान्त सीखा। वे जान दि बैप्टिस्ट को दूसरा इलिजा मानते थे और ईसा को जान दि बैप्टिस्ट का द्विरागमन मानते थे। कई लोग ईसा को किसी अन्य प्राचीन पैग़म्बर का अवतार कहते थे। प्राचीन चर्च में भी यह विचार पाया जाता था। स्कोट्स, कान्ट, शैलिंग, लिबनीस, शोपनहार आदि दार्शनिक, ब्रूनो, हर्डर, लेसिंग, गेटे आदि उच्च कोटि के विचारक, फ्लेमेरियन, फिजिस्टर, ब्रूस्टर आदि वैज्ञानिक, जूलियसमूलर, डार्नर, एरनेस्टी, एडवर्डवीलर आदि धार्मिक, बोहनी स्वीडनबर्ग आदि आध्यात्मिक लोग इस विचार को मानते रहे हैं। मनुष्य जाति का लगभग दो-तिहाई हिस्सा इसे मानता है। परन्तु जनसत्तावाद के इस युग में जहाँ हरेक

बात बहुमत से मानी जाती है लोग विचार के क्षेत्र में बहुमत से किसी बात को मानने को तैयार नहीं हैं। इसीलिये हम इस प्रश्न पर पाश्चात्य दृष्टि से विचार करेंगे।

(ख) पुनर्जन्म का स्वरूप

पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की अमरता को मान कर आगे चलता है। इस सिद्धान्त से आत्मा के प्रादुर्भाव तथा उसके भाग्य चक्र के प्रश्न का बहुत ही स्वाभाविक हल हो जाता है। इसी कारण प्रायः सभी प्राचीन जातियों में यह विश्वास पाया जाता है। दार्शनिक विचारों में भी जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण इसी विचार का मुख्य स्थान है। 'पुनर्जन्म' सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि आत्मा इस जीवन में पहिले पहिल ही नहीं आता अपितु पिछले जन्मों की अनेक भौतिक अवस्थाओं में से होता हुआ, अनेक अनुभवों, गुणों का संग्रह करता हुआ एक जन्म से दूसरे जन्म की तरफ बढ़ता चला जाता है। इस सिद्धान्त का दावा है कि आत्मा इस जन्म में आता हुआ कोरी तख्ती लेकर नहीं आता, ना ही वह भिन्न-भिन्न अणुओं के पारस्परिक संयोग तथा वियोग का परिणाम है। हमारे आत्मा पर तो पूर्व जन्मों के, उन जन्मों में भी जिन भिन्न २ परिस्थितियों में वह रहा है उनके, इतिहास लिखे होते हैं, जो कई बार वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल होते हैं, कई बार प्रतिकूल होते हैं। आत्मा के पिछले जन्मों के संस्कार पढ़े नहीं जा सकते, परन्तु फिर भी वर्तमान जीवन को ढालने में वे हिस्सा ले रहे होते हैं। वे फोटो की प्लेट पर पड़े चित्र की तरह अदृश्य होते हैं। हां, उन्हें चेतनता के रस क्रिया भवन में दृश्य बनाया जा सकता है। इस जन्म के कर्म, स्मृति के भण्डार में भरते चले जाते हैं और अज्ञान रूप से उसका अगले जन्म में परिणाम निकल आता है। हमारे वर्तमान गुण, हमारी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक अवस्था पिछले जन्म के कर्मों का परिणाम है। हमने पिछले जन्म में किन्हीं 'अवसरों' का उपयोग किया, किन्हीं का दुरुपयोग किया। अपने उस किये के फल को इस जन्म में हम वसीयत के तौर पर पाते हैं। हम इस जन्म में जो कुछ हैं उसके हम ही जिम्मेवार हैं। क्योंकि इस सौभाग्य या दौर्भाग्य को जो हमें वसीयत के तौर से इस जन्म में मिला है हम ही ने किसी समय अपने आप बनाया था।

इस पौधे का बीज हमारा ही बोया हुआ है। सुदूर भूत में हमने जिन कारणों को उत्पन्न कर दिया था। उन्हीं से भविष्य का उदय होता है। कार्य-कारण का नियम इसी प्रकार चल रहा है। पिछले सब कारण मिलकर एक ऐसी शक्ति को उत्पन्न कर देते हैं जो आत्मा को जीवन-यात्रा में आगे २ धकेलते चले जाते हैं। जन्म-जन्मान्तरों की यही संगृहीत शक्ति, चाहे अच्छी हो चाहे बुरी, आत्मा की इस सुदीर्घ यात्रा का कारण है। पुनर्जन्म का नियम कार्य कारण का ही नियम है।

इस प्रकार कार्य-कारण के दैवीय नियम से आत्मा को इस जन्म से अगले जन्म में जाने का धक्का मिलता रहता है। किसी पर विशेष कृपा नहीं की जाती। सब नियम में बंधे हुए हैं। आज जो ऊपर है कल वह गढ़े में गिर सकता है और भीख मांगने वाला अपने कर्मों के बल से धनी हो सकता है। आत्मा के आन्तरिक गुण ही उसके सदा संगी हैं। आज जो परिश्रम कर

रहा है वह भविष्य के बीज बो रहा है। इस समय जो दुःख उठा रहा है वह अपने में धैर्य तथा सहन शक्ति के गुणों को उत्पन्न करने की तैय्यारी कर रहा है। इसके विपरीत इस समय हमारी जो अज्ञान आदतें बनी हुई हैं, जिन मन के आवेगों को हम वश में नहीं कर सकते, हमारे जो विचित्र २ स्वभाव हैं ये सब पुराने ही कर्मों का तो फल है। विज्ञान का कथन है कि पौधों और प्राणियों की भिन्न २ अपनी २ विशेषताएं उनकी तथा उनके पूर्वजों की परिस्थिति से उत्पन्न हुई हैं और वही आगे चल कर पैतृक बन जाती हैं। इसी प्रकार आत्मा भी पूर्व परिस्थितियों को साथ लेकर, और नई परिस्थितियों से नये २ अनुभव रोज जोड़ता हुआ आगे चलता जा रहा है। एक जन्म से दूसरे जन्म में गुजरता हुआ आत्मा प्रत्येक जन्म के अपने व्यक्तित्व का मानो संग्रह करता रहता है और वह स्वयं भिन्न २ जीवन रूपी मनकों को पिरोने वाला तागा बन जाता है। आत्मा पानी के उस बुदबुदे के समान है जो किसी अनादि काल में समुद्र में से उत्पन्न होकर बादल, वर्षा, बर्फ, भाफ, स्रोत, नदी, कीचड़ आदि अनेक रूपों में होता हुआ सब जगह के अनुभवों का ग्रहण करके अन्त में फिर अपने केन्द्र में जा मिलता है। आत्मा को एक नदी से भी उपमा दी जा सकती है। यह वह पवित्र धारा है जो दैवीय स्रोत में से निकलती हुई जंगल, पहाड़, मैदान आदि में कहीं २ ठहरती हुई न्यूनतम बाधा (Least resistance) वाले मार्ग से आगे बढ़ती जा रही है। यदि हम वर्त्तमान अवस्थाओं के कारणों को नहीं जान सकते तो यह पुनर्जन्म के विरुद्ध नहीं जाता चूंकि स्मृति का न रहना तो केवल जघन्य दृश्यों तथा घृणित तम अवस्थाओं में से बेहोश करके ले जाने के समान है। पिछली सब बातों की स्मृति का न होना हमारे भले के लिये ही है। (क्रमशः)

वैदिक राहुः

[ले० श्री० दुर्गाप्रसादजी मिश्र, काव्यमध्यम, एम्० एस् सी० (गणित) बी० एस् सी० ऑनर्ज़ (भौतिक) प्रॉफ़िशिएण्ट् इन् फ्रेंश, एम्० आई० ए० (लण्डन)]

पूषाया भ्रमणं सूर्य्यं परितो यद्धि विद्यते ।
गोलज्ञैः क्रान्तिवृत्तं तन्मार्गः सम्प्रति गीयते ॥ १ ॥
चन्द्रस्य भ्रमणं भूमिं परितो यत्तु वर्त्तते ।
क्रान्ति वृत्तेन तत्पातौ राहुकेतू बुधैः स्मृतौ ॥ २ ॥
पौराणिकैर्या कथिता पुराणे, दैव्यासुरी संयति पोपलीला ।
सासर्वदा ज्योतिषशास्त्रबाह्या, वैशाखनन्दस्य विषाणतुल्या ॥३॥
निहत्य शशकान वन्यान्, सैंहिकेयः प्रजल्पति ।
जितोमया शशाङ्कोपि, तत्वं जानातिगोलवित् ॥ ४ ॥
त्रिज्याभवेत्खस्य कियत्प्रमाणा, भूकेन्द्रिका वान्य खगोलकेन्द्रा ।
तीव्राणि वैज्ञानिक मानसानि, जानन्ति वा वामनदीर्घपादाः॥५॥
विद्वत्त्वस्थापनार्थाय, न म एष परिश्रमः ।
किन्तु नाना विवादानां, शान्तये युक्तिपूर्वकम् ॥ ६ ॥

पाठकों को यह भली भांति विदित है कि पुराणों में सूर्य और चन्द्रमा का राहु और केतु के साथ पूर्व वैर ही सूर्य्य और चन्द्रमा के ग्रहणों का कारण बतलाया गया है। साथ ही यह आश्चर्यजनक है कि बृह-

स्पर्श के ग्रहणों के विषय में कोई भी कथा नहीं गढ़ी गई। शायद पौराणिक लोग ज्योतिष के इस रहस्य से कोरे अनभिज्ञ थे। पुराणों के अन्दर जो भूगोल तथा ज्योतिष का दुर्ज्ञान है उसका तथा बौद्धों और जैनियों की ज्योतिष विषयक पोपलीला का खण्डन भास्करीय सिद्धान्त शिरोमणि में भले प्रकार से विद्यमान है। भास्कराचार्य्य ने इन ज्योतिष दुर्बोधों का खूब उपहास किया है। जैसे भुवनकोश के आरम्भ वाले श्लोकों में—

इदानीं पुराणेषु भूमेराधारपरम्परा या पठिता तां निराकुर्वन्नाह मूर्त्तोधर्त्ता चेद्धरित्र्यास्ततोन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था।

अन्ते कल्प्याचेत्स्वशक्तिः किमाद्ये किं नो भूमिः साष्टमूर्त्तेश्च मूर्त्तिः ॥ ७ ॥

इदानीं बौद्धादियुक्तिमाह—

भपञ्जरस्य भ्रमणावलोका—दाधारशून्या कुरिति प्रतीतिः।
खस्थं न दृष्टं च गुरु क्षमातः, खेऽधः प्रयातीति वदन्ति बौद्धाः ॥८॥
द्वौ द्वौ रवीन्दू भगणौ च तद्व—देकान्तरौ तावुदयं व्रजेताम्।
यदब्रुवन्नेवमनम्बराद्या, ब्रवीम्यतस्तान् प्रति युक्तियुक्तम् ॥९॥

इदानीं तेषां युक्तिभङ्गमाह—

भूः खेऽधः खलु यातीति बुद्धिर्बौद्ध मुधा कथम्।
याता यातं तु दृष्ट्वापि खे यत्क्षिप्तं गुरु क्षितिम् ॥१०॥

इदानीं जैन युक्तिभङ्गमाह—

किंगण्यं तव वैगुण्यं द्वैगुण्यं यो वृथा कृथाः।
भार्केन्दूनां विलोक्याह्ना ध्रुवमत्स्यपरिभ्रमम् ॥११॥

इदानीं भूगोलस्य समतां निराकुर्वन्नाह—

यदि समा मुकुरोदरसन्निभा, भगवती धरणी तरणिः क्षितेः।
उपरि दूरगतोपि परिभ्रमन्, किमुनरैरमरैरिव नेक्ष्यते ॥११॥

यदि निशाजनकः कनकाचलः, किमु तदन्तरगः स न दृश्यते।
उदगयं ननु मेरुरथांशुमान्, कथमुदेति च दक्षिणभागके ॥१२॥

इन श्लोकों में भास्कराचार्य्यजी ने पुराणों में बतलाये हुए पृथ्वी के आधारभूत कच्छप और सर्प, बौद्धों का माना हुआ भूमि का अधःपतन, जैनियों के माने हुए दो दो सूर्य्य चन्द्रों, तथा पुराणों में बतलाये हुए सुमेरुपर्वत के चारों ओर सूर्य्य का परिक्रमण इन सब बातों का बहुत ही सुचारुरूप से खण्डन किया है।

परन्तु राहु के विषय में भास्कराचार्य्य की धारणा कुछ भूत प्रेत की सी जँचती है। सम्भव है कि यह पोपों के प्रति व्यङ्ग्य मात्र हो क्योंकि गणिताध्याय में उन्होंने राहु को भूत प्रेत का सा नहीं माना है।

गोलाध्याय का भास्करीय-राहु इस प्रकार का है—

अथ ग्रहणवासना। चन्द्रार्कग्रहणयोः स्पर्शो मोक्षे च दिग्व्यत्ययस्यो पपत्तिमाह—

पश्चाद्भागाज्जलदवदधः संस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो-
भानोर्बिम्बं स्फुरदसितयाछादयत्यात्ममूर्त्या।
पश्चात्पर्शो हरिदिशि ततो मुक्तिरस्यात एव
क्वापिच्छन्नः क्वचिदपिहितो नैष कक्षान्तरत्वात् ॥ १ ॥

इदानीं नति लम्बनयोः कारणमाह—

पर्वान्तेऽर्कं नतमुडुपतिश्छन्नमेव प्रपश्येद्—
भूमध्यस्थो न तु वसुमतीपृष्ठनिष्ठस्तदानीम्।
तद्दृक्सूत्राद्विमरुचिरधो लम्बितोऽर्कग्रहेऽतः
कक्षाभेदादिह खलु नतिर्लम्बनं चोपपन्नम् ॥ २ ॥

समकलकालेभूमा लगतिमृगाङ्के तया म्लानम्।
सर्वे पश्यन्ति समं समकक्षत्वा[illegible]वनती ॥ ३ ॥
पूर्वाभिमुखो [illegible] कुच्छायाम्त्यतः शशी विशति।
[illegible] प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निःसरतः ॥ ४ ॥

भानोर्बिम्बपृथुत्वादपृथुपृथिव्याः प्रभा हि सूच्यग्रा ।
दीर्घतया शशिकक्षामतीत्य दूरं बहिर्याता ॥ ५ ॥
अनुपातात् तद्दैर्घ्यं शशिकक्षायां चतद्बिम्बम् ।
भूभेन्दोरन्यदिशि व्यस्तः क्षेपः शशिग्रहे तस्मात् ॥६॥
इदानीं छादकनिर्णयमाह—
छादकः पृथुतरस्ततोविधोरर्धखण्डिततनोर्विषाणयोः ।
कुण्ठता च महती स्थितिर्यतो लक्ष्यते हरिणलक्षणग्रहे ॥७॥
अर्धखण्डिततनोर्विषाणयोस्तीक्ष्णता भवति तीक्ष्णदीधितेः ।
स्यात्स्थितिर्लघुरतो लघुः पृथक्, छादको दिनकृतोऽवगम्यते ॥८॥
दिग्देशकालावरणादिभेदान्नच्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति ।
यन्मानिनः केवलगोलविद्यास्तत्संहितावेदपुराणबाह्यम् ॥९॥
राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम् ।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात् सर्वागमानामविरुद्धमेतत् ॥१०॥
इन उद्धृत श्लोकों का अर्थ यह है ।

सूर्य्य के नीचे चन्द्रमा का मार्ग है । जिस प्रकार मेघ नीचे स्थित होता हुआ पीछे के भाग से आकर सूर्य्य को ढक लेता है इसी प्रकार चन्द्र भी पीछे से आकर सूर्य्य को ढक लेता है और अपनी प्रकाश रोधक मूर्त्ति से सूर्य्य को छिपा लेता है । तत्पश्चात् स्पर्श होता है । तत्पश्चात् चन्द्र के निकल जाने पर सूर्य्य का मोक्ष पूर्व दिशा में होता है । इसीलिये यह सूर्य्य कहीं पर आच्छादित दीखता है और कहीं नहीं ॥ १ ॥

अमावस्या और प्रतिपदा की सन्धि के अन्त में भूगर्भ निवासी नत सूर्य्य को आच्छन्न ही देखेगा परन्तु उसी समय भूपृष्ठ निवासी उसको आच्छन्न नहीं देखते, क्योंकि उनके दृक्सूत्र से चन्द्र लम्बित रहता है । इस प्रकार कक्षाओं के भेद से लम्बन और नति उपपन्न होते हैं ॥२॥

जिस समय सूर्य्य और चन्द्र की स्फुट कला समान होती है, उस समय भूभा चन्द्र बिम्ब में प्रवेश करती है । उससे चन्द्र को मलिन सब लोग समान ही देखते हैं क्योंकि छाद्य और छादक की एक ही कक्षा हो जाने के कारण लम्बन और नति नहीं होते । चन्द्र पूर्व की ओर गमन करता हुआ भूछाया में प्रवेश करता है इसीलिये चन्द्र-ग्रहण में प्रथम पूर्व दिशा में ग्रहण का आरम्भ और पश्चिम दिशा में इस चन्द्र के निकलने से मोक्ष होता है ॥३ ४॥

सूर्य्य बिम्ब के बड़े होने से और पृथिवी बिम्ब के लघुतर होने से भूमि की छाया सूची (Cone शङ्कु) के समान सूक्ष्माग्र होती है । और लम्बी होने के कारण चन्द्रकक्षा (Lunar arbit) के बाहर दूर तक चली जाती है ॥५॥

इस भूभा की लम्बाई और चन्द्रकक्षा में भूभा का प्रमाण अनुपात से सिद्ध होता है । चन्द्र से विपरीत दिशा में भूभा होती है इसलिये चन्द्रग्रहण में शरदान विपरीत होता है ॥६॥

अब छादक निर्णय को कहते हैं:—

इसलिये चन्द्रमा का छादक अधिक बड़ा है क्योंकि अर्धखण्डित देह वाले चन्द्रमा की सीङ्गों में मन्दता देखी जाती है और चन्द्रग्रहण देर तक रहता है ॥७॥

अर्धखण्डित देह वाले सूर्य्य की शृङ्गों में तीखापन होता है । थोड़ी देर सूर्य्यग्रहण रहता है । इसलिये सूर्य्य का कोई दूसरा छोटा छादक है ॥८॥

दिशा, प्रदेश, काल और आवरण के भेद से केवल गोलविद्या के अभिमानी लोग जो यह कहते हैं कि राहु छादक नहीं तो वह संहिता, अवेद, और पुराण के बाहर है ॥९॥

सब आगमों के (न कि निगमों के) अनुकूल यह है कि राहु शम्भु के वर प्रदान से भूभा में प्रवेश करके चन्द्र का और चन्द्र मण्डल में प्रवेश करके सूर्य का आच्छादन करता है ॥१०॥

अधिक स्पष्टीकरण के लिये हम इन चार श्लोकों पर भास्करीय वासना भाष्य को उद्घृत किये देते हैं:—

अर्कच्छादकाच्चन्द्रच्छादकःपृथुतरोऽवगम्यते । कुतः ।
यतोऽर्धखण्डितस्येन्दोर्विषाणयोः कुण्ठता दृश्यते स्थितिश्चमहती ।
अर्कस्य पुनरर्धखण्डितस्य तीक्ष्णताविषाणयोः स्थितिश्चलघ्वी ।
एतत्कारणद्वयान्यथानुपपत्त्याऽर्कस्य छादकोऽन्यः । स च लघुः ।
एवं रवीन्द्वोर्न छादकोराहुरिति वदन्ति । कुतः ।
दिग्देशकालावरणादिभेदात् । एकस्यप्राक् स्पर्शः । इतरस्य पश्चात् ।
रवेः क्वापि ग्रहणमस्तिक्वापि नास्ति । क्वापि दर्शनादग्रतः क्वापि पृष्ठतः
अतो राहुकृतं न ग्रहणम् । नहि बहवो राहवः । एवं के वदन्ति ।
केवलगोलविद्यास्तदभिमानिनश्च । इदं संहितावेदपुराणबाह्यम् ।
यतः संहितासु राहुरष्टमो ग्रहः । स्वर्भानुर्हं वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याधेति माध्यन्दिनीश्रुतिः ।

सर्वंगङ्गासमं तोयं सर्वेब्रह्मसमाद्विजाः ।
सर्वं भूमिसमं दानं राहुग्रस्तेदिवाकरे ॥

इत्यादि पुराणवाक्यानि । अतोऽविरुद्धमुच्यते । राहुरनियतगतिस्तमोमयो ब्रह्मवरप्रदानाद् भूभां प्रविश्य चन्द्रं छादयति चन्द्रं प्रविश्य रविं छादयतीति सर्वागमानामविरुद्धम् ।

इस वासना भाष्य का अर्थ यह है:—

सूर्य्य के छादक से चन्द्रमा का छादक बड़ा मालूम होता है । क्यों ? क्योंकि अर्धखण्डित चन्द्र के शृङ्गों की मन्दता दीख पड़ती है और देर तक स्थिति भी । और अर्धखण्डित सूर्य्य के शृङ्गों में तीखापन और थोड़ी देर तक स्थिति देखी जाती है । इन दोनों कारणों से तथा अन्यथा उपपत्ति से (अर्थात् कोई दूसरा सबूत न होने से) सूर्य्य का छादक दूसरा है । और वह छोटा है । इसलिये सूर्य्य और चन्द्र का छादक राहु नहीं है ऐसा कहते हैं । क्यों ? दिशा, देश, काल और आवरण इत्यादि के भेद से । एक का पूर्व स्पर्श होता है । दूसरे का बाद में । सूर्य्य का कहीं ग्रहण होता है कहीं नहीं । कहीं दर्शन के पहिले कहीं बाद । इसलिये राहु का किया हुआ ग्रहण नहीं है । बहुत से राहु नहीं हैं । ऐसा कौन कहते हैं ? केवल गोलविद्या वाले और उसके अभिमानी लोग । यह संहिता, अवेद और पुराण के बाहर है । क्योंकि संहिताओं में राहु आठवाँ ग्रह है । "आसुर स्वर्भानु ही निश्चय करके सूर्य्य को अन्धकार से वेध करता है" यह माध्यन्दिनी श्रुति है ।

"सूर्य्य के राहुग्रस्त होने पर सब पानी गङ्गा के समान, सब द्विज ब्रह्म के समान, सब दान भूमि के समान होता है" । इत्यादि पुराण वाक्य हैं । इसलिये अनुकूल कहते हैं । अनियतगति (अनिश्चित चाल वाला) अन्धकार से भरा हुआ राहु ब्रह्मा के वर प्रदान से सूर्य्य को आच्छादित करता है यह सब आगमों के अविरुद्ध है ।

ध्यान देने के योग्य बात यह है कि इस लालबुझक्कड़पन को श्री भास्कराचार्य्यजी ने सब आगमों के ही अनुकूल बतलाया है, निगम (वेद) के अनुकूल नहीं । उन्होंने निगम से कोई प्रमाण भी नहीं दिया । केवल श्रुति को वेद मूलक समझकर सन्तोष कर लिया है । ऐसा मालूम होता है कि भास्करीय काल में लोग 'स्वर्भानु' का अर्थ पौराणिक राहु किया करते थे । संहिता से भास्कराचार्य्य का मतलब वराहमिहिर इत्यादि विरचित ज्योतिष संहिताओं से है । इस किसी पुरानी

संहिता में राहु को अष्टम ग्रह देखकर उन्होंने उसे पौराणिक राहु ही समझ लिया। सम्भावितंवा (Probably) संहिताकारों का इस अष्टम ग्रह राहु से मतलब वारुणी (Uranus) से रहा होगा। भास्करीय काल में वारुणी को लोग ग्रह न मानते होंगे। कारण यह है कि यह ग्रह आपाततः "तारकप्राय" अवगत होता है और हरिवर्षीय लोगों ने इसे बहुत काल तक तारा ही समझा। न्यूटन के "अनुलोमवर्ग नियम" के पश्चात् ही उन्होंने शनैश्चर के बाद अन्य ग्रहों की आवश्यकता को सम्भाविनी समझकर इसको दो गणितज्ञों की भविष्यवाणी के अनुसार एक पूर्व कथित स्थान पर देखा। वेधकों को बड़ा आश्चर्य्य इस बात का हुआ कि वे वारुणी को कई वार पहिले देख चुके थे परन्तु उसको सदा ताराओं में ही समझे थे।

अतः पूर्वाचार्य्यों ने इसको राहु नाम दिया होगा और अष्टम ग्रह कहा होगा। परन्तु दुर्बोध के कारण बाद के ज्योतिषी वारुणी को भूल गये होंगे और भास्कराचार्य्य इत्यादि को पौराणिक राहु के सिवा और कोई मूर्त्तिमान् ग्रह न देख पड़ा।

परन्तु भास्कराचार्य्य ने गणिताध्याय में जो कुछ राहु के बारे में लिखा है उससे इस लालबुझक्कड़पन की पुष्टि नहीं होती है।

वे गणिताध्याय के मध्यमाधिकार की प्रत्यब्द शुद्धि में कहते हैं:—

अथ पातानयनमाह।

ताडितः खवह्निभिर्दिनसमूहः षट्कषट्कशरहृत्फलमंशाः।

स्वं ध्रुवे कुमुदिनीपतिपातो राहुमाहुरिति केपि तमेव ॥२१॥

अब पातानयन को कहते हैं:—

दिन समूह को तीस (३०) से गुणा करने पर और पाँचसो छियासठ (५६६) से भाग देने पर जो अंशात्मक फल आता है वही चन्द्रमा का ध्रुव में पात होता है उसी को कोई यहां पर राहु कहते हैं।

यह राहु का वही अर्थ है जो वर्त्तमान पञ्चाङ्गों के मिश्रमान में विद्यामान है।

आगे चलकर चन्द्रग्रहण अधिकार में भास्कराचार्य्य कहते हैं।

इदानीं राहोः प्रकारान्तरेण कलाबिम्बमाह।

भानोर्गतिः शर (५) हता रविभि (१२) विभक्ता,

चन्द्रस्य लोचन (२) गुणा तिथि (१५) भाजिता च।

लब्धान्तरंभवति वावनिभाप्रमाणम्,

भूभा विधुं विधुरिनं ग्रहणे पिधत्ते ॥९॥

अब राहु के कलाबिम्ब को दूसरे प्रकार से कहते हैं।

अथवा सूर्य्य की चाल को पाँच (५) से गुणा करो, और बारह (१२) से भाग दो, जो फल आवे उसकी कला (Minutes) समझो, चन्द्र की चाल को दो (२) से गुणाकर पन्दरह(१५)से भाग दो फल को कला समझो। इन दोनों का अन्तर भूभा (भूमि की छाया) का प्रमाण होता है। ग्रहण में भूभा चन्द्र को और चन्द्र सूर्य्य को आच्छादन करता है।

यह भली भांति प्रकट है कि भास्कराचार्य्यजी ने गणिताध्याय, गोलध्याय के बाद बनाया है। अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्' के अनुसार यही कहना पड़ता है कि वे राहु का अर्थ "भूभा" करते थे।

ज्योतिषविद्या के इन तत्त्वों की अवहेलना करके पण्डित दुर्गाप्रसादजी द्विवेदी जैसे विद्वान् भी वेदों में कभी कभी पौराणिकता ठोंसने का निष्फल प्रयत्न करते हैं।

उक्त पण्डितजी[1] ऋक्संहिता ५। ४०। ९। का अर्थ इस प्रकार करते हैं।

यं वै सूर्य्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यऽन्ये अशक्नुवन्॥

अस्या अयमर्थः—(आसुरः) असुरकुलोत्पन्नः (स्वर्भानुः) सिंहिकासूनुः (तमसा) अतिमलीमसयानिजच्छायया (यं सूर्य्यम् अविध्यत्) विद्धमकरोत् (वै) निश्चये। स्वर्भानुर्हि ब्रह्मवितीर्णवर महिम्ना चन्द्रमण्डलं प्रविश्य भानुमन्तं स्थगयतीति साम्प्रदायिकाः। (अत्रयः) अत्रिकुलसमुत्पन्ना ऋषयः (तम्) तथाभूतं सूर्य्यं, चन्द्रमण्डलप्रविष्टेन राहुणा आच्छाद्यमानमितिभावः (अन्वविन्दन्) लब्धवन्तः, गणितेन सूर्य्यग्रहणविषयकमवबोधं प्राप्तवन्त इत्यर्थः। नन्वितरजन साधारणान्येनात्रयोपिदृष्टवन्तः किमित्यमी नामग्राहिकया प्रशस्यन्त इत्याशङ्का परिहारायाह। (नहि अन्ये अशक्नुवन्) अन्ये-जना याथातथ्येनावगन्तुं नाशक्नुवन्, सूर्य्योपरागविषयकज्ञाने समर्थानाभूवन्।

(आसुरः) असुरकुलोत्पन्न (स्वर्भानुः) सिंहिका के लड़के ने (तमसा) बड़ी मैली अपनी छाया से (यं सूर्य्यम् अविध्यत्) जिस सूर्य्य को विद्ध किया (वै) निश्चय करके स्वर्भानु ही ब्रह्मा के दिये हुए वरदान द्वारा चन्द्र मण्डल में प्रवेश करके सूर्य्य को स्थगित कर देता है ऐसा साम्प्रदायिकों का मत है।

(अत्रयः) अत्रि कुल में पैदा हुए ऋषियों ने (तम्) उस प्रकार के सूर्य्य को अर्थात् चंद्र मण्डल में घुसे हुये राहु द्वारा ढके हुए को (अन्वविन्दन्) पाया यानी गणित से सूर्य्य ग्रहण विषयक ज्ञान को प्राप्त किया।

"फिर दूसरे लोगों को साधारणता से ही अत्रियों ने भी देखा होगा तब इनका ही नाम लेकर प्रशंसा क्यों कीगई ऐसी आशङ्का के परिहार में कहा है कि (नहि अन्ये अशक्नुवन्) दूसरे लोग ठीक ठीक न जान सके, सूर्य्य के उपराग विषयक ज्ञान में समर्थ न हुए।

हम इस अर्थ की समालोचना करते हैं:—

आसुरः = असुर कुलोत्पन्नः।

पण्डितजी ने 'आसुर' शब्द का अर्थ 'असुरकुलोत्पन्न' किया है। परन्तु इस अर्थ में असुर शब्द से कोई प्रत्यय अष्टाध्यायी में विहित नहीं है। हां यदि असुर को ऋषि वाचक शब्द माना जाय तो अलबत्ता 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' ॥ ४। १। ११४॥ इस सूत्र से 'असुर' से 'अण्' होकर 'आसुर' बन जावेगा। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि असुर नाम का ऋषि साध्य और अन्वेषणीय है।

इसके अतिरिक्त 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्'॥ ४। १। १६८॥

इस सूत्र से अथवा इसी सूत्र पर 'क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदशब्दात्तस्यराजन्यपत्यवत्' इस वार्त्तिक से यदि खींच खांच कर 'असुर' शब्द से 'अञ्' (नकि-अण्) प्रत्यय किया जावे तो अर्थ पण्डितजी के अर्थ से कुछ कुछ मिलता जुलता अवश्य हो जावेगा।

परन्तु 'अञ्' प्रत्यय के करने से कठिनता यह पड़ती है कि प्रत्यय के ञित् होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' ६। १। १९७॥

इस सूत्र से 'आसुर' को आद्युदात्त होकर 'आसुर' ऐसा स्वरसञ्चार होना चाहिये। परन्तु मन्त्र में 'आसुरः' ऐसा अन्तोदात्त स्वरसञ्चार है केवल 'आ' को एकश्रुति होकर 'आसुरः' ऐसा पाठ है क्योंकि

1—देखो इनकी सम्पादित 'क्षेत्रमिति' की भूमिका।

पहिले 'तमसाविंध्यत्' का 'विं' स्वरित विद्यमान है।

इन सब बातों से उपपन्न हुआ कि पण्डितजी ने तथा अन्य जिन किन्हीं कुभाष्यकारों ने 'आसुर' अन्तोदात्त का जो अर्थ किया है वह प्रामादिक और चिन्त्य है।

हां 'प्रज्ञादिभ्यश्च' ॥ ५ । ४ । ३८ ॥ इस सूत्र से 'असुर' का 'प्रज्ञादि' गण में पाठ होने से 'स्वार्थ' में 'अण्' अवश्य होता है।

अतः आसुरः = असुरः।

अर्थात् 'आसुर' का अर्थ वही हुआ जो 'असुर' का है।

'आसुर' का यही अर्थ भट्टोजी दीक्षित ने भी सिद्धान्तकौमुदी में उणादि सूत्रों की व्याख्या में किया है और महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी ने भी प्रस्तुत मन्त्र के भाष्य में किया है।

स्वर्भानुः = सिंहिकासूनुः

अब विचारने की बात है कि यदि 'स्वर्भानु' किसी व्यक्ति विशेष का नाम है तो यातो यह शब्द केवल रूढ़ि होना चाहिये अथवा योगरूढ़ि परन्तु केवल यौगिक नहीं होना चाहिये।

यदि हम 'स्वर्भानुः' को केवल रूढ़ि मानें तो शान्तनवाचार्य्य प्रणीत 'फिट् सूत्र' के 'फिषोन्त उदात्तः' १ । १ । इस सूत्र से ही 'स्वर्भानुः' को अन्तोदात्त होकर 'स्वर्भानुः' ऐसा स्वरसञ्चार होना चाहिये। और तब प्रस्तुत मन्त्र का पूर्वार्ध—

'यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविंध्यदासुरः' ऐसा होना चाहिये था परन्तु मन्त्र में—

'यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविंध्यदासुरः' ऐसा पाठ है।

इसलिये सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत मन्त्र में 'स्वर्भानुः' केवल रूढ़ि नहीं है।

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि 'स्वर्भानुः' 'सिंहिकासूनु असुरकुलोत्पन्न पौराणिक पोपलीला विधायक राहु' के अर्थ में योगरूढ़ि है या नहीं।

निघण्टु, निरुक्त, तथा फिट्सूत्रों में स्वः शब्द का स्वर स्वरित ही दिया है और जो 'स्वर्' नाम का अव्यय है उसको महर्षि पाणिनिजी ने गणपाठ में उदात्त बताया है इसलिये स्वर्भानुः में 'स्वः' शब्द प्रातिपदि कही है अव्यय नहीं।

'भानुः' निघण्टु १ । ९ में अन्तोदात्त दिया है, इसलिये यह प्रकटित हुआ कि 'स्वर्भानुः' समस्त शब्द में 'स्वः' इस पूर्व पद में प्रकृति स्वर है और 'स्वर्भानुः' ऐसा स्वरसञ्चार पहिले 'अनुदात्तंपदमेक वर्जम्' ॥ ६ । १ । १५८ ॥ से होकर पश्चात् 'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' ॥ १ । २ । ३९ ॥ इस सूत्र से 'भानुः' को एक श्रुति होकर 'स्वर्भानुः' ऐसा पद पाठ हुआ। फिर 'स्वर्भानुः' के बाद 'तमसा' का उदात्त 'त' आया इसलिये 'नुः' को 'उदात्तस्वरितपरस्यसन्नतरः' ॥ १ ॥ २ ॥ ४० ॥ इस सूत्र से अनुदात्ततर आदेश होकर मन्त्र में 'स्वर्भानुस्तमसाविंध्यत्....' ऐसा पाठ हो गया।

बस 'स्वर्भानुः' में हमें ऐसा समास करना चाहिये कि पूर्वपद में प्रकृति स्वर रहे।

ऐसा करने के लिये हमारे पास दो ही तरकीबें मालूम होती हैं। पहिली तरकीब तो यह है कि 'स्वर्भानुः' को बहुव्रीहि समास मानें। ऐसा मानने से 'बहुव्रीहौ प्रकृत्यापूर्वपदम्' ॥ ६ । २ । १ ॥ से 'स्वर्भानुः' ऐसा ही स्वरसञ्चार हो सकेगा। इस दशा में अर्थ

हुआ 'स्वर्भानुर्यस्यसः' अर्थात् 'स्वः है भानुः जिसका वह'।

'स्वः' शब्द का अर्थ कश्यपप्रजापति प्रणीत निघण्टु के निरुक्तभाष्य में महर्षि यास्क ने 'अन्तरिक्ष' और 'सूर्य्य' दिया है।

स्वः। पृश्निः। नाकः। गौः। विष्टप्। नभ इति षड् साधारणानि॥ निघ० १। ४॥

साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादित्यस्य च॥

निरु० अ० २। खं० १३। १॥

इसलिये 'स्वर्भानुः' का अर्थ हुआ 'आकाश है चमकाने वाला जिसका', 'आकाश है दिन जिसका', 'सूर्य्य है चमकाने वाला जिसका', 'सूर्य्य है दिन जिसका'। इनमें से कोई भी अर्थ उस व्यक्ति विशेष सिंहिकासूनु में नहीं घटता क्योंकि वह बेचारा तमोमय होने से कभी उदय नहीं होता फिर भला चमकेगा कैसे।

दूसरी तरकीब यह है कि हम 'स्वर्भानुः' में 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः'॥ ६। २। २॥ इस सूत्र द्वारा बतलाया हुआ कोई तत्पुरुष समास करें।

परन्तु ऐसा करने पर भी उस अन्धकारमय सिंहिकासूनु राहु में 'स्वर्भानुः' का कोई अर्थ घटित नहीं होता।

अतः यह सिद्ध हुआ कि 'स्वर्भानुः' पौराणिक राहु के अर्थ में योगरूढ़ि नहीं हो सकता।

इसलिये इस स्थल पर 'स्वर्भानुः' का अर्थ या तो 'चन्द्रमा' या 'सूर्य्य से प्रकाशित' ऐसा होना चाहिये।

'अत्रयः' = 'अत्रिकुलसमुत्पन्ना ऋषयः'

इसमें सन्देह नहीं कि 'इगन्तानां च द्व्यषाम्'॥ २। २६॥ इस फिट् सूत्र से 'अत्रिः' को आद्युदात्तत्व प्राप्त है और पण्डितजी ने 'अत्रिभृगुकुत्सवशिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च'॥ २। ४। ६५॥ इस पाणिनीय सूत्र से गोत्रप्रत्यय का लुक् माना है। परन्तु इसके पूर्व मंत्र में 'अत्रिः' एक वचन ही में आया है वहां गोत्रप्रत्यय का लुक् कैसे मानोगे और वहां पर भी अर्थ के साथ सङ्गति नहीं घटती।

सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ लेख के उत्तरार्ध में दे दिया है।

पाठकों को विदित है कि पौराणिक अर्थ के निराकरण में हमने अधिकतर व्याकरण के ही प्रमाण दिये हैं तर्क और अर्थ सङ्गति के आधार पर बहुत कम खण्डन है।

अतः विज्ञ पाठकों को विदित रहना चाहिये कि वेदों में आधुनिक पौराणिकता प्रतिपादन निर्मूल है।

और जब अधिकतर व्याकरण तथा स्वरों की छानबीन से ही बुद्धिग्राह्य अर्थ वेद से निकल आते हैं और उनमें अभिमानी जीवधारियों के इतिहास का पता तक नहीं लगता तब जो लोग यह समझ बैठे हैं कि केवल वेदों का महत्त्व बढ़ाने ही के लिये आर्य्यसमाजी लोग अपना मनमाना अर्थ कर देते हैं वे बड़ी भूल में हैं।

हां इस समय कुछ वाममार्गियों ने अवतार लेकर यह आन्दोलन अवश्य आरम्भ कर दिया है कि उदात्तादि स्वर अनर्थक हैं वे केवल छन्दोभेद के लिये हैं।

ये लोग चाहते हैं कि वाममार्गियों का अंधकारमय

साहित्य पुनर्जीवित हो जावे और वेदभाष्य जितने अंधकार में हो उतना इनके गुप्त सिद्धान्तों को प्रचलित होने में सहायता मिले। जिससे 'शिश्नपूजा' 'नाक में पेशाब' इत्यादि बातों का प्रचार फिर वेदों के आधार पर होने लगे।

परन्तु यदि आर्य्यसमाजियों ने जोशोहोश दोनों से एक साथ काम लिया तो यह कूड़ा करकट बहुत जल्द साफ़ हो जायेगा।

इस लेख के उत्तरार्ध में ऋ० ५। ४० की व्याख्या अर्थात् हिन्दी भाष्य है। उसके देखने से पता चल जायेगा कि सायण इत्यादि कुभाष्यकारों ने स्वरों की अवहेलना करके कितना घोरपलीलाजनक अनर्थ किया है।

अब आर्य्यसमाजी स्वयं समझ सकते हैं कि जो लोग स्वरों को मिटाना चाहते हैं वे समाज के हितैषी हैं अथवा दुश्मन।

गायत्री मन्त्र

[श्री ब्र० वेदव्रतजी, द्वादश, गुरुकुल कांगड़ी]

ओ३म् भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्व्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

वही प्राण है व्यान उदान,
सत् चित है आनन्द महान्।
उस प्रेरक सर्व उत्पादक,
श्रेष्ठ देव के वरने लायक।
शुद्ध तेज का, मन से चिन्तन,
करें, भरें फिर नस नस निज तन।
दिव्य तेज यह विमल, करे जल,
कार्य शक्ति, मेधा, को उज्ज्वल।
सत्पथ पर प्रेरित हम होवें,
बुद्धि-मलिनता सारी खोवें।
सखे! प्रेममय! तेजः शाली!
फैले जीवन में उजियाली।
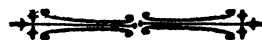
वर्णाश्रम धर्म

[ले०—श्री० पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति]

(२)

वर्ण व्यवस्था।[१]

व्यक्ति, व्यक्ति की दृष्टि से, अपने जीवन को किस प्रकार सफल बना सकता है ? इसका उत्तर आश्रम व्यवस्था में आ जाता है। इस व्यवस्था में भी मनुष्य के स्वार्थवाद को बहुत कम स्थान दिया गया है। इन चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों तथा इनकी विशेषताओं को देखा जाय तो सब के सब समाज के कल्याण की दृष्टि से प्रवृत्त हुए हैं। वस्तुतः व्यक्ति समाज के विना अपूर्ण होता है। व्यक्तिवाद समष्टिवाद के साथ रह कर ही सफल हो सकता है, अकेला नहीं। इस बात को दृष्टि में रखकर ही प्राचीन तत्त्वज्ञानियों ने आश्रमों की व्यवस्था की थी। आश्रम व्यवस्था के मुख्य आधार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय मनुष्य के कर्त्तव्य व्यक्ति के,केवल स्वार्थ की दृष्टि से ही नहीं रह सकते हैं, उसको अपना स्वत्त्व समष्टि की दृष्टि से बनाना पड़ता है। उसको अपनी प्रवृत्तियों आकांक्षाओं के आधार पर समाज की सेवा करनी होगी, समाज के हित में सहकारी होना होगा। इसलिये Division of labour तथा Co-operation के सिद्धान्तों के आधार पर समाज को मुख्य चार विभागों में विभक्त किया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थ तथा वेद के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य जाति के, भिन्न २ प्रवृत्तियों के आधार पर, चार विभाग किये जा सकते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था को वर्णव्यवस्था कहते हैं। जब तक आश्रम धर्म सुव्यवस्थित न हो, वर्णव्यवस्था का संचालन अतिशय कठिन है। इसलिये आश्रम व्यवस्था से वर्ण व्यवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है—यह बात हम पहिले स्पष्ट कर आए हैं। वैदिककाल के बाद मनुस्मृति तथा यास्क के समय में वर्णों से अतिरिक्त वर्णातीत मनुष्य भी हुआ करते थे। मनु ने चार वर्णों को आर्य तथा पंचम निषाद (Out caste) को दस्यु बताया है क्योंकि वह भ्रष्टाचार होने से किसी भी वर्ण के धर्म का पालन नहीं करता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण आर्य हैं तथा इनके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी भी वर्ण के धर्मों का पालन नहीं करता है, वह अनार्य दस्यु Out caste है। यह वैदिक वर्णव्यवस्था, समाजशास्त्र का सब से सुन्दर स्वरूप है। इस व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को समझे विना वैदिक समाजशास्त्र का महत्त्व नहीं समझा जा सकता है। इसलिये ज़रा देखें कि वह सिद्धान्त क्या है ?

वर्ण प्रवृत्तियों के आधार पर हैं। प्रवृत्तियां मनोवैज्ञानिक सत्ताएं हैं। मनोवैज्ञानिक सत्ताओं का आधार भारतीय-तत्त्वज्ञानियों ने आध्यात्मिक व दार्शनिक मौलिक तत्त्वों को बताया है। भारतीय समाजशास्त्र उन दार्शनिक मौलिक तत्त्वों का पल्लव, शाखा और फल रूप है। वे तत्त्व;

[१]—इस लेख का प्रथम भाग वैदिक विज्ञान के वर्ष २ अंक ४ में प्रकाशित हो चुका है।

सत्त्व, रज और तम हैं। जिनके उत्कर्ष तथा अपकर्ष से संसार की सत्ताओं में भेद पाया जाता है। व्यक्ति रूप से मनुष्य में और समष्टि रूप से मनुष्य-समाज में भी इन तीन तत्त्वों का साम्राज्य है। यदि मनुष्य का मन सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक हो सकता है तो मनुष्य समाज में भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक विभाग होने स्वाभाविक हैं। यूं तो सत्तामात्र में ये तीनों गुण आवश्यक रूप से सर्वत्र विद्यमान होते हैं परन्तु इनकी कमी और बढ़ती के आधार पर ही सत्ताओं में भेद किया जा सकता है। सत्त्व गुण-ज्ञान, प्रकाश, लघुता आदि गुणों का सूचक है। रजो गुण चंचलता, क्रियाशक्ति आदि का। और तमोगुण अन्धकार, मान्द्य, भोग और वासनाओं का। मनुष्य के शरीर में दिमाग, दोनों हाथ तथा उदर क्रमशः इन तीन गुणों के मूल स्थान कहे जा सकते हैं। जो नियम पिण्ड में काम करते हैं वे ही ब्रह्माण्ड में भी। राष्ट्र भी मानो एक बड़ा भारी शरीर है जोकि हजारों सिरों, आँखों और कानों वाला है। उसमें भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक प्रवृत्तियों के आधार पर विभाग किये जा सकते हैं। सात्त्विक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति ब्राह्मण होता है इसलिये वह राष्ट्र-शरीर का मुख व मस्तिष्क है। वह मस्तिष्क से राष्ट्र की सेवा करता है, वह ज्ञान प्रधान होता है। और राष्ट्र में आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक हर प्रकार के विचारों को वह जन्म देता है। वह इनमें Creative intelligence या उत्पादक ज्ञानशक्ति का प्रतिनिधि होता है। सत्त्वगुण तथा रजोगुण का संमिश्रण क्षत्रिय में पाया जाता है इसलिये क्षत्रिय क्रिया प्रधान होता है। वह Willing या क्रियाशक्ति का प्रतिनिधि होता है, और राष्ट्र शरीर में हाथ का स्थानापन्न कहा जा सकता है। इसी वास्ते उसका काम हाथ का है, प्रबन्ध करने का है। रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण वैश्य में होता है, इसमें इच्छाएं (Feelings) और वासनाएं उत्कट रूप में पाई जाती हैं। एक तरह से यह राष्ट्र-शरीर का उदर होता है या उरू होता है। इनका काम राष्ट्र-शरीर में अन्न का पहुँचाना होता है। राष्ट्र में व्यापार के द्वारा भोग सामग्री को जुटाना होता है। तमोगुण का प्रतिनिधि शूद्र होता है। इसमें जड़ता और तमोगुण की प्रधानता पाई जाती है। जैसे तमोगुण सब चीजों का आधार होता है, इसी प्रकार यह राष्ट्र-शरीर का आधार होता है, पादस्थानीय होता है। पैर के ऊपर जैसे सिर, हाथ, उदर उरू आदि सबके सब अंग आश्रित होते हैं ठीक इसी प्रकार से राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी सेवा का काम शूद्र से कराते हैं। यह तपस्या-प्रधान जीव है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि विभाग निराधार नहीं हैं। इन के आधार में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियां और उनके मूलभूत अध्यात्म के तत्त्व काम कर रहे हैं। अर्थात् यह वर्ण विभाग प्रवृत्ति की दृष्टियों से है। प्रवृत्तियां ही वरी जाती हैं, काम धन्धे और पेशे वरे नहीं जा सकते। काम धन्धे और पेशे "वृत्तियां" हैं जीविकाएं हैं, झटपट बदल सकती हैं, परन्तु प्रवृत्तियां तो एक बार दिल और दिमाग में समा गईं फिर वर ली जाती हैं। इसलिये वर्ण (व्रियते इति, व्रियते स्वीक्रियते वृत्त्यर्थं जीविकार्थं वा, आवृणवतेः। वृणोतेः वरणीयाः, वरीतुमर्हाः गुणकर्माणिच दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः) प्रवृत्तियों तथा उनके परिणामभूत गुणकर्मों के

आधार पर ही होते हैं। मनुष्यों का विभाग यदि वर्णों (रंगों) के आधार पर भी किया जाय तो भी ऊपर का वक्तव्य वैसे का वैसा ही बना रहता है। पुराणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का क्रमशः सित (White), रोहित (Red), पीत (Pale or yellow) असित या कृष्ण (Black) रंग बतलाया गया है। ये रंग सत्त्व, रज तथा तमोगुण के ही सूचक हैं। एवं वर्णविभाग यदि उपरिलिखित वर्णों के आधार पर ही कहा जाय तो भी वस्तुतः संसार के मौलिक तत्त्वों के आधार पर ही है। इसलिये यह वर्ण-धर्म सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक होना चाहिये। भारत के ऋषियों ने मनुष्य-स्वभाव का गहरा स्वाध्याय करके मनुष्य की प्रवृत्तियों में साम्य लाने के लिये इस व्यवस्था को जन्म दिया था। दूसरे शब्दों में कहें तो हम कह सकते हैं कि उन्होंने उत्तम बुद्धि, उत्तम शौर्य, पर्याप्त धन तथा यथेच्छ अवकाश—इन चारों बातों को ध्यान में रखकर समाज को बांटा था। बुद्धि-प्रधान, शक्ति प्रधान, अर्थ-प्रधान तथा सेवा और अवकाश-प्रधान लोगों के भिन्न २ विभाग उन्होंने बनाये थे। इस व्यवस्था से मिलता जुलता विचार ग्रीस के दार्शनिक प्लेटो (Plato) की Republic (२ ३. ४.) में भी पाया जाता है। उसने मनुष्य प्रवृत्ति में बुद्धि, तेज, वासना इन तीन गुणों को मान कर समाज को भी इन गुणों के आधार पर विभक्त किया है। बुद्धि से समाज का पोषण होता है, और वासना से नाश होता है, तेज इन दोनों का मध्यवर्त्ती गुण है, यह समाज का वर्धक भी है और विघातक भी। Plato समझता है कि प्रत्येक मनुष्य इन तीनों गुणों का एक साथ विकास नहीं कर सकता। अतः जिसमें जिसकी प्रधानता हो उसके विकास से समाज में कल्याण की वृद्धि करनी चाहिये। "अधिकारिभेदाद्धर्मभेदः"। इससे यह भी लाभ है कि एक मनुष्य दूसरे पर आश्रित रहता है। इस प्रकार की व्यवस्था से समाज में तीन विभाग हो जाते हैं। पहिला बुद्धि-प्रधान विभाग True Guardians (Philosophers), दूसरा तेज-प्रधान (Auxiliary-Soldiers), तीसरा वासना-प्रधान (Husbandmen, Craftsmen or Artisians etc.)।

पहले प्रकार के लोग न्याय, सौन्दर्य, संयम के तत्त्व से वाकिफ़ होने चाहिये, वे धन तथा विलास की ओर कभी नहीं झुकते। इनका प्रथम कर्त्तव्य साम्यवाद का प्रचार करना है। दूसरे प्रकार के लोग, समाज की, बाह्य विपत्तियों से रक्षा करते हैं और प्रथम वर्ग के नीचे रहते हैं। तीसरा वर्ग समाज की सम्पत्ति की वृद्धि करता है। इस प्रकार एक २ काम एक २ के द्वारा सम्पन्न होने से अकारण तथा अनावश्यक प्रतिस्पर्धा हटकर समाज में Efficiency तथा Specialisation की तरफ़ प्रवृत्ति होती है। Plato समझता है कि किसी भी प्रकार के राज्य में सुशासन होने के लिये आवश्यक है कि भिन्न २ व्यक्तियों को अपने २ धर्म में ही लगाया जाय और अव्यवस्था न होने दी जाय (Republic 4th book 434 page)। Plato की तरह १८ वीं शताब्दी में August comte नामक समाज शास्त्री ने भी "Positive philosophy" नामक ग्रन्थ में मानव समाज की उत्पत्ति की इमारत खड़ी की है। उसकी व्यवस्था में एक पुरोहित समाज है। इस समाज के लोग मनुष्य जाति के उन्नतिशील कार्यों

की प्रधान धुरी के समान हैं। लोक शिक्षा के कार्य के लिये यह वर्ग अन्य वर्गों से सर्वथा स्वतन्त्र है। दूसरा व्यापारी वर्ग है। राष्ट्र-शरीर में धन रूपी रक्त को संचारित करने का काम इस वर्ग का है। यह वर्ग कहीं धन के मद में अन्याय न करने लगे इस वास्ते इस पर पुरोहित विभाग का निरीक्षण रक्खा गया है। इस प्रकार पुरोहित वर्ग यदि मस्तिष्कस्थानीय है तो दूसरा वर्ग उरू-हृदय-स्थानीय है। अब एक तीसरा वर्ग मज़दूर वर्ग है जो समाज के हाथ पैर की जगह काम करता है। यह वर्ग एक तरह से शूद्र वर्ण है। इसका काम कार्य ही करते रहना है। इस प्रकार "कोंट" की व्यवस्था है।

उपर्युक्त विचार पद्धतियों में एक ही मौलिक तत्त्व काम कर रहा है। वह यह कि मनुष्य भिन्न २ गुणों का समूह है। प्रत्येक मनुष्य में भिन्न २ प्रकार के विशेष गुण रहते हैं और प्रत्येक समाज में भिन्न २ प्रकार के गुणों की प्रधानता वाले मनुष्य होते हैं। गुण और कर्मानुसार उच्च और नीच की कल्पना मनुष्य समाज में अनादि काल से चली आ रही है। उपरिलिखित समस्त वक्तव्य को वेद के प्रसिद्ध पुरुषसूक्त का निम्न मन्त्र सूत्र रूप में हमारे सामने उपस्थित कर रहा है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

ऋ० १०। ९०। १२॥

"ब्राह्मण इस (पुरुष) मनुष्य जाति का मुख कल्पित हुआ है। दोनों भुजाएं क्षत्रिय-स्थानापन्न हुईं। इसकी दोनों जङ्घाएं व रानें वह कल्पित हुआ जो कि वैश्य कहा जाता है। और पांव रूप से शूद्र कल्पित हुआ"।

पौराणिक भाष्यकारों का यह कहना कि ब्राह्मण परमात्मा के मुख से पैदा हुए, क्षत्रिय बाहू से........... इत्यादि, सर्वथा असंगत है। यहां Man kind अर्थात् मनुष्यमात्र का ही व्यक्तिरूप से वर्णन किया गया है, उसके अन्दर भिन्न २ अंगों की कल्पना की गई है। शरीर में जो Function तथा गुण,—मुख, बाहू, उरू, तथा पैरों के हैं—समाज शरीर से वेही गुण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में हैं। ब्राह्मण वे हैं जो समाज में मुख की तरह मुख्य हों, जो मुख की तरह द्वन्द्व-सर्दी-गर्मी के सहने वाले हों, मुख की तरह जो कुछ भी ज्ञान का आहार प्राप्त करें, उसे आगे देने वाले हों, अपने पास संग्रह करने वाले ही न हों, मुख की तरह ज्ञान विज्ञान तथा मनुष्यों के कर्त्तव्यों के सूचक हों, जैसे मुख में सब ज्ञानेन्द्रियां होती हैं, ऐसे ही जिसमें ज्ञानेन्द्रियां, ज्ञानशक्ति ही प्रधान रूप से मौजूद हो, Nervous system अर्थात् ज्ञान तन्तु-संस्थान की तरह राष्ट्र को Regulate करते हों, तथा जिनमें Creative intelligence या उत्पादक-ज्ञानशक्ति हो, विचार के द्वारा राष्ट्र में नये आविष्कार आदि करने वाले हों तथा सिर के समान राष्ट्र-शरीर के नायक हों। क्षत्रिय वे हैं जो बाहु की तरह बल और वीर्य वाले हों, आपत्तियों बाधाओं से मनुष्य समाज की रक्षा करने वाले हों। इसी प्रकार व्यापार के लिये इधर उधर घूम कर प्रजा के लिये अन्न को एकत्रित करने वाले वैश्य, तथा पैर (निचले अंग) की तरह मूर्खत्वादि गुणवाला, शारीरिक श्रम करनेवाला (Unskilled labourer), सेवा करनेवाला शूद्र है।

मन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को राष्ट्र रूप अंगी का अंग बताया गया है। शरीर में जैसे एक अंग का दूसरे अंगों पर प्रभाव रहता है, एक अंग के अव्यवस्थित होने से अन्य अंग भी अव्यवस्थित हो जाते हैं, ऐसे ही राष्ट्र में भी समझना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण एक दूसरे से किस सम्बन्ध में बर्त्ताव करें—यह बात बताने के लिये इनमें अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना बताई गई है। शरीर में 'सिर-मुख' जिस प्रकार सबसे ऊपर होता है इस प्रकार ब्राह्मण भी क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से ऊपर है। लेकिन वह अपने विभाग का ही काम कर सकता है, औरों का नहीं। सिर जैसे पैर का काम नहीं कर सकता, वैसे ही हाथ, सिर का काम नहीं; पैर, पेट का नहीं; और पेट, पैर का नहीं कर सकता। सबकी अपने २ स्थान पर अपने २ कर्त्तव्य बजा लाने में ही महत्ता है। तथा उन २ कर्त्तव्यों के साथ लगे अधिकारों के प्रयोग में ही न्याय भी है। सबके सब वर्ण अपने अपने स्थानों पर एक जैसे हैं। वर्णव्यवस्था, समाज में न्याय तथा समता की भावना का प्रचार करना चाहती है जिससे सब लोग अपनी २ प्रवृत्तियों के अनुकूल कार्य करें, दूसरे के कार्यों में हस्ताक्षेप न करें और समाज से जितना लाभ उठाते हैं उसके बदले में समाज को उतना प्रतिफल दे सकें। ब्राह्मण आदि का विशेष क्या २ कर्त्तव्य है ? उनके समाज में क्या अधिकार हैं ? इस विषय को अगले लेख में हम स्पष्ट करेंगे। यहाँ पर तो इतना वक्तव्य है कि वर्णधर्म का मूल-आधार प्रवृत्ति है। वर्णव्यवस्था में प्रवृत्तियों की व्यवस्था की गई है। सब अपनी २ प्रवृत्तियों के अनुसार समाज की सेवा करें और अपने गुणों को बढ़ाते हुए अपने २ कार्यों में Specialized या प्रवीण होवें। वर्णव्यवस्था प्रवृत्ति पर आश्रित है, पेशों पर नहीं। पेशे कर्म से निर्णीत होते हैं, जन्म से नहीं। परन्तु प्रवृत्ति का निर्णय कैसे हो सकता है ? प्रवृत्ति का निर्णय कर्म से नहीं होता बल्कि कर्म प्रवृत्ति के आधार पर हुआ करते हैं। वर्ण व्यवस्था का तकाजा है कि जैसी जिसकी प्रवृत्ति होती है वैसी ही उसकी वृत्ति होनी चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो वह वर्णव्यवस्था नहीं अपितु वर्णाव्यवस्था है। आजकल वर्णाव्यवस्था है। प्रवृत्ति का निश्चय विशेषतः जन्म[1] तथा साधारणतया कर्म से होता है। Law of Heredity के सिद्धान्त के अनुसार यह स्पष्ट है कि बालक की प्रवृत्ति पिता माता के तुल्य होती है अर्थात् जन्म से ही प्रवृत्तियों का निश्चय भी होता है। बाह्य परिस्थितियां उन प्रवृत्तियों में कुछ परिवर्त्तनों को पैदा कर देती हैं। वैसे तो जन्म से निश्चित प्रवृत्तियों में भी बदलने की Tendency अर्थात् झुकाव The principle of spoutaneous variation अर्थात् "सहज परिवर्त्तन नियम" के आधार पर रहती है। इस प्रकार प्रवृत्तियां प्रधानतः जन्म के आधार पर होती हैं, कर्म से उनमें कुछ परिवर्त्तन आ जाता है। प्रवृत्तियों का मनुष्य के कर्मों, पेशों पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसके विपरीत कर्मों तथा पेशों का भी प्रवृत्तियों पर प्रभाव होता है। वैदिक धर्म में पुनर्जन्म का सिद्धान्त अमूल्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के आधार पर मनुष्यों के गुण कर्मों के अनुसार ही उसका जन्म होता है। अर्थात् ब्राह्मणादि कुल[1] में जन्म—मनुष्य के पूर्व जन्मके कर्मों का ही परिणाम होता है। इसलिये जो

जन्म[1] से ब्राह्मण हो उसका ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित होना अधिक सरल है। जिसका पिता ब्राह्मण है, उसका पुत्र ब्राह्मण हो—इसमें क्या शक[1] है। और यदि वह भाग्यवश पिता के काम को-पेशे को करे तो उसकी वैसी ही प्रवृत्ति भी बनी रहती है और पेशे में दक्षता की उपलब्धि भी वह करता है। परन्तु यदि किसी कारण पुत्र की प्रवृत्ति पिता जैसी न हो तो उसको उस पेशे में डालना अनुचित है। जो यह कहते हैं कि वर्ण बदल नहीं सकता है वे भी ग़लती पर हैं। क्योंकि वर्णव्यवस्था प्रवृत्ति पर निर्भर है। प्रवृत्ति जन्म तथा कर्म के आधार पर प्रारम्भिक २५ वर्ष तक बन जाती है। उस समय आचार्य जिस वर्ण में जिस व्यक्ति को दीक्षित करता है वह उसका वर्ण हो जाता है। यह भी हो सकता है कि एक क्षत्रिय पिता के पुत्र की प्रवृत्ति २५ वर्ष की आयु में (दीक्षान्त दिवस तक) ब्राह्मणों की सी हो गई है तो वह ब्राह्मण कहलायेगा और State की तरफ से उसे उसके अनुसार ही पेशा भी मिलना चाहिये। इसी प्रकार गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर उच्चवर्ण नीचे वर्ण का तथा नीच वर्ण ऊंचे वर्ण का हो सकता है। इस विषय में अनेक ऐतिहासिक उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। वैदिक वर्णव्यवस्था के साम्यवाद का कितना सुन्दर स्वरूप है। पाश्चात्य देशों का साम्यवाद इस बात में ग़लती करता है जब वह सबको एक ही मान से मापता है, जब वह प्रवृत्तियों की उपेक्षा करता है। प्राचीन ऋषियों ने सबको समान अवसर Priviledge देकर साम्यतत्त्व की पूरा २ रक्षा की है।

१—जबकि माता-पिता तथा उनके परम्परागत पितर अपने २ धर्मों, कर्मों तथा कर्त्तव्य पालनों में तत्पर रहते आये हों। (सम्पादक)

अस्तु, हम यह कह रहे थे कि पेशे से प्रवृत्ति पर असर पड़ता जरूर है परन्तु यदि आपद्धर्म में किसी खास वर्ण वाले को अपने वर्ण की प्रवृत्ति के अनुसार पेशा नहीं मिलता है तो वह अपने वर्ण से नीच वर्णों के पेशे भी कर सकता है। किन्तु उसकी प्रवृत्तियां उन पेशों के होते हुए भी वैसी ही होनी चाहिये। उदाहरण के लिये यदि किन्हीं कारणों से ब्राह्मण वर्ण में दीक्षित पुरुष को, या एक ब्राह्मण परिवार में भिन्न २ व्यक्तियों को अपने २ वर्ण के लिये उपयुक्त पेशे नहीं मिलते हैं, वे न तो अध्यापक, न उपदेशक, न पुरोहित ही बन सकते हैं, उस हालत में वे क्षत्रिय वर्ण के पेशों को, या इनके अभाव में वैश्य वर्ण के पेशे को करता है, तो वह प्राण धारणार्थ वृत्ति कर्षित होने पर उनको कर सकता है, परन्तु उस अवस्था में यदि उसकी प्रवृत्ति उसी प्रकार निःस्वार्थ काम की बनी रहती है तो वह ब्राह्मण ही समझा जा सकता है, ऐसा मनु ने हमें बताया है और वेद का भी निर्देश यही प्रतीत होता है।

वैसे तो ब्राह्मणवर्ण के व्यक्ति को भी क्षत्रिय, वैश्य के सब पेशों का ज्ञान होना चाहिये परन्तु अपनी जीविकार्थ वह उनका अवलम्बन आपद्धर्म से अतिरिक्त न करे—ऐसा ही विधान शास्त्रों का है। जब कभी प्रवृत्ति बदल जाती है तभी वर्ण बदल जाता है। यह बात हर एक जन्म में हो सकती है। वर्ण व्यवस्था प्रवृत्ति विभाग का नाम है। वर्णव्यवस्था के उपरिलिखित रहस्य को न समझने के कारण बहुत से लोग Caste system छुआछूत आदि को वर्णव्यवस्था के साथ जोड़ कर इसे बदनाम करते हैं। वे कहते हैं कि सब जाति पांति को तोड़ देना चाहिये

और सब मनुष्यों को एक जैसा समझा जाना चाहिये, वर्णव्यवस्था का नाम नहीं लेना चाहिये क्योंकि इस की बदौलत ये जातियाँ बन गई हैं, इसने मनुष्य समाज को कृत्रिम शिकञ्जों में जकड़वाया है। पर वे लोग ग़लती में हैं। वर्णव्यवस्था को Caste system से पृथक् न समझने के कारण वे ग़लती कर बैठते हैं। वर्णव्यवस्था तो महत्ता, कुलीनता, प्रतिष्ठा का आश्रय जन्म को न मान कर गुण कर्म्म को मानती है। 'वर्ण' शब्द का अर्थ जाति नहीं है। वर्ण Class (विभाग) को तो सूचित करता है, Caste (जाति) को नहीं।

उपर्युक्त विवेचना में ही हमने देखा है कि वैदिक वर्ण-धर्म Divison of labour or Divison of Tendencies अर्थात् श्रम-विभाग या प्रवृत्ति-विभाग के व्यापक सिद्धान्त पर आश्रित है। यह गुणों के आधार पर है, केवल जन्म पर नहीं। इसमें Learning तथा Character अर्थात् विद्या और सदाचार को प्रथम स्थान दिया है, दूसरा शक्ति को, और धन को इनसे नीचा स्थान दिया है। ऐसी सुन्दर व्यवस्था संसार के इतिहास में कहीं नहीं मिलेगी। पुरुष सूक्त के मन्त्र को देखने से भी यह प्रतीत होता है कि:—"वह आनुवांशिक जातियों की तरफ़ निर्देश नहीं करता है"। वेद में तो ऐसे मन्त्र आए हैं जिनमें एक ही परिवार के आदमी अपनी २ इच्छाओं और शक्तियों के अनुसार भिन्न २ पेशे स्वीकार करते हैं। कुल परम्परागत कार्य का कोई नियम नहीं। जिस जन्म परक जाति-भेद से वर्त्तमान हिन्दू समाज ने भयानक रूप धारण किया है वह वैदिककाल में न था। उस समय जन्म तथा कर्म के अनुसार बनी प्रवृत्तियों के आधार पर ही वर्ण विभाग था। प्राचीन वर्णव्यवस्था वर्त्तमान जाति भेद से दो बातों में भिन्न है।

(१) वह मनुष्य मात्र को चार भागों में बांटती है, इससे आगे नहीं बढ़ती। असंख्य जातियों तथा उपजातियों का वर्णन वैदिक साहित्य की पुस्तकों में नहीं।

(२) यह व्यवस्था जन्म से न मानी जाकर योग्यता के न्याय संगत सिद्धान्त पर आश्रित थी। इस में व्यक्तिगत योग्यता तथा उत्कृष्टता के सिद्धान्तों पर मनुष्य समाज का वर्ण विभाग था।

वह किसी को आजन्म नीच या उच्च का फतवा केवल इस आधार पर ही नहीं दे देती थी कि वह उस २ प्रकार के कुल में पैदा हुआ है। प्रत्युत वैदिक वर्णव्यवस्था के अनुसार, प्रवृत्तियों के आधार पर, ऊंचे कुल का नीचे तथा इसके विपरीत भी हो सकता है।

वस्तुतः Castes (जातियों) की उत्पत्ति Race, Occupation तथा Locality अर्थात् भिन्न २ मनुष्य श्रेणियों, पेशों तथा देशों के भेद से हुई है। समय गुज़रने पर भेद अधिक ही अधिक बढ़ते गये हैं। इस प्रकार न जाने कितनी जातियां और उपजातियां बन गई हैं। इनका दोष वर्णव्यवस्था पर लगाना अन्याय तथा ऐतिहासिक भूल होगी। वर्णव्यवस्था प्रवृत्तियों के आधार पर है, यही मुख्य सिद्धान्त है, पेशों पर नहीं। प्रवृत्तियों के आधार पर हुए २ मनुष्यों के भेद समाज में विषमता पैदा नहीं करते हैं, प्रत्युत मनुष्यों में एक दूसरे से प्रेम बनाये रखते हैं। तथा उनको उनके कर्त्तव्यों में दृढ़ बनाते हैं। कोई ब्राह्मण होने से क्षत्रिय या वैश्य को नीच नहीं समझ सकता। सच्ची वर्णव्यवस्था में सबको अपने २ स्थान पर मान मिलता है तथा उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा की जाती है।

——

ब्रह्मवादिनी अपाला और उसका दृष्ट सूक्त

[ले०—चतुर्वेदभाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, अजमेर]

ब्रह्मवादिनी का परिचय

ऋग्वेद के ८ वें मण्डल का ८० वां सूक्त आत्रेयी अपाला ब्रह्मवादिनी ऋषिका का दृष्ट सूक्त है। इसके विषय में वेद साहित्य में कई स्थानों पर विवरण आया है। जिनका उल्लेख हम इस लेख में करेंगे। परन्तु इस ब्रह्मवादिनी का नाम आर्य-जगत् और प्रायः भारतीय गौरव के समर्थक सभी वेदियों पर से स्त्रियों के प्राचीन गौरव को दर्शाने के लिये वक्ताओं के मुखों से सुना जाता है। परन्तु वेद के भाष्यकारों और इस ऋषिका के परिचय कराने वालों ने इस ऋषिका के जीवन और इसके देखे सूक्तों की बड़ी दुर्दशा की है। कदाचित् वेद के अन्य सूक्तों की ऐसी दुर्गति नहीं हुई।

बृहद्देवता का दिया परिचय

शौनक-सम्प्रदाय के देवता-परिचायक ग्रन्थ में अपाला ब्रह्मवादिनी और उसके सूक्त के विषय में निम्नलिखित प्रकार से परिचय दिया है।

१. अपालात्रिसुता त्वासीत् कन्या त्वग्दोषिणी[1] पुरा।
तामिन्द्रश्चकमे दृष्ट्वा विजने पितुराश्रमे ॥ ९९ ॥

२. तपसा बुबुधे सा तु सर्वमिन्द्रचिकीर्षितम्।
उदकुम्भं समादाय अपामर्थे[2] जगाम सा ॥ १०० ॥

३. दृष्ट्वा सोममपामन्ते तुष्टावर्चा वने तु तम्।
'कन्या वार्' इति चैतस्यामेषो ऽर्थः कथितस्ततः[3] ॥१०१॥

४. सा सुषाव[4]मुखे सोमं सुत्वेन्द्रं चाजुहाव तम्।
'असौ य ऐर्षी' त्यनया पपाविन्द्रश्च तन्मुखात् ॥ १०२ ॥

५. अपूपांश्चैव सक्तूंश्च भक्षयित्वा स तद्-गृहात्[5]।
ऋग्भिस्तुष्टाव सा चैनं जगा[6]दैनं तृचेन तु ॥ १०३ ॥

६. सुलोमामनवद्याङ्गीं कुरु मां शक्र सुत्वचम्[7]।
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतस्तेन पुरन्दरः ॥ १०४ ॥

७. रथच्छिद्रेण[8] तामिन्द्रः शकटस्य युगस्य च।
प्रक्षिप्य निश्चकर्ष त्रिः सुत्वक्[9] सा तु ततोऽभवत् ॥१०५॥
तस्यास्त्वगपहता या पूर्वा सा[10]सल्यकोऽभवत्।
उत्तरा त्वभवद् गोधा कृकलासस्त्वगुत्तमा ॥

बृहद्देवता अ० ६। ९९–१०६ ॥

---

(१) त्वग्दूषिणी g. त्वाग्दोषिणी f. k.

(२) अपामन्ते जगाम सा b. पातुं जगाम तेजसा n. तेन सार्धं तु साप्यगात्। s. १०० ३.४ १०३ श्लोक के १.२ के बाद आता है a.

(३) कथितः स्तुतः p.

(४) सा सुषाव मुखात् r. सा सुषाव सुखात् b. f.-k. सा सुषाव तथा n. सुषाव स्वमुखे s.—इन्द्रश्च m. g. f. k. s. n. s. इन्द्रस्तु a.

(५) स तद्ग्रहात् m. शतक्रतुः b. n. जगादैनं त्रिचेन सा g. सोममिन्द्रं तृचेन सा r.r. अग्नौ ब्रूते तृचेन सा r. कुरु तात चिकीर्षितम्। n.

निरगात्स कचित्पूर्वं भक्षयित्वागृहान्मुनेः।
ऋग्भिःस्तुत्वा जगादेन्द्रं कुरु मा सुत्वचन्त्विति। षडगुरुशिष्यः।

(७) सुत्वचाम् g. r.

(८) रथछिद्रगताम्, रथेअद्रिणाताम्,

(९) ततः सासुत्वचाऽभवत्

(१०) तस्यां त्वचि व्यपेतायां सर्वस्यां शल्यको ऽभवत्। सर्वानुक्रमणी

तस्याः पूर्वहता या त्वक् जातिः सा शल्यको ऽभवत्। षडगुरु शिष्यः।

अर्थ—पूर्वकाल में अत्रि की कन्या अपाला त्वचा के दोष वाली थी। एकान्त में पिता के आश्रम में उसको देखकर इन्द्रने कामना की। तपसे उसने इन्द्रकी सब इच्छा जान ली। वह जल का घड़ा लेकर जल लेने के लिये चली। सोम को पानी के पास देखकर, वन में उसकी स्तुति ['कन्या वार ऋ०' ८।८०।१।] इस ऋचा से की इस ऋचा में यही अर्थ कहा है। इसके अनन्तर उसने मुख में सोम का सवन किया, और उसका सवन कर के इन्द्रको "असौ यः एषी०" इस ऋचा से बुलाया। इन्द्र ने उसके मुखसे पान किया। पूए और सत्तू खाकर वह इन्द्र उसके घर से निकला, उसने इन्द्र की ऋचाओं से स्तुति की। उसको तीन ऋचाओं से कहा—हे शक्र इन्द्र! तू मुझे सुलोमा, अनिन्दिताङ्गी और उत्तम त्वचावाली बना। उसका वह वचन सुनकर इन्द्र प्रसन्न होगया, रथ के छिद्र से, शकट और युग के छिद्र से तीन बार उसे डालकर निकाला, तब वह सुन्दर त्वचा वाली हो गयी। उसकी जो पहली त्वचा निकली वह (शल्यक) सेहा बनगयी, उसके बाद की (गोधा) गोह बन गयी और फिर उसके बाद की तीसरी त्वचा (कृकलास) गिरगट बनगयी।

समीक्षा—इस कथा में और पौराणिक ढंग की कथाओं में बहुत समानता है। अत्रि ऋषि की अपाला कन्या का विजन में अपने पिता के आश्रम में रहना और इन्द्र का उसको देख उसे चाहना हमें कण्व के आश्रम में शकुन्तला की याद दिलाता है। उसे भी एकान्त में दुष्यन्त ने चाहा था। अस्तु। इस अभिप्राय को जान अपाला का जल लेने के बहाने तालाब पर जाना यह भी एक प्रेमकथा-निर्वाह का सामान्य अंग है। सोमलता का चबाना, मुंह में से सोम रसका इन्द्र को देना, इन्द्र का उस सोम को पान कर लेना, और इन्द्र का उसकी बिगड़ी त्वचा को ठीक कर देना और फिर उसको रथ के, शकट के और युग (जूये) के छिद्रों में से डाल २ कर निकालना यह सब कुछ विचित्रता लिये हुए कथांश है।

यज्ञ के भीतर सोम रस पान करने वाला इन्द्र एक ब्राह्मणकन्या के मुख में चबा हुआ सोमरस पीयेगा यह एक अति घृणित सी बात प्रतीत होती है। (२) अपाला को त्वचा का रोग था तो उसे इन्द्र ने रथ शकट और जुए के छेदों में से निकाला, इसका अभिप्राय भी समझ में नहीं आता। क्या इस कन्या को तार के समान छेदों में से निकाल लिया? तीन छेदों में से निकालने पर उसकी तीन खालें उतरीं, वे क्रम से सेहा, गोह और गिरगट बन गये यह भी एक समस्या है। इन कथा लेखकों ने इस कथा को समझने या समझाने का जरा भी यत्न नहीं किया।

सायण भाष्य के अनुसार वेद के इस सूक्त का अध्ययन करने से भी इस कथा में कुछ अन्य अंश और भी मिलते हैं जिनको शौनकीय बृहद्-देवता ने छोड़ दिया है।

इसके अनन्तर हम सायण के द्वारा उद्धृत शाट्यायन ब्राह्मण की कथा का उल्लेख करते हैं।

शाट्यायन ब्राह्मण की कथा

१. सा तीर्थमभ्यवयन्ती सोमांशुमविन्दत्। तं समखादत्। तस्येह ग्रावाण इव दन्ता ऊदुः। स इन्द्रः आद्रवत् ग्रावाणो वै वदन्तीति। सा तमभि व्याजहार "कन्या वारवायती सोममपिस्रुता विदत्।" इत्यस्यै त इदं ग्रावाण इव दन्ता वदन्तीति विदित्वा इन्द्रः पराङ् आवर्त्तत। तमब्रवीत् 'असौ य एषि वीरक' इत्यादिनेति।

२. अनाद्रियमाणेव तमब्रवीदा वन त्वा चिकित्सामो

ऽधिचन त्वा नेमसि ।' इति पुरा मां सर्वया ऋचापाला स्तौती स्युपपर्यावर्त्त, 'शनैरिव शनकैरिवेन्द्रायेन्दोपरिस्रवे' ति हवा अस्यै मुखात् सोमं निरधयत् सोमपीथ इह वा अस्य भवति य एवं विद्वान् स्त्रीमुपजिघ्रति ।

३. तामब्रवीदपाले किं कामयसीति । साब्रवीद् 'इमानि त्रीणि विष्टपे' ति खलतिर्हास्यै पिता । स तं हाखलतिं चकार । उर्वराहास्य न जज्ञे सो जज्ञे । उपस्थे हास्यै रोमाणि नासुः तान्युत जज्ञिरे इत्यस्योत्तरा भूयसे निर्वचना "यास्यै चयान" इति ।

४. तां खे रथस्याध्यवृहत् सा गोधाभवत् । तां खेऽनसो त्यऽवृहत् सा संश्लिष्टका ऽभवत् । तदेषाऽभ्यनूच्यते 'खेर थस्य खेऽनस' इति । तस्यैह यत्कल्याणतमं रूपाणां तद्रूपमासेति ।

शाट्यायन ब्राह्मण के ये ४ उद्धरण सायण ने अपने भाष्य के पोषण में उद्धृत किये हैं। इनका शब्दार्थ यह है—

१. उसने तीर्थ (घाट) जाते हुए सोमांशु को पाया। उसने उसको खाया। उसके दांत सोम कूटने के पत्थरों के समान बजे। वह इन्द्र आ दौड़ा, कि देखो पत्थर बज रहे हैं। वह उसको बोली, (कन्या वारवायती० इत्यादि) जब इन्द्र ने जाना कि पत्थरों के समान इस कन्या के दांत बज रहे हैं तो वह लौट गया तब इन्द्र को कन्या ने कहा 'असौ य एषि वीरक' इत्यादि ।

२. अनादर सा करती हुई वह इन्द्र को बोली (आ चन त्वा चिकित्सामो०) यह देख कर कि अपाला पूरी ऋचा से मेरी स्तुति करती है वह फिर उसके समीप आया। तब (शनैरि०) इत्यादि कहा। तब उसके मुख से इन्द्रने सोम दिया। ऐसा जानकर जो पुरुष स्त्री का चुम्बन करता है उसके पुत्र भी 'सोमपीथ', यज्ञ में सोमपान करने वाला होता है ।

३. इन्द्र ने अपाला को कहा—अपाले तू क्या चाहती है, वह बोली ये तीन विष्टप, उसका पिता गंजा था, उसको उसने गंजरहित कर दिया उसकी भूमि उर्वरा न होकर फल पैदा न कर सकती थी, वह पैदा करने लगी। अपाला के गुह्यांग भाग में रोम न थे, वे पैदा हो गये। उसको और अधिक स्पष्ट करने के लिये (असौ च या न०) मन्त्र है ।

४. उसको रथ के छिद्र में अधिवर्हण किया वह गोधा होगई, उसको 'अनस्' के छिद्र में अतिवर्हण किया वह 'सांश्लिष्टिका' हो गई। उसी को लक्ष्य कर ऋचा कही जाती है, (खे रथस्य०) उस अपाला का रूपों में सब से श्रेष्ठ जो रूप होता है वह रूप उसका हो गया।

समीक्षा—शाट्यायन के उद्धरण में बृहद्देवता की कथा से कई बातें विशेष हैं—(१) कन्या इन्द्र की कामना से नहीं प्रत्युत योंही तीर्थ गई और वहां सोम चबाने लगी। (२)इन्द्र केवल सोमका प्रिय होने से यज्ञगत पत्थरों के बजने के भ्रम से आ गया था, पर बाद में उसके दांतों की आवाज़ सुनकर वह लौट गया। परन्तु फिर स्तुति सुनकर फिर आया और प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसके मुख से भी सोमपान कर लिया। (३) अपाला को प्रसन्न होकर मानो इन्द्र ने तीन वर मांगने को कहा और वर थे कि पिता का गंज दूर हो, भूमि उर्वरा होकर अन्न पैदा करे, और उसके गुह्यांग में बाल आवें ।

(४) तब इन्द्र ने उसके 'ख' और शकट के 'ख' में अधिवर्हण किया। तब वह पहले गोधा, फिर, सांश्लिष्टिका, फिर वह अतिरूपवती हो गई ।

इन कथांशों का उल्लेख बृहद्देवताकार ने नाममात्र भी नहीं किया। इस इतिहासकथा का उल्लेख करके भी शाट्यायन ब्राह्मण ने कथा का रहस्य समझने के

लिये कुछ संकेत किये हैं जैसे—द्वितीय उद्धरण में लिखा है कि—ऐसा जानकर जो स्त्री का चुम्बन करता है उसके पुत्र सोमपायी होते हैं। फलतः ब्राह्मण ने स्पष्ट कह दिया कि यहां इस सूक्त में इन्द्र 'पति' है अपाला उसकी प्रियतमा है। उसके मुख से सोमपान करना उसका चुम्बन करनामात्र है। इस रहस्य के जानने वाले का पुत्र पूर्ण वीर्य से युक्त होता है।

इन्द्र ने अपाला की तीन इच्छाएं पूरी की एक पिता के सिर के गंज को दूर करना, दूसरा भूमि को उर्वरा करना, तीसरा गुह्यांग की सरोमता।

यह अवश्य तीनों बातें रहस्य पूर्ण हैं जिनका कथांश में कोई भी गुप्त रहस्य नहीं खुलता। इनका रहस्य मन्त्रों से खुलता है। इसी प्रकार इससे भी अधिक रहस्य यह है कि इन्द्र ने अपाला को तीन छिद्रों से निकाला। परन्तु शाट्यायन ब्राह्मण में दो छिद्रों में से निकालना लिखा है, फिर बृहद्देवता ने उसकी उतरी तीन त्वचाओं को क्रम से शल्यक, गोधा, कृकलास बनाया। परन्तु शा० ब्राह्मण में वह अपाला तीन रूप की हो गई, गोधा, सांश्लिष्टिका और कल्याणात्मक रूपवती।

इससे प्रतीत होता है कि अपाला को तीन छिद्रों में से तार कसने के यन्त्र में से तार के समान नहीं निकाला, प्रत्युत ब्राह्मण के शब्द हैं—

तां खे रथस्याध्यवृहत् सा गोधाऽभवत्।

तां खेऽनसो ऽत्यवृहन्। सा सांश्लिष्टिका ऽभवत्।

उसको 'रथ के ख' में अधिवर्हण किया वह गोधा हो गई, उसको अनस् के 'ख' में अतिवर्हण किया वह सांश्लिष्टिका हुई।

'रथस्य ख' और 'अनसः ख' ये पद ब्राह्मणकार ने वेद मन्त्र से लिये हैं उनका अन्य पर्यायशब्द नहीं दिया। प्रत्युत अन्यों ने 'ख' का अर्थ छिद्र समझा।

ब्राह्मण कहता है कि इन्द्र ने अपाला को उन 'ख' में से अतिवर्हण या अधिवर्हण किया।। (वृहू उद्यमने) अर्थात् इन्द्र अपाला को रथादि के 'ख' में उठाकर दूर ले गया। फलतः ब्राह्मण के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि इन्द्र अपाला को रथ और शकट के, 'ख' अर्थात् अवकाश या बैठने के स्थान में बैठा कर उसे देशान्तर ले गया। वहां उसकी तीन दशा हुई पहली में वह तेज रथ में गोह के समान रथ के डंडों के साथ हाथों से चिपकी सी रही, और शकट बैलगाड़ी में झकोले से लगे, और शनैः २ इन्द्र और अपाला का अंग संश्लेप मात्र हुआ, तीसरी दशा में वे जब युग नामक यान में बैठकर आये तो उस समय वधू का रूप कल्याणतम अर्थात् अतिशय सुन्दर रूप था।

ब्राह्मणोक्त इस उद्धरण में यह कहीं बात नहीं आती कि अपाला को त्वचा का कोई रोग था।

तीन वरों का स्पष्टीकरण

गुह्यांग में रोम न होना यह उसके अपूर्ण यौवन को दर्शाता है, इन्द्र ने उसको पूर्ण यौवन प्राप्त करने का अवसर दिया।

इन्द्र 'वर' स्थानीय ही है यह हम पहले कह आये हैं। तब अपाला भी 'वधू' स्थानीय है इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। अपाला वह कन्या है जिसको पालक पति प्राप्त नहीं हुआ। वह 'आत्रेयी' है। लोग उसको अत्रिगोत्र की या अत्रि की पुत्री मानते हैं। परन्तु यह असंगत है। स्मृतिकारों ने आत्रेयी का अर्थ—'रजस्वला' किया है। परन्तु वेद को यह परिभाषा केवल 'रजस्वला' मात्र को आत्रेयी नहीं कहती। 'अ-त्रि' जिसको अभी तीन वर्ष नहीं हुए, वही 'अत्रि' और स्वार्थ में तद्धित करने से वही आत्रेयी है।

प्रथम रजोदर्शन के होने के बाद भी तीन वर्ष तक कुमारी अपने विवाहार्थ पति वरण के लिये बैठती थी। जो कन्या १३,१४ वर्ष में प्रथम रजस्वला हो उस को भी पूर्ण यौवन अर्थात् (Puberty) गुह्यांगों के पूर्ण होने के लिये तीन वर्ष आवश्यक थे। ब्राह्मण ने अंग की अपूर्णता और पूर्णता की बात को गुह्यांग में रोम होने न होने मात्र से बतलाया है। अंग्रेजी का (Puberty) शब्द भी उसी भाव को बतला रहा है। (Pubes) प्यूब गुह्यांग के रोमों को कहा जाता है। इस शब्दार्थ-सम्बन्ध से प्रतीत होता है कि योरोपियन भाषा में स्त्री के यौवनागम को दर्शाने का यह प्रकार वैदिक साहित्य से ही आया है, बाद में यह भाव भारत में लज्जा-संकोचजनक हो गया और अंग्रेजी में यह शब्द साधारण रूप से भी प्रयुक्त होता है और प्रयोग में कोई संकोच अनुभव नहीं होता।

द्वितीय वर

अपाला का दूसरा वर पिता के गंजके दूर करने का है। सो भी ब्राह्मणकार ने बात तो ठीक कही, परन्तु बाद के लोगों ने उसका तात्पर्य नहीं समझा। यहाँ पिता का अर्थ 'पालक' है। अर्थात् अपाला के कथन का अर्थ है कि मेरा पालक भी अभी बालों से रहित है वेद ने इस भाव को स्पष्ट किया है। जिसका अभिप्राय है कि पालक के शिर अर्थात् मुख पर बाल नहीं हैं। वह भी अपूर्ण-यौवन है। वर के यौवन का सूचन मुख पर के मूंछ से होता है वेद ने उसी को स्पष्ट किया है।

तीसरा वर

तीसरी बात अपाला ने 'उर्वरा' होने की कही है। इसका अभिप्राय है कि यदि वर कच्ची उमर में वधू से विवाहित हो तो वह भी 'पिता' अर्थात् पालक की ऊषर भूमि के समान सन्तानोत्पादक नहीं होता फलतः वरों को चाहिये कि वे वधू को उर्वरा होने दें। ये तीनों बातें अपाला अर्थात् कुमारी कन्या की ओर से प्रस्तुत होती हैं और इन्द्र अर्थात् वर पक्ष को विवाह के पूर्व ये बातें स्वीकार करनी पड़ती हैं। अर्थात् ब्राह्मणोक्त कथा का नायक 'इन्द्र' इन तीन बातों को स्वीकार करता है और पूरा करता है।

अपाला का सोमचर्वण

अब अपाला का सोम का चर्वण क्या है। ब्रह्मचर्य का आचरण मुख से वेद का अभ्यास वा पति के लिये 'सोम' ब्रह्मचारी को चाहना मात्र है। इस पर ऐश्वर्यवान् इन्द्र की भी इच्छा उसके मुख से कही अभिलाषा को स्वीकार करने की ही हुई, इसी पर परस्पर प्रेम बंधता है। मुख मात्र से सोम का ग्रहण और उसका स्वीकारना यही प्रतीत होता है। इसी को गन्ध ग्रहण मात्र से भी दर्शाया है।

परन्तु इन सब रहस्यों को सायणादि ने बिलकुल भी नहीं समझा। ऐसा प्रतीत होता है। प्रत्युत कथा के केवल स्थूल रूप से बहक कर मन्त्रों के भी अर्थ विकृत कर दिये हैं।

अब हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे वेद के उस सूक्त पर जोकि 'अपाला आत्रेयी ऋषिका' का दृष्ट कहा जाता है विचार करें कि वह सूक्त एक अविवाहिता कुमारी कन्या को ओर से विवाहेच्छुक वर के प्रति लक्ष्य कर कहा गया है। इसमें कुमारी स्त्री-प्रकृति का वर्णन, उसके कर्त्तव्य, उसके प्रति वर के कर्त्तव्य आदि का वर्णन है। इस प्रकार से उस सूक्त की सब संगति ठीक २ लगती है।

अगले लेख में हम उक्त सूक्त के सातों मन्त्रों की संगति अन्य भाष्यों की आलोचना के सहित दर्शावेंगे।

वैदिक राष्ट्र-गीत

[श्री पं० सूर्यदेवजी शर्मा साहित्यालंकार M. A., L. T.]

[५]

(४१)

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ॥
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

(वीर छन्द)

जिस भूमी में गावें नाचें, मानी मानव मोद मनाय ।
प्रेरित होकर देश प्रेम से युद्ध स्थल में आगे जायं ॥
बजे नगाड़ा रण में मारू, बाजे टाप बलेड़न क्यार ।
करे हमें निर्द्वन्द्व मातृभू सारे समर शत्रु संहार ॥

(४२)

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

जहां अन्न जौ चावल उपजें पांचों प्रजा बसें सुखसार ।
वर्षा-मेघ-मुदित माता को होवें नमस्कार बहुवार ॥

(४३)

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

जिसके नगर ग्राम देवों ने निर्मित किये सघन उद्यान ।
जिसके क्षेत्र प्रदेशों में जन बाधें बढ़कर विविध वितान ॥
प्रजापति परमेश्वर राजा करके पृथिवी का विस्तार ।
सर्वोत्पादक उसे बनावे, हो दिशि दिशि में रम्योदार ॥

(४४)

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥

धारण करे गुहा खानों में हीरा माणिक विविध प्रकार ।
सोना आदिक अष्ट धातु को माता देवे हमें सम्हार ॥
दानशील देवी देने को वसु का करे विविध विस्तार ।
पूजनीय वसुदा माता को होवे नमस्कार बहुवार ॥

(४५)

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

भांति भांति के भाषा भाषी जो जन विविध धर्म सिरमौर ।
धारण करे मातृभू सब को रहते गृहवत् प्रियवर पौर ॥
धन की गंगा बहे देश में होकर सफल सहस्रों धार ।
सीधी नाश रहित गौ के सम, देवे दिव्य दुग्ध दातार ॥

(४६)

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥

वृश्चिक सर्प तेज विष वाले जो हैं ज्वर उत्पादक कीट ।
भृमल गुहा में रहने वाले जो वर्षा में चलते ढीट ॥
पृथिवी मातः ! जो भी प्राणी तुझ में रहते हिंसक क्रूर ।
शिव, मंगलमय हमें बनाओ करके उनको हम से दूर ॥

(४७)

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥

जो हैं मार्ग तुम्हारे माता ! जिन पर चलते मानव लोक ।
रथ गाड़ी भी जिन पै जावें सज्जन, दुष्ट चलें बे रोक ॥
तस्कर, चोर शत्रु को हनिये दीजै सारे विघ्न विदार ।
शिव, मंगलमय मार्ग हमारे होवें सब कल्याणागार ॥

(क्रमशः)

श्री स्वामी दयानन्दजी का पत्र (उदयपुर नरेश को ?)

ओ३म्

श्रीयुत महिमहेन्द्र महामान्यार्य कुल दिवाकर "आनन्दित रहो"

श्रीमानों को विदित हो कि मैं जोधपुर में भाद्र पौर्णमासी तक रहना चाहता हूँ पश्चात् कहां जाना होगा इसका निश्चय अब तक नहीं किया है जब निश्चय हो जायगा तब श्रीमानों को विदित कर दिया जायगा।

महाराजे प्रतापसिंहजी और राव राजा तेजःसिंहजी उदयपुर में श्रीमन्महोदयों को मिलने के लिए आने को कहते थे। अनुमान है कि पूने से वहीं आवेंगे, यदि आवें तो अच्छे प्रकार आप शिक्षा करेंगे इसमें कहना वा लिखना क्या है। किन्तु आर्य राजोत्कर्ष वैदिक धर्म की उन्नति करने आदि का उपदेश यथायोग्य कीजियेंगा॥ कुछ ओषधि लिख के भेजी जाती हैं इन को यथायोग्य उपयोग में लावें।

उपदेश

१—कभी साहित्य जो नायका आदि भ्रष्ट रीति है उसका स्मरण श्रवण और वैसे गणेशपुरी से मनुष्यों का संग भी कभी मत कीजियेगा और न मद्यपान न वेश्या का दर्शन नृत्यगान आदि प्रसंग करना।

२—जैसी दिन चर्या मैं लिख आया हूँ उससे विपरीत आचरण कभी न करना किन्तु वही रात्रि को प्रातः ४ चार बजे उठना दिन और रात में १० बजे भोजन करना, दिन में निद्रा न लेनी और रात्रि में १०, १॥ साढ़े दश वा ११ बजे तक शयन सदा कीजियेगा।

३ सदा छः घंटे तक समय राजकार्य में लगाया कीजियेंगा और जब कभी राजकार्य से अवकाश मिले तभी व्याकरणादि शास्त्र और मनुस्मृति के ३ अध्यायों का अभ्यास कीजियेगा और व्यर्थ समय एक क्षण मात्र भी मत गमाइयेगा जैसा कि सतरंज, हास्य और विनोद आदि में मूर्ख लोग अपना अमूल्य समय खोते हैं—वैसा करना सर्वथा अनुचित है।

४—प्रातः समय योगाभ्यास की रीति से ध्यान करना और नाम लेना आदि पुरोहित के आधीन कर दीजियेगा जिससे ध्यान करने और राज्यपालन में समय यथोचित श्रीमानों को मिले, बुद्धि, बल, पराक्रम, आयु प्रताप बढता रहे।

५—निरामय महोत्सव में निम्नलिखित कार्य अवश्य कीजियेगा एक वेद मन्त्रों से होम दूसरा १२५०००) सवा लाख रुपये क्षात्रशाला[1] और २५०००) पच्चीस हजार रुपये स्वराज्य में अनाथ वृद्ध विधवा और रोगियों के पालन के लिये और १००००) मेवाड़ में वैदिक धर्म प्रचार और प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के छपवाने प्रदान करने के लिये और २०००००) दो लाख वहां के क्षत्रिय सरदारों से लेकर क्षात्रशाला[1] स्थापन

(१) क्षात्रशाला के सम्बन्ध में अन्य कई पत्रों में भी निर्देश मिलते हैं। यथाः—

(i) स्वामी दयानन्द के नाम शाहपुराधीश के पत्र में से उद्धरण—

............और राजकुमारों की पाठशाला के विषय में ज्यो आपने लिखा के आर्यकुल भास्करों ने करना स्वीकार कर लिया है सो इस लिपी को देख कर अत्यन्त ही हर्ष

शीघ्र कीजियेगा। इसमें ऐसा समझिये कि जानो एक वार गवर्नर जनरल साहेब और आए थे।

६—सदा बलवान और राजपुरुषों से सताये हुओं की पुकार यदि भोजन पर भी बैठे हो तो भोजन को भी छोड़ के उनकी बात सुननी और यथोचित उनका न्याय करना। ऐसा न होवे कि निर्बल अनाथ लोग बलवान और राजपुरुषों से पीडित हो के रुदन करें और उनका अश्रुपात भूमि पर गिरे कि जिससे सर्वनाश हो जावे और इनकी रक्षा से सब प्रकार की उन्नति अर्थात् शरीरारोग्य आयुवृद्धि धन वृद्धि राज वृद्धि धर्म वृद्धि और प्रताप वृद्धि को सदा करते रहियें॥

७—अब परमात्मा की कृपा से महाशयों का शरीर निरामय हुआ है, अब इसको वीर्य रक्षणादि से सदा रोग रहित रखियेगा कि जिससे ऐहिक और पारमार्थिक सुख की सिद्धि करना सुगम होवे और श्रीमानों के दीर्घायु होने से स्वराज्य और समस्त आर्यावर्त देश का सौभाग्य बढ़े।

८—कभी सत्य बात के करने और झूठ बात के छोड़ने में भय न करें किन्तु युक्तिपूर्वक इस बात को पूरी करें और अपने राज्य में २५ वर्ष का पुरुष और १६ शोलह वर्ष की कन्या का विवाह करने के लिये दृढ़ता पूर्वक आज्ञा दीजिये कुमार और कुमारी का यह समय सनातन आर्ष ग्रन्थस्थ विद्याओं के ग्रहण करने में व्यतीत होवे जिससे सब मनुष्य जाति की सत्य उन्नति होवे।

९—एक विवाह से अधिक दूसरा भी विवाह कोई न करने पावे परन्तु वह विवाह दोनों की प्रसन्नता पूर्वक होवे जिससे अत्युत्तम सन्तान उत्पन्न हों।

१०—स्वराज्य और परराज्य का जो चिकीर्षित और अच्छे बुरे काम होते हैं उनको दूत द्वारा यथावत् जान कर दुष्ट कार्यकर्त्ताओं को दंड और उत्तम कार्य करने हारो का सत्कार यथायोग्य कीजिये जिससे उत्तम कार्य बढ़ें और दुष्ट कर्म घट जायें,।

११—जो जितना अपराध करे उसी को उतना दंड और जो जितना अच्छा काम करे उसको उतना

हुआ, क्योंकि बहुत दिनों से हमारी ये ही इच्छा और अभिलाषा थी················।

आसाढ़ शुक्ला ८ सम्वत १९३८ का
हस्ताक्षर राजाधिराज नाहरसिंहस्य

(ii) इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के नाम शाहपुराधीश के अन्य पत्र में से उद्धरण—

···········क्षत्रय पाठशाला बहुत जल्द होने वाली है···· और समाज भी यहां बनाने की तजवीज़ हो रही है ईश्वर ने चाहा तो बहोत जल्दी आर्य समाज भी कायम होजायगा।

मिती आसाढ़ सुदि १५, सं० १९३९
तारीष २० जोलाई सन १८८३ ईसवी
हः दस नाहरसिंहस्य।

(iii)···········यहां क्षत्रिय पाठशाला का उद्योग था वो निसफल हुआ···········।

मिती भादवा वदि १४ सम्वत १९३९ का
तारीष १ सीतम्बर सन १८८३ ईस्वी
हः नाहरसिंहस्य

(iv) स्वामी दयानन्दजी का पत्र, शाहपुराधीश के नाम—

श्रीमन्माननीय वर श्रीयुत माहाराज राजाधिराज शाहपुरेश आंनन्दित रहो।················और क्षात्रशाला का उद्योग निष्फल हुआ यह शोक की बात है··········।

विना तिथि
विना हस्ताक्षर

ही परितोषिक देना अधिक वा न्यून नहीं, चाहे माता पिता क्यों न हों।

१२–जैसा कुत्तों पर अन्याय अर्थात् एक के हड़के होने और अपराध करने में सब जाति को दण्ड देना अन्याय है इसके लिये जितना धन व्यय इस प्रबन्ध में होता है उतने धन से जितनों से प्रबन्ध हो सके उतने पुरुष हडके कुत्ते को मारने के लिये नौकर रखिये और विना अपराधियों को दंड मत दिलाइये वे रात दिन इसी कार्य करने में तत्पर रहें।

१३–अब दशहरा निकट आया उसमें अनपराधी भैंसे बकरों का प्राण न लेकर उसके स्थान में सिरनी मिठाई, मोहन भोग लपसी आदि बलि प्रदान कीजिये, और क्षत्रियों को जोकि शस्त्र चलाना जानते हैं उन के उत्साह, शौर्य, धैर्य, बल और पराक्रम की परीक्षा करने के लिये जंगली सुअरों को वा सिंह को प्रथम पकड़ा रख के उस दिन मैदान में छोड़ शस्त्र प्रहार करने की आज्ञा दीजिये इनको विदित तो होवे कि शस्त्र चलाना ऐसा होता है।

१४–आरोग्य और अधिक वर्षा होने के लिये एक वर्ष में १००००) दस हजार रुपये घृतादि जिस रीति से होम हुआ था उसी रीति से प्रति वर्ष होम कराइये परन्तु उनमें से ५०००) पांच हजार रुपयों के सुगन्धित घृत मोहन भोग का होम वर्षा ही में कि जिस दिन वर्षा का आर्द्रा नक्षत्र लगे उस दिन से लेके विजयदशमी तक चारों वेदों के ब्राह्मणों का वरण करा एक सुपरीक्षित धार्मिक पुरुष उन पर रख के होम करायेइगा।

सब से मेरा आशीर्वाद कहियेगा, और इस लेख को यथावत् सफल कीजियेगा और इसका प्रत्युत्तर शीघ्र भिजवा दीजिये। किमधिकलेखेन महामान्य-वर्यतमेषु॥

रहस्य नियम

(१) स्वयंवर विवाह के पश्चात कम से कम एक महिने अधिक से अधिक ३ महिने तक ऋतुदान से पूर्व ब्रह्मचर्य सेवन पूर्वक पत्नी और पति भोजन का प्रबन्ध रक्खें। अर्थात् अति शीत अत्युष्ण, अति रूक्ष, मादक द्रव्यों का भोजन पान छोड़ तरोष्ण मध्यस्थ गुणयुक्त दुग्ध मिष्ट सुगन्ध तन्दुल गोधूम मूंग उड़द दधि सद्यो-घृत सुसंस्कृत सुगन्धियुक्त बुद्धिवर्धक हृद्य पदार्थों का भोजन पान किया करें कि जब तक ऋतुदान समय न आवे॥

(२) ऋतुकाल प्रतिमास षोड्स रात्रि पर्यन्त होता है उन में से रजोदर्शन दिन को लेके चतुर्थ दिन पर्यन्त स्पर्श दर्शन भी परस्पर न करें। जब पांचवें दिन शुद्ध हो जाने तब यदि पुत्रेच्छा हो तो समाङ्क अर्थात् छटी आठवीं दशवी द्वादशी चतुर्दशी और सोलहवी रात्रि ऋतुदान के लिये उत्तम है और जो कन्योत्पत्ति की इच्छा हो तो पांचवीं सातवीं नवमीं एकादशी त्रयोदशी और पंचदशी तिथि प्रशस्त हैं परन्तु इन्ही सोलह रात्रियों में दोनों पक्ष की अष्टमी चतुर्दशी पौर्णमासी और अमावस्या तिथि आवे तो उस रात्रि में भी ऋतुदान न देना चाहिये।

(३) जिस रात्रि में शरीर चित्त आत्मा प्रसन्न हो उसी में १० बजे के उपरान्त २ बजे से पूर्व ऋतु-दान दे के पश्चात् किंचित् ठहर स्नान कर शालम मिश्री और केशर आदि सुगन्धियुक्त परिपक्व दूध शीतल यथारुचि पी के तांबूल भक्षण कर मुख प्रक्षाल करके पृथक शयन करें।

(४) यदि पत्नी विदुषी चतुर हो तो उसी समय गर्भ स्थित हुआ वा न हुआ जान लेवेगी नहि तो जब पुनः द्वितीय मास में रजस्वला न हो तब जानना कि गर्भ रहा उस समय से आगे यावत् बालक के जन्म होने के पश्चात् दो महीने अर्थात् वर्ष व्यतीत न हो तब तक दोनों सिवाय सुभाषणादि व्यवहार के मध्य में समागम (न) करें किन्तु पति पत्नी पूर्वोक्त प्रकार युक्ताहार विहार करते हुए ब्रह्मचारी रहें जिस से अग्रिम संतान भी उत्तम होवें।

५—दोनों मन कर्म वचन से व्यभिचार अर्थात् अन्य स्त्री अन्य पुरुष से समागम छोड़ पतिव्रत और स्त्रीव्रत रह के धर्मार्थ काम मोक्षों को सिद्ध करके आनंदित और दीर्घायु होवें।

यदि इतने पर भी गर्भ स्थित न हो तो पत्नी एक प्रति वा बाल चान्द्रायण अर्थात् मध्याह्न दिन में नित्य प्रति तीन २ तोले अर्थात् ३६ मासे का एक ग्रास एकान्न के आठ ग्रास खावे एक महीने अर्थात् पौर्णमासी से द्वितीय पौर्णमासी अमावस्या से २ अमावस्या और संक्रान्ति से २ संक्रान्ति तक व्रत करे नित्य होम और भूमि में शयन करे और पति ब्रह्मचारी हो कर वीर्य की रक्षा वृद्धि करे पुनः पूर्वोक्त समय और रीति से स्थापन करें तो संभव है कि संतानोत्पत्ति होवे।

सम्पादकीय टिप्पणीयां

१—वेद और श्रीमत् शंकराचार्य।

भारतीय धर्म-शास्त्रों के, वेद सदा प्राण रहे हैं भारतीय दर्शन शास्त्र वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते चले आये हैं। जो लोग सांख्य और पूर्वमीमांसा को "ईश्वर को मानने" की दृष्टि से नास्तिक भी कहते हैं वे भी वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं। भारतीय कोई आस्तिक दर्शन वेदों से विमुख नहीं हुआ। श्रीमत् शंकराचार्य, यद्यपि इन्होंने अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिये अधिकतर उपनिषदों का ही आलोडन किया है, उन्होंने भी वेदों की महिमा मुक्तकण्ठ से गाई है। शास्त्रयोनित्वात् (वेदान्त सूत्र १।१।३) में श्री शंकराचार्य चारों वेदों का कर्त्ता ब्रह्म को ठहराते हैं। इस प्रकरण में वे वेदों की महिमा निम्नलिखित शब्दों में प्रकट करते हैं। यथाः—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य-ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्या प्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः, 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृह० २।४।१०) इत्यादि श्रुतेः। तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति"।

इस सन्दर्भ का अभिप्राय है कि, नाना विद्या शास्त्रों द्वारा बढ़े हुए, प्रदीप की न्यांई सब पदार्थों का बोध

कराने वाले, सर्वज्ञ सदृश तथा महान् ऋग्वेद आदि शास्त्रों का कारण ब्रह्म है। सर्वज्ञ के गुणों से युक्त, ऐसे ऋग्वेद आदि शास्त्रों की उत्पत्ति सर्वज्ञ से भिन्न किसी शक्ति द्वारा, सम्भव नहीं है। जिस किसी विषय के विस्तार के लिये जो कोई शास्त्र जिस किसी विशेष पुरुष से प्रकट होता है वह विशेष पुरुष उस शास्त्र में दिये गये ज्ञान से अधिक ज्ञान वाला ही हुआ करता है। तब अनेक शाखाओं वाले देव, पशु, पक्षी, मनुष्य तथा वर्ण और आश्रम इत्यादि विभाग के ज्ञापक, सब ज्ञानों के खज़ाने ऋग्वेद आदि नाम वाले वेदों की उत्पत्ति जिस महान् और सत्य स्वरूप से, श्वास और उच्छ्वास की न्याईं विना प्रयत्न के, हुई है उसकी सर्वज्ञता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या। उस महान् तथा सत्यस्वरूप की निःसीम सर्वज्ञता तथा निःसीम सर्वशक्तिमत्ता है"।

शंकराचार्य के उपरोक्त लेख में रेखाङ्कित स्थल एक और दृष्टि से भी आवश्यक हैं। (सर्वार्थावद्योतिनः) सब पदार्थों का बोध कराने वाले, (सर्वज्ञकल्पस्य) सर्वज्ञ सदृश, (सर्वज्ञगुणान्वितस्य) सर्वज्ञ के गुणों से युक्त, (सर्वज्ञानाकरस्य) सब ज्ञानों के खज़ाने, इन सब स्थलों में सर्व या सब शब्द यह दर्शा रहे हैं कि वेद सब ज्ञानों का खज़ाना है। इसमें श्रीमत् शंकराचार्य ने यह नहीं दर्शाया कि वेद गिने चुने ज्ञानों के प्रतिपादन करने वाले हैं अपितु शंकराचार्य को यह अभीष्ट प्रतीत होता है कि वेद सब ज्ञानों के खज़ाने हैं।

इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द द्वारा रचित "आर्य समाज के दस नियमों" में से नियम नं० ३ ध्यान देने के योग्य प्रतीत होता है वह नियम निम्न लिखित है:—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"।

आर्य समाज के दस नियम कई स्थानों में छपे हैं। वैदिक यन्त्रालय अजमेर में भी महर्षि दयानन्द की पुस्तकों के पीछे आर्यसमाज के दस नियम प्रायः छपे मिलते हैं। इन छपे नियमों के तीसरे नियम में कहीं तो "सब सत्य विद्याओं" यह पाठ छपा है, और कहीं केवल "विद्याओं" यह पाठ छपा है। आर्य समाज में प्रायः "विद्याओं" के साथ सब शब्द के लगाने के सम्बन्ध में पर्याप्त वाद विवाद होता रहता है। यदि शंकराचार्य के ऊपर के लेख के साथ आर्य समाज के तीसरे नियम की तुलना की जाय तो यह सम्भावना हो सकती है कि महर्षि दयानन्द ने भी शायद, भारतवर्ष की प्राचीन परिपाटी को देखते हुए तीसरे नियम में "सब" शब्द का प्रयोग किया हो।

२—वानप्रस्थी का वृक्ष के मूल में वास।

मनु[1] आदि स्मृतियों में तथा अन्य धर्म शास्त्रों में वानप्रस्थी के कर्त्तव्यों में यह वर्णन आता है कि वानप्रस्थी घर छोड़कर जंगल में जाकर 'वृक्ष के मूल' में बसा करे। अब तक प्रायः लोग इन शब्दों का यही अर्थ समझते हैं कि जंगल में किसी भी छायादार

१—अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥ मनु० ६। २६॥

वृक्ष को आश्रम बनाकर और उसके नीचे कोई छोटी मोटी कुटिया बनाकर उसमें बसा करें। यह भाव भी उचित और वानप्रस्थ आश्रम के योग्य प्रतीत होता है। परन्तु बोधायन धर्म सूत्रा में 'वृक्षमूल' शब्द का एक और भी नवीन अर्थ दिया है। इस सम्बन्ध में "बोधायन धर्मसूत्र" के निम्नलिखित सूत्र देखने योग्य हैं.—

१-वेदः वृक्ष तस्य मूलं प्रणव ।

२ प्रणवात्मको वेदः ।

३-प्रणवो ब्रह्म । (३ । १ । १८- ० ।)

इनका अभिप्राय यह है कि १-"वेद वृक्ष है उस वृक्ष का मूल प्रणव है," २-"वेद का सार प्रणव है", ३-'प्रणव ब्रह्म है" ।

इस - प्रतीत होता है कि बोधायन आचार्य ने वृक्ष के मूल में बसने का अभिप्राय यह दर्शाया है कि वेद के मूल अर्थात् ब्रह्म को सर्वाश्रय समझ कर उसके प्रति अपने आपको समर्पित कर देना। इस नवीन अर्थ द्वारा बोधायन आचार्य ने यह सूचित किया है कि वानप्रस्थी वन में अपने जीवन को आस्तिकता और परमात्मा के परम भरोसे के रंग से रंगे। संभव है कि कभी भारत के बीते साहित्यों के समय प्रायः कर 'वृक्ष के मूल में बसने' का यही अर्थ लिया जाता हो जो कि बोधायन ने सूचित किया है।

—— —

३—आर्यसमाज की सभासदी का प्रश्न

आर्यसमाज से बाहिर के क्षेत्र में आर्यसमाज का वह प्रभाव नहीं रहा जो कि कुछ समय पहिले था। इसका बहुत कुछ कारण हमें यह प्रतीत होता है कि आर्यसमाज की प्रारम्भिक अवस्था में आर्यसमाज के सिद्धान्त लोगों को नवीन और विचित्र प्रतीत होते थे और युक्ति की कसौटी पर सच्चे मालूम होते थे। साथ ही आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता नेता लोग बिरादरी के विचारों और अत्याचारों की परवाह न करते हुए अपने सामाजिक तथा नैतिक जीवन को आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुसार ढालने में प्रयत्न भी किया करते थे। उनकी सजीव मूर्त्ति में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का क्रियात्मक प्रचार दीखता था। इसलिये आर्यसमाज सर्वप्रिय था। वर्त्तमान समय में, आर्यसमाज में, प्रचारक, आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुकूल अपने जीवन को घटाने का यत्न नहीं करते, जितना कि वे दूसरों को नाममात्र आर्यसमाजी बनाने का यत्न करते हैं। इसके दो परिणाम हुए हैं। एक तो आर्यसमाज बाह्य जगत् की दृष्टि में उतना प्रिय नहीं रहा और दूसरा आर्यसमाज का आन्तरिक जीवन भी दिनों दिन लड़ाई-झगड़ों की रणभूमि बन रहा है। कुछ समय से आर्यसमाज की सभासदी का झगड़ा आर्यसमाज के पत्रों में पर्याप्त उग्र रूप में दृष्टिगोचर हुआ है। आर्यसमाज के अनुसार कार्यकर्त्ता सामाजिक जगत् के नैतिक तथा सामाजिक जीवन की शुद्धता की उतनी परवाह नहीं करते जितनी कि वे नियमों के शब्दों की उधेड़बुन की परवाह कर रहे हैं। यह हम मानते हैं कि कोई भी समाज अपने नियमों और उन के निश्चित और स्पष्ट अभिप्रायों के आधार पर ही स्थिर हुआ करती है। और इसलिये आर्यसमाज के कोई न कोई निश्चित नियम चाहियें और उनके अभिप्राय भी स्पष्ट होने चाहियें। यह आर्य सभासदों को समझ लेना चाहिये कि किसी भी धार्मिक सोसाइटी में रहने के लिये ईमानदारी और सचाई

सब से पहिली वस्तु है। इसलिये जिन के विचार और मन्तव्य आर्य सभासद् बनने के नियमों के अनुकूल नहीं हैं, उन्हें स्वयमेव आर्यसमाज की सभासदी से पृथक् हो जाना चाहिये। इसी प्रकार उन व्यक्तियों को भी आर्यसमाज से स्वयमेव पृथक् हो जाना चाहिये जिनके कि आचार और व्यवहार आर्यसमाज के मन्तव्यों के अनुकूल नहीं हैं। हमारी दृष्टि में मन्तव्य और आचार ये दोनो ही आर्यसमाज के सभासद् होने के लिये अत्यावश्यक हैं। इन दोनों दृष्टियों से आर्य सभासदों को पूरा ईमानदार होना चाहिये। परन्तु कई ऐसे भी आर्य महानुभाव मिल सकते हैं जो कि अपनी निज दृष्टि से उन नियमों और व्यवहारों से अपने आप को सच्चा आर्यसभासद् समझते हों परन्तु दूसरे ढंग के आर्यसमाजी उन्हें अनार्यसमाजी कह कर आर्यसमाज के क्षेत्र से बाहिर धकेलना चाहें। इस को हम उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

कई पठित आर्य सभासदों का यह विचार है कि आर्य सभासद् बनने के लिये महर्षि द्वारा प्रतिपादित आर्यसमाज के केवल दस नियम ही आवश्यक हैं, सत्यार्थप्रकाश में दर्शाये "स्वमन्तव्यामन्तव्य" आर्य-सभासदी के लिये आवश्यक नहीं हैं। यदि ऐसे विचार वाले लोग मन्तव्य की दृष्टि से आर्यसमाज के दस नियमों पर दृढ़ रहें परन्तु "स्वमन्तव्यामन्तव्य" की दृष्टि से उन्हें किसी मन्तव्य पर आपत्ति हो तो वे अपनी दृष्टि से तो सच्चे आर्यसभासद हैं, परन्तु उन महानुभावों की दृष्टि में जो कि "स्वमन्तव्यामन्तव्य" को भी आर्यसभासदी का एक आवश्यक हिस्सा समझते हैं वे आर्यसभासद् अनार्य कहलाये जाने के पात्र बनेंगे। हमारी दृष्टि में तो इस सम्बन्ध में महर्षि के ख्याल को अधिक गौरव देना चाहिये न कि उन के ख्यालात को जो कि वर्त्तमान समय में आर्यसमाज के लीडर कहे जाते हैं। विचारना यह चाहिये कि क्या कारण है कि महर्षि ने दस नियमों के ऊपर तो "आर्यसमाज के दस नियम" ये शब्द लिखे हैं और ५१ मन्तव्यों के ऊपर "स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश" ये शब्द लिखे हैं। इन नामभेदों से हमें तो यही प्रतीत होता है कि महर्षि की दृष्टि में वह भी आर्य-सभासद् हो सकता है जिसका कि ५१ मन्तव्यों पर पूर्ण निश्चय न भी हो। परन्तु वह व्यक्ति आर्यसभासद् नहीं हो सकता जिसका कि दस नियमों पर विश्वास नहीं और उनके अनुकूल जिसके आचरण नहीं। क्योंकि ५१ सिद्धान्तों का 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' यह नाम रख कर महर्षि यह जतला रहे हैं कि ये मन्तव्य उनके 'स्व' हैं अर्थात् निज के हैं। वे प्रत्येक सभासद् के लिये इनका मानना आर्यसभासद् के रूप में आवश्यक न समझते थे। वे आर्यसमाज के दस नियमों को ही आर्यसभासदी के लिये आवश्यक समझते थे, यही भाव उन नियमों के नामकरण से हमें स्पष्ट प्रतीत होता है। यद्यपि सत्यार्थप्रकाश में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' के प्रकरण के अन्त में महर्षि ने यह लिखा है कि, "ये सिद्धान्त सर्व भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावें" तथापि इससे यही सूचित होता है कि महर्षि की यह इच्छा तो थी कि इन विचारों का सर्वत्र प्रचार हो परन्तु उनकी यह इच्छा कदापि न थी कि जो लोग १० नियमों को मानते हुए भी उनसे विरुद्ध ख्यालात रखते हों, वे आर्यसमाज के सभासद् न बन सकेंगे और इन ५१ सिद्धान्तों पर विश्वास रखने वाले आर्य-समाजियों का यह अधिकार हो कि वे उन लोगों

पर जो कि इन ५१ सिद्धन्तों पर विश्वास नहीं रखते, महर्षि के नाम पर अत्याचार कर सकें और उन्हें अनार्य कह सकें।

४—आर्यमित्र के सम्पादक श्री हरिशंकरजी शर्मा का त्यागपत्र

हमने यह समाचार बड़े ही खिन्नचित्त होकर सुना कि आर्यजगत् के प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र आर्य-मित्र के सुयोग्य सम्पादक श्री पं० हरिशंकरजी शर्मा ने नवीन 'अधिष्ठाता आर्य मित्र' के किसी अनुचित व्यवहार से बाधित होकर आर्यमित्र के सम्पादक पद से त्याग पत्र दे दिया है। यह खेद प्रायः सभी सहृदय सम्पादकों को हुआ है। जिसके फलस्वरूप आगरा के हिन्दी पत्रकारों ने आगरा नागरी प्रचारणी सभा के भवन में एकत्र होकर श्री पं० हरिशंकरजी शर्मा के त्यागपत्र के कारणों पर श्री अध्यापक राम-रत्नजी के सभापतित्व में विचार करके एक प्रस्ताव पास किया है। जिसको देखकर विदित होता है कि श्री पं० हरिशंकरजी शर्मा के त्यागपत्र के लिये कतिपय गम्भीर कारण विद्यमान हैं। उक्त परिडतजी की चिरसाहित्य-सेवा पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि आर्य संसार भूरि २ उनकी सेवाओं के लिये ऋणी है। सिवाय इसके आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० के अधीन आर्यमित्र के सम्पादन कार्य को जिस योग्यता और परिश्रम से आपने किया वह एक मिनट के लिये भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

आप के हृदय में विद्यमान एवं वंशपरम्परा से प्राप्त स्वाभाविक कवित्व कला ने तो आर्यमित्र के स्तम्भों में जागृति ही डाल रखी थी। आर्यमित्र पत्र को शोचनीय दशा से उठाकर आपने शनैः २ जैसा लोक प्रिय बना दिया है उसे हम क्षण भर के लिये भी नहीं भूल सकते।

ऐसे आर्य कवि, विद्वान् सहृदय, गुणवान् पंडितजी को तुच्छ २ कारणों पर असन्तुष्ट करके आर्यमित्र के अधिष्ठाता महाशय ने सम्पादक पद से त्याग पत्र देने के लिये बाधित कर जो खेदजनक कार्य किया है हमें आर्यसमाज, आर्यमित्र और आर्य साहित्य के भविष्य के लिये वह बड़ा ही हानिकारक, गौरव-विघा-तक प्रतीत होता है। चाहे संस्था के अधिकारी सम-झते हों कि हम अपने वैयक्तिक अधिकारों के बल पर चाहे जिसको हटाकर दूसरे से अपना कार्य चला सकेंगे। परन्तु उनका यह समझना विवेकपूर्ण नहीं है। योग्य मस्तिष्क और योग्य व्यक्ति को हाथ से अकारण एक वार खो देना बने बनाये कार्य को नाश कर देता है। और फिर उस कोटि का अनुभवी, सहृदय और परिश्रमी कार्यकर्त्ता दूसरी वार लाख ढूंढने पर भी नहीं मिलता।

हमें निश्चय है कि उक्त परिडतजी ने आर्यमित्र में जो भी कभी लेख लिखे वे अपनी जिम्मेवारी कर्त्तव्य और अधिकारों को खूब समझ कर ही लिखें हैं उन जैसे कर्मनिष्ठ, गम्भीर, योग्य, लेखक, कवि, समा-लोचक और आर्य साहित्य के धुरन्धर विचारक और सहयोगी वीर सम्पादक को कार्यक्षेत्र में से खो देना कभी भी बुद्धिमत्ता नहीं कहा जा सकेगा।

हम आर्य प्रतिनिधि सभा के योग्य अधिकारियों से निवेदन करेंगे कि वे श्री पं० हरिशंकरजी शर्मा के त्यागपत्र पर विचार करते हुए दूर दर्शिता से काम लगे।

हमें इस बात का बहुत ही धक्का लगेगा कि 'आर्य-मित्र' का सम्पादन अकारण ही योग्य हाथों से पृथक् होगा।

———

५—वेद में पक्षी के आकार का विमान

अभी तक भी जितने प्रकार के विमान बने हैं वे अपनी परम उन्नति तक नहीं पहुँचे हैं। वैज्ञानिक लोग बहुत अधिक यत्न करने पर अभी उस महत्वपूर्ण ईश्वरीयसृष्टि में वास्तविक विमानरूप पक्षियों की शरीर रचना के सिद्धान्त का सर्वथा अनुकरण नहीं कर सके। उनकी यह भावना अवश्य है कि जो विमान सर्वथा पक्षी की शरीर-रचना के सिद्धान्तों पर होगा वह अधिक वेग से जाने वाला, दृढ़ और स्थायी होगा। अभीतक जो विमान बने हैं उनमें तेल और विद्युत् से चलने वाले यन्त्रों का प्रयोग किया है। उसके कल पुर्जों को चक्रों से घुमाया गया है। वेद नेविना चक्र के पक्षिवत् रचना से युक्त विमान का वर्णन किया है। जो इस प्रकार है।

प्र सु ष विभ्यो मरुतो विरस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा।
अचक्रया यत् स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन् मनवे देवजुष्टम् ॥

भाषार्थ—(यत् सुपर्णः) जो उत्तम वेग से जाने वाला यन्त्र (अचक्रया स्वधया) विना चक्र के अपनेको थामनेवाली शक्ति से मनवे) मननशील बुद्धिमान् पुरुष के लिये (देवजुष्टं हव्यं भरन्) 'देव' अर्थात लेन देन करने वाले व्यापारियों से सेवित ग्राह्य सामग्री को ढो लेजाने में समर्थ होता है, हे (मरुतः) वायुवेग से जाने-वाले विद्वान्जनो! (सः वह यंत्र विमान (विभ्यः विः प्र सु अस्तु) पक्षियों से भी उत्तम वेगवान् और सुख-दायक हो और वह (श्येनेभ्यः श्येनः) बाज पक्षियों से भी अधिक उत्तम वेग से जाने वाला और (आशुपत्वा) अति शीघ्रता से जाने का साधन (प्र अस्तु) हो।

बाज बहुत ही तेज उड़ने वाला पक्षी है। वह अपने वेग से सब पक्षियों को मात कर देता है। वेद का 'सुपर्ण' नामक आकाशयान समस्त पक्षियों को मात करने वाला, सब पक्षियों की सब प्रकार की चालें चलने वाला है, वह बाज से भी शीघ्र चलने में बाजी ले जाने वाला है। उस विमान का वैदिक नाम 'आशुपत्वा सुपर्ण' है। इससे अगले मन्त्र मे 'मनो-जवा-श्येन' का वर्णन है।

जैसे—

भरद् यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र ॥

भा०—(यदि अतः विः वेविजानः उरुणा पथा भरत्) यदि जो इस भूमितल से पक्षी के तुल्य वेग से जाने वाला यन्त्र निरन्तर पक्षों को कंपाता हुआ बड़े भारी आकाश मार्ग से गति करे तो उसे (मनोजवाः असर्जि) मन के समान अतिवेग से जाने वाला बनाया जावे। वह (सोम्येन मधुना) सोम अर्थात् प्रेरकशक्ति से उत्पन्न 'मधु' अग्नि-विद्युत् से संयुक्त वेग से (तूयं ययौ) अति वेग से जा सकता है। (उत) और वह (श्येनः) वेगवान् उत्तम गति वाला यान (अत्र श्रवः विविदे) यहां श्रवण करने योग्य शब्द से जाना जाता है। अर्थात् भूतल पर भी उसका शब्द सुनाई देता है।

• 'सोम' शब्द से यन्त्र में मुख्य प्रेरक पदार्थ अभिप्रेत

है। राजा भोज ने समराङ्गण सूत्रधार ग्रन्थ में पारे को ऐसा पदार्थ स्वीकार किया है। वर्त्तमान में मोटर का तेल या पेट्रोल ऐसा पदार्थ है। वेद ने उससे उत्पन्न दूसरा पदार्थ 'मधु' कहा है। [मधु = ध्मा शब्दाग्निसंयो गयाः] शब्दकारी और अग्नि संयोग वाला पदार्थ मधु है। यन्त्र के संचालने में पेट्रोल में अग्नि या विद्युत के योग से ही मुख्यचक्र के डाट (Piston) को चलाया जाता है। उसके हिलते ही 'वि' या 'श्येन' नामक यन्त्र के दोनों पंख हिलन लगेंगे और वह इस भूतल से उठकर बड़े वेग से आकाश की ओर उठेगा। और आकाश में दूर ले जाने पर भी भूमि पर उसका शब्द सुनाई देगा।

तीसरा विमान लड़ाऊ है जिसका वेद में इसी प्रकरण में ऐसा वर्णन किया है।

आदाय श्येनो अभरत् सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम्।
अत्रा पुरन्धिरजहाद् अरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूराः ॥

भा०—वही (श्येनः) श्येन, अति वेगवान् विमान यन्त्र, (सोमम् आदाय) सोम को ग्रहण करके (सहस्रं सवान् अयुतं च साकम् अभरत) हजारों पदार्थों को लेकर उठा लेजा सकता है। (अत्र) इसमें (पुरन्धिः) पुर का रक्षक नगराध्यक्ष बैठकर (सोमस्य मदे) सोम पदार्थ के बल पर (अमूरः सन् मूराः अरातीः अजहात) स्वयं अमूढ़, सावधान होकर मूढ़ शत्रुसेनाओं का नाश कर सकता है।

इस मन्त्र में भी सोम उसी पदार्थ के लिये है जिसका विवरण पूर्व कह आये हैं। श्येन यन्त्र का 'सोम' को लेकर वेग से जाना उसी प्रकार है जैसे एंजिन पानी लेकर फिर मनों बोझा लेकर चलने में समर्थ होता है या मोटर गाड़ी तेल लेकर फिर मनों बोझा ढोले जाती है। उसी प्रकार यह श्येन नामक विमान भी 'सोम' या प्रेरक पदार्थ अपने में ले कर सहस्रों पदार्थ उठा लेजा सकता है। उस के बल पर नगराध्यक्ष अपने मूढ़, मूर्ख, विमान विद्या को न जानने वाले शत्रु की सेनाओं का नाश कर सकता है। ऐसा अभिप्राय इस मन्त्र से निकलता प्रतीत होता है।

इन मन्त्रों में यद्यपि अन्य पक्षों के अर्थ भी योजना-भेद से स्पष्ट होते हैं परन्तु शिल्पपक्ष में इन स्पष्टार्थों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हम पाठकों का ध्यान वैदिक विज्ञान के इस वर्ष के ही ३य अंक के सम्पादकीय टिप्पणी की ओर खेचेंगे जिसमें राजा भोज के ग्रन्थ के उद्धरण से 'दारुमय महा-विहङ्ग' का वर्णन स्पष्ट किया है। पाठक जन उसके साथ वेद के 'आशुपत्वा श्येन' और 'मनोजवा श्येन' और 'युद्धोपयोगी श्येन' की तुलना करें।

—जयदेव शर्मा विद्यालंकार,
मीमांसातीर्थ

६—अशुद्धि कहां से आई ?

वर्तमान में छूआछूत का प्रश्न एक व्यापक प्रश्न है। वह वर्तमान में एक सामाजिक रूप धारण कर चुका है। मल मूत्र चर्म आदि पदार्थों के व्यवसाय करने वाले वर्गों को हिन्दू समाज ने चिरकाल से अछूत या अस्पृश्य मान लिया है। और इसी पारस्परकि व्याव-हारिक धारणा ने बहुत से वर्गों को अकारण ही

अस्पृश्य माना है। केवल कोई किसी जाति का होने से अस्पृश्य और मलिन है यह विवेकयुक्त निति-संग्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार पदार्थों में भी मलिनता की बुद्धि उत्पन्न होती है। नाना पशु, पक्षी, गर्दभ, काक, नाना जन्तु जो मल में उत्पन्न होते हैं, नाना पदार्थ जैसे मल, मूत्र, चर्म आदि नाना फल जैसे प्याज, लहसुन, गाजर आदि २ पदार्थ अस्पृश्य, मलिन अशुद्ध मान रखे हैं। इस में ऋषि दयानन्द की क्या व्यवस्था है यह एक जानने योग्य बात है।

सत्यार्थ प्रकाश के सब से प्रथम संस्करण में बहुत सी समस्याओं पर बड़ा ही उत्तम प्रकाश डाला है, उनका थोड़ा भी अंश वर्तमान सत्यार्थ प्रकाश में नही है। क्योंकि वह उत्तम प्रकाश भी उसी महा पुरुष के मस्तक की उपज है, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अशुद्धि के विषय पर ऋषि दयानन्द ने निम्न-लिखित विचार सत्यार्थ प्रकाश के (प्रथम संस्करण पृष्ठ २६२) में प्रकट किये है।

प्रश्न-परमेश्वर ने सब पदार्थ शुद्ध रचे हैं या कोई पदार्थ अशुद्ध भी रचे हैं ?

उत्तर—परमेश्वर ने सब पदार्थ अपने २ स्थान में शुद्ध ही रचे हैं, अशुद्ध कोई नहीं। परन्तु विरुद्ध गुण वाले अपने २ प्रतिकूल होने से परस्पर मिलने वा मिलाने के समय उन वस्तुओं को अशुद्ध कहते हैं। जैसे कि दूध और लवण जब मिलते हैं तब वे दोनों दुष्ट नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि दोनों का स्वाद बिगड़ जाता है, परन्तु उन्हीं दोनों का पदार्थविद्या की युक्ति से तृतीय पदार्थ कोई रचले तो फिर भी वह उत्तम हो सकता है। जैसे सर्प, मक्खी, वे भी अपने स्थान में शुद्ध हैं, क्योंकि वैद्यकशास्त्र की युक्ति से इनकी भी बहुत ओषधियां अनुकूल पदार्थ में मिलाने से बनती हैं। परन्तु वे मनुष्य वा किसी (अन्य) को काटें अथवा भोजन में खालेने से दोष करने वाले होते हैं ऐसे ही अन्य पदार्थों का विचार कर लेना। (सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण पृष्ठ २६२)

"और जो अपने देश में रहते है और अन्य देश में जाने तथा वहां के निवासियो का स्पर्श करने में छूत मानते हैं वे विचाररहित पुरुष है। देखना चाहिये कि मुसलमान वा अंग्रेज से छूने में दोष मानते हैं और मुसलमानी या अंगरेज देश की स्त्री के साथ संग करते हैं और अपने घर में रख लेते हैं, उससे कुछ भेद नही रहता, बड़े अन्धेर की बात है कि मुसलमान और अंगरेज जो भले आदमी हैं उनसे तो छूत गिनना और वेश्यादिकों में छूत न मानना यह केवल युक्तिशून्य बात है। (स० प्र० प्रथम संस्क० पृ० २७७,१९०)।

इसी प्रकार भोजनादि के अछूतपने पर भी ऋषि दयानन्द ने अपने विचार प्रकट किये हैं जो किसी अंक में दर्शावेंगे। —जयदेव शर्मा वि० अ०

चारों वेदों के सरल सुबोध भाषा भाष्य

१ सामवेद भाषा-भाष्य

सामवेद भाषा-भाष्य छपकर तैयार होते ही सारे का सारा बिक गया। दूसरा संस्करण तैयार है। पृष्ठ-संख्या ८५० से अधिक। मूल्य ४) रु०।

भाष्य की बड़े-बड़े विद्वानों तथा समाचारपत्रों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। प्रशंसापत्रों की छपी प्रतिलिपि मँगाने पर भेजी जा सकती है।

२ अथर्ववेद भाषा-भाष्य

(चार भागों में)

अथर्ववेद के विषय में लोगों का और सायण जैसे प्रखर विद्वान् आचार्यों का भी यही आग्रह रहा है कि उसमें जादू-टोना और मारण, उच्चाटन, मोहन आदि तान्त्रिक लीला भरी पड़ी है। इस विश्वास का कारण प्रायः अथर्ववेदी कौशिक सूत्र है, परन्तु हमारा विश्वास ऐसा नहीं है। इस सरल भाषा-भाष्य को देखकर सबको विदित हो जायगा कि तन्त्र-मन्त्र की लीला केवल लोगों की मनगढ़न्त है। अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या, राजविद्या और मानव-समाज की उन्नति के लिये सभी उत्तम-उत्तम विद्याओं का बड़ी गम्भीरता और उत्तमता से उपदेश किया गया है। मूल्य चारों भागों का १६) रुपये।

३ यजुर्वेद भाषा-भाष्य

(दो भागों में)

इस भाष्य में महर्षि दयानन्द की दर्शाई दिशा को मुख्यता दी गई है। आवश्यक स्थलों पर अन्य भाष्यों और अनुवादकों के मतभेद और त्रुटियाँ दिखाते हुए विशेषताओं को भी नहीं छिपाया गया। मन्त्रों के साथ शतपथ ब्राह्मण के पते आदि भी दिये गये हैं। भूमिका में वेद का परिचय लिखा गया है। मूल्य दोनों भागों का ८) रु०

४ ऋग्वेद भाषा-भाष्य

(पाँच भागों में)

इसमें महर्षि दयानन्द कृत संस्कृत-भाष्य शैली को अनुसरण करते हुए भाषा-भाष्य किया गया है और जिन भागों पर महर्षि दयानन्द का भाष्य नहीं है, उन पर भी सरल भाष्य कर दिया गया है। स्थान-स्थान पर अन्य भाष्यकारों की विशेषता दर्शाई गई है। भूमिका में ऋग्वेद का परिचय देते हुए ऋग्वेद से सम्बद्ध कल्पित इतिहासों का भी विवेचन किया गया है। प्रथम भाग छप गया। आगे छप रहा है। मूल्य पाँचों भागों का २०)रु०

वेद-भाष्य के स्थिर ग्राहक होने के नियम

१—जो महाशय १) पेशगी कार्यालय में जमा कराकर अपना नाम स्थिर ग्राहकों में लिखवा लेंगे, वे चारों वेदों के भाष्य के स्थिर ग्राहक होंगे, उनको प्रथम जिल्द के साथ ही १) की रसीद दी जायगी। यह १) रु० अन्तिम भाग के मूल्य में मुजरा कर दिया जायगा।

२—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की प्रत्येक जिल्द ३) रु० में ही प्राप्त हो सकेगी।

३—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की कुल जिल्दें लेना आवश्यक होगा।

४—वेद-भाष्य में चारों वेदों का भाष्य अनुमानतः १२ जिल्दों में पूर्ण कर दिया जायगा और जो जो जिल्द प्रकाशित होती जायगी, वह वह क्रमशः स्थिर ग्राहकों को वी० पी० द्वारा भेजदी जाया करेगी। मार्ग-व्यय मूल्य से पृथक् लिया जायगा।

५—जिनकी वी० पी० लौट आवेगी उनका मार्ग-व्यय पेशगी से काट लिया जायगा और उनकी ओर से बिना दूसरी सूचना प्राप्त किये उनको पुनः वी० पी० न भेजी जायगी।

प्रबन्धकर्त्ता—"आर्य्य साहित्य मण्डल लिमिटेड," अजमेर.

प्रथम भाग छप कर तैयार होगया।

महर्षि दयानन्द के निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी का प्रामाणिक

जीवन-चरित

ऋषि के अनन्य भक्त स्वर्गीय श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी. मेरठ. द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्रबाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक का भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान न होते हुए भी इस कार्य को बिना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का सङ्कल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफ़र करना पड़ा और एक-एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री संकलित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्रारम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवन-चरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही रह गई। इस हृदय-विदारक समाचार को पाकर—

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, (जो देवेन्द्रबाबू के परम परिचितों में थे) ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक काग़ज़ को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी वर्षों परिश्रम और बहुतसा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों काग़ज़, हज़ारों छोटे छोटे पुर्जे, नोट-बुकें और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक होगा।

यह जीवन-चरित लगभग ८०० रायल अठपेजी के पृष्ठों में समाप्त होगा, बहुत से सादे व तिरंगे चित्र होंगे और मनोहर सुनहरी जिल्द होगी। इसकी १००० प्रतियों के छपाने व प्रकाशित करने आदि में ७, ८ हज़ार रुपया व्यय कूता गया है। इतना द्रव्य व्यय करने से एक पुस्तक पर लगभग ८) रु० लागत आती है। इतना मूल्यवान ग्रन्थ आर्य-सभासद् तथा आर्यसमाजों के अतिरिक्त और कौन ले सकता है, आर्यमित्र तथा आर्य-मार्तण्ड ने इस जीवन-चरित के प्रकाशन के लिए बहुत आन्दोलन किया, फिर भी कोई प्रकाशक आगे न आया। ऐसी परिस्थिति देख तथा महर्षि दयानन्द के प्रति अपना परम कर्त्तव्य समझ—

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर,

ने इसके प्रकाशन का कार्य अपने ऊपर लिया है और **प्रथम भाग छप कर तैयार भी होगया है।**

हज़ारों आर्यसमाजों व लाखों सभासदों के होते हुए ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक हज़ार प्रतियां बात की बात में बिक सकती हैं, यदि ऋषि के अनुगामी उसके सच्चे तथा प्रामाणिक जीवन-चरित को अपने अपने घरों व समाजों में रखना तथा उसका नित्य स्वाध्याय करना अपना परम कर्तव्य समझलें।

यह बात फिर नोट कर लेनी चाहिये कि यह जीवन-चरित बहुत ही अपूर्व व अमूल्य है, इसका बार-बार प्रकाशित होना बहुत कठिन काम है, अतः आर्डर भेजने में विलम्ब न करना चाहिये।

मैनेजिंग डाइरेक्टर,—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।

वर्ष २] अप्रेल सन् १९३४ ई० [अंक ७

ओ३म्

वैदिक विज्ञान

आर्य्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुख्यपत्र

महर्षि दयानन्द सरस्वती

अवैतनिक सम्पादक—प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।),नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये

२—"वैदिक विज्ञान'' प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान'' में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफिस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफिस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो,अपने ही पोस्ट आफिस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:- प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायेंगे।

साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१२) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१०) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी देना होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१—वेदोपदेश		२८०
२—दार्शनिक विचार हमारे जीवन में ओत प्रोत हैं	[ले०—श्री पं० आत्मानन्दजी विद्यालंकार लाहौर]	२८१
३ वर्णाश्रम धर्म	[ले०—श्री पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी]	२८५
४—स्वामी हरप्रसादजी और महर्षि दयानन्दजी के मन्तव्य, और वेद	[ले०—श्री प० भक्तरामजी डिगा]	२९८
५—अद्भुत वीर महर्षि दयानन्द (कविता)	[ले० – श्री ओमप्रकाशजी शास्त्री, महाविद्यालय ज्वालापुर]	३१०
६—वैदिक काम-विज्ञान	[ले०—श्री हरगुलालजी]	३११
७—वैदिक राष्ट्रगीत	[ले०- श्री नरदेवजी || \ ]	३१९
८—सम्पादकीय टिप्पणियां		३२०
९—साहित्य-समालोचना		३२४

॥ ओ३म् ॥

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २ | वैशाख संवत् १९९१ वि०, अप्रेल सन् १९३४ ई० | सं० ७

वेदोपदेश

क्रोध पर विजय

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनां अनु ।

यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदापृणद् घृतेन ॥ अथर्व० ७ । ५९ । १ ॥

"काटने के ढंग से बोलते हुए मेरी जो वाणी विक्षुब्ध हुई है, मांगने के निमित्त सर्व साधारण मनुष्यों में विचरते हुए जो मेरी वाणी विक्षुब्ध हुई है, मेरे आत्मा में या शरीर में जो हिंसा उत्पन्न हुई है—सरस्वती अपने प्रकाश के द्वारा उस को पूरा करे।"

यह मंत्र वाणी, आत्मा, और मन की हिंसा को दूर करने के उपाय का उपदेश देता है।

१—कई मनुष्यों की आदत होती है कि वे जिस किसी से भी बोलते हैं तो काटने के ढंग से बोलते हैं। उन्हें ज़रा सी बात में भी गुस्सा आ जाता है। ऐसे लोगों के दिलों में धैर्य की मात्रा कम हुआ करती है। चूँकि ये लोग काटने के ढंग से बोलते हैं इसलिये इनकी ज़ुबान में, वाणी में सदा विक्षोभ रहता है। ज़रा सी बात प्रतिकूल हुई कि ये बात करने वाले को

मानो काटने को उद्यत हो जाते हैं। यह काटना जबान का काटना है। ऐसे गुस्से वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में लोग कहा करते हैं कि वह तो काटने को दौड़ता है, उससे बात चीत कैसे की जाय ?।

२—आजकल चन्दा मांगने का जमाना है। प्रत्येक सोसाईटी चन्दों के जोर पर चल रही है। परन्तु विना चन्दा मांगे काम भी नहीं चलता। यदि लोग स्वयं भले काम करने वाली संस्थाओं को विना मांगे दान नहीं देते तो संस्थाओं के संचालकों को इन धनिकों के पास जाना पड़ता है। ये संचालक जगह २ घूमते हैं, घर २ चन्दा मांगते हैं। चन्दा मांगते हुए कभी तो इन्हें सुखमय अनुभूतियां होती हैं जो कि इस कार्य में इन के उत्साह को बढ़ा देती हैं और कभी २ कटु अनुभूतियां भी होती हैं। धनिक लोग कभी २ ऐसे महानुभावों का अनादर कर देते हैं। ऐसे अनादर को देख कर चन्दा मांगने वालों को भी कभी २ गुस्सा आ जाता है। वेद इन्हें उपदेश देता है कि ऐसी अवस्था में भी गुस्सा नहीं करना चाहिये। अपने आप को, अनादर की अवस्था में भी, संयम से रखना चाहिये। वेद ऐसे व्यक्तियों के मुख से ये शब्द निकल वाता है कि "चन्दा मांगने के लिये घर २ घूमते हुए यदि कभी हमारी वाणी में कारणवश विक्षोभ पैदा हो जाता है तो उसे भी हम दूर करने की कोशिश करेंगे"।

वास्तव में जो मांगने के लिये,—अपने स्वार्थ के निमित्त नहीं, अपितु भले कामों को उन्नति देने के लिये उद्यत हुआ है, उसे आत्मसंयम का काफी अभ्यास चाहिये। लोगों द्वारा किये गये अनादर को भी सह जाना चाहिये।

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥ मनु० २।१६२॥

३—इस गुस्से की आदत से आत्मा तथा शरीर हिंसित हो जाता है। गुस्से के स्वभाव वाला व्यक्ति आत्मिक उन्नति क्या कर सकेगा? जिस की चित्तवृत्ति का जल गुस्से की मन्द वायु से भी तरंगित हो उठता है वह आत्मिकोन्नति के मार्ग पर कैसे बढ़ सकता है? गुस्सा करने वाला व्यक्ति अपने आत्मा की हिंसा कर देता है। यद्यपि आत्मा अनादि और अनन्त है, आत्मा की हिंसा नहीं हो सकती, तो भी आत्मा की वह हिंसा ही समझनी चाहिये यदि व्यक्ति में आत्मिक-जीवन प्रधान नहीं है। शारीरिक जीवन का निर्वाह तो पशु-पक्षी और कीट-पतंग सभी कर रहे हैं। परन्तु मनुष्यों को जो मनुष्य का शरीर मिला है, युक्ति तथा तर्क मिले हैं, समझ तथा विचार की उत्तम शक्ति मिली है—यह सब कुछ इसीलिये मनुष्य को मिला है कि वह अपने आत्मा की शक्तियों का अधिक विकास कर सके, न कि पशु-पक्षियों और कीट-पतंग की न्याई अपने शारीरिक जीवन में ही मनुष्य जीवन को पाने का उद्देश्य पूरा समझ बैठे। बढ़े हुए कामादि भाव आत्मा की उन्नति के मार्ग के रोड़े हैं। गुस्सा भी आत्मिक उन्नति का विघातक है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने गुस्से को अपने वश में रखे, चन्दा मांगने वाले व्यक्तियों को तो गुस्से के रोकने में विशेष बलवान् होना चाहिये।

४ यही नहीं कि गुस्सा आत्मिक-उन्नति को ही रोक देता है, आत्मा की हिंसा ही करता है, अपितु गुस्सा शरीर की भी हिंसा कर देता है। गुस्सा करने वाले के शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता

है, उस का रक्त गुस्से की आग में सूखता चला जाता है—इस प्रकार उस के शरीर की भी हिंसा होती रहती है। इसलिये इस गुस्से की आदत को छोड़ देना चाहिये।

५—परन्तु गुस्से की आदत छूटे कैसे ?

वेद ने उपदेश दिया कि सरस्वती अर्थात् विद्या या ज्ञान के प्रकाश द्वारा गुस्से की गन्दी आदत दूर हो सकती है। वास्तव में मनुष्य में जब ज्ञान का उग्र प्रकाश हो उठता है तो उस के समग्र जीवन में भारी परिवर्त्तन हो जाता है। जैसे २ वह समझने लगता है कि गुस्सा आदि दुर्भाव उस के वस्तुतः शत्रु ही हैं तब शनैः २ वह इन दुर्भावों को त्याग देने का यत्न करता रहता है। इसलिये ज्ञानमार्ग का अवलम्बन प्रत्येक मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है।

दार्शनिक विचार हमारे जीवन में ओत प्रोत हैं

[ले०—श्री पं० आत्मानन्दजी विद्यालंकार, लाहौर]

साधारणतया देखने से यह प्रतीत होता है कि हमें दार्शनिक विचारों से कोई काम नहीं पड़ता, परन्तु ज़रा शान्ति से सोचें तो स्पष्ट दीखने लगता है कि दार्शनिक विचार हमारे जीवन में ओत प्रोत हैं। हम दार्शनिक शब्दों में उन्हें सदा नहीं कहते, कभी व्यावहारिक भाषा में कहते हैं कभी दार्शनिक भाषा में। दो प्रकार से हम उन्हें जीवन में समाया पाते हैं।

(१) प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में उनका विकास देखता जाता है अर्थात् उसके जीवन को यदि १२॥ या १० साल के भागों बांटें और १०० वर्ष की आयु तक उसके दृष्टिकोण और इच्छाओं को सूक्ष्म या स्थूल दृष्टि से देखते जायं तो बड़ा स्पष्ट और सुन्दर विकास दीखता है। जैसे

प्रायः प्रथम बारह वर्ष में प्रत्येक मनुष्य चार्वाक है
„ द्वितीय बारह वर्ष में „ „ बौद्ध और जैन है।
तृतीय बारह वर्ष में प्रत्येक मनुष्य नैय्यायिक है
चतुर्थ „ „ „ „ „ वैशेषिक है
पञ्चम „ „ „ „ „ सांख्यवादी है
षष्ठ „ „ „ „ „ योगवादी है
सप्तम „ „ „ „ „ मीमांसक है
अष्टम, बारह वर्षों में वेदान्ती या ब्रह्मवादी है

स्मरण रहे हम अभाव का शुक्ल पक्ष (Bright-side) विशेषतया ले रहे हैं। चार्वाक का जीवन सूत्र है चारु मार्ग से जाना। पहले जीवन के १२ वर्षों में प्रत्येक मनुष्य मधुर, सुन्दर, इन्द्रिय के विषयों की ओर ही झुका रहता है। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श की चीजें ही उसका मुख्य ध्येय रहता है। इसी लिये पुरातन शिक्षा पद्धति में ८ वर्ष तक पितृगृह में रहकर गुरुकुल में भी आरम्भ में स्थूल कर्म गोपालन, गृहसंमार्जन लेपन, कुटीनिर्माण, जलानयन, समिधाहरण आदि स्थूल हस्तकर्म से वह वञ्चित नहीं रहता था और

योग्य आधुनिक, मान्टिसेरी, प्रोजेक्ट, डाल्टन पद्धतियां भी बच्चे की स्थूल, चारुमार्गावलम्बिनी दृष्टि को ध्यान में रखकर ही उसके विकास के साधन उपस्थित करती हैं।

अर्थात् चार्वाक विचार समूह का शुक्ल पक्ष लिया जाय तो प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक धर्म सा हो जाता है कि वह अपने बच्चों को इसी मार्ग से ले जाय। ज़रा विस्तार से समष्टि दृष्टि से देखें तो १२ वर्ष की बाल प्रजा के लिये संसार में अन्न, पान, खिलौने खेल, प्रकृतिदर्शन, सूर्य चन्द्र, तारामण्डल, नदी, सरोवर, पर्वत आदि का दर्शन आवश्यक हो जाता है। इसके बिना न उनकी तृप्ति होती है और न उनका पूर्ण विकास ही होता है इसलिये बच्चों को भलामानस चार्वाक बनने देना चाहिये और उनसे बहुत बड़ी आशा नहीं रखनी चाहिये।

इससे आगे मनुष्य स्वभावतः बौद्ध बनता है। बौद्ध मत का शुक्लपक्ष और जीवन सूत्र है विशुद्ध केवल बुद्धि को प्रमाण मानना। चार्वाक से प्रत्यक्ष प्रमाण ले लिया कुछ आगे बढ़कर मन ने सोचा केवल इस मार्ग से न आनन्द है न मनोविकास, इसलिये बुद्धि जो चिन्तन करे, साक्षी दे, मार्ग सुझाये वही ठीक है, प्रामाणिक है, इसी लिये १२ से २५ वर्ष की तरुण-जनता, तरुण प्रजा बुद्धिप्रधान, तर्कप्रधान, युक्तिप्रधान, या ऊहाप्रधान, होती है और सब वस्तुओं को अनुमान प्रमाण पर घटाना चाहती है यदि वस्तु इस कसोटी पर ठीक ठहरे तो ठीक, नहीं तो सब संशय कोटि में आ जावे। शब्द प्रमाण का भार उनसे उठाये नहीं उठता, प्रत्यक्ष और अनुमान उन्हें अधिक प्रिय हैं। जब यह प्रवृत्ति तरुण जनता में संसार-व्यापिनी है अर्थात् इंग्लैण्ड, जरमनी अमरीका, जापान, फ्रांस, भारत अफ़गानिस्थान, चीन आदि सभी देशों के मनोविज्ञान-शास्त्री यही अपना अपना मत प्रकट करें कि इस आयु में सब बालक बौद्ध होते हैं, बुद्धिप्रधान [बुद्धया प्रवर्तन्ते इति बौद्धाः] हैं, अपनी मति जो मानें उसे ही ठीक मानते हैं तो उनके अनेक विद्याओं के द्वारा बुद्धिविकास ही ठीक ठहरता है यही उनका ध्येय, यही लक्ष्य, यही प्रयोजन है यही जीवन सूत्र है। जैनी इनके बड़े भाई हैं, वे ज़रा ज्यादा श्रद्धावान् हैं और न्याय-वैशेषिक विचार पद्धति और बौद्धपद्धति के मध्य में ठहरते हैं। स्मरण रहे हम प्रायिक प्रवृत्ति ले रहे हैं। कई बालक अपना चार्वाक काल, या बौद्धकाल जल्दी समाप्त कर लेते हैं कई दो तीन वर्ष और ऊपर ऊपर ले जाते हैं इस लिये हमें निराश नहीं होना चाहिये परन्तु आशा और श्रद्धा से उन्हें उच्च उच्चतर मार्ग, उच्च उच्चतर, उच्चतम लक्ष्य या दर्शन, या दृष्टि बिन्दु की और खेंचना चाहिये। अब कुछ विचार पकने पर अपनी आत्मानुभूति आरम्भ होती है। गुण-गुणी का सम्बन्ध स्पष्ट दीखता है, मनुष्य स्वयं सामान्य विशेष को समझने लगता है नयी नयी व्याप्ति बनाता है। संसार की वस्तुओं को वैशेषिक और नैयायिक दृष्टि से देखता है किस वस्तु में क्या गुण हैं। इस दृष्टि से वर्गीकरण (classification) जाति, उपजाति में बनाता और प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान शब्द चारों प्रमाणों को काम में लाना चाहता है। गृहस्थ होने से कुछ विचार भी स्थिर होने लगते हैं, अपनी बुद्धि के साथ साथ दूसरों के शास्त्रों को भी प्रमाण मानने लगता है, कुछ कुछ वेदानुयायी तार्किक बनता है, तर्कवाद तो रखता है पर किसी सनातन

सत्यों के आधार पर। यह प्रवृत्ति भी यह दृष्टि भी संसार व्यापिनी सी है लगभग ४५।५० वर्ष की आयुतक मनुष्य चाहता है कि कुछ चार्वाक, कुछ बौद्ध, कुछ न्याय वैशेषिकका पक्षपाती बना रहूं और मेरे ऊपर जबर्दस्ती अध्यात्मवाद का बोझा न पड़े, यह उसका स्वभाव सा है, अब शनैः-शनैः वह सांख्य के दृष्टिबिन्दु में, सांख्य मार्ग से प्रवेश करता है और उसे पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय, मन, चित्त अहंकार, बुद्धि से परे आत्म-दर्शन की लालसा होती है। क्या करे? विकास की यही सीढ़ी है। वह लाचार है, वह मजबूर है, इस मंजिल पर वह कुदरत से पहुँचाया गया है। उसके लिये इसी सांख्य दृष्टि के पुष्ट करने वाली साधन-सामग्री जुटाई जानी चाहिये तभी उसे शान्ति मिलती है। बुद्धि से परे आत्मदर्शन की ओर झुकाव का काल आ गया अब उसे प्रकृति से आत्मा का भेद भाता और भासता है, स्पष्ट दीखता है, मिटाये नहीं मिटता। अब वह इसका अधिकारी है अब उसके हाथ में सांख्य दर्शन दो, नहीं तो वह स्वयं तुमसे छीन लेगा। उसे वानप्रस्थ में जाने दो। पूर्व दृष्टियों का, विचारों का रोमन्थ स्थिरासन लगा कर अब वह करे और प्रकृति के तुष को परे कर दे, आत्मा के धान्य को वह चुने, बीने, यह उसकी स्वतः-विकास-लब्ध प्रवृत्ति है। क्यों? है न? इसके बाद योगमार्ग से वह यम-नियम में सिद्ध हो पक जावे, स्थिर आसन वाला हो, भगवान् का ध्यान करना सीखे। स्वतः रस आयगा। पर यह तय्यारी है संन्यास के पूर्व भाग के लिये, परोपकार के लिये, सच्चे मीमांसक बनने के लिये, सच्चे याज्ञिक, पूरे परोपकारी बनने के लिये। यज्ञ केवल स्थूल नहीं, आध्यात्मिक, सामाजिक यज्ञ भी लोकोपकार ही उसका मुख्य लक्ष्य है। लेकिन उपकार, कर्मयोग भी अधूरा है, यदि मनुष्य इससे पीछा न छुड़ाये। काल आने पर, शरीर के घूमने, फिरने, उपदेश देने लोकसेवा के कुछ अयोग्य होने पर, लोगों के कलह, क्लेश, जड़ता, बुद्धि-वैचित्र्य, रुचिभेद से थककर। आत्मशान्ति के लिये, आत्मरति के लिये वेदान्ती, ब्रह्मवादी, ब्रह्मदर्शी, उपनिषद्-प्रिय, बनना स्वाभाविक है। शुष्क चार्वाक बन खूब आनन्द लिया। शुष्क बौद्ध-जैन भी बने, नैयायिक भी बने, वैशेषिक भी, सांख्यवादी बन कर अन्तर्मुख प्रवृत्ति की, योग से पूर्ण आस्तिक भगवद्भक्त भी बने और और इस योग्य भी बने, सच्चे स्थिर अच्युत, न डिगने वाले, याज्ञिक परोपकारी भी बने और जब शरीर उपकार करने की सामर्थ्य न रहे, मीमांसक का कम लोकोपकार समाप्त हो, तो सच्चे स्थिर सिद्ध वेदान्ती बनकर आनन्द लिया अब मनुष्य परम ब्रह्म में भी लीन हो।

यह तो हुआ मनुष्य का व्यक्ति रूप से बुद्धिविकास और आत्मविकास। अब समूची जाति में कोई वर्ग, Group अपने विचारों की दृष्टि से चार्वाक है। उन वर्गों, जातियों, देशों और सभ्यताओं और संस्कृतियों पर चार्वाकत्व के चारु मार्ग, मधुर मार्ग "खाओ पीओ मौजें करो" के मार्ग की छाप है, भावना है, प्रवृत्ति है, झुकाव है, लक्ष्य है, ध्येय है वे क्या करें? मजबूर हैं लाचार हैं, उनका विकास अभी इतना ही हुआ है। हां, जिन देशों की संस्कृति, सभ्यता ऊँची हो जो इन से ऊपर की भूमिका में हों वे हाथ पकड़ कर इन्हें उठायें। अफ्रीका की जातियाँ यदि चार्वाक-स्टेज पर हैं तो शिक्षा-दीक्षा से उन्हें बौद्धभूमिका पर लाना

चाहिये। जातियों का कर्त्तव्य है यह परोपकार है, इसी लिये योग्य बुद्धिप्रधान, साहसप्रधान जातियां यदि इन्हें चार्वाक भूमिका से बौद्धभूमिका तक उठा लावें तो न्याय-भूमिका और वैशेषिक-भूमिका पर बैठी जातियों, व्यक्तियों, वर्गों को खुश होना चाहिये यदि नीयत, साफ हो, ध्येय शुद्ध हो, भावना पावनी हो तो जल की गति की तरह यह विचार फैलते रहते हैं। हिन्दू जाति कल्पित वेदान्ती बन बैठी हो तो हमें सच्चे सुखी, शुक्लपक्ष वाला चार्वाक बनाने के लिये यूरोपीय चार्वाक बौद्ध जातियाँ हमारे ऊपर शासन कर हमें चार्वाक बौद्ध बनावें तो विचारों और उन के परिणामों की दृष्टि से हम पर परोपकार ही है। यदि हम सांख्य भूमिका पर बैठे हैं तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम इन योरुप के बौद्ध और वैशेषिकवादी अर्थात् रसायण भौतिकी आदि शास्त्रवेत्ता जनों को सांख्यदृष्टि में शिक्षा दीक्षा दें और मन Brain और आत्मा का भेद दिखावें, इन्हें आत्मदर्शन की ओर झुकावें। विचारों के इतिहास में जातियें इस प्रकार उठती गिरती हैं। उत्तर—परिणामवाद और अधः परिणामवाद दोनों करते हैं और तो इन दार्शनिक विचारों की "खिचड़ी" भी बनती हैं। अर्थात् ऐसे मनुष्य भी होते हैं जो कुछ चार्वाक, कुछ बौद्ध, कुछ वेदान्ती, कुछ सांख्यवादी कई दूसरी दृष्टियों का संमिश्रण कर अभी नहीं होते हैं परन्तु सूक्ष्मा दृष्टि से उनके गुण, कर्म, स्वभाव, विचार, बुद्धि प्रवृत्ति, वासना आदि का विश्लेशण किया जाय तो Chemical Analysis की तरह मूल-तत्त्व इन आठ दर्शिनिक विचारों के मिलेंगे। परस्पर मित्रों को भी ऐसे ही परस्पर दृष्टि कोण, समझने चाहियें उसी दृष्टि से उससे वर्तना चाहिये। पति-पत्नी में भी कोई किसी भूमिका तक होता है कोई किसी भूमिका तक। उन्हें भी इसी सिद्धान्त को दृष्टि-मध्ये रखना चाहिये इस से काम आसानी से चलेगा और कलह-क्लेश कम होगा। वे निश्चित रूप से एक दूसरे के स्वभाव को समझ कर उसी दृष्टि से परस्पर वर्तेंगे। इस प्रकार हमने देखा कि एक-एक मनुष्य के विकास को रक्खें तो १०० वर्ष की आयुतक "गन्ने की पोरियों" की तरह कैसे एक दूसरे से जीवन की दशाएं (Stages) ऊपर ऊपर से मिली हैं यह अलग २ दीखती भी हैं। याद रहे चार्वाक बाहर का निकला हुआ हिस्सा है, नीचे नीचे स्थूल, पका हुआ अधिक अधिक मीठा, दृढ़ भाग उच्च उच्चतर दर्शनों के रूप में मिलता जायगा।

यह लिख कर कुछ परिणाम निकालने आवश्यक हैं।

(१) जीवन में आयु के क्रम में विचार-विकास स्वाभाविक है।

(२) इसलिये ये दार्शनिक सम्प्रदाय स्वाभाविक हैं, सदा से आये हैं, सदा रहेंगे।

(३) इनमें उत्तरोत्तर भूमि का सम्बन्ध है। व्यक्ति और समष्टि दोनों भेदों से।

(४) साधारणतया आयु की पोरियां मपी हुई हैं, पर व्यक्तिभेद से थोड़ा थोड़ा भेद है।

(५) उत्तरोत्तर भूमिका पर ले जाने के लिये जातीय नेताओं और व्यक्तियों को साधन उपस्थित करते रहना चाहिये।

(६) नहीं तो अपने को अलग सम्प्रदाय लोग मानने लगते हैं जैसे अलग अलग कटी गन्ने की पोरियाँ।

(७) परोपकार का एक क्षेत्र यह दार्शनिक-विचार-क्षेत्र भी है इसमें भी उच्च, उच्चतर, उच्चतम दृष्टि की ओर खेंचकर लाना चाहिये।

(८) आर्यसमाज का दसवाँ नियम यहाँ भी लागू होना चाहिये कि वेदान्ती, मीमांसक को मीमांसक योगवादी को, योगवादी, सांख्यवादी को सांख्यवादी, न्याय वैशेषिक को और ये बौद्धों और जैनियों को और बौद्ध चार्वाकों को अपनी अपनी भूमिका के मंजिल तक लावें यह भी परोपकार है।

(९) जातियें और वर्ग भी परस्पर ऐसा ही करें। वे भी उच्च सच्ची सभ्यता को देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में फैलावें।

(१०) नास्तिक सम्प्रदायों को करुणा दृष्टि से देखकर उनका सत्पक्ष और शुक्ल पक्ष भी देखा जाय, केवल असत्पक्ष या कृष्ण ही नहीं। और उन्हें उच्चतर भूमि का पर लाया जाय।

(११) शिक्षा पद्धतियों, मित्र व्यवहार, गुरुशिष्य सम्बन्ध, पतिपत्नी सम्बन्ध, राज-प्रजा सम्बन्ध में इस विचारपरम्परा का ध्यान रखा जावे।

इन बातों को ध्यान में रख कर हम निम्नलिखित वेदमन्त्र द्वारा वैदिक विज्ञान की एक विश्वविदित और विश्वव्यापिनी सचाई बता सकते हैं कि—

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे।"

एक जैसे आँख कान वाले सखा लोग मनोजव अर्थात् बुद्धि की दौड़ में असमान होते हैं वे एक जैसे नहीं होते और एक जैसे नहीं रहते। कई आदमी के जानु तक और कोई कमर तक गहरे जल वाले सरोवर होते हैं, कई इससे कम गहरे होते हैं तथा कई स्नानयोग्य तालाबों के समान अत्यन्त गहरे दिखाई देते हैं। उनकी गहराई भीतर घुसने से ही पता लगती है।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

आयु में बुद्धिविकास के भिन्न २ नाम

जीवन के वर्ष	दार्शनिक सम्प्रदाय और आश्रम		दायरा, कोश या परिधि या गहराई आवरण, या चादर, या छाप	सात्विक राजस या तामस
लगभग १—१२ तक	चार्वाक	ब्रह्मचर्य पूर्वार्ध	अन्नमय कोश प्राणमय कोश	—तामस
,, १२—२४ तक	बौद्ध जैन	ब्रह्मचर्य उत्तरार्ध	प्राणमय कोश मनोमय कोश	—तामस, राजस
२९ से ४८ तक	वैशेषिक न्याय	पूर्वार्ध उत्तरार्ध गृहस्थ	प्राणमय कोष मनोमय कोश विज्ञानमय कोश	—राजस, सात्विक

आयु		आश्रम	कोश	
४८ से ६० तक	सांख्य	पूर्वार्ध	मनोमय कोश विज्ञानमय कोश	—ईषत् सात्विक
		वानप्रस्थ		
६० से ७२ तक	योग	उत्तरार्ध	विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश	—सात्विक
७२ से ८४ तक	मीमांसक; याज्ञिक लोकोपकारी	पूर्वार्ध संन्यास	विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश	—सात्विकतर
८४ से ९६ तक	वेदान्ती, ब्रह्मदर्शी	उत्तरार्ध संन्यास	विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश	—सात्विक तम

दार्शनिक बुद्धिविकास का इक्षुदण्ड (गन्ना)

(जितना गहरा उतना मीठा और दृढ़)
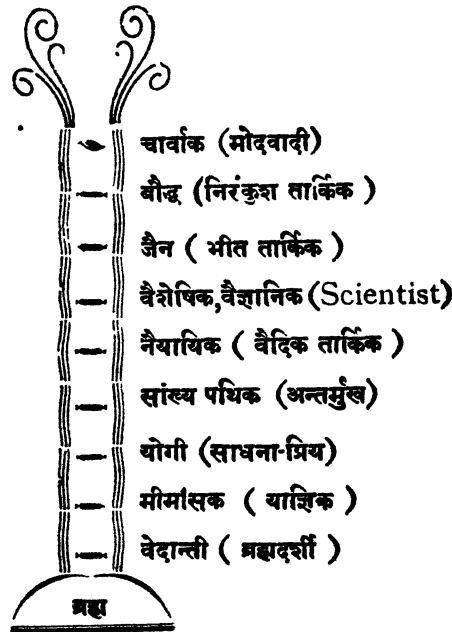
वर्णाश्रम-धर्म

[ले०—श्री पं० चन्द्रकान्तजी वेदवाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी]

(३)

अब तक सामान्यतया वर्णव्यवस्था के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का हमने प्रयत्न किया है। अब विशेषतः अलग २ वर्णों के कर्त्तव्य स्पष्टरूप से देखते हैं। हम ने यह देखा है कि वर्ण-व्यवस्था स्वार्थ और परार्थ वाद का सुन्दर सामञ्जस्य है। इस व्यवस्था में रहने वालों का स्वार्थ भी परार्थ के लिये ही बना रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने २ वर्णों के अनुसार कर्त्तव्य हैं, जो कि व्यक्ति और समष्टि की दृष्टि से बने हुए हैं। कुछ कर्त्तव्य अपने व्यक्तिगत हैं जिन को पूरा किये विना ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता है। कुछ कर्त्तव्य सामाजिक हैं जिन से कि सब वर्ण अपनी २ आजीविका किया करते हैं। इस के सिवाय एक बात और विचारणीय है। वर्ण-व्यवस्था में वसु-विभाग (Decentralization of powers) भी किया गया है। वर्ण-व्यवस्था तब तक क्रियात्मक रूप धारण ही नहीं कर सकती जब तक स्टेट वृत्ति-विभाग, शक्ति विभाग और अधिकार-विभाग की तरफ़ भी ध्यान न दे। व्यक्ति अपने २ धर्मों को औरों के काम में हाथ न डालता हुआ क्यों करे? उस के अपने कर्त्तव्यों के पालन के बदले में यदि अधिकार रूप में उपहार न हों तो वह किस उत्तेजना से प्रेरित हो। इन विषयों के विवेचन के लिये प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य तथा अधिकारों और वर्णों के परस्पर आश्रयाश्रयी भाव का विवेचन करना उचित है। यह विवेचन एक दिव्य विषय का परम पिता के विधान का विवेचन है।

ब्राह्मण-विभाग (ज्ञान-विस्तार)

"ब्रह्मणे ब्राह्मणम्" ॥ यजु० ३० । ५ ॥

यह विभाग निःस्वार्थ निष्काम कर्म का विभाग है। इसका सम्बन्ध ज्ञान-प्रचार से है ब्राह्मण कहते ही उसे हैं जो वेदाभ्यास से अध्यात्म का चिन्तन करता है। जिसके जीवन में सत्य, दान, प्रेम करना, तप, शुद्धि, क्षमा, सरलता, शम, दम चमकते हों, जिसका धन परमात्म-भजन और वेदवाणी हो, जिसका धन सन्तोष हो वह उच्च पुरुष ब्राह्मण है। यह तीन वर्णों का गुरु होता है, तीनो वर्णों का मालिक होता है। तीनों वर्णों को कर्त्तव्य कर्म का उपदेश करता है, संसार की ऊसर भूमि में ब्राह्मण धर्म का उद्यान होता है। वेद का अध्ययन, भिन्न २ प्रकार के संगठनों के विचार (यज्ञ) से राष्ट्र की उन्नति की चेष्टा वापी, कूप, तड़ाग आदि (पूर्त्त) के निर्माण की प्रेरणा कर के राष्ट्रशरीर का संवर्धन, विभिन्न २ यज्ञ करके राष्ट्र में आस्तिकता बनाये रखना, सर्वश्रेष्ठ विद्या दान द्वारा शिक्षा-प्रचार करना, ये ब्राह्मण के मुख्य धर्म हैं। त्याग इस की आत्मा होती है, इस का अंग २ यज्ञ की भावना को कह रहा होता है। ब्राह्मण को निष्काम रूप से ये कर्म करने होते हैं। वह जीविका के लिये अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह किया करता

है। अन्य वर्णों को यह अधिकार नहीं। यथासम्भव समाज पर अपनी भौतिक आवश्यकताओं का बोझ न डालता हुआ ज्ञानी ब्राह्मण निःस्वार्थ सेवा का उज्ज्वल मूर्त्त रूप होता है। यदि किन्हीं कारणों से जीविका न चला सके तो अन्य वर्णों के कर्त्तव्यों को करके भी अपने आप अपना पेट भरता है। लेकिन उस की लौ निष्काम सेवा और प्रभु की तरफ़ लगी रहती है। वह ज्ञानाग्नि में जला करता है। ज्ञान से रहित होने पर वह राख के समान तुच्छ हो जाता है। इसीलिये वैदिक पद्धति में ब्राह्मण को अग्नि, विदग्ध नाम से पुकारा गया है। यह अपने कार्य को इस लिये नहीं करता कि वे इसके पेशे हैं। बल्कि समाजसेवा के आदर्श ही उसके मस्तिष्क को कार्य के लिये प्रेरित करते हैं। खाने पीने के संग्राम में न पड़कर वह उच्च आदर्श की रक्षा में हर वक्त अपना बलिदान दिया करता है। समाज-सेवा करता हुआ भूखा मरने लगे तो वह शिल तथा उञ्छ से अपना निर्वाह करता है। अपने लिये धन मांगने में उस की आत्महत्या है। वह तो बहुत दिनों के वास्ते भोजन सामग्री इकट्ठी भी नहीं कर सकता। बस! परार्थ-वृत्ति से निष्काम सेवा करता हुआ। ब्राह्मण वर्ण व्यवस्था के सब से ऊंचे तत्त्व परार्थवाद का निष्कर्ष होता है क्योंकि इस ने अपना तन, मन, धन सर्वस्व समाज पर न्यौछावर कर दिया होता है। इसीलिये लोग उसके पीछे धन लिये २ फिरते हैं। आश्रमों में संन्यासी और वर्णों में ब्राह्मण दोनों माया को लात मारते हैं।। इसीलिये सैंकड़ों हाथी के झूले, सोने से लदे घोड़े उसे भेंट होते हैं। पर उसे यह बताया गया है कि वह इन्हें लोष्ठ के समान समझे। उस को यह पता है कि समास्त पृथ्वी की सम्पदा उसके आत्मधन, यशोधन, और सन्तोष धन के सामने दो कौड़ी की भी नहीं है। प्लेटो अपने गार्जियन (Guardian) के लिये ऐसी ही व्यवस्था करता है। उन्हें मालूम है कि उन के हृदयों में परमात्मा ने दैवीय धन रखा है। पार्थिव सम्पत्ति, धातु के सिक्के, दुनियां में उपद्रव मचाते हैं। इसलिये धातुओं के सम्पर्क में किसी भी तरह आना उनके लिये पाप है। सम्पत्ति के मालिक हो जाने पर वे रक्षक न रह कर भक्षक बन जाएंगे। यह तो इन की मनोवृत्ति है, पर समाज के दिल में ऐसे ब्राह्मण के लिये कुछ और ही भाव होते हैं।

वेद ने कहा है कि—"शौर्य से क्षत्रिय को, व्यापार से वैश्य को, हुनर से शूद्र को धन कमाना चाहिये।" परन्तु ब्राह्मण को ज्ञान से धन कमाना चाहिये ऐसा कहीं नही लिखा। समाज समझता है कि दुनिया की सब सम्पत्ति ब्राह्मण की है। जिस सम्पत्ति का वे भोग कर रहे हैं वह राख के समान है यदि वह ब्राह्मण की कृपा से न मिली है। ब्राह्मण भी इसी भावना से सन्तुष्ट है कि विश्व उस का है। सम्पत्ति को लेकर अपने सर्वाधिपत्य के अधिकार को गंवाना उस के लिये पाप है। ऐसे आत्मधनी निर्धन ब्राह्मण से जो राजा कर लेता है उस के राज्य में निर्धनता छा जाती है। उसे ब्राह्मण का ब्रह्मवर्चस जलाकर राख कर देता है।

राज्य की उन्नति में ऐसी ब्रह्म-शक्ति का ही सब से पूर्व हाथ होना चाहिये। ऐसे ब्राह्मण विभागकी सहायता के बिना राज-सत्ता निस्सार हो जाती है। ब्राह्मण यदि उत्पादक बुद्धि Creative Intelie-gence की मूर्त्ति है तो क्षत्र 'मुख्य व्यवस्था'

Essential Condition है। ब्रह्म मुख्य है और क्षत्र उस के अधीन है। ब्राह्मण यदि पृथिवी है तो क्षत्र सूर्य है। वेद की सम्मति में क्षत्र-विभाग (Military Department) ब्राह्म शक्ति से सुरक्षित हो कर ही रह सकता है। इसीलिये राष्ट्र के विभिन्न मंत्री ब्राह्मण होने चाहियें। ब्राह्मण ही राष्ट्र का पुरोहित या प्रधानामात्य होता है।

Educational:—यजु० ३० अ० पुरुषमेध "ब्रह्मणे ब्राह्मणम्"।

Legal:—आशिक्षायै प्रश्निनं, उपशिक्षायै अभिप्रश्निनम्।

Legislative:—धर्माय सभाचरम्।

Physico spiritual Culture:—"अतिक्रुष्टाय मागधम्।

वादविवाद—"योगाय योक्तारम्"।

आचार तथा स्वास्थ्य—(Public health and character)'पवित्राय भिषजम्, दुष्कृताय चरकाचार्यम्"।

(Civil Educational) नागरिक शासन—"क्षेमाय विमोक्तारम्"।

(Accounts & Treasury) कोष—"निऋत्यै कोशकारीम्"।

(Female welfare) स्त्री:—

आदि विभाग ब्राह्मण विभाग हैं। यजुर्वेद के ३० वें अध्याय के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है। हमने यह देखा है कि ब्राह्मण का समाज में सब से उच्च स्थान है। ब्राह्मण के सब के सब कार्य त्याग की भावना से भावित हैं।

इस दशा में प्रश्न उठता है कि इन कर्त्तव्यों के लिये ब्राह्मण को समाज क्या देता है? ब्राह्मण त्याग ही त्याग करे या समाज में उस का कोई अधिकार भी हो। इस का उत्तर यह है कि समाज ब्राह्मण को यश, प्रतिष्ठा, (Praise) देता है। सच्चा ब्राह्मण मान का पात्र होता है। पर मान से अभिमानी होकर वह अपने कर्त्तव्य से च्युत न हो इसलिये उसे चेतावनी दी गई कि वह यश को 'मृत्यु' समझे और अपयश को 'अमृत' समझ पी जावे। यह है प्राचीन वर्ण-व्यवस्था की उच्चता। ब्राह्मण ने तन दिया, मन दिया, धन को भी हाथ की मैल समझ धो दिया, यश बचा था उसे भी विष के समान थूक दिया, विष्ठा के समान फेंक दिया। जहां कर्त्तव्य और अधिकार इस प्रकार एकीभूत हो जांय उस समाज में शान्ति का राज्य कोनसी दुर्लभ चीज़ है? जिस राज्य में ऐसे ब्राह्मण की ब्रह्मशक्ति, वाणी तथा सम्पत्ति को नुकसान पहुंचाया जाता है उस राज्य में Civil wars आरम्भ हो जाते हैं। प्रजायें "No-tax-compaign' शुरु कर देती हैं। न केवल प्रकृति ही उस के विरुद्ध होती है परन्तु देश का एक २ वृक्ष भी उसे अपनी छाया में नहीं आने देता। ब्राह्मण की हिंसा करने वाले राजा के राज्य की कैसी दुर्दशा होती है इस का वर्णन वेद के 'ब्रह्मगनी' नामक उदात्त सूक्त में किया गया है।

क्षत्रिय वर्ण (Militanto)

"क्षत्राय राजन्यम्"

ब्राह्मण राष्ट्र में बहुत थोड़े होते हैं ब्राह्मण जिन विचारों को राष्ट्र में फैलाते हैं उनको क्रियात्मक रूप देने के लिये उन विचारों की रक्षा तथा वृद्धि के लिये क्षत्रियों की आवश्यकता है। राष्ट्र को क्षति से जो बचाये वह क्षत्रिय है।

"क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः

क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः" ॥ कालि० ॥

यह वर्ण भी समाज सेवा की निःस्वार्थ भावना से प्रेरित होकर ही कार्य करता है, पेट भरने के लिये नहीं। इनके लिये पढ़ना, यज्ञ करना और दान करना कर्त्तव्य है लेकिन इससे बढ़ कर इनका कर्त्तव्य इन्द्रियसंयमी होकर शत्रुओं का नियमन करना और लोक-संरक्षण करना है। शूरता वीर्य्य, धैर्य, दक्षता, रणाङ्गण में पीठ न दिखाना, अपना त्याग करना, अपनी बलि-देना ये गुण क्षत्रिय के भूषण हैं। राष्ट्र में यदि ब्राह्मण ही ब्राह्मण हों तो ऐश्वर्य बढ़ नहीं सकता है। इसलिये ब्राह्मणों से ही क्षत्रियों का भी विकास हुआ करता है। क्षत्रिय को ज्ञान-संचय करना आवश्यक है पर ज्ञान के विस्तार करने का काम उसका नहीं, यह ब्राह्मण का काम है। ब्राह्मणों (Civilian) के बनाये नियमों को राष्ट्र में क्रियात्मक रूप देना, प्रबन्ध इत्यादि काम क्षत्रियों का है। वेद में क्षात्र विषयक वर्णन बड़े उग्र रूप में आया है। दुनिया में अहिंसा-वृत्ति प्रधान ब्राह्मण से ही काम नहीं चलता है, हिंसा-वृत्ति की भी जरूरत है। उसके लिये क्षत्रिय ही होते हैं। नाना प्रकार के अस्त्रों, शस्त्रों को बनाकर जिस किसी भी तरह राष्ट्र की रक्षा करना, राष्ट्र में समता (Harmony) बनाये रखना इन्द्र-शक्ति का काम है। आज इन्द्र शक्ति दुनियां में बड़ा अनर्थ मचा रही है। इसका कारण यह है कि वह ब्रह्म शक्ति के मातहत नहीं है। वैदिक वर्ण व्यवस्था की यही विशेषता है। जीविकादि के विषय में क्षत्रिय को भी ब्राह्मण की तरह ही रहना है। प्लेटो ने भी अपनी समाजव्यवस्था में क्षत्रियों को धन से दूर रखा है, उनको तपस्वी तथा राष्ट्र का रक्षक समझा है, उनको भेड़िये न बनने के लिये चेतावनी दी है। भूमि को ही वे लोग माता समझें और अपने को उस के पुत्र। उन्होंने भूमि-माता की रक्षा ही करनी है। वेद में क्षत्रियविषयक वर्णन इन्द्र-सूक्तों में, मरुत-सूक्तों में खूब आये हैं। विस्तार भय से उनके लिखने की जरूरत नहीं है। क्षात्र भावना का सुन्दर स्वरूप अथर्ववेद (कां० १२। १) में भूमि माता के वैदिकगीत में पाया जाता है। इसके सिवाय यजुर्वेद (३०।१) में पुरुष-मेध सूक्त में ऐसे निर्देश आते हैं कि क्षत्रिय लोग किस २ प्रकार के विभागों (Departments) में काम करें। यह स्वतन्त्र विषय होने से यहीं छोड़ते हैं। इस विषय के कुछ विचारों को पहले भी दर्शाया जा चुका है। संक्षेप में राष्ट्र की हर उपयों से रक्षा करना ही क्षत्रिय-विभाग का काम है।

यहां फिर सवाल उठता है कि समाज इन सेवाओं के बदले क्षत्रिय को क्या पुरस्कार देता है? ब्राह्मण को प्रतिष्ठा तो क्षत्रिय को शक्ति (Power, Authority, हुकूमत Sovereignty,) लेकिन हुकूमत को पाकर हर एक व्यक्ति अपने आपे से बाहर हो जाता है। क्षत्रिय की भी कहीं यह दशा न हो, अतः उसे ब्रह्मशक्ति के नीचे चलने को कहा गया है। उसके ऊपर दण्डधर पुरोहित को रखा है। वह उसके ऊपर हर समय शासन करता है।

'दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।

धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्' ॥मनु० ७।२८॥

इस प्रकार समाज में क्षत्रिय को अधिकार उपहार रूप में दिया गया है, पर वह उसका दुरुपयोग नहीं कर सकता है। ऐसी क्षात्र व्यवस्था जिस समाज

में हो वहां राजसत्ता कैसी होगी इसकी सहज ही में कल्पना हो सकती है ।

वैश्य वर्ण (Traders)

'मरुद्भ्यो वैश्यम्'

पहिले दोनों विभाग निस्स्वार्थ कर्म करने वाले हैं। यह विभाग उन से कुछ भिन्न है । वेद में प्रजाओं का नाम 'विशः', 'मरुतः' आता है । प्रजा में क्योंकि वैश्य-प्रकृति के लोग ज्यादह होते हैं, अतः प्रजा को 'विशः' कहा है । इनका काम धन-सम्पत्ति की वृद्धि द्वारा राष्ट्र की पुष्टि करना है । नाना साधनों से देश देशान्तरों में जाकर क्रयविक्रय करके राज्य के व्यापार-वाणिज्य Commerce की वृद्धि करना है । लेकिन ये धर्म से ही कमाते हैं, इन के कमाने का उद्देश्य सर्वभूतों के लिये उस धन का अधिक मात्रा में वितरण करना ही है । उनका Property trust है । आजकल कमाना अधार्मिक उपायों से होता है, इसलिये राष्ट्र में विषमता क्यों न हो ? जो आदमी पसीना बहा २ कर मर जाते हैं वे तो रात दिन भूखे मरते हैं, और जो गदेलों पर बैठे रहते हैं, लक्ष्मी उनके चरणों में लोटती है । उन्हें सोचना पड़ता है कि धन को कैसे खर्च करें । यह विषमता प्राचीन अर्थ संग्राहक वैश्य विभाग में सर्वथा नहीं है । इन को निःस्वार्थ रूप से अध्ययन, दान, यज्ञ तो करने ही होते हैं परन्तु ये अपनी जीविका के लिये पशुपालन, वाणिज्य, व्याजी तथा कृषि कर्म करते हैं । वेद की दृष्टि में कृषि दिव्यकर्म है । 'इन्द्रः सीतां निगृह्णातु' वैदिक साहित्य में राजा को भी कृषि करनी चाहिये इस प्रकार का विधान मिलता है । राज्य में धन-सम्पत्ति की वृद्धि के जितने काम हैं वे वैश्यों के हैं, सामान्य-प्रजाओं के हैं । वैश्य सम्बन्धी ये विचार मरुत्-सूक्तों में पाये जाते हैं । वस्तुतः समाज में थोड़े से ब्राह्मण, उन से कुछ अधिक क्षत्रिय तथा इन दोनों से अधिक वैश्य होते हैं । ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्यों के विना कुछ नहीं कर सकते हैं । अतः इन की भी अपने स्थान पर विशेषता है । दुनियां में धन की सब से अधिक महत्ता है । इस लिये इन की भी महत्ता है आज कल का Division of labour धन की दृष्टि से ही है । धन का किस प्रकार बटवारा होना चाहिये इस बात को लेकर ही आजकल का अर्थ शास्त्र है । वैदिक वर्ण व्यवस्था Division of tendencies के आधार पर है तो उसका अवान्तर वैश्यविभाग श्रमविभाग (Division of labour) के आधार पर विभक्त है । "Division of labour" का सिद्धान्त मनुष्य को धन, अन्न आदि भौतिक आवश्यकताओं का पुतला समझ कर ही चलता है । परन्तु वर्ण-विभाग मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति को अपना लक्ष्य समझता है । आर्थिक विशेषताओं (Economic considerations) के आधार पर ही मनुष्यों के विभाग करना मनुष्य के मनुष्यत्व की सर्वथा उपेक्षा करना है । अतः वर्णव्यवस्था की एक यह महान् विशेषता है कि वह समाज का श्रम विभाग (Division of labour) या अर्थशास्त्र (Economics) के सिद्धान्तों के आधार पर विभाग न करके मनुष्य की व्यवस्था उस की आत्मा की दृष्टि से करता है । इससे आर्थिक विषमता द्वारा होने वाली सामाजिक विषमता से समाज बच जाता है । वैदिक व्यवस्था की दृष्टि में 'अर्थ' की उतनी महत्ता नहीं जितनी आत्मा की है । अर्थ विभाग उसका एक अंग है, वह अंगी है । अर्थविभाग से सम्बन्ध

केवल वैश्य विभाग का ही है। इस विभाग के लोगों को किन विभागों (Departments) में काम करना चाहिये इस का भी वर्णन पुरुषमेध सूक्त में निर्देश रूप से किया गया है। अस्तु।

वैश्य का कार्य धर्म से धन-संग्रह द्वारा राष्ट्र की पुष्टि करना है। इस के बदले में राष्ट्र उस को दौलत का पुरस्कार देता है। परन्तु दौलत का मद बुरी चीज़ है इससे मनुष्य का दिमाग़ बिगड़ जाता है। इसलिये प्राचीन तत्वदर्शियों ने 'दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः' का सुन्दर पाठ वैश्य को पढ़ाया है। वैश्य का काम है कि वह धन को दोनों, नहीं सैंकड़ों हाथों से कमावे (उभया हस्त्या भर, शत हस्त समाहर) परन्तु हज़ारों हाथों से सर्व प्राणियों के हित में बांट दे। रक्त बनने पर उदर की तरह सारे समाज-शरीर में उसका संचार करे।

आज कल धन ने दुनिया में नारकीय दृश्य उपस्थित कर दिये हैं, सम्पत्ति का मुख्य सिद्धान्त और उसकी स्थिति का मुख्य उद्देश्य तो यह है कि मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी हो जावें। जिस समाज के सदस्य शान्तिपूर्वक अपनी वृत्ति को कमाते हुए उन्नति की तरफ़ कदम बढ़ा रहे हों, समझना चाहिये कि वहां सम्पत्ति का सिद्धान्त सफल हो रहा है। लेकिन जिस समय अर्थ ही लोगों का धर्म, कर्म और सदाचार हो जाता है तब धनी निर्धनों पर अत्याचार करने लगते हैं। अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों ही समाज को नुक़सान देने वाले हैं। इसलिये अर्थ को मर्यादा में रखना उचित है। अर्थ के अभाव और प्रभाव दोनों ही से समाज का सदाचार गिर जाता है। जिन के पास धन नहीं होता वे धन प्राप्ति के लिये वेश्या-वृत्ति, सट्टा, जूआ, चोरी आदि अनेक दुराचार करने लगते हैं और जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन है, वे नाचरंग खेल-तमाशे, अत्याचार आदि भयङ्कर से भयङ्कर पाप करने लगते हैं। आर्थिक विषमता का विषमय परिणाम यह होता है कि समाज में धन के अनुसार दो वर्ग हो जाते हैं—धनसंपन्न पूंजीपति वर्ग और निर्धन मज़दूर वर्ग। दोनों की टक्कर का उत्कट रूप पश्चिम के देशों में दीखता है। आज सभी देशों में Labourers सिर उठा रहे हैं, Communist party हर देश में बन रही है, आज सचमुच तामस क्रान्ति से संसार-विप्लव हो उठा है। शूद्रों का राज्य नज़र आ रहा है, Division of labour के कार्य करने पर धन का किसी के पास ज्यादह और किसी के पास कम होना ज़रूरी है। वहां आर्थिक विषमता ज़ोर पकड़ लेती है और सामाजिक विषमता की जड़ जम जाती है।

जिस समय किसी समाज में धन को अनुचित महत्ता दी जाती है, समाज रुग्ण हो जाता है। ग़रीबी, बेकारी, हड़ताल, क्रान्तियां इसी का परिणाम हैं। आज पश्चिम के देशों में धन का साम्राज्य है, जिस के पास धन है उसके पास ही शक्ति, हुकूमत है। अदालतों, बैंकों, मिलों, व्यवस्थापिका सभाओं में हर जगह उन का ही बोलबाला है। जिस के पास धन है उस के पास ही प्रतिष्ठा, इज्ज़त है। उसके नीचे हज़ारों ब्राह्मण-वृत्ति के विद्वान् हैं, उनसे जो चाहे काम लेसकता है। क्या महायुद्ध इस बात की गवाही नहीं देता है? दुनियां में शान्ति और सुख के विस्तार के लिये पैदा हुए वैज्ञानिकों ने धनियों के औज़ार बनकर विषैली गैसें, विघातक यन्त्र आदि बनाकर क्या मानव जाति को सुखी किया है? और क्या आज भी सुखी कर

रहे हैं ? जहां धर्म, सदाचार, विज्ञान और शक्ति पर धन काबू पा लेता है वहां संसार ताण्डवनृत्य नाचा करता है।

इस विषमता का हल संसार के पास क्या है ? मनुष्य समाज के सामूहिक मन को स्वाधीन करने के लिये ससार क्या प्रयत्न कर रहा है ? कभी मानवीयता राज्यशक्ति की जंजीरों में बंधी रही, कभी धर्मसत्ता Churches के विषम पाशों में स्वप्न का संसार बनी रही है। कभी लूथर खड़ा होता है, कभी कालहित रास्कन रो उठते हैं। कभी रोमां रोलैण्ड Declaration of independence of human mind की आवाज़ बुलन्द करता है तो कभी रूसो चीख उठता है। शान्ति परिषदों में विषमता को दूर करने के हज़ारों नाच नाचे गये पर विषमता घटने के स्थान पर बढ़ती ही गई।

साम्यवाद

आज Fascism, communism और साम्यवाद ने विषमता के विरुद्ध सिर उठाया है, विश्व को नाश से बचाने के लिये पुकार मचाई है, लोकमतानुसार प्रजातन्त्र शासन में सामाजिक विषमता के कारण जिस मुख्य सुव्यवस्थित आर्थिक अंग का अभाव है उसीकी पूर्त्ति करना साम्यवाद का उद्देश्य है, इसका मुख्य आधार केवल आर्थिक है, परन्तु समाज के राजनैतिक, औद्योगिक, सामाजिक, नैतिक आधारों का भी उसके साथ सम्बन्ध है। साम्यवाद में मनुष्य जाति के सारे दुःख दूर कर पृथिवी को स्वर्गधाम बनाने की शक्ति हो, या न हो, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि आज कल जितनी सुधार की ताकत इसमें है उतनी और किसी आन्दोलन में नहीं है। प्रजा-सत्तावाद, समाज सुधार, स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी चर्चा, बालरक्षा, शिक्षाप्रचार आदि पर इसने पर्याप्त बल दिया है। न्याय, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव, सहकारिता इसके दृढ़ आधार हैं।

यह वाद पाश्चात्य देशों में कानून के द्वारा शासन की सहायता से क्रिया में लाया जा रहा है। लेकिन यह उपाय अस्वाभाविक है। साम्यवादियों ने कभी तो असम्भव बातों को उत्साहपूर्वक सम्भव कर दिखाने का साहस किया है और फिर विफल मनोरथ हुए हैं। इसलिये जो लोग केवल साम्यवाद से रामराज्य की की आशा करते हैं वे ग़लती में हैं। उन्हें मनुष्य स्वभाव तथा प्राकृतिक विषमता को ध्यान में रखना चाहिये। हिंसक साधनों से क्षणिक सफलता तो मिल सकती है पर वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता है। जैसे धनी लोग अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं वैसे ही साम्यवादी संघशक्ति का। कट्टर साम्यवादी भी धनी और प्रभावशाली बनने का यत्न करता है। जिसके हाथ में सत्ता नहीं होती वे अधिकारी वर्ग के विरुद्ध आन्दोलन करते हैं और जिनको सत्ता मिल जाती है वे वर्त्तमान संस्थाओं के हिमायती बन जाते हैं। इस मनुष्य स्वभाव की कमी से साम्यवादी भी ऊपर नहीं उठे हैं। इसलिये साम्यवाद भी उपर्युक्त समस्या का पूर्ण हल नहीं।

इसका हल तो केवल भारत के पास है। ज्योतिर्विज्ञान में यदि कोपर्निकस ने क्रान्ति की है, मनोविज्ञान की धारा को यदि कान्ट ने बदला है तो दुनियां की विषमता की धारा को भारत बदल सकता है। भारत की भूमि शान्ति और समता की भूमि है। साम्यवाद की शिक्षा यहां के धर्मग्रन्थों में है परन्तु प्रजा को निष्ठुर साधनों के अवलम्बन से साम्य की

शिक्षा के लिये प्रेरित नहीं किया गया है। इसके कई कारण हैं—(१) हिन्दु जाति धर्मप्राण है इसलिये पापभाव से प्रेरित होकर हिंसा के लिये तैयार ही नहीं हो सकती। (२) हिन्दु जाति कर्म-सिद्धान्त पर पूरा विश्वास रखती है इसलिये विषमता को अच्छे बुरे कर्मों का परिणाम ही मानती है। जाति में ईर्ष्या और असन्तोष नहीं बढ़ता है। (३) हिन्दु जाति सांसारिक बातों में उदासीन रहती है। (४) वर्ण-व्यवस्था परस्पर स्पर्धा की उग्रता को निर्बल कर देती है और संग्राम की भीषणता कम हो जाती है। इस व्यवस्था के अनुसार जिसके पास शक्ति तथा धन नहीं है, जिसके पास हुकूमत है उसके पास प्रतिष्ठा है उस के पास धन तथा इज्जत नहीं, जिसके पास धन है उसके पास इज्जत तथा हुकूमत नहीं, फिर विषमता कैसे पैदा हो सकती है। (५) सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा साम्यवाद के सिद्धान्तों का बहुत अंश में अनुकरण करती है। धन विभाग में समानता हो जाती है और विभाग होने पर सब भाई एक सी आर्थिक अवस्था से कार्य प्रारम्भ करते हैं, और मिले रहने पर सम्पूर्ण सम्पत्ति एक भाई की है, दूर के सम्बन्धियों का भरण पोषण भी जरूरत पड़ने पर करना पड़ता है। इसीलिये यहां अनाथालय खोलने की इतनी आवश्यकता नहीं पड़ती। (६) यहां रीति रिवाजों का बड़ा प्रभाव है इससे भी जीवन संग्राम की भीषणता कम हो जाती है पारस्परिक स्पर्धा बहुत बलवती नहीं रहती।

भारतीय सभ्यता के पास साम्यवाद की अपेक्षा शान्ति और समता की रक्षा के लिये एक और अच्छा विचार है। उस विचार को स्पष्ट समझने के लिये "वैदिक सभ्यता में धन का स्थान" समझना चाहिये।

वेद के अनुसार केवल पैसा रुपया ही धन नहीं है। परन्तु शरीर, सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री, पति, बुद्धि, गौ, अश्व आदि अनन्त धन है। जैसे अथर्व० ७।११५।३। "एक शतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकम्। तन्वा जनुषोऽधि जाताः'॥ इसमें स्पष्ट कहा है कि मनुष्य की सैंकड़ों सम्पत्तियां हैं, लेकिन धन को कमाने के साधन धार्मिक ही कहे गये हैं। जुआ, चोरी आदि से कमाया धन विष्ठा के समान है, कृषि आदि द्वारा परिश्रम से कमाया धन ही सच्चा धन है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में अर्थ भी पुरुषार्थ है। धन के विना भी मनुष्य अपने सुख को नहीं बढ़ा सकता है। चतुर्विध पुरुषार्थ में गिनाये जाने से धन भी प्राप्तव्य ही है। वेद में दो प्रकार के धन गृहीत होते हैं, प्रतिजन्य (व्यक्ति सम्बन्धी) और सजन्य (समूहसम्बन्धी)। अर्थात् मनुष्य को व्यक्तिगत धन ही बटोर कर सन्तुष्ट न होना चाहिये, बल्कि राष्ट्र का धन भी अपने प्रयत्न से बढ़ाना चाहिये।

'अप्रतीतो जयति संधनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या'।

ऋ० ४।५०।९॥

जो पीछे नहीं हटता है वह वैयक्तिक तथा सामूहिक धन पाने में विजय पाता है। जो मनुष्य अपने तथा राष्ट्र के धन की वृद्धि की इच्छा करता है उसे स्वभावतः अपने तथा दूसरे के धन की रक्षा भी करनी चाहिये। इसलिये वेद में धन प्राप्ति की प्रार्थना के साथ शौर्य की भी प्रार्थना है—

'रयिं सर्ववीरं दधातन'। ऋ०।१०।१५।११॥

इसका तात्पर्य स्पष्ट है। धन होते हुए भी यदि उसकी रक्षा करने का हम में सामर्थ्य न होगा तो धन नष्ट हो जायगा। साहसी और शूर व्यक्ति ही धन की

प्राप्ति और रक्षा कर सकते हैं। लेकिन धन की रक्षा में मनुष्य यदि और प्राणियों को नुकसान पहुंचाने लगे तो यह अनुचित होगा। धन कमाना अच्छा है, पर इसलिये नहीं कि वह अपने आप में कोई सुख रूप है, धन सुख का साधन है। औरों की कमाई हड़प कर लालच, लोभ से कमाया धन विष्ठा के समान है। 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'। धन का लालच खराब है, धन है किसका ?। इसका यह मतलब नहीं कि धन कमाये ही नहीं। वेद में धन कमाने की बहुत उत्तम शब्दों में आज्ञा है। यथाः—

त्वं विश्वस्य धनदा असि। ऋ० ७। ३२। १७।

वृषा चोदयस्व महते धनाय। ऋ० १। १०४। ७।

सुवीरासो वयं धना जयेम। ऋ० ९ ३१। २३।

मन्त्र स्पष्ट हैं, वेद का उपदेश धन को दूर रख कर गरीबी में गुजारा करने की ओर ले जाने वाला नहीं है, परन्तु न्याय से धन पाकर के, आसक्ति छोड़, त्यागभाव से धन का सदुपयोग करने की ओर प्रेरणा करने वाला है। इस विषय में एक भक्त की ईश्वर के निकट की हुई प्रतिज्ञा ध्यान देने योग्य है।

'यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय'।

स्तोतारमिद् धिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय॥

ऋ० ७ ३२। १८॥

हे इन्द्र ! जितने धन के आप मालिक हैं उतने धन का यदि मैं भी मालिक हो जाऊं तो हे धनदातः ! आप के गुणों को गाने वाले भक्त को ही वह धन दिया करूंगा। हे देव ! पापी जन को वह धन न दूंगा—यह है सच्चे धन की प्रार्थना। यदि इस प्रार्थना से प्रेरित होकर लोग आज धन कमावें तो दुनियां स्वर्ग धाम बन जावे। वेद मनुष्यमात्र की विभिन्न प्रवृत्तियों को समझ कर साम्यवाद की तरह सब को एक जितने धन का मालिक नहीं करार देता।

(१) बोल्शेविकों का यह कहना कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का कुछ भी अधिकार नहीं, क्योंकि सम्पत्ति सर्वथा समाज की होती है—वेद के विचारों से नहीं मिलता। विषमता तो प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है, प्रत्येक मनुष्य की शरीर रचना तथा बौद्धिक बनावट में हमें तात्विक अन्तर दिखाई देता है। उस हालत में व्यक्ति की विलक्षणता की रक्षा के लिये वैयक्तिक धन (Private Property) का विरोध करना अस्वाभाविक है।

(२) इसके सिवाय समाज में प्रतिस्पर्धा की भावना की रक्षा भी उपर्युक्त विचार से नहीं हो सकती। प्रतिस्पर्धा के बन्द होने पर उन्नति रुक जाती है। इस लिये वेद का यह उपदेश है कि सब लोग अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार खूब धन कमायें, पर धन कमाने का उद्देश्य अच्छे २ स्थानों, धर्मात्माओं और राष्ट्र के सेवकों की रक्षा होना चाहिये। उपनिषदों में देव, मनुष्य और असुरों को शिक्षा देते हुए पिता प्रजापति ने मनुष्यों को दान का उज्ज्वल उपदेश दिया है। मनु ने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये अध्ययन यजन और दान का आवश्यक धर्म सिखाया है। फिर चाहे ब्राह्मण विद्या दान दे, क्षत्रिय शक्तिदान और वैश्य धनदान ही क्यों न दे। ब्रह्मचर्य समाप्त कर के गृहस्थ में प्रविष्ट होने से पहिले आचार्य के स्नातक के प्रति दिये उपदेश में भी दान देने की प्रबल प्रेरणा है। भय से, श्रद्धा से, लज्जा से जैसे भी बने दान देना चाहिये। जो मनुष्य दान देता है उस में सदाचार (Morality) की भावना कितनी जागृत होजाती है।

मनुष्य को कमाने की आज्ञा देकर कहा गया है— 'ददामीत्येव ब्रूयात्' अथर्व० १२।४।१। 'देता हूं ऐसा हीं बोला कर'। कवि कालिदास ने भी रघुकुल के वर्णन में लिखा है—'त्यागाय-संभृतार्थानाम्' अर्थात् रघुवंशी लोग दानके लिये धन कमाते थे। यह धन के सम्बन्ध में प्राचीन आदर्श है। आज तो पिता या माता के घर उनका विवाहित पुत्र भी आ जाय तो उसके सामने भी बिल पेश कर दिया जाता है। कहां यह, और कहां वह बात जब कि घर की देवी द्वार पर खड़ी प्रतीक्षा किया करती थी कि कोई ब्रह्मचारी, संन्यासी, या अतिथि मेरे घर को पवित्र करने आते हैं या नहीं ? दान दिये बिना गृहस्थी को चैन नहीं हुआ करता था। वे दिन कितने सदाचार के दिन थे, धन-विषमता के स्थान पर समता, शान्ति और सुख का कारण यदि किसी स्वाभाविक साधन से हो सकता है तो वह दान की प्रथा है। वेद में शत्रु का नाम ही 'अराति' कहा है, जो दान नहीं देता है वह राष्ट्र का शत्रु है। जो व्यक्ति केवल अपना ही पेट भरता है वह पाप की कमाई खाता है, "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"। जो दान न देकर औरों के पेट काटकर खाता है, वह स्तेन है, चोर है। वह अराति है, अराति को भस्म कर देना चाहिये। "प्रत्युष्टा अरातयः" अदानशील पुरुष भस्म कर दिये जावें। जिस समाज में Private charity को उत्तेजित किया जाता है उसमें सदाचार की स्वाभाविक वृद्धि होती है। वैदिक समाज में वैश्यलोग धर्म से धन कमाकर ब्राह्मणों, विद्वानों को, दान करते हैं। जहां राजा गुरुदक्षिणा मांगने के लिये विद्यार्थियों की इच्छापूर्ति में अपना अहोभाग्य समझते हों, वहां शान्ति और अमन का राज्य क्यों न हो ? वेद में दान को महत्ता बताने वाले अनेक सूक्त हैं। यहां दो एक मन्त्र निदर्शनार्थ देते हैं। यथाः—

उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति ।
उतापृणन्मर्डितारं न विन्दते ॥ ऋ० १० । ११७ । ५ ॥

भूखों को मन खोल कर दान देने वाले दानी का धन किसी हालत में भी क्षीण नहीं होता है और दान न देने वाला सुख देने वाले परमात्मा को नहीं प्राप्त करता है।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः
॥ ऋ० १० । ११७ । १॥

धनवान्, मांगने वाले को अवश्य दिल खोल कर दान दे और अति लम्बे मार्ग को प्रत्यक्ष देखे क्योंकि धन निश्चय से रथ के पहियों की न्याईं घूमते हैं और आज एक को, कल दूसरे को प्राप्त होते हैं।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥
ऋ० १० । ११७ । ६ ॥

वह अज्ञानी व्यर्थ ही अन्न का संग्रह करता है। मैं सत्य कहता हूं कि वह निश्चय से उसका नाश है। जो न अतिथि को खिलाता है, न मित्रों को पुष्ट करता है वह अकेला खाने वाला निरा पाप का भागी है।

दान के विषय में उपरि लिखित शब्द कितने महत्वपूर्ण हैं। सामवेद में एक मन्त्र आया है:—

"त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः ।
उत द्विषो मर्त्यस्य" ।

हे अग्नि ! तू निज तेज तथा महाशक्तियों द्वारा

सब प्रकार के अदान से और मनुष्यों में रहने वाले द्वेष से हमारी रक्षा कर।

इस में साफ कहा है कि दान न देना बहुत बुरा है। प्राचीन काल में गृहस्थावस्था में ५ महायज्ञों द्वारा, वानप्रस्थ में विद्या-दान द्वारा, संन्यास में सर्वमेध द्वारा दान का भाव स्थिर रूप से पुष्ट किया गया है। यजुर्वेद में तो यहां तक कहा गया है कि धन जोड़ने वाला और उसका सामाजिक सेवाओं में उपयोग न करने वाला मनुष्य परमात्मा का शत्रु है। वैदिक समाज संघटन में अपनी कमाई पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार माना गया है। परन्तु समाज में कहीं इससे अधिक विषमता का राज्य न हो जाय इस वास्ते दान पर भी बहुत ज़ोर दिया गया है। अपने को परमात्मा का भक्त कहने वाला, परन्तु प्रभु के दुःखित पुत्रों के दुःखों की मात्रा को कुछ भी कम न करने वाला धनी, कभी भक्त हो ही नहीं सकता। इस प्रकार वैदिक धर्म में धन का क्या स्थान है? यह हम ने देखा और इससे आज कल की समस्त समस्यायें किस प्रकार हल हो सकती हैं यह भी स्पष्ट है।

शूद्रविभाग (Craftsmen, Labourers)

तपसे शूद्रम्। यजु० ३०। ५,

पद्भ्यां भूमिः। यजु० ३१। १३,

तपो वै शूद्रः। शत० १३। ३। २। १०,

'स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्'। शत० १४ ४।२।२५॥

उस प्रजापति ने शूद्र वर्ण को पैदा किया, यह वर्ण सब वर्णों का आधार है। सब वर्णवाले इस की सहायता से अपना व्यवहार करते हैं। जो स्थान शरीर में पैरों का है, वही स्थान राष्ट्र में शूद्र का है। 'शू द्रवति,' शुचा द्रवतीति शूद्रः' यह मनुष्य समाज के कष्टों को देखकर करुणा से शीघ्र ही उनके कष्टों को दूर करता है अतः उसे शूद्र कहा है। यह द्विज नहीं होता क्योंकि स्वाभाविक जड़ता आदि होने से यह विद्या पढ़ नहीं सकता है। इसलिये सरस्वती माता का पुत्र न होने से यह द्विजन्मा नहीं है। परन्तु यह समाज की सेवा करके अपना निर्वाह करता है। समाज इस सेवा के बदले उसे पुरस्कार रूप में अवकाश देता है। छुट्टी, खेल, कूद, तमाशे की स्वतन्त्रता देता है। लेकिन कहीं यह अपनी दशा से निराश न हो जाय इसलिये उसे विश्वास दिलाया गया है कि 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्' वह ऊंचा हो सकता है और ब्राह्मण तक भी बन सकता है। यजुर्वेद के पुरुषमेध सूक्त में शूद्र के कर्त्तव्यों का भी परिगणन कराया है। यह एक प्रकार से श्रमीवर्ग (Labourer class) ही है। आजकल शूद्र लोग ही क्रान्ति कर रहे हैं। ब्राह्मणों का राज्य प्राचीनसमय में था। उसके हटने पर क्षत्रियों का राज्य आया, फिर वैश्यों के हाथ शक्ति आई। इस प्रकार समाज में समता न रहने से, विषमता बढ़ने से आज यह स्थिति आई है कि शूद्रों में जागृति पैदा हुई है। यह विषमता का स्वाभाविक परिणाम है। तपःप्रधान लोग यह क्यों न समझें कि हम सेवा भी करते हैं और नीच भी समझे जाते हैं। वह दिन दूर नहीं, जब शूद्रों की उठाई क्रान्ति की ज्वाला संसार को भस्मसात् न कर दे। उस ज्वाला से बचने के लिये वैदिक वर्ण आश्रम धर्म की पुनः स्थापना ही एक मात्र इलाज है। समाज की व्यवस्था इन आधारों पर होने पर संसार में शान्ति ही शान्ति फैलेगी।

लेकिन यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था आज कल कैसे चलाई जा सकती

है। इस पर एक दो वाक्य लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है।

क्रियात्मक कैसे ?

आश्रम-व्यवस्था की क्रियात्मकता असन्दिग्ध है, गुरुकुल आश्रम के साथ २ वानप्रस्थाश्रमों का होना स्वाभाविक है। गृहस्थाश्रम इस समय भी मौजूद हैं। संन्यासाश्रम बीज रूप में है। आज हमें प्रयत्न करना चाहिये कि उपदेशक गृहस्थी न होकर संन्यासी हों। इन आश्रमों को अक्रियात्मक नहीं कहा जा सकता। गुरुकुलों की तरह इन्हें भी क्रियात्मक रूप दे सकते हैं। इसमें राज्य (State) की सहायता की इतनी जरूरत नहीं है। इसके लिये तो एक आदर्श 'आर्य-नगर' की स्थापना की जानी चाहिये।

आश्रम-व्यवस्था की स्थापना के बाद सहज में वर्ण का चुनाव हो सकता है। परन्तु प्रवृत्तियों की रक्षा के लिये वृत्तियों, पेशों को मुहय्या करने का काम राज्य का है। जैसे राज्य एकपत्नीकता के नियम को क्रियारूप में प्रचलित कराता है ऐसे ही वर्ण व्यवस्था को भी करा सकता है। यदि पद्धति में निम्न परिवर्तन हो जावें तो सर्वमान्य हो सकती है। यथा:—

१—चुनाव की पद्धति जन्म और कर्म दोनों के संयोग से रक्खी जावे।

२—कुछ नियमों के साथ समाज में वर्ण परिवर्त्तन की भी व्यवस्था रखी जावे ताकि चुनाव में भूल होने पर सुधारी जा सके।

३—शान्ति के समय प्रत्येक वर्ण अपने वर्णधर्म का पालन करे लेकिन अपने वर्णधर्म की शिक्षा के साथ सहायक रूप से दूसरे वर्ण की भी शिक्षा लेते जाएं।

स्वामी हरप्रसादजी और महर्षि दयानन्दजी के मन्तव्य और वेद

[ले० – आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० भक्तरामजी, डिंगा]

श्री स्वामी हरप्रसादजी एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, और अपने नाम के साथ 'वैदिक मुनि' पद का प्रयोग करते हैं, आपने कई एक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें दो पुस्तकें वेदसर्वस्व और स्वाध्याय-संहिता केवल आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खण्डन करने तथा महर्षि के वेद भाष्य पर आक्षेप करने के लिये ही लिखी हैं। आपने अपने लेखों तथा पुस्तकों और पत्र द्वारा उन आक्षेपों के प्रचार का ढंग रचा है। आप हिन्दुओं को हिन्दू ही बने रहने का उपदेश करते रहते हैं और सिद्ध करते हैं कि मन्त्रकाल से ही इस देश को (जिसे महर्षि भारतवर्ष अथवा आर्य्यावर्त्त कहने का उपदेश कर गये हैं) सिन्धु देश कहते थे और उसके निवासियों को सिन्धु (हिन्दु) कहते थे। स्वामी हरप्रसादजी अपने विचारों का सार अपनी बनाई पुस्तक 'स्वाध्याय-संहिता' के आरम्भ में लिखते हैं:—

भारतं यस्य देशस्य नाम प्राहु र्मनीषिणः।
सिन्धुनाम्ना तमेवाहु ॠषयो मन्त्रदर्शिनः ॥१॥

अर्थात् "जिस देश को मनीषी लोग भारत नाम से लिखते और बोलते हैं उसको मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग सिन्धु नाम से कहते हैं। वे मन्त्रद्रष्टा ऋषि कौन हैं ? विद्वान् पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं। वह स्वयं स्वामी हरप्रसादजी वैदिक मुनि और उनके अनुसार विचार करने वाले राय बहादुर और पण्डितवर ही हैं। उनके अतिरिक्त न किसी उपाख्यान में और पुराण में यह नाम मिलता है। वह स्वयं ही मन्त्र द्रष्टा, स्वयं ही ऋषि और स्वयं ही मुनि हैं, जो इस सिन्धु (हिन्दु) नाम पर इतने लट्टू हैं। यही उनकी परमेच्छा है। परन्तु उनका यह विचार तत्त्वतः सत्य नहीं। क्योंकि न ही पूज्य स्वामीजी मन्त्रद्रष्टा ही हैं और न ही उनका यह अभीष्ट उत्तम प्रतीत होता है। अस्तु।

स्वामीजी लिखते हैं कि चूंकि सिन्धु और हिन्दु समानार्थ पद हैं इसलिये ये दोनों एक ही हैं, क्योंकि वेदादि ग्रन्थों में श्री; ह्री; सरितः, हरितः, और सरस्वती हरस्वती इत्यादि अनेक शब्द एक ही अर्थ के बोधक पाये जाते हैं।

अब विद्वानों के विचारार्थ यह कहना कुछ अनुचित नहीं होगा कि सिन्धु और हिन्दु शब्द समानाकृति तो शायद हो सकते हैं परन्तु समानार्थ कदापि नहीं हो सकते। क्योंकि श्री, ह्री आदि सब शब्द संस्कृत के प्राचीन और नवीन सम्पूर्ण ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु हिन्दु शब्द किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिलता और न ही यह समानार्थ ही है। क्योंकि सिन्धु शब्द देशवाची तथा समुद्र, नदी आदि पदार्थों का बोधक है और हिन्दु किसी देश अथवा किसी एक पदार्थ का बोधक नहीं, अपितु एक मनुष्य जाति-विशेष को प्रतिपादित करता है। इस कारण समानार्थ कहना धृष्टतामात्र और साहसमात्र ही है। तत्त्वतः यथार्थ नहीं है किन्तु सर्वथा निरर्थक है।

संस्कृत के विद्वान् इस बात को अच्छी प्रकार जानते और मानते हैं कि श्री आदि पद शकारादि अथवा सिरा आदि पद सकारादि भिन्न २ धातु और प्रत्ययों से मिलकर बनाये जाते हैं। और ह्री, हिरा और हरिताः आदि पद भिन्न २ धातुओं और प्रत्ययों के संयोग-विशेष से बनाये जाते हैं। जैसे "श्री" शब्द, श्रीञ् धातु (श्रीणाति, श्रीणीते) आदि और पाकार्थ में और श्रीञ् धातु (श्रयति, श्रयते) भ्वादि और सेवा-योग्य अर्थ में To cook, to dress, to boil, to please, to propitiate आदि अर्थों को लेकर तैयार किया गया है। परन्तु ह्री शब्द, ह्री धातु (लज्जायाम्) से लज्जा अर्थ में बनता है, जिसके अर्थ Shame, modesty, bashfulness आदि हैं। इस प्रकार स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ह्री और श्री न तो एक एकार्थ के बोधक हैं और न ही एक आकृति के हैं। इससे मुनिजी का समानार्थवाची कहना उदाहरण मात्र के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है इसलिये उनका यह कथन निरर्थक तथा निर्मूल है।

इसी प्रकार सरितः और हरितः आदि पद, यद्यपि एक एक अंश में एकार्थ के बोधक हैं, तथापि भिन्न २ धातुओं से बनते हैं।

विचारास्पद विषय यह है कि एक ही भाषा के शब्दों में 'स' और 'ह' के उच्चारण के भेद से एकार्थ का बोधक नहीं माना जाता, प्रत्युत एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में जाकर कुछ २ परिवर्त्तित होकर उसी

अर्थ का बोधक होने से समानाकृति से समानार्थ का बोधक माना जा सकता है। जैसे 'सप्त' संस्कृत का शब्द फ़ारसी भाषा में जाकर 'हप्त' हो गया अथवा 'सप्ताह' का 'हफ्तह' बन गया, सोम का होम, सुर का हुर, असुर का अहुर, इसी प्रकार और बहुत से शब्द हैं जो संस्कृत से फ़ारसी भाषा में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन करने से बन जाते हैं। जैसे, आपः से आब, अभ्र से अब्र वात से वाद, मेघ से मेग, मास से माह, लास से तरस, युवक से जवान, इत्यादि २। इसी प्रकार यदि कोई विचारवादी सिन्धु संस्कृत शब्द से हिन्दु बना हुआ माने तो कोई आशंका की बात नहीं, परन्तु 'हिन्दु' शब्द संस्कृत पद कहलाने के योग्य कदापि नहीं हो सकेगा। क्योंकि हिन्दु यदि संस्कृत पद होता तो कहीं पर, किसी ग्रन्थ में तो, इसका प्रयोग पाया जाता ? इस शब्द को संस्कृत वालों ने कभी भी किसी अर्थ में अच्छा अथवा बुरा स्वीकार ही नहीं किया, इससे स्पष्ट है कि यह शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है।

अब यह विचारना आवश्यक है कि ये दोनों पद एकार्थ के बोधक भी हैं या नहीं। पूर्व निवेदन कर चुका हूं कि सिन्धु शब्द के अर्थ देश विशेष के हैं अथवा समुद्र, नदी आदि के, परन्तु 'हिन्दु' शब्द न किसी देश विशेष का बोधक है और न किसी नदी नद का, प्रत्युत एक जातिवाची पुरुष-समुदाय को प्रतिपादित करता है। इसलिये यह 'हिन्दु' शब्द 'सिन्धु' पद से बिगड़ कर नहीं बना प्रतीत होता। मुनिजी, 'सिन्धुतक्षशिलादिभ्यः' (अष्टा० ४।३।९३) के प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि 'सिन्धु' देशविशेष का वाची है, परन्तु इस सूत्र से यह कभी भी कोई संस्कृत का पण्डित सिद्ध करने का साहस नहीं कर सकता कि सिन्धु, आर्यावर्त्त अथवा भारतवर्ष का नाम है। दाक्षीपुत्र पाणिनि महाराज इस सूत्र से 'सैन्धवः' शब्द सिद्ध करना चाहते हैं, जिसका अर्थ है—सिन्धु देश निवासी। अब यदि सैन्धव और हिन्दु को दोनों पलड़ों पर रख कर मान किया जा सके तो कोई भी विचारशील विद्वान् सैन्धव और हिन्दु को एकार्थवाची होते हुए भी एक दूसरे का अपभ्रंश नहीं मान सकता। यही त्रुटि हमारे मुनिजी को माननी पड़ी। जिस पर वे लिखते हैं कि:—

"पारसी भाषा में नाम (इस्म्) का अन्तिम वकार नियम से उ अथवा ओ पढ़ा जाने से सकार का परिवर्त्तन हकार होकर सैन्धव नाम ही हिन्दव लिखा जाकर हिन्दु पढ़ा जाता'। इत्यादि-देखो, स्वाध्याय संहिता-प्रस्तावना पृष्ठ ३।

क्या इससे किसी को भी अब मानने में किञ्चिन्मात्र भी संकोच रहा कि यद्यपि पूरा २ शब्द तो न बनाया जा सका, क्योंकि 'ध' का 'द' कैसे बना ? तथापि यह तो सिद्ध हो ही गया कि हिन्दु शब्द पारसी भाषा में जाकर बना, संस्कृत भाषा में तो फिर भी किसी प्रकार न बन पाया और वह मुनिजी के कथनानुसार भी (निसबती) ही बना क्योंकि आप मानते हैं कि पारसी भाषा में हिन्दु शब्द (नाम) दो हैं, एक निसबती और दूसरा ग़ैर निसबती ग़ैर निसबती हिन्दु शब्द का अर्थ काला तथा दास है, निस्बती हिन्दु शब्द का अर्थ काला तथा दास नहीं किन्तु हिन्द का रहने वाला (सिन्धु देश निवासी) अर्थ है। क्या इस से अधिक और कोई प्रमाण हो सकता है कि वादी स्वयं स्वीकार करे कि पारसी भाषा में हिन्दु शब्द का अर्थ सिन्धु देश निवासियों का नाम है, जिससे हू॰

स्वमेव सिद्ध है कि हिन्दु शब्द आर्यभाषा अथवा संस्कृत भाषा का कदापि नहीं।

एक और स्थान पर मुनिजी लिखते हैं कि सिन्धु शब्द सैन्धवों के राजा का नाम है, जिससे बिगड़ बिगड़ा कर हिन्दु बन गया, जिस पर भी पाणिनी आचार्य का एक सूत्र 'तद्राजस्य लुक्' (अष्टा० २।४।६२) का प्रमाण देकर सिद्ध करने का यत्न करते हैं। परन्तु पूरा सूत्र इस प्रकार है—'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' जिस पर न तो दीक्षित जी ने और न उस पर टीका करने वाले किसी भी टीकाकार ने सिन्धु शब्द का उदाहरण दिया है। यहां तो 'इक्ष्वाकु' अथवा 'पञ्चाल' शब्दों का आश्रय लिया गया है। एक बात, जिसकी ओर मैं मुनिजी की दृष्टि डलवाना चाहता हूं, यह है कि जिस सूत्र से आप सैन्धव शब्द सिद्ध करते हैं,—कभी दीक्षितजी के शब्दों को आज कल भी विचार कर देख लिया होता,—वहां पर आचार्य लिखते हैं कि सैन्धवः शब्द का अर्थ सिन्धु देशनिवासी कभी भी नहीं हो सकता, प्रत्युत-जिनके पूर्वज उस देश में रह चुके हों। क्योंकि दीक्षितजी स्वयमेव निवास और अभिजन शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:—

"यत्र स्वयं वसति स निवासः, ।

यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजनः इति विवेकः" ॥ (दीक्षितः)

इसलिये 'सैन्धव' शब्द का अर्थ, वे पुरुष नहीं जो उस समय उस देश विशेष में बसते हों, परन्तु वे लोग हैं जिनके पुरुषा पूर्व काल में उस देश विशेष में बस चुके हों, इससे भी उनका कथन उन्हीं के उद्देश्य के प्रतिकूल सिद्ध हो रहा है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि न कभी पूर्वकाल में इस देश का नाम 'सिन्धु' था और न कभी इस देश वासियों को किसी ने 'सैन्धव' लिखा। और हिन्दू तो न संस्कृत का पद है और न कभी किसी विद्वान् ने हिन्दु पद से इस देश निवासियों को लिखा यह शब्द पारसी भाषा का है। वही लोग इस देश वासियों को इस नाम से लिखते रहे, यही सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

अब दूसरा प्रश्न मुनिजी ने उपस्थित किया है कि आर्यसमाजी लोग वेद को 'आर्य्यों का वेद' मानते हैं और अपने को 'आर्य्य' मानते हैं, परन्तु 'दस्यु' नहीं मानते, "तो हम पूछते हैं कि क्या वेद में आर्य्यों के विरुद्ध भी प्रार्थनाएं हैं कि नहीं? नहीं तो आप किसी काल में भी नहीं कह सकते। क्योंकि वेद में अनेक ऐसे मन्त्र पाये जाते हैं जिनमें दस्युओं की न्याई आर्यों के विरुद्ध भी प्रार्थनाएं की गई हैं।

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसको कदाचित् भी नहीं टाला जा सकता क्योंकि यद्यपि हम लोगों को कदापि अभीष्ट नहीं है कि वेद किसी जाति विशेष के लिये अथवा किसी देश-विशेष के लिये परमेश्वर ने दिया तथापि यह सब को इष्ट ही है कि वेद सत्यकामी, सत्यमानी, उत्तम, श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये हैं और दुष्ट, दुराचारी, चोर, डाकू, दस्यु पुरुषों के लिये कदापि नहीं हो सकते। यदि वेद में इस प्रकार के मंत्र हमारे मुनिजी के कथनानुसार मिल जायं, जिनमें उत्तम और निकृष्ट दोनों प्रकार के मनुष्यों को एक ही प्रकार से माना गया हो तो क्या वे वेद परमेश्वरीय ज्ञान होने के योग्य हो सकते हैं? कदापि नहीं। ऐसे वेद आर्यसमाज अथवा विचारशील मनुष्य के मन्तव्य नहीं हो सकते।

अब श्री मुनिजी के दिये हुए दोनों मंत्रों को विचारवान् पाठकों के समक्ष रख कर दर्शाया जायगा कि मुनिजी का कहना कहां तक ठीक है।

त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर।
वधी र्वनेव सुधितेभिरत्कैः आ पृत्सु दर्षि नृणां नृतमम्॥
ऋ० ६। ३३। ३॥

इस मंत्र का अर्थ करते हुए तीन शब्दों पर विचार करना है—इन्द्र, दासा और आर्या। यह तो कदापि नहीं कहा जा सकता कि मुनिजी इन शब्दों का अर्थ नहीं समझते। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मुनिजी जान बूझ कर मनमाना अर्थ करके एक हठ को पीटना चाहते हैं। नहीं तो 'दास' का अर्थ कौन से कोष अथवा निरुक्त से दस्यु कर सकते हैं। निरुक्तकार स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं:—

दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माणि। निरुक्त २। १७॥

जिस पर दुर्गाचार्यजी टीका करते हुए लिखते हैं, (दासः) कर्मकरः, दास्ये दास्यतेः सहि "(उपदासयति)" उपक्षयति कृष्यादीनि (कर्माणि) अर्थात् मजदूर-पेशा भृत्य जो कृषि आदि में काम करते हैं, किसान लोग जो खेती में जमीदारों की नौकरी से उन सम्पूर्ण कार्यों को करते हैं, उन सब को दास कहा जाता है तथा जो अन्य व्यवसायों, धन्दों, कार्यालयों में, मजदूरी का काम करते हैं—ये सब 'दास' कहलाते हैं। आर्य्य शब्द का अर्थ करते हुए निरुक्तकार यास्काचार्यजी लिखते हैं:—आर्यः ईश्वरपुत्रः (निरुक्त ६-२६)। पाणिनिजी लिखते हैं:—अर्यः स्वामिवैश्ययोः (अष्टा० ३।१।१०३) ऋ गतौ अस्मात् यत्, ण्यतोऽपवादः। अर्थात् स्वामी और वैश्य अर्थों में 'अर्य्य' शब्द बनता है। जिससे उनकी संतान का नाम 'आर्य' है। अर्थात धनपात्रों की संतान व्यापारी जाति, कार्यालयों के अध्यक्ष। इस लिये दास शब्द का अर्थ है मजदूर, किसान, छोटे २ काम करके अपनी जीविका कमाने वाले लोग, और आर्य का अर्थ है बड़े २ धनपात्र, जमीदार, कार्यालयों, कारखानों, व्यवसायों और धंधों के मालिक, धनपति लोग। इन का परस्पर विवाद, झगड़ा-बखेड़ा होना जरूरी है। ऐसे पुरुषों का वर्णन वेद में किया है।

अब रहा "इन्द्र" शब्द जिसका अर्थ यहाँ ईश्वर नहीं, राजा है, सेनाध्यक्ष है। इसी लिये यह कहा जाता है कि विद्वान् लोग चाहे कितने ही संस्कृत के विद्वान् वा आचार्य क्यों न हो जाँय, जब तक वेदाचार्य महर्षि दयानन्द के बताये मार्ग से वेद पर विचार नहीं करते, वेद की समस्याएँ समझ में नहीं आ सकतीं। परन्तु मुनिजी तो जान-बूझ कर वेदाचार्य पर कटाक्ष करने से नहीं रुकते। अस्तु—

अब इस मंत्र का अर्थ सर्वथा संगत है। किसी प्रकार की क्षति नहीं जो समझ में नहीं आ सकती।

एक और शब्द 'वृत्र' है जिस पर कई प्रकार की शंकाएं उत्पन्न हो जाती हैं परन्तु यहाँ इस मंत्र में 'वृत्राणि' पद दासा और आर्या दोनों के साथ समान भाव से संगत हो जाता हैं जिस का अर्थ शतपथ आदि आर्ष ग्रन्थों में अनेक प्रकार से वर्णित है। वृत्र शब्द का अर्थ धन है (निरुक्त ३।९।९) और

"वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा.........यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते। (निरुक्त २। १७॥)

स यद् वर्तमानः समभवत् तस्माद् वृत्रः (शत० १।६।३।९)

यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्या एवैतद् वृत्रायोदराय बलिं हरन्ति (शत १। ६। ३। १७)

शतपथ और यास्काचार्य ने वृत्र शब्द का कैसे उत्तम शब्दों में वर्णन किया है। वृत्र का अर्थ धन, वृत्ति और उदर है इसीलिये इस को पाप्मा अर्थात् पापी कहा गया है। यह पापी पेट क्या २ अनर्थ नहीं कराता ? नीतिकार भी कहते हैं कि:—

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्। अर्थात् भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता। शतपथ इसी भाव को अपने शब्दों में कितनी सुन्दरतापूर्वक उपदेश करता है:-जब यह प्रजा खाने को चाहती है तब वृत्र अर्थात् पेट के लिये बलि (अन्न) को ले जाती है चाहे कहीं से मिले, पेट के भरने की आवश्यकता प्रजा को अवश्यमेव होती है इसलिये प्रजा को वृत्ति अर्थात् रोजगार व्यवसाय आदि साधनों की आवश्यकता पड़ती है।

इतना विचार करने पर इस वेदमन्त्र की व्याख्या अच्छी तरह समझ में आ जायगी। अर्थात् जब (दासा) कर्म करने वाली मज़दूर पेशा प्रजा और (आर्या) धनवान् प्रजा (वृत्राणि) धन और पेट के भाव को मुख्य रखती हुई अर्थात् अपने २ रोज़गार के कारण (अभित्रान्) एक दूसरे की शत्रु हो जायं, तो हे (शूर) प्रजा की रक्षा करने के योग्य (इन्द्र) राजन्! अथवा सेनापति, सेनाध्यक्ष आदि गुणयुक्त (तान्) उनको (नृणाम्) मनुष्य समुदाय में से (नृतमम्) जो सब से उत्तम नर हों उनका (आ दर्षि) आदर कर। धातु का अर्थ आदर करना है (उनको हर तरह से अच्छी प्रकार आदर पूर्वक आवाहन कर) उनमें से दोनों प्रकार के सब से उत्तम पुरुषों को आदर पूर्वक बुला। प्रश्न यह है कि उनको कहाँ बुलाया जाय ? वेद कहता है कि "पृत्सु, पृतनासु" सेनाओं के बीच अर्थात् जब कभी ऐसे अवसर उपस्थित हों तो दोनों दलों के उत्तम पुरुषों की सभा करो परन्तु अपना सेनादि का प्रबन्ध सब प्रकार से सुसज्जित रहे, इसमें किसी प्रकार की त्रुटि न रहे और (सु-धितेभिः) उत्तम प्रकार से धारण किये हुए (अत्कैः) शस्त्र और अस्त्रों से (वना इव) वन अर्थात् जल के समान (वधीः) उनकी गति (प्राप्ति) को रोक दो जिससे वह किसी प्रकार से उपद्रव उत्पन्न न कर सकें। वध का अर्थ साधारण संस्कृत में हिंसा और गति है, केवल हिंसा नहीं। इस में राज्य और प्रजा की रक्षार्थ यदि मज़दूरों और धनियों में पेट के लिये वैमनस्य हो जाय, तो उस के लिये वेद अपने उपायों का वर्णन करता है। इसमें कहीं भी आर्यों और दस्युओं के मारने के भावों की प्रार्थना नहीं दीख पड़ती।

मुनि जी! क्या मैं आप से प्रार्थनापूर्वक प्रश्न कर सकता हूं कि ईश्वर को साक्षी करके बतलायें कि आपने पाश्चात्य पुरुषों का अनुसरण करते हुए किन भावों से प्रेरित होकर ऐसे कुत्सित विचारों का सर्व साधारण में प्रचार करने का प्रयत्न किया है ?

दूसरा मन्त्र जो ऋग्वेद से मुनिजी ने अपने भाव को सिद्ध करने के लिये दिया है वह भी इन्हीं शब्दों से मिश्रित है और पूर्वोक्तभाव को ही प्रकट करता है, परंतु उसमें मज़दूरों और धनियों का परस्पर विवाद नहीं।

यो नो दासः आर्यो वा पुरुष्टुत देव इन्द्र युधये चिकेतति।
अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान् वनुयाम सङ्गमे॥

ऋ० १० । ३८ । ३॥

साधारण प्रजासमूह की ओर से इन्द्र सेनापति प्रजारक्षक राजा के प्रति प्रार्थना है कि (यो:) जो (नः)

हमारा, सर्वसाधारण प्रजा का (दासः) कर्मकर्त्ता, भृत्य, नौकर, मजदूर हो (वा) अथवा (आर्यः) ईश्वरपुत्र, राजपुत्र, धनी जनों में से हो, परन्तु (पुरु-स्तुतः) बहुत पुरुषों से स्तुति किया गया हो अथवा बहुत से वीर पुरुष जिसे चाहते हों परन्तु (अदेवः) विद्या से रहित हो, यदि वह (युधये) लड़ाई झगड़े के लिये (चिकेतति) प्रस्तुत हो, तो पर जो (अस्माभिः) हमसे अर्थात् साधारण प्रजा से (ते) वे (सुषहाः) सहनशीलता द्वारा (शत्रवः) शत्रु (सन्तु) बन जावें, हे (इन्द्र) राजन्! (त्वया) आपसे (वयं) हम (तान्) उनको (संगमे) सभा मण्डप में अथवा संग्राम में (वनुयाम) प्रार्थना करते हैं।

इस मन्त्र में वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि यदि कोई दास पुरुष अथवा धनी अपने साथियों की संगति के कारण जत्था बना कर सर्वसाधारण प्रजा को उसकी सहिष्णुता के कारण उसको दुःख देता है और अनेक प्रकार के उपद्रव करता है तो उस समय प्रजा का क्या कर्त्तव्य है ? वेद उपदेश करता है कि सर्व-साधारण प्रजा को उस समय स्वयमेव लड़ाई दंगा नहीं करना चाहिये, प्रत्युत राज्यसभा द्वारा अथवा राज्य के अधिकारी द्वारा जो इस कार्य के लिये नियुक्त किया गया है उससे प्रार्थना करनी चाहिये। कितना स्पष्ट प्रबन्ध विषयक उपदेश किया गया है कि यदि कोई एक पुरुष अथवा बहुत मिलकर, चाहे दास हों चाहे धनी, सर्वसाधारण प्रजा को सताना चाहें, तो प्रजा, राज्याधिकारियों से उसके प्रबन्ध के लिये निवे-दन करें।

इस मन्त्र में 'वनुयाम' पद विवादास्पद है, जिसका अर्थ मुनिजी ने 'मारे किया है। परन्तु यहां 'प्रार्थना करना' अर्थ है। साधारण संस्कृतज्ञ भी यह जानते हैं कि—

चातको मेघं वारि वनुते।

अर्थात् चातक मेघ से जल की प्रार्थना करता है। इसी प्रकार प्रजा अपने दुःखों और कष्टों की निवृत्ति के लिये राजा अथवा अथवा राज्य-कर्म चारियों से प्रार्थना करती है। यह मन्त्र राजा अथवा प्रजा के प्रबन्ध का वर्णन करता है।

आशा है कि मुनिजी को अब किसी प्रकार की आशंका शेष नहीं होगी। और मुनिजी को इस प्रकार शंका करने का साहस नहीं होगा कि "यदि वेद में आर्यों के विरुद्ध भी प्रार्थनाएं हैं तो आप ही सोचें कि आर्यों की धर्म पुस्तक में आर्यों ही के विरुद्ध प्रार्थना होने का क्या अभिप्राय है ?" इत्यादि। इस प्रकार की शंकाएं सर्वथा निर्मूल हैं। मुनिजी को स्वयं विचार लेना हो उचित है कि यह मन्त्र आर्यों के विरुद्ध प्रार्थना करते हैं अथवा राज्य प्रबन्ध के रहस्य को दर्शाते हैं।

तीसरा प्रश्न, जो मुनिजी ने किया है, वह एक अपूर्व प्रश्न है। मैं कहूंगा कि मुनिजी की योग्यता वाले पुरुषों को इस प्रकार प्रश्न करने कदाचित् उचित नहीं। इस प्रश्न का उत्तर मिल जाने से चतुर्थ प्रश्न का उत्तर सुतराम् ही मिल जायेगा कि आर्यों को सम्बोधन करने का मन्त्र वेद में क्यों नहीं मिलता।

मुनिजी ने अपनी बनाई पुस्तक स्वाध्यायसंहिता के पृष्ठ १ और पृष्ठ १५३ पर इस प्रकार लिखा है:—

"दीर्घतमा के पुत्र कक्षीवान् ने अपने मंत्रों में भारत देश के 'सिन्धु' नाम का उल्लेख किया है, इसी प्रकार प्रजापति के पुत्र हिरण्यगर्भ ने अपने मंत्रों में

तत्कालीन सिन्धु (भारत) देश की सीमा का उल्लेख इस प्रकार किया है" इत्यादि ।

जिस के विषय में ऋषि ने कहा है—"ममता का पुत्र दर्घतमा अत्यन्त जीर्ण अवस्था को प्राप्त हुआ अपनी आयु के दशवें युग में (नव्बे वर्ष से ऊपर की आयु में) यज्ञ के लिये (दौष्यन्त भरत के राजसूय यज्ञ के लिये) ऋषियों (ऋत्विजों) के मध्य में ब्रह्मा होता है" इत्यादि ।

मुनिजी ! जिस वेद के विषय में बनाई हुई अपनी पुस्तक वेदसर्वस्व के पृष्ठ ९ पर आपने जो लिखा है क्या वह अब सत्य नहीं रहा । आप वहाँ लिखते हैं—

"मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये ईश्वर की अपार दया से ऋषियों के हृदयों में जिस ज्ञान का प्रकाश हुआ वही ज्ञान यहाँ वेद शब्द का श्रेष्ठ अर्थ विवक्षित है" ।

फिर उसी पुस्तक के पृष्ठ १३ पर आप लिखते हैं—

"यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जिस प्रकार इस अचिन्तनीय रचना ब्रह्माण्ड और उसके अंग-प्रत्यंग अस्मदादि शरीरपर्यन्त प्रत्येक पदार्थ का अधिकरण परमेश्वर है । इसी प्रकार उस जगत्पति परमात्मा के ज्ञान के प्रकाशक उक्त चार प्रकार के मंत्रों का आदिमूल भी परमेश्वर है ।

फिर आप उसी पुस्तक के पृष्ठ ६५ पर ऋग्वेद के मंत्रों की संख्या का भी वर्णन करते हैं ।

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्तितः ॥

ऋग्वेद में दश हजार पाँच सौ अस्सी और एक पाद १०५८०, मंत्र हैं । फिर आप उसी पुस्तक के पृष्ठ ९५ पर लिखते हैं:—

ऋगादि चारों संहिताओं का संगठनकाल तथा उनका संगठनकर्त्ता अथर्वा ऋषि भी एक है और यही अविचल वैदिक सिद्धान्त है ।

इससे अधिक क्या प्रमाण दिये जाँय । मुनिजी चारों वेदों का जब सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदयों में प्रकाश होना मानते हैं, तो फिर न जाने इस नई बनाई पुस्तक में "कक्षीवान् अपने मंत्रों" इस वाक्यांश का क्या अर्थ है । मुनिजी ! वह मंत्रों का कर्त्ता नहीं, वह तो मंत्रों का ऋषि है, अर्थात् द्रष्टा प्रचारक है । आपने तो कक्षीवान् के पूरे कुल का वर्णन वेद द्वारा बता दिया । दीर्घतमा का पुत्र कक्षीवान् और ममता का पुत्र दीर्घतमा, अब भी आप को अपने लिखने में परस्पर विरोध प्रतीत नहीं होता । आप जान बूझ कर वेदाचार्य महर्षि दयानन्द पर कटाक्ष करते हैं । जब इस प्रकार के कुलों का वर्णन वेद में आप मानने लग जायेंगे, तो क्या आपकी आदि सृष्टि में सब देश देशान्तर उत्पन्न हो चुके थे, जिसके मूल मंत्रों में पूर्व से ही भरत आदि हो चुके थे, जिसके राजसूय यज्ञ में आपके कक्षीवान् आदि ब्रह्मा बनाये गये थे । क्या सृष्टि के आरम्भ में ही सिन्धु आदि देश बन चुके थे, जब यह वेद आपके कथनानुसार ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्म वेद अर्थात् अथर्व वेद दिया गया ।

आप इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों को लेकर मुनि शब्द का उपहास कर रहे हैं । शतपथाचार्य्य मुनि, शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं:—

"तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ।
ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन ॥
चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति........" ।

श० कां० १४ अ० ७ ब्रा० २ कं० २५ ॥

जो उस परमेश्वर को वेदमंत्रों द्वारा, उसके अध्ययन से, उस के सुनने से और वेदानुकूल अनुष्ठान करने से जानने की इच्छा करते हैं और जो ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए,सत्याचरणादि तप से, अर्थात् धर्मानुष्ठान से, श्रद्धा अर्थात् अत्यन्त प्रेम से, नाशरहित विज्ञान (यज्ञ) से, अथवा कर्मकाण्ड द्वारा परमेश्वर को जानते हैं, वे ही पुरुष मुनि बनते हैं।

इससे सिद्ध है कि अनेक साधनों के अतिरिक्त नाशरहित वेद ज्ञान का जानना और मानना मुनि होने के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ब्रह्मा से लेकर स्वामी दयानन्द पर्यन्त सब ऋषियों और मुनियों का यही मत है कि वेद अपौरुषेय हैं, उन में किसी प्रकार की गाथा अथवा कथा का वर्णन नहीं है। इसीलिये वेद में इस प्रकार के सैन्धवों का वर्णन करना और किए हुए वर्णन का प्रतिपादन करना सर्वथा असत्य है। वैदिक मुनिजी को भी इसी निश्चय पर आरुढ़ होना चाहिये।

अब चतुर्थ प्रश्न का उत्तर देकर इस लेख को पूर्ण करना आवश्यक है। वह प्रश्न यह है कि क्यों आर्यों को सम्बोधन नहीं किया गया ? वेद अपौरुषेय होने के कारण चूंकि किसी जाति अथवा व्यक्ति का नहीं, न हीं किसी देशविशेष का है और न ही किसी समय विशेष के लिये है अतः वेद में किसी को सम्बोधन स्वीकार करना सर्वथा भूल है और जो अर्थ इस प्रकार से किये जाते हैं वे भी मिथ्या कल्पना मात्र हैं।

प्रश्न यह है कि मुनिजी को उनके प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय। मुनिजी 'आर्य पत्र' में पूछते हैं कि:—

"जो लोग 'सिन्धवः' को सम्बोधन पद न मान कर उसका अर्थ नदियां कहते हैं उन्हें 'आपः' पद के व्यर्थ हो जाने को ध्यान में रखना चाहिये, यदि वे 'सिन्धवः' पद को 'आपः' पद का विशेषण मानकर सम्पूर्ण चरण (मन्त्र के चौथाई) का अर्थ करें कि चलने वाले जल, उसके लिये घृत को प्राप्त करते हैं तो उन्हें पहिले अपने मन ही मन में इस प्रश्न का उत्तर सोच लेना चाहिये कि खड़े हुए जल (झीलें और सरोवर) क्यों उसके लिये घृत को प्राप्त नहीं करते। पीछे हमारे अर्थ के साथ अपने अर्थ की तुलना करके देखना चाहिये कि किस अर्थ में महत्व है और किस अर्थ में भगवान् वेद का गौरव है। हमें दृढ़ विश्वास है कि वे न्यायशील होने से हमारे ही अर्थ में महत्त्व और भगवान् वेद के गौरव को पायेंगे"।

यह मुनिजी का कथन सर्वथा व्यर्थ है। सच बात यह है कि जो आर्य लोग महर्षि के ग्रन्थों का पठन पाठन नहीं करते, वे आप के इस कथन को नहीं समझ सकते कि आप इन शब्दों में महर्षि के किये अर्थों पर चोट कर रहे हैं। अस्तु।

आप भी कृपया महर्षि के अर्थों को पुनः पुनः पढ़कर अनुभव कर सकेंगे कि 'आपः' और 'घृतं' शब्द दोनों आवश्यक हैं और विशेष्य-विशेषण रूप में ही हैं। सम्बोधन का यहां पर कोई काम ही नहीं और न ही इस प्रकार के अर्थों का लेश मात्र भी चिन्ह है। कृपया ऋषि के व्याख्यान रूप अर्थ को सावधान चित्त हो कर, पढ़कर उनके भाष्य से आप को ऋषि के अर्थों में अत्यन्त गूढ़ता का अनुभव होगा। मूलमंत्र इस प्रकार है:—

नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥
ऋ० १।१२५।५॥

अब से पूर्व यह देखना है कि पूर्वज आचार्यों ने इस मंत्र का देवता क्या माना है जिस का तात्पर्य मंत्र का अर्थ है। आप भी इस बात को ही मानते हैं। चुनांचि आप स्वयं इस भाव को वेदसर्वस्व में पृष्ठ १० पर इस प्रकार लिखते हैं:—

"मन्त्रप्रतिपाद्य अर्थ का नाम देवता सर्वसम्मत है। सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में स्वयं कात्यायन मुनि ने भी कहा है। उसका कथन यह है "या तेनोच्यते सा देवता" मन्त्र जिस अर्थ को कहता है, उसका नाम देवता है"।

इसी प्रकार यह जानना आवश्यक है कि पूर्वोक्त मंत्र का देवता क्या है। पहिले, तीसरे और सातवें मंत्र का देवता दम्पती है और बीच वाले मंत्रों का देवता सामान्य मनुष्य-जाति है। जिस में स्त्री और पुरुष दोनों हैं। इस कारण वेदमंत्र में 'आपः' पद पहिले और 'घृत' शब्द पीछे दिया है। स्त्री का बोधक 'आपः' पद है और पुरुष का बोधक 'घृत' है। शतपथाचार्य इस बात को निश्चयात्मक दर्शाते हैं:—

योषा वा आपो वृषाग्निः॥ श० १।७।१।१८॥ तथा २ १।१४॥

योषा वै वेदिः वृषाग्निः॥ श० १।२।५।१५॥

रेतो वै घृतम्॥ श० ९।२।३।४४॥

वेदमन्त्र में देवताओं, विद्वानों में स्थान पाने के लिये दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है—एक ब्रह्मचर्य और दूसरी विद्या। शोक है कि आपने 'दक्षिणा' शब्द का अर्थ दान कर दिया और बड़े मोटे साधारण बुद्धि वाले हिन्दु स्वभाव को वेद मन्त्र से प्रकट करते हुए कह दिया—'जो दान देता है वह निःसन्देह पुण्य का आश्रय, सहारा लिया हुआ स्वर्ग के शिखर पर प्रतिष्ठित होकर रहता है और यहां विद्वानों में पहुंच जाता है'।

मुनिजी! क्या विद्वान् भी धन के अभिलाषी हुए हैं? विद्वानों के पास धन कहां? वे तो विद्याप्रिय होते हैं। विद्याप्रिय ब्राह्मण हुआ करते हैं। धन के अभिलाषी वैश्य हुआ करते हैं। इस लिये दक्षिणा का अर्थ इस मंत्र में सुशिक्षा (दातुं योग्या) है, रुपये पैसे का दान नहीं। यह भाव ऋषि दयानन्द ही अपने भाष्य में वर्णन करते हैं और उत्तम शिक्षा द्वारा ही स्त्री और पुरुष देवता बनते हैं और आनन्द को प्राप्त करते हैं और उत्तम रसादि तथा अन्नादि द्वारा स्वयं पुष्ट होते हुए सन्तान को पुष्ट करते हैं। यहां पर यह और विचारणीय है कि 'आपः' पद का अर्थ जहां पर स्त्री-जाति के लिये 'रज' है वहां पर 'आपः' शब्द का अर्थ अन्नादि रस भी है।

आपो वै ओषधीनाम् रसः। शत० ३।६।१।७॥

रसो वै आपः। शत० ३।३।३।१८ तथा ३।९।४।७॥

जिस भाव को लेकर महर्षि ने अन्नादि द्वारा सन्तानों की पुष्टि का विधान किया है क्योंकि स्त्रियों के पुष्ट होने से ही सन्तानें पुष्ट होती हैं, स्त्री को वेदि माना गया है, जहां से सन्तानों की उत्पत्ति होती है। अब वेदमंत्र का अर्थ सुगमता से समझ में आ जाएगा। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है:—

"(यः) जो स्त्री अथवा पुरुष (नाकस्य) दुःख रहित आनन्द के (पृष्ठे) आधार पर (अधितिष्ठति) अपनी स्थिति को रखता है (श्रितः) विद्यादि शुभ गुणों का आश्रय लेकर (पृणाति) विद्या को प्राप्त करता है अथवा अन्नादि उत्तम रसों को प्राप्त करता है (सः) वह (ह) निश्चय पूर्वक (देवेषु) दिव्य

गुणों को प्राप्त करते हुए विद्वानों की कोटि में (गच्छति) प्राप्त होता है (तस्मै) उसी स्त्री अथवा पुरुष के लिये (आपः) स्त्री सम्बन्धी प्राण, जल (जिसको रज कहते हैं) और (घृतं) पुरुष सम्बन्धी (आज्यं) रेतः, तेज, वीर्य कहते हैं (अर्षन्ति) वर्षते हैं। उन में वह तेज और प्राण, उत्तम रजो वीर्य की वृद्धि ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का सामर्थ्य उत्पन्न होता है (सिन्धवः) नदी नदादि उत्तम जल (तस्मै) उन दोनों स्त्री पुरुष के लिये (इयं) यह उत्तम शिक्षादि (दक्षिणा) प्राप्ति के देने योग्य पदार्थ (सदा) नित्य (पिन्वते) पोषण करते हैं, उन को प्राप्त होते हैं। दूसरा मंत्र, मुनिजी ने दिया है, वह इस प्रकार है:—

पृष्टो दिवि धाय्यग्निः पृथिव्या नेता सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्।
स मानुषीरभि विशो वि भाति वैश्वानरो वावृधानो वरेण ॥
ऋ० ७ । ५ । २ ॥

इस मंत्र में अग्नि को 'सिन्धूनां नेता' माना गया है, जो स्पष्ट प्रतीत होता है। पहिले सिद्ध किया जा चुका है कि सिन्धु शब्द का अर्थ सिन्ध देश निवासी कभी नहीं हो सकता। यदि 'देश-निवासी' अर्थ लेना हो तो 'सैन्धवानाम्' पद होना चाहिये। न ही राजा वाची अर्थ हो सकता है। यदि दुर्जन-तोषन्याय से मान भी लिया जाय तो भी बहुवचन नहीं होना चाहिये, क्योंकि राजा एक होता है, बहुत नहीं होते। इस लिये 'सिन्धूनाम्' का अर्थ 'समुद्रों का' 'नदियों का' ही माना जाना उत्तम है। यहां पर अग्नि शब्द से नेता होना मान कर 'सिन्धूनाम्' पद से सिन्धुओं का नेता होना यदि माना जाय तो दूसरे मंत्र में क्या अर्थ किया जाएगा ?।

मित्रो अग्निर्भवति यत्समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः ।
मित्रो अध्वर्युरिषिरो दमूना मित्रः सिन्धूनामुत पर्वतानाम् ॥
ऋ० ३ । ५ । ४ ॥

यदि यहां पर 'सिन्धूनाम्' पद का अर्थ सिन्धु देश निवासी पुरुषों का मित्र माना जाय तो फिर 'पर्वतानाम्' पहाड़ों का मित्र, क्या अर्थ होगा ? इससे स्पष्ट अर्थ यही है जो कि स्वामीजी महाराज ने किया है।

दूसरे स्थान पर 'सिन्धूनाम्' के स्थान पर 'अपां' पद देकर विस्पष्ट किया गया है। यथाः—

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः ।
यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ।
ऋ० २ । १२ । ७ ॥

यहां पर 'अपां नेता' का वही अर्थ है जो पूर्वमंत्र में 'नेता सिन्धूनाम्' का अर्थ है। अर्थात् नदियों को चलाने वाला विद्युत्, बिजली।

पूर्व मंत्र में 'स्तियानाम्' यह एक और पद विवादास्पद है, जिस का अर्थ न जाने क्यों मुनिजी ने 'गौ' कर दिया, शायद 'वृषभः' पद को देखकर ही गौ का ख्याल हो गया होगा। यदि इन दोनों शब्दों पर यास्काचार्य की सम्मति को याद कर लेते तो ऐसी भूल कदापि न करते। यास्काचार्य लिखते हैं:—

"स्तिया आपो भवन्ति स्त्यायनात्। वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् इत्यपि निगमो भवति" (निरुक्त ६ । १७)

वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्।
वृष्णे त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय ॥
ऋ० ६ । ४४ । २१ ॥

इस पर दुर्गाचार्यजी टीका करते हुए लिखते हैं:—

सिन्धूनाम्, स्यन्दनानाम् अपाञ्च वर्षिता (स्तियानाम्) संहन्त्रीणाम् अपाम् अथवा संहतानामात्मनैव

हिमभावे एवमत्र स्तिया शब्द संहन्त्यः संहिता वा आपः उच्यन्ते, स्त्यै शब्दसंघातयोः।

वैदिक अर्थों पर विचार करने वाले पुरुषों को यास्काचार्य से बढ़कर प्रमाण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये जिस में वे आचार्य वृषभः शब्द को दोनों मंत्रों में साथ रखते हुए 'स्तियानाम्' का अर्थ 'आपः' करते हैं। विशेष व्याख्या निरुक्त में आप देख सकते हैं। ३ नवम्बर के आर्य में दो एक और प्रमाण मुनिजी ने दिये हैं, जिन पर विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्राम्। ऋ० १। ६५। ४ ॥

'जामिः' शब्द का अर्थ निघण्टु में जल, उदक दिया है, देखो निरुक्त २, २४, १। उदक नामसु पठितम्।

नदियां जल के बिना शुष्क रेखा मात्र हैं। इसी लिये महर्षि ने जामि शब्द का अर्थ, आधार होने से, सिन्धु किया है। दूसरे स्थान पर निरुक्तकार जामि शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं:—

जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति ॥

निरु० ३। ७ ॥

चलने वाला होने से जामि का अर्थ जल है, इसी लिये सिन्धूनाम् का जामि से सम्बन्ध वर्णन किया गया है।

एक और प्रश्न मुनिजी ऐसा कर देते हैं, जिससे मुनिजी की सर्वथा अनभिज्ञता प्रतीत होने लग जाती है। 'सिन्धुपति' शब्द पर व्याख्या लिखते हुए मित्र और वरुण को क्षत्रिय मानना आरम्भ कर दिया है और साथ ही इतना भी लिखते हुए नहीं चूके कि—

"यह कहीं नहीं लिखा कि मित्र और वरुण नदियों या बहने वाले पानियों के स्वामी हैं" इत्यादि लिखने से कुछ साहस मात्र के अतिरिक्त नहीं कह सकते। महर्षि ने विवाहप्रकरण में जो प्रमाण दिये हैं, उनको ही देख लिया होता तो भी ऐसा कदापि न लिखते।

ओं वरुणो ऽपामधिपतिः० पार० कां० १ कं० ५।

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः० पार० कां० १ कं० ५।

वरुण को (अपाम्) जलों का (अधिपति) राजा कहा गया है। शायद मुनिजी को 'सत्य' पद पर कोई आशंका हो। निघण्टु से यह ज्ञात हो जायगा कि 'सत्य' पद उदक के नामों में ही पढ़ा गया है। देखो निघण्टु १। १२ ॥

पूज्य पाद सच्चे वैदिक मुनि श्री पं० गुरुदत्तजी ने जल की बनावट पर लिखते हुए मित्र और वरुण को ही जलों का आदि मूल माना है। आप उनकी बनाई पुस्तक देख सकते हैं। उन्हीं श्रुति वाक्यों में, जहां पर सोम को 'ओषधीनामधिपतिः' माना गया है, समुद्र को ही नदियों का राजा कहा गया है। देखोः—

ओं सोम ओषधीनामधिपतिः०

ओं समुद्रः स्रोत्यानामधिपतिः०

इसी प्रकार आप के कथनानुसार चन्द्र को नक्षत्रों का राजा कहा गया है।

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः०

इसलिये आप का यह कथन कहां तक मन्तव्य है, पाठक स्वयमेव जान सकते हैं।

राजा सिन्धूनां पवते पतिर्दिवः। ऋ० ९। ८६। ३३ ॥

क्या आप भूल गये कि सिन्धु शब्द का अर्थ ही आप ने सिन्धुओं का राजा किया है, जिसमें आप ने सिन्धु (हिन्दु) शब्द को पाणिनि आचार्य का सूत्र देकर सिद्ध किया है कि प्रत्यय का लुक् हो जाने से

सिन्धु शब्द का अर्थ ही सिन्धुओं का राजा है (अपनी पुस्तक को फिर देखिये), तो अब आप वेद मन्त्र में 'राजा सिन्धूनाम्' ऐसा प्रमाण क्यों उद्धृत करते हैं ? । इससे ज्ञात होता है कि आप का अर्थ सर्वथा कल्पित है । अतएव निवेदन है कि मनमाना अर्थ करने से कुछ लाभ नहीं हो सकता और नहीं इन शब्दों से और इस प्रकार अर्थ करने से महर्षि के किये भाष्य पर आप का जादू चल सकता है । वेद सर्वमान्य अपौरुषेय ही हैं, उनमें किसी जाति अथवा देश विशेष तथा पुरुष विशेष का वर्णन नहीं और न हीं किसी प्राचीन आर्य ऋषि, मुनि महात्मा योगी ने आप का मत माना है । हां, नवीन पाश्चात्य विद्वानों का अवश्य कथन है, सो उनकी भूल है । यदि 'सिन्धु, सिन्धूनाम्' आदि वैदिक शब्दों के आधार पर ही सम्पूर्ण कल्पनाएं करनी हैं तो वेद के 'भारती' शब्द पर ही इस देश को भारत नाम से याद करना कौन सा कठिन कार्य्य है । परन्तु नहीं, वेद में सब शब्द यौगिक हैं, कोई एक पद भी रूढ अथवा योगरूढ नहीं है । आप की सन्तुष्टि के लिये 'भारत' शब्द भी वेद से ही दर्शा देता हूं ।

आ भारती भारतीभिः स जोषा इळा देवै र्मनुष्येभिरग्निः ।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवी र्बर्हिरेदं सदन्तु ॥
ऋ० ३।८॥

इस प्रकार के शब्द जाल से कृपया सर्वसाधारण पुरुषों को न हंसाइयेगा, उनको उपदेश दीजियेगा कि यदि सच्ची श्रद्धा और भक्ति वेद में करना चाहते हो तो वर्त्तमान युग के आचार्य वैदिक महर्षि दयानन्द की ही शरण में जाइयेगा अन्यथा कभी कल्याण नहीं ।

अद्भुत वीर महर्षि दयानन्द

[श्री ओम्प्रकाशजी शास्त्री, महाविद्यालय ज्वालापुर]

मालती सवैया—

वीरन की गणना जब हो, तब तीन महारथि जात गिने हैं ।
आदि गिनैं सब अर्जुन को, फिर चन्द्र यशोधन जात गिने हैं ॥
बाद लिखै नयपोलिन को, जसहेतु विदेश सभी हि लुटे हैं ।
लेकिन वीर दयानन्द सों, गणना मँह वीर सभी हि छुटे हैं ॥२॥

क्योंकि—

अर्जुन रक्षक केशव थे, जिनके सम वीर न नीतिप्रवीना ।
चन्द्र सहायक कौटिल था, जस नीति-विशारद को उन चीन्हा ॥
औ नयपोलिन सैन्यसखा, अस देश सभी निज हाथ किये थे ।
लेकिन वीर दयानन्द ने, नहि कोई सहायक साथ लिये थे ॥२॥

वैदिक काम-विज्ञान

[ले० श्री हरगुलालजी वशिष्ठ]

समय था जब हम दृश्य देखते थे कि वर पूर्ण युवक है और वधू पूर्ण युवती है, दोनों शिक्षित हैं, वर वधू जानते हैं कि "विवाह" क्या है ? गृहस्थ में वे क्यों प्रवेश कर रहे हैं ? दोनों के स्वभाव मिल गये हैं और इस स्वभाव-ऐक्य ने ही एकीकरण की अभिरुचि को जन्म दिया है, उन्हें किसी विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये एक होना है—मिलकर रहना है। अपने कार्यसम्पादन के भावी व्रतों का निश्चय करने से पूर्व वे वृद्ध पुरुषों के समक्ष अपनी पूर्ण एकता की घोषणा करते हैं:—

"समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ"।

"हे विद्वानो ! हम दोनों के हृदय दो जलों के समान मिले हुए हैं।"

दो स्थलों के जलों को एक जगह मिला देने पर संसार का कोई भी वैज्ञानिक नहीं बता सकता कि इस मिश्रित जल में कौन जल एक स्थान का है तथा कौन दूसरे स्थान का। संसार भर के कवियों को दो हृदयों की अभिन्नता की इससे उत्तम उपमा नहीं मिल सकती। यदि दोनों जलों में कोई एक विकार युक्त भी है तो वे दोनों जल इतने ओत प्रोत हो गये हैं कि अब उनका पता लगाना भी असम्भव है।

किसी कार्य विशेष को सम्पादन करने के लिये गृहस्थ एक अवधि है और विवाह एक प्रतिज्ञा-पत्र है जिसे उपरोक्त उभय व्यक्ति अपने २ हृदय के पट पर लिखते हैं। यह विशेष कार्य है:—

"प्रजां प्रजानयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्"।

यह "प्रजा" सन्तानोत्पत्ति ही विशेष कार्य है जिसके लिये स्त्री पुरुष एक होते हैं। गृहस्थ की शेष बातें तो गौण हैं, कार्यसिद्धि के लिये साधक रूप हैं। भोजनप्राप्ति के सब व्यापार साधन हैं और "भोजन" साध्य है। भोजन शरीर पुष्टि का साधन है। "क्षुधा" शरीर पुष्टि की आवश्यकता का नैसर्गिक चिन्ह है।

जिस प्रकार अपने अस्तित्व के लिये "शरीर-पुष्टि" की आवश्यकता है उसी प्रकार जीवन को क़ायम रखने के लिये "सन्तानोत्पत्ति" की जरूरत है। प्रस्तुत शरीर नष्ट होना है, इसके पश्चात् दूसरा शरीर रहे—इस उद्देश से "सन्तानोत्पत्ति" एक नैसर्गिक कार्य है जो प्राणी मात्र के लिये अनिवार्य है। 'क्षुधा" की तरह "कामेच्छा" सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता का नैसर्गिक चिन्ह है। नैसर्गिक कामेच्छा प्रकृति की ओर से तभी होती है जब शरीर रूपी यन्त्र अपने जैसा यन्त्र बनाने में पूर्ण क्षमता प्राप्त कर लेता है। शारीरिक प्रकृति का नैसर्गिक नियम है—"शरीर की पुष्टि व मरम्मत करते रहना तथा अपने सदृश दूसरा शरीर बनाना, जिसका अस्तित्व उसके बाद क़ायम रहे"। यही क्रम-शृंखला विश्व का जीवन है।

क्षुधा और कामेच्छा प्राणी के मनोनीत विषय नहीं हैं बल्कि प्रकृति की नैसर्गिक प्रेरणाएं हैं। प्रकृति का प्रवाह स्वतः क्रिया में गति देता है। स्वाद और विषयानन्द दो ऐसे प्रभाव हैं जो उक्त आज्ञा की कार्य-

वाही में सहर्ष रुचि पैदा कर देते हैं। यदि उस कार्य में कर्त्ता को स्वाद या विषयानन्द का अनुभव हुआ तो वह जीवन भर इन आदेशों की पूर्त्ति के लिये सहर्ष सक्रिय होता रहेगा। यदि कोई स्वाद या आनन्द न मिला तो वह विवश होकर उदासीनतापूर्वक क्रिया शील होगा। यदि कर्त्ता को क्रिया द्वारा कोई अरुचि कर अनुभव हुआ तो वह कार्य को अनिच्छा से करेगा या उससे यथाशक्ति बचने की कोशिश करगा। तल्लीनता से किया हुआ कार्य पूर्ण निर्दोष होता है, उदासीनता से किया हुआ कार्य साधारण, तथा अनिच्छा से किया हुआ कार्य बेगार के सदृश अपूर्ण तथा दोषयुक्त होता है। इसीलिये प्रकृति ने कार्य की पूर्ण तथा निर्दोष पूर्त्ति के लिये स्वाद और विषयानन्द की रचना की।

क्षुधा-पूर्त्ति अर्थात् शरीर-पुष्टि के लिये पौष्टिक, निर्दोष, गुणकारी तथा स्वादु पदार्थों को भोज्य बनाना, तथा प्रजा-उत्पत्ति के लिये विषयानन्द का माध्यम स्त्री पुरुष को उस २ के उपयुक्त करना पाकविज्ञान व कामविज्ञान कहाते हैं। उपरोक्त दोनों कार्यों में लक्ष्य है "शरीर-पुष्टि" व "सन्तानोत्पत्ति"।

स्वाद और विषयानन्द

जिससे नैसर्गिक रुचि हो तथा जिससे शरीर पुष्टि में कोई हानि न हो वही प्राकृतिक स्वाद है। जिस वस्तु में ऐसा स्वाद हो वही प्राकृतिक खाद्य वस्तु है। कोई ग्रामीण, जिसने शराब न पी हो, उसे रुचि से ग्रहण न करेगा क्योंकि उसने ऐसी चीजों का बलात् अभ्यास नहीं किया। यदि इनमें नैसर्गिक स्वाद होता तो वह दूध की तरह पी जाता। उसी ग्रामीण को सेव खिला दीजिये, जो उसने कभी नहीं खाया, वह उसे सहर्ष खा जायगा। यों तो प्रत्येक वस्तु में छः रसों में से कोई न कोई रस रहता ही है परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जो वस्तु रस वाली है वह खाद्य अवश्य है।

जब कि भोजन का लक्ष्य क्षुधा-पूर्त्ति अर्थात् शरीर-पुष्टि है तो वे सब वस्तुएं जो क्षुधानिवृत्ति हो जाने पर भी रुचिकर लगती हैं, बार २ खाने की अभिरुचि उत्पन्न करती हैं, कृत्रिम संस्कारों द्वारा स्वाद का अतिक्रमण कर जाती हैं।

गृहस्थ का प्रादुर्भाव

उपरोक्त दो विश्वव्यापी (Universal) कर्म स्त्री पुरुषों को करने हैं, जिनका उद्देश्य उनकी जाति के अस्तित्व को क़ायम रखना है। वे इन दो कार्यों को अपनी किसी आसक्ति के वश नहीं कर रहे हैं अपितु प्रकृति की नैसर्गिक प्रवृत्ति उनसे स्वतः करा रही है। यद्यपि ये कर्म उनके मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं, तो भी उनकी मानव काया के ये स्वभाव हैं।

सन्तानोत्पत्ति का कार्य निरन्तर नहीं होता, किन्तु शरीर पुष्टि (क्षुधा) का कार्य नित्य चलता रहता है। भोजनादि की प्राप्ति के लिये पुरुष को बाहरी व भीतरी दो व्यवस्थाओं को सिद्ध करने की जरूरत है। बाहरी व्यवस्था अर्थात् खाने पीने की सामग्री को इकट्ठा करने के कार्य को पुरुष सिद्ध कर सकता है, किन्तु घर में बैठकर उसको संस्कृत करके भोजन की व्यवस्था करना किसी ऐसे व्यक्ति का काम है जो एकान्त में रहकर इस काम को सुचारु रूप से सम्पादित कर सके।

स्त्री स्वभावतः पुरुष की अपेक्षा कोमल है। बाहरी दौड़ धूप उसके स्वभाव के विरुद्ध है। कोमल होने से

स्त्री स्वभावतः स्नेहमयी है, तथा क्रमशः धीरे २ कार्य करना भी उसका स्वभाव है। अतः गृह की आन्तरिक व्यवस्था के लिये यही उपयुक्त व्यक्ति है। भोजनादि खाद्य पदार्थों को बनाने वाले की मानसिक वृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। स्त्री स्वभावतः स्नेहमयी है अतः उसका बनाया भोजन विशेष संस्कृत, स्वादु, और पौष्टिक होगा। अतएव स्त्री ही आन्तरिक व्यवस्था के लिये उपयुक्त पात्र है। उधर स्त्री स्वभावतः बाहरी दौड़-धूप से बचती है अतः वह अपनी आजीविका के लिये बाहर से दौड़-धूप करके कुछ नहीं ला सकती। पुरुष के लिये सिद्धि की आवश्यकता है, साधन वह जुटा सकता है। स्त्री के लिये साधन की आवश्यकता है, सिद्धि वह कर सकती है। अतः यह एक स्वाभाविक समझौता है कि एक दोनों के लिये साधन जुटा दे, दूसरा दोनों के लिये कार्य को सिद्ध कर दे। इस के अतिरिक्त सन्तानोत्पत्ति के लिये नियुक्त स्त्री गर्भावस्था में कुछ विशेष उपचार चाहेगी, इस काल में उस के लिये अधिक साधन चाहियें जिन्हें जुटाने में वह पहिले से भी अधिक असमर्थ हो जायगी। आगे उसे सन्तानादि के उत्पन्न होने पर सन्तान के पालन पोषण की आवश्यकता पड़ेगी। सन्तान को दोनों ने मिलकर बनाया है, उसके पालन पोषण का उत्तरदायित्व दोनों पर समान है। पुरुष सन्तान के लिये साधन जुटा सकता है किन्तु साधन की सिद्धि करके व्यवस्था देना स्त्री का ही काम है।

दोनों को नित्य भोजन करना है। सन्तान एक बार ही उत्पन्न नहीं होगी बल्कि बार २ होती रहेगी। एक बालक का उत्तरदायित्व समाप्त होने से बहुत पूर्व दूसरे का जन्म हो जायगा और यह शृंखला जारी रहेगी। एक सन्तान एक पुरुष से उत्पन्न करा कर दूसरी सन्तान के लिये दूसरे पुरुष को खोज करने से लाभ कुछ नहीं, अलबत्ता परेशानी बहुत हो जायगी। भोजन के निमित्त जो "साधन" और "सिद्धि" की सुव्यवस्था है वह क्रियात्मक रूप में ही न आ सकेगी। सन्तान हो जाने पर स्त्री बालक को किसे देगी? सन्तान दोनों की आत्मा है, दोनों का इस पर समान स्नेह है। न पुरुष ही इसे त्यागना चाहेगा, न स्त्री ही। यदि स्त्री सन्तान को पुरुष के पास छोड़ गई तथा स्नेह वश पुरुष भी सन्तान का उभय भार (साधन और सिद्धि) जुटाने पर सहमत हो गया और कुछ काल पश्चात इस पुरुष के पास दूसरी स्त्री आ गई तो वह आगन्तुक स्त्री क्यों इस सन्तान के लिये साधनों को सिद्ध करेगी? और यदि स्त्री सन्तान को अपने साथ ले गई तो नव नियुक्त पुरुष पराई सन्तान के लिये क्यों साधन जुटाने का कष्ट उठाएगा? स्त्री के जाने पर पुरुष की गृहव्यवस्था तब तक के लिये छिन्न भिन्न हो जाएगी जब तक कि दूसरी स्त्री न आ जाय। उधर स्त्री को भी नवीन स्थान में जाने के लिये झंझट मालूम होगा। उस प्रकार बार २ सम्बन्ध जोड़ने और तोड़ने की दशा में कोई भी व्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती। न उनमें प्रेम होगा और न ही परस्पर विश्वास। इसीलिये विवाह रूपी प्रतिज्ञा के द्वारा एक निश्चित समय के लिये गृहस्थ का प्रादुर्भाव हुआ। विवाह की प्रतिज्ञाएं अपने सुख के लिये नहीं, अपितु सन्तानोत्पत्ति के लिये हैं। दाम्पत्य सुख, सुविधा, प्रेम आदि तो गौण हैं। ताकि सन्तानोत्पत्ति का सम्मिलित कार्य सुचारु रूप से शान्तिपूर्वक होता रहे। सन्तानोत्पत्ति के कार्य में क्षीणता आने पर दोनों पृथक् हो जाते हैं।

जिस प्रकार ग्राम के कृषक शीत ऋतु में सम्मिलित हो कर गुड़ बनाते हैं, उसी प्रकार स्त्री पुरुष गृहस्थ में सन्तानोत्पत्ति करते हैं। अर्थात् स्त्री पुरुष रूपी किसान गृहस्थ रूपी कोल्हू में सन्तान रूपी गुड़ बनाने के लिये सम्मिलित होते हैं। सन्तान रूपी गुड़ के बनाने की अवधि समाप्त होने पर पृथक् हो जाते हैं।

जीवन से पहिले बीज, बीज से पहले फल और फल से पहले फूल होता है। फूल बीजरूपी फल का पूर्वरूप है। फूल के न होते फल (बीज) जीवन का विधायक नहीं बन जाता। उस के परिपक्व होने के लिये अवधि चाहिये।

कामेच्छा को कार्य रूप में लाने के लिये पुष्पारम्भ से अवधि चाहिये। इसी के लिये विश्वव्यापी सन्देश है:—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ मनु।

यह लक्षण, यह नैसर्गिक नियम किसी देश विशेष के लिये नहीं, अपितु विश्वव्यापी है। "जिस देश में भी हो, जब कन्या ३६ बार रजस्वला हो चुके तब वह सन्तानोत्पत्ति के उपयुक्त होती है। यही उस के विवाह की अवधि है।" इस प्रकार प्रजा-उत्पत्ति के लिये उपयुक्त ३६ वार पुष्पवती हुई कन्या (युवती) के लिये "वैदिक-काम-विज्ञान" का पहला पाठ निम्नलिखित है। यथा:—

(१) अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्।
कृता इवोपहि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम्॥
ऋ० मं० २, सू० ३५, मं० ५॥

"तीन प्रकार के स्वभाव वाली (उत्तम, मध्यम, अधम,) विदुषी स्त्रियाँ व्यथा से रहित इस पवित्र कर्म (सन्तनोत्पत्ति) के लिये अन्न आदि को धारण करती हैं, अर्थात् शुद्ध पौष्टिक भोजन करती हैं, और कृत्य के समान प्राणवत् प्रीति को प्राप्त होती हैं। प्रथम प्रसूता का बालक अमृत को पी कर बढ़ता है।"

उपरोक्त मंत्र शिक्षा देता है:—(१) सन्तानोत्पत्ति व्यथा रहित पवित्र कर्म है। (२) उस पवित्र कर्म के लिये विशेष शुद्ध भोजन करो। (३) आपस में पति पत्नी से, पत्नी पति से प्राणवत् प्रीति को प्राप्त होवे। (४) जब यह करलोगे तभी प्रथम प्रसूता का पुत्र अमृत के समान दूध को पी कर बढ़ेगा।

वैदिक-काम-विज्ञान का पहला पाठ ही वधू के हृदय से इस भय को निकाल देता है कि प्रसव में पीड़ा होती है।

(२) वैदिक-काम-विज्ञान का दूसरा पाठः—

अश्वस्यात्र जनिमास्य च स्वर्द्रुहो रिषः सम्पृचः पाहि सूरीन्।
आमासु पूर्षु परो अप्रमृष्यं नारातयो विनशन्नानृतानि॥
ऋ० मं० २, सू० ३५, मं० ६॥

"इस घर में बालकों का जन्म होता है। दुर्गुणों और शत्रुओं के प्रभाव में न आने योग्य इन उत्तम बलिष्ठ शरीर वालों का, नगरों और घरों में, शत्रु विनाश नहीं कर सकते। तथा ये मिथ्या व्यसनों को प्राप्त नहीं होते। द्रोह और हिंसा से सम्बन्ध ये नहीं करते। विद्वानों की रक्षा करो। यहां सुख है।"

मंत्र शिक्षा देता है:—(१) जिन घरों में पवित्र पुष्ट बालकों का जन्म होता है वहां पलकर वे युवा होते हैं। (२) ऐसे घर व नगरों में दुष्टों और शत्रुओं का भय व प्रभाव नहीं होता (३) उन युवकों में द्रोह व हिंसादि प्रवेश नहीं करते। (४) विद्वानों की रक्षा करनी चाहिये। (५) सुख गृहस्थ में है।

(३) गृहस्थ रूपी कर्म में दीक्षित होने के लिये वधू व्रत करती हैं:—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

ऋ० मं० १०, सू० ८५, मं० ४४ ॥

"तू पति का विरोध न करने वाली हो, तू स्नेह-युक्त दृष्टिवाली हो, मंगल करने वाली हो । सदा प्रसन्न चित्त, मधुर बोलने वाली, वीर सन्तान उत्पन्न करने वाली, सुख देने वाली तथा सुख करने वाली हो।"

वैदिक-काम-विज्ञान ने उपरोक्त लक्षण, स्त्री को पति की उत्तम कोटि की स्वकीया नायिका बनने के लिये प्रकट किये हैं ।

वर वधू को ग्रहण करता हुआ व्रत करता है —

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादु र्गार्हपत्याय देवाः ॥

ऋ० मं० १०, सू० ८५, मं० ३६ ॥

"सन्तानादि सौभाग्य के लिये तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त हो । ऐश्वर्य वाला, न्यायकारी और विश्वपति ये सब सज्जन-पुरुष, गृहस्थ के लिये, तुझ को मुझे और मुझ को तुझे देते हैं ।"

भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत् ।
पत्नीत्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥

"ऐश्वर्य के लिये तेरे हाथ को ग्रहण करता हूं, धर्म मार्ग में तेरे हाथ को ग्रहण कर चुका हूं । धर्म में तू मेरी धर्मपत्नी और मैं तेरा गृह-पति हूँ ।"

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् ॥

"विश्व-पति ने तुझ को मुझे दिया है, तू ही मेरी पोषण-योग्य पत्नी हो । हे सन्तान वाली ! मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक सुखपूर्वक रह ।"

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥

अथर्व० का० १४, सू० १, मं० ५७ ॥

"मन से कुल की वृद्धि देखता हुआ मैं तेरे रूप को व्याप्त होता हूँ । तू मुझे प्राप्त हो । मैं मन से चोरी को त्यागता हूं, तेरे विना स्वयं भोग नहीं करता हूं । इस प्रकार वरुण के बन्धनों को शिथिल करता हूं ।"

अमोऽहमस्मि सा त्व ऌं सा त्वमस्यमोऽहं, सामाहमस्मि ऋक् त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, ताविव विवहावहै सह रेतो दधावहै । प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् । ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ऌं श्रृणुयाम शरदः शतम् ॥

पारस्कर गृ० सू० ॥

"ऊपर बार २ कहा गया है कि सन्तान के लिये पति-पत्नी एक दूसरे का वरण करते हैं । जैसे जल में खाण्ड घुल कर व्याप्त हो जाती है, ऐसे पत्नी के रूप में पति व्याप्त होता है जब कोई भी कार्य चोरी से न होगा, कोई भी भोग अकेले न भोगा जायगा, तब व्यभिचार कहां ? " ।

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

पारस्कर गृ० सू० ॥

(दोनों का व्रत है) "तेरे हृदय को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार धारण करता या करती हूँ, मेरे चित्त के समान तेरा चित्त हो । मेरी वाणी को एक चित्त से सेवन किया कर । प्रजापति तुम्हे मेरे लिये देता है ।'

अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना ।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते ॥
मन्त्र ब्रा० १ । ३ । ८ ॥

जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न व प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है वैसे ही तेरे हृदय मन व चित्त को सत्य की ग्रन्थि से बांधता या बांधती हूं। यही सच्ची शपथ है जिसमें दोनों पक्ष बंध सकते हैं"।

यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदिद ७ृं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव ॥ मन्त्र ब्रा० १ । ३ । ९ ॥

"जो यह तेरा हृदय है वह मेरा हृदय होवे, जो यह मेरा हृदय है वह तेरा होवे"। यह है सच्चा हृदय-परिवर्त्तन। जब दिल बदल लिया तब शेष क्या रहा? इसी स्वर्गीय भाव का वर्णन एक कवि ने यूँ किया है:

लालन की लाली अंखियान में दिखाई देत ।
अन्तर निरन्तर ही प्रेम सो मची रही ॥

आगे सब की ओर से दम्पती को चेतावनी है। यथा:—

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥
ऋ० १० । ८५ । ४५ ॥

"हे वीर्य सेचन करने वाले ! तू इस वधू को सन्तान वाली व सौभाग्यवती कर, इस वधू में दस पुत्रों को उत्पन्न कर। और हे वधू ! तू ग्यारहवें पति को मान"।

आर्ष-संस्कृति की उपरोक्त व्रतमाला कितनी प्रिय तथा भव्य है। दाम्पत्य-विज्ञान की वे समस्त बातें जो दोनों के लिये नितान्त आवश्यक हैं, ऊपर विस्तार पूर्वक व्रतों में आ चुकी हैं। व्रत इतने महान् व पवित्र हैं कि उनका कथन कोई भी विवाह-मण्डप में करे, उनकी पवित्रता, महाशयता तथा शालीनता पर आंच नहीं आ सकती।

वधू की माता अपनी पुत्री का हाथ अपने जामाता के हाथ में देकर कह सकती है कि "हे वीर ! मैं तुझे अपनी इस आत्मजा को देती हूं, जैसे मेरे पति ने और मैंने इस पुत्री व दूसरी सन्तानों को बनाया है उसी तरह तू और यह दोनों मिलकर सन्तानों को उत्पन्न करो"। इतना ही नहीं, वधू की छोटी बहिन भी, जो अभी बालिका ही है, दाम्पत्यविज्ञान, काम-विज्ञान का जिसे तनिक भी पता नहीं, कह सकती है, "हे जीजाजी ! मेरी बहिन से तुम ने विवाह किया है। जिस तरह मेरे पिताजी तथा मेरी माताजी ने मेरी बहिन को और हम सब बहिन-भाइयों को उत्पन्न किया है उसी प्रकार तुम और मेरी बहिन बालकों को बनाओ"। इस कथन में अश्लीलता का नाम मात्र भी गन्ध नहीं।

उपरोक्त व्रतों में वर-वधू को पूर्ण स्वतन्त्रता है। किसी का अनुशासन नहीं, किसी का प्रभाव नहीं, दबाव नहीं जिस कारण कि वे ऐसी प्रतिज्ञाओं के लिये विवश किये गये हों जो कि उन की इच्छा व अन्तःकरण के विरुद्ध हों, वर-वधू के माता-पिता की ओर से कोई व्रत इस चिर सम्मेलन के लिये नहीं है। ये व्रत पति-पत्नी के स्वयं मनोनीत हैं।

उक्त व्रत करने वालों को न संकोच है, न भय और न कोई दुविधा ही। वे निःशंक हैं। उन्होंने वृद्धों के समक्ष उत्तम "प्रजा" की उत्पत्ति का व्रत आरम्भ करने की प्रतीज्ञा की है। विवाह के समय ये दोनों पूर्ण आयु वाले होने चाहियें, ताकि अपने व्रतों तथा

प्रतिज्ञाओं के महत्त्व को समझ सकें और इन व्रतों तथा प्रतिज्ञाओं का भार अपने ऊपर अपनी जवाब देही के साथ ले सकें। यथा—

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु॥
ऋ० २। ३५। ४॥

"जो सद्विद्याओं से युवा पति को प्राप्त होती हैं" ......इत्यादि।

ऊपर दोनों के लिये "युवानं" "युवतयः" शब्द आये हैं जिनसे स्पष्ट है कि वधू बालिका नहीं, बाला (१६ वर्ष की) नहीं, वह पूर्ण युवती है। (आयुर्वेद में १६ वर्ष से अधिक आयु की स्त्री को युवती कहते हैं)।

ऐसी दशा में स्त्री को पुरुष द्वारा व्यथित होने का भय क्यों कर हो सकता है?। वह मुग्धा, अज्ञात-यौवना नहीं, जो हिन्दी के दुमर्ति-कवियों के शब्दों में अध्यापक से अत्यन्त भयभीत विद्यार्थी की तरह कष्ट के भय से छिपने की अदमनीय चेष्टा करे।

व्रतों के बाद आर्ष-संस्कृति, दम्पती को काम-विज्ञान का परम पवित्र तथा आवश्यक पाठ पढ़ाती है। यथाः—

आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥
अथर्व० कां० १४, सू० २, मं० ३१॥

"प्रसन्न चित्त होकर पलंग पर चढ़, इस गृहस्थ में इस पति के लिये प्रजा उत्पन्न कर। अच्छी बुद्धि वाली तथा सूर्य की सी कान्ति वाली तू उषा काल से पहिले जागा कर"।

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह॥
सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः।
मर्य इव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्।
तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्याः वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः॥
अथर्व० का० १४, सू० २, मं० ३२,३७,३८॥

"जैसे इस गृहस्थ में पहले विद्वान् पत्नी को प्राप्त होते थे, शरीरों का शरीरों से स्पर्श करते थे, (वैसे ही तू हे पत्नि!) नाना रूप वाली (नाना प्रकार से शृंगार करने वाली) सत्कार को पाकर, सूर्य की कान्ति के समान होकर, अपने पति से प्रजा को पैदा कर और सन्तान वाली बन"।

"बालकों के माता पिताओ! ऋतुकाल में सन्तानों को अच्छे प्रकार उत्पन्न करो, तुम दोनों अर्थात् माता पिता अपने २ वीर्य को मिलाओ। हे पति! इस स्त्री को तू बढ़ा, प्रजा उत्पन्न कर, इसका पोषण कर, धन ऐश्वर्य को प्राप्त हो"।

"वृद्धि करने वाले पुरुष जिसमें बीज बोते हैं, जो हमारी कामना करती हुई ऊरू को आश्रय करती है, जिसमें सन्तानों की कामना करते हुए हम लिंग का प्रहार करते हैं उस अति कल्याण करने वाली स्त्री की प्रेरणा कर"।

मैथुन क्रिया की उपरोक्त पूर्ण विधि बतलाने के साथ २ वेद, दाम्पत्य जीवन को शान्त, सुखी और अमृतमय बनाने के लिये, निम्न चेतावनी भी देता है। यथा—

(१) हे स्त्रि! तू सूर्य की कान्ति बन। तेज से युक्त, स्वस्थ तथा पुष्ट बन, शृंगार-शुचि द्वारा अपने को लावण्यमयी बनाये रख।

(२) उषा काल की ज्योति से पहिले जाग जाया कर।

(३) हे स्त्रि ! प्रसन्न चित्त होकर पलंग पर चढ़। (यह तभी हो सकता है जब वधू पूर्ण युवती हो, अबोध बालिका न हो)।

(४) हे पुरुष ! तू सूर्य के समान तेज से युक्त युवा बन।

(५) हे पत्नी ! तू विश्वरूपा बन अर्थात् नाना प्रकार से रूप वाली बन।

(६) जब स्त्री पुरुष की कामना करे तभी इनमें सहवास हो।

ईश्वरीय ज्ञान का दावा करने वाले नाना मत मतान्तरों के धर्मग्रन्थ, सिवाय वेद के, आज तक यह नहीं बता सके कि मनुष्य की सर्व प्रथम कृषि (सन्तानोत्पत्ति) की पूर्ण तथा निर्दोष पद्धति क्या थी अथवा क्या है ?। वेद इस विषय का इतना पूर्ण विवरण देता है कि इस निर्दोष पवित्र प्राकृतिक विषय पर काम-विज्ञान-कोविदों को ज्यादह माथा पच्ची करने की आवश्यकता ही नहीं। तथाः—

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥

अथर्व० का० १४, सू० २, मं० ४३॥

"जैसे सूर्य सुन्दर प्रभातवेला को प्राप्त होता है वैसे तुम गृहस्थ में बुद्धिमत्ता से हास्य और आमोद में बड़े प्रेम से खूब प्रसन्नता में सुपथगामी सुपुत्रों वाले और श्रेष्ठ घर वाले होकर गृहस्थ के पार उतर जाओ"।

कितनी ऊंची उपमा है। सूर्य प्रभात से अपना कार्य आरम्भ करके सन्ध्या को पूरा कर देता है। इसी प्रकार दम्पती को चेतावनी है कि "तुम भी गृहस्थ के पार हो जाओ, किन्तु इस गृहस्थ में वैसा ही महत्त्व पूर्ण कार्य करो जैसा सूर्य ने दिन में किया है"।

"हसामुदौ महसा मोदमानौ" शब्द खूब पुकार २ कर चेतावनी दे रहे हैं। अर्थात् हंसी विनोद में, प्रेम से, खूब प्रसन्नता मानते हुए गृहस्थ-यात्रा करो, तभी कुछ प्रशंसनीय खिलवाड़ कर सकोगे। यदि कुढ़ कर, रो झींक कर, गृहस्थ रूपी कर्म में दिन कटे तो अन्त में रुदन, विलाप, व्याधि, मृत्यु तथा कलह का ही साजोसामान इस गृहस्थ-फैक्टरी में छोड़ जाओगे और तब दुनिया में तुम्हारा यही कारनामा होगा - "रोते गये मरों की खबर मिली"।

आगे वर-वधू को चकवा-चकवी के समान आपस में प्रेममय होने को कहा है, यथाः—

"इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती"।

अथर्व० का० १४। सू० २। मं० ६४॥

वेद ने आपस के व्यवहार के विषय में दम्पती को शिक्षा दी है किः—

"जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाँ"।

अथर्व० का० ३। सू० ३१। मं० २॥

"स्त्री पति के लिये मधुर वाणी को बोले तथा पति पत्नी से शान्त व्यवहार करे"।

उपरोक्त भाव की शिक्षा एक गृह लक्ष्मी देवी वर वधू को निम्न पद्यों में देती है। यथाः—

आवत ही करतीं नित स्वागत, आदर सों हंस बैन बखानतीं।
वे धनि हैं सजनी तिय जे, अपने पिय को जिय-जीवन जानतीं॥

अरी ! मधुर अधरान ते कटुक वचन मत बोल।
तनिक खुटाई ते घटे, लखि सुवरन को मोल॥

उपरोक्त वैदिक शिक्षा के पश्चात् दम्पती को क्या रति-विज्ञान अथवा कोकशास्त्र की आवश्यकता है ?। जहां तक प्रकृति का नैसर्गिक आदेश है वहां तक परम पुनीत शिक्षा हमें मिल गई। अब व्यभिचार के लिये जो कुछ सीखना हो, तो वह शिक्षा कोकशास्त्र, रति-विज्ञान आदि से मिलेगी।

यदि काम-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों का मनन किया जाय तो पता लगेगा कि इन पुस्तकों का आधार व्यभिचार है, कच्ची उम्र की लड़कियों को बहका फुसला कर, दुलार पुचकार कर रात्रि के जघन्य बीभत्स कृत्य के लिये सहमत करने की कूट नीति है। वास्तव में जब से बालविवाह की दूषित प्रथा चली है तब से काम-विज्ञान के नाम पर अनेकों कृत्रिम आविष्कार व रचनाएं होने लगीं।

कच्चे फल को पाल में रखकर किस प्रकार पका कर खाने योग्य बनाया जा सकता है, यही रति सम्बन्धी पुस्तकों का मूल मन्त्र है। इस प्रकार की आयोजना की आवश्यकता तब पड़ी, जब अबोध बालिका उपरोक्त आर्ष-संस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ थी, काम-केलि के लिये अल्पायु थी, और उस अबोध को उस दयनीय कृत्य के लिये तैयार करना आवश्यक था।

वैदिक राष्ट्र-गीत

(६)

[श्री पं० सूर्यदेवजी शर्मा साहित्य लंकार M.A.L.T.]

(४८)

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्र पापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥

गुरु पदार्थ को धारण करती सब का शक्तिशील आधार।
भद्र और पापी लोगों की जो नित सहै मौत अरु मार ॥
मेघ वायु से वह मिल कर के पावे वृष्टि भूमि भरपूर।
सुकर "सूर्य" के आकर्षण से चलती नभ-मण्डल में दूर ॥

(४९)

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति। उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥

मातृ भूमि ! जो आरण्यक पशु वन में लसें कुटिल अरु क्रूर
सिंह व्याघ्र भयकार सारे जो जनभक्षक हिंसाशूर ॥
बाघ, भेड़िया, पागल कुत्ते, राक्षस, भालू भय-भरपूर।
पृथिवी माता ! शीघ्र हटाओ, हम से करो सभी को दूर ॥

(५०)

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥

जो गन्धर्व आलसी निर्धन मांसाहारी यक्ष पिशाच।
राक्षस आदि किसी की हम को माता ! लगे न बिलकुल आंच

(५१)

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।

यस्यां वायो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥

जहां मनुज पशु पक्षी रहते, उड़ते गरुड़, शकुन, खग, हंस।
वृक्ष गिराता धूलि उड़ाता बहता पवन अवनि अवतंस॥
जहां वायु की गति प्रगति के पीछे चले तेज अनुकूल।
वही मातृ भू पूज्य हमारी सुन्दर स्वर्ग तुल्य सुख मूल॥

(५२)

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवि वृतावृतां सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥

जिस भूमी पै कृष्ण अरुण दो बीतें रात्रि दिवस सब साथ।
गृह २ में वह हम को देवे सारे वर्ष भद्र प्रिय पाथ॥

(५३)

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वेदेवाश्च सं ददुः ॥

पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ सारे हम को देवें बुद्धिविकास।
"सूर्य" अग्नि जल विश्वेदेवा मुझ में मेधा करें प्रकाश॥

(५४)

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् । अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥

सहन शील मैं बनूं भूमि में, हो सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठित नाम।
दिशा २ में सहनशील हों सारे सिद्ध हमारे काम॥

(५५)

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥

पूर्व देव विद्वानों द्वारा जो फैला था तेज महत्त्व।
चारों ओर वहां फिर माता! तुझको मिले महा अमरत्व॥

(क्रमशः)

सम्पादकीय-टिप्पणियां

१—वर्णव्यवस्था और जात-पात तोड़क मण्डल ।

वर्णव्यवस्था भारतीय समाज संगठन का प्राण रहा है। हमारे विचार में वर्णव्यवस्था से ऊंची कोई व्यवस्था अभी तक पण्डित संसार ने तय्यार नहीं की जिसके कि आधार पर समाज का संगठन सुव्यवस्था से चल सके। वर्त्तमान समय में साम्यवाद, संघवाद, (Socialism, communism) आदि व्यवस्थाएं केवल धनपतियों और मजदूर पेशा लोगों की समस्या की दृष्टि से की गई हैं। परन्तु इन व्यवस्थाओं के आधार पर अभी तक कोई समाज या राष्ट्र सुखी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। प्राचीन भारत में वर्णव्यवस्था के आधार पर जिस समाज की स्थापना हुई थी वह समाज हर तरह से सुखी तथा सम्पत्ति शाली रहा है। परन्तु वर्त्तमान समय में भारत में चली हुई वर्णव्यवस्था समाजोन्नति के लिये बहुत विघातक बन रही है। जब वर्णव्यवस्था का आधार योग्यता हो, गुण और कर्म हों, तभी वर्ण-व्यवस्था समाज के लिये हितकर हो सकती है। जन्म के आधार पर खड़ी हुई वर्णव्यवस्था भारत को रसातल की ओर लेजारही है। वर्त्तमान समय के हरि-

जन आन्दोलन का कारण भी जन्ममूलक वर्णव्यवस्था ही बन रही है। यह जन्ममूलक वर्णव्यवस्था हरिजनों को उठने नहीं देती, यह व्यवस्था जातपात के द्वारा भारतीय प्रजा को एक दूसरे से अलग २ किये हुए है। इसलिये वर्त्तमान समय की वर्णव्यवस्था तो हर प्रकार से निकम्मी प्रतीत होती है। यह जात पात की जननी है।

लाहौर का जात पात-तोड़क मण्डल इस सम्बन्ध में बहुत उत्तम काम कर रहा है। वर्णव्यवस्था, इस समय "जात-पात" के रूप में परिणत हुई है—इस के विरोध में आवाज उठाना प्रत्येक भारतवासी और विशेष कर प्रत्येक आर्यसमाजी का कर्त्तव्य होना चाहिये। जात-पात का भूत जब तक भारत से कूच नहीं करता तब तक भारत की उन्नति नहीं हो सकती। जातपात-तोड़क मण्डल ने इस जात-पात के भूत को भगाने में पर्याप्त यत्न किया है। इस मण्डल के चलाने वाले और इस मण्डल में कार्य करने वाले इस दृष्टि से भारतीय गगन मण्डल के उज्ज्वल तारे हैं। आर्यसमाज के कतिपय व्यक्ति इस जात-पात तोड़क मण्डल के विरोध में आये दिन आवाज़ उठाते रहते हैं। इन व्यक्तियों का यह काम भारत की तथा वैदिक धर्म की उन्नति की दृष्टि से वास्तव में आक्षेप के योग्य है। वर्त्तमान समय में जात-पात तोड़ कर विवाह-शादी कराने में तथा जात-पात के भयंकर रोग को जड़ से काट देने में इस मण्डल के व्यक्ति अग्रसर हुए हैं। हम समझते हैं कि यह मण्डल भारत वासियों तथा आर्य समाजियों की शुभ आकांक्षाओं का पात्र होना चाहिये।

हाँ, यदि जात-पात तोड़क मण्डल के व्यक्ति सच्ची वर्णव्यवस्था जो कि गुण, कर्म और योग्यता पर खड़ी हो, जो प्रत्येक व्यक्ति को यथेच्छ उन्नति करने में समरूप से अधिकार और अवसर देती हो—के विरोध करने के लिये जात-पात तोड़क मण्डल को आड़ बनाये हुए हैं तो वास्तव में वे वैदिकधर्मी नहीं। परन्तु हमारा यह विश्वास नहीं है कि जातपात तोड़क मण्डल के कार्यकर्त्ता ऐसा करते होंगे। यदि ऐसा करें भी, तो भी हमें इस मण्डल के साथ और इसके कार्य के साथ कोई द्वेष भाव न रखना चाहिये, हमें उन व्यक्तियों के विरोध में आवाज़ उठानी चाहिये जो कि वर्णव्यवस्था के विरोध में आवाज़ उठाते हैं, न कि जातपात तोड़क-मण्डल के विरोध में।

२—सीता किस की दुहिता थी।

राम की पत्नी सीता कौन थी, इसकी माता और पिता कौन थे, इस सम्बन्ध में भिन्न २ देशों में प्रचलित रामायणों के वर्णनों द्वारा कुछ प्रकाश पड़ता है। मलय द्वीप में प्रसिद्ध रामायण तथा सेरत काण्ड के अनुसार सीता रावण की पुत्री है जो कि रावण की पत्नी मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न मानी जाती है।

सीता दशरथ की दुहिता रूप से भी प्रसिद्ध है। सीता की माता का नाम मन्दोदरी था यह प्रसिद्धि भी मलय द्वीप में मिलती है। यह भी लिखा है कि सीता जब उत्पन्न हुई तो उसे एक पेटी में डाल दिया गया और पेटी समेत इसे समुद्र में फैंक दिया गया। जनक (जिसे कि जावा द्वीप में काल (Kali) कहते हैं) ने प्रातः स्नान के समय उस पेटी को पाया, सीता को बाहिर निकाल कर इसे पाला।

अद्भुत रामायण में नारद लक्ष्मी को शाप देते हैं

कि तू राक्षसी रूप में उत्पन्न होगी। स्याम देश की रामायण में भी लिखा है कि सीता रावण की पुत्री थी।

सिलोन के कथानक के अनुसार सीता तपस्वियों के रक्त से उत्पन्न हुई थी जिस रक्त पात का कारण रावण था।

इण्डियन एन्टिकिटी (XLV, पृ० ८४) में लिखा है कि लेखक ने यह कथानक कांगड़ा जिले की पहाड़ियों में भी सुना था। जैनियों के उत्तर पुराण के अनुसार भी सीता रावण की पुत्री है।

सीता के सम्बन्ध में उपरोक्त निर्देशों को प्रमाणित करने के लिये नीचे अंग्रेजी उद्धरण दिया जाता है।

Again in the Malay Version and in the Serat Kandas Sita is apparently Ravana's daughter by Mandodari (really in both of these works she is the daughter of Dasharatha and Mandodari). As soon as she is born she is put in a box and thrown into the sea. Janaka (Kala in javanese) finds the box while performing his morning ablutions, takes out Sita and brings her up.

In the Adbhut Ramayan Narada curses Lakshmi that she is to be born as Rakshasi.

In the Siamese Version also Sita is the daughter of Ravana. In a Ceylonese tale Sita is born of the blood of ascetics called by Ravana. ※

※ N. B. Indian Antiquity, XLV,. P. 84. This tale was heard by the writer in the hills of the Kangra District.

In the Uttarpurana of the Jains, Sita is also the daughter of Ravana.

यह तो सभी जानते हैं कि रामायण की कथा के अनुसार सीता जनक की औरस-पुत्री नहीं है। उत्तर भारत की रामायण में लिखा है कि जनक जब हल जोत रहा था तो खेत में सीता पाई गई थी। हल जोतते समय खेत में जो हल की रेखा पड़ जाती है उसे संस्कृत में सीता कहते हैं। सम्भव है कि सीता में पाये जाने के कारण, इस कन्या का, जनक ने सीता नाम रख दिया हो। उस रामायणी कथा से यह तो प्रतीत होता है कि सीता को उस के असली माता-पिता ने फेंक दिया था। सीता को पेटी में बन्द कर समुद्र में फेंक देने के भाव के साथ यह वर्णन कुछ २ मिलता है।

उपरोक्त लेखों में उत्तर भारत की रामायण की कथा से भिन्न २ तीन कथन हैं। (१) एक यह कि दशरथ की धर्मपत्नी का नाम मन्दोदरी था और (२) दूसरा यह कि सीता रावण की पुत्री थी और (३) तीसरा यह कि सीता दशरथ की पुत्री थी। यदि सीता दशरथ की पुत्री हो तो राम ने अपनी बहिन से विवाह किया, यह प्रसिद्धि तथा धर्मशास्त्र की दृष्टि से अनुचित प्रतीत होता है। और यदि सीता को रावण की पुत्री माना जाय और इसके साथ जनक की कथा का कोई सम्बन्ध न जोड़ा जाय तब राम और रावण के युद्ध का कोई समुचित कारण समझ नहीं पड़ता। क्योंकि ऐसी अवस्था में रावण तो राम का श्वशुर हो जाता है। यह सम्भव हो सकता है कि सीता उपरोक्त कथानकों के अनुसार रावण की ही पुत्री हो और इसे

किसी कारण वश जनक के राज्य के किसी खेत में फेंकवा दिया हो। रावण का भारत में दौर-दौरा तो था ही, शायद किसी अधार्मिक सम्बन्ध द्वारा सीता उत्पन्न हुई हो और इसे फिर खेत में फेंक दिया हो। परन्तु यह बात इस अवस्था में समझ नहीं पड़ती जब कि यह माना जाय कि सीता की माता मन्दोदरी थी। क्योंकि मन्दोदरी तो रावण की धर्मपत्नी थी, फिर धर्मपत्नी में उत्पन्न सन्तान के त्याग का कारण समझ में नहीं आता। इतना तो स्वयं सिद्ध ही है, कि कथानक के अनुसार सीता जनक की औरस-पुत्री न थी। तब सीता किस की औरस-पुत्री थी इस पर कोई प्रकाश उत्तर भारत की रामायण के अनुसार नहीं पड़ता।

उत्तर भारत में प्रचलित दसहरे के त्यौहार में राम और लक्ष्मण द्वारा रावण का वध कराया जाता है। रावण यदि सीता का पिता हो तो पिता ही अपनी पुत्री को चुरा लाए और अपने धर्मपुत्र के साथ लड़ाई का कारण बने यह उचित प्रतीत नहीं होता। उपरोक्तकथानक इस दृष्टि से तो सत्य शायद हो सके कि रावण से सीता उत्पन्न हुई और इस पुत्री को त्याग देने पर जब सीता बड़ी हो गई तब रावण को यह ज्ञान न था कि यह सीता वही है जिसे कि मैंने या इस की माता ने त्याग दिया था। इस प्रकार की पहचान ऐसी अवस्थाओं में सम्भव भी नहीं हो सकती। कम से कम उत्तर भारत में प्रसिद्ध रामायण से यह पता नहीं चलता कि सीता का असली पिता कौन था। क्योंकि सीता जनक की औरस-पुत्री तो थी ही नहीं।

३—भगवद्गीता और क्रिश्चियन मिशनरी

क्रिश्चियन मिशनरी अपने ईसाई धर्म की श्रेष्ठता बतलाते हुए कभी २ कितने अन्धे हो जाते हैं इस का एक प्रमाण मि० मौरिस मैटरलिंक ने अपनी पुस्तक 'The Great Secret' के पृष्ठ ६९ में दिया है। यथाः—

"The approximate date of the earlier incarnation is given up by the "Bhagavad-Gita", which gives prominence to the wonderful figure of Krishna. The Catholic Indianists, fearing with all their too narrow point of view, that the incarnation of Krishna might endanger that of Christ, admit that the "Bhagavad-Gita" was written before our era, but maintain that it has since been revised. As it is difficult to prove such revisions, they add that if it is actually proved that the "Bhagavad-Gita" and other sacred books of an equally embarrassing character are really anterior to Christ, they are the work of the devil, who, foreseeing the incarnation of Jesus, purposed by these anticipations to lessen its effect".

अर्थात् "भगवद्गीता प्राथमिक-अवतार के समय की सूचक है। भगवद्गीता में कृष्ण की दिव्यमूर्त्ति को पर्याप्त ऊंचा दिखाया गया है। भारत के ज्ञाता कैथोलिक-ईसाई, इस बात से भयभीत होकर कि कृष्ण का अवतार शायद ईसा के अवतार की महिमा

को कम न कर दे, गीता को ईसा से पूर्व का मानते हुए भी इसमें समय २ पर पुनः संशोधन किया गया मानते हैं। परन्तु चूंकि पुनः संशोधन की कल्पना को पुष्ट प्रमाणों द्वारा प्रमाणित कर सकना उनके लिये कठिन है, इसलिये वे कहते हैं कि यदि वास्तव में सिद्धभूत मान लिया जाय कि भगवद्गीता और तत्सदृश कठिनाई पैदा करने वाले भारतीय अन्य धार्मिक ग्रन्थ ईसा से वास्तव में पूर्व के हैं, तब तो ये ग्रन्थ शैतान की कृति होंगे, जिस शैतान ने कि ईसा के भावी अवतार को पहिले ही भांप लिया था और ईसा के अवतार की महिमा को कम करने की दृष्टि से उसने गीता आदि ग्रन्थों में कृष्ण को अवतार कहने की सोची"।

यह है क्रिश्चियन-मिशनरीयों की निष्पक्षपातता। ऐसी निष्पक्षपातता से प्रेरित होकर क्रिश्चियन विद्वान् भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में प्रायः अद्भुत कल्पनाएं करते रहते हैं।

परन्तु कई सचाई-पसन्द भी क्रिश्चियन विद्वान्, अवश्य हैं। विलियम जोन्स, कोलब्रुक, थोमस स्ट्रेंज, विलसन, प्रिसेप्स। ये पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि भगवद्गीता ईसा से कम से कम १२०० या १४०० वर्ष पूर्व की है।

ऐसी अवस्था में मानना होगा कि इन क्रिश्चियन-मिशनरीयों की धर्मान्धता ही इन्हें मार्गभ्रष्ट करती रहती है।

साहित्य-समालोचन

आदर्श भारत—मासिक पत्र (सचित्र)

[वार्षिक मू० ४) प्राप्तिस्थान, आदर्श भारत कार्यालय सूत्र मण्डी, लाहोर]

यह मासिक श्री० प्रो० रघुनन्दनजी शास्त्री एम्० ए०एम० ओ०एल० की सम्पादकता में लाहोर से हाल ही में निकलना शुरू हुआ है। प्रथम वर्ष की प्रथम संख्या सन्मुख है। आकार प्रकार सरस्वती के समान ८ पेजी डबल क्राउन है। छपाई सुन्दर है। लेखों का चुनाव उत्तम है। श्रीयुत् पं० रामचन्द्रजी कुशल का 'वेद में ज्योतिष विद्या' शीर्षक लेख उत्तम संग्रहयोग्य श्रम-पूर्वक लिखा हुआ है।

श्रीमती पुष्पलता हिन्दी भूषण की 'हृदय की उलझन' की उलझी हुई कड़ी का अन्तिम क्षण तक उलझा हुआ रहना वेद के यमयमी सूक्त में यम यमी संवाद के एक पहलू पर अच्छा प्रकाश डालता है। 'कमला' की अभिलाषाओं के पूर्ण करने में उसके हृदयेश्वर क्यों असमर्थ हुए और कमला अपने मौन वाक्यों से क्या प्रश्न करती रही और उसके हृदयेश्वर भी किन २ मौन वाक्यों से उसका यथार्थ उत्तर देते रहे उन मौन प्रश्नोत्तरों का स्पष्ट रूप ऋग्वेद के यमयमी संवाद में विद्यामान है। यदि मन्त्र का अर्थ 'विचार' अर्थात 'मन द्वारा उच्चारित मौन वाक्य' हो सकता है तो लोकव्यवहार के परिचय-क्षेत्र में बहिन भाई रूप से व्यवहार करने वाले स्त्री पुरुषों में से यदि स्त्री के हृदय में विवाह-बन्धनोचित प्रेम की इच्छा उत्पन्न हो तो उसका उचित उत्तर यम के वचनों

में बहुत ही सुन्दर रूप में हैं। एक रूप से कमला की उलझन यम के वचनों से सुलझ जाती है।

भविष्य में आदर्श भारत के लक्षण और भी अधिक उन्नत होने के दिखाई दे रहे हैं। पंजाब के प्रान्त से योग्य विद्वानों के विचारों से सुभूषित उत्तम कोटि के मासिक पत्र का निकलना पंजाब के लिये गौरव की बात है। हमें उसकी भविष्य सफलता को हृदय से चाहते हैं।

अच्युत ग्रन्थमाला—काशी से अच्युत ग्रन्थ-माला निकलनी प्रारम्भ हुई है। इसके सम्पादक हैं श्री पं० चण्डीप्रसादजी शुक्ल प्रिंसिपल, जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय, तथा पं० श्री कृष्णजो पन्त साहित्याचार्य। वार्षिक मूल्य ६) रु०। अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, ललिताघाट काशी से प्राप्य।

इसके प्रथम वर्ष के तीन अंक निकल चुके हैं। आवरण पृष्ठ पर सपरिवार महादेव की तिरंगी मूर्त्ति है। इस ग्रन्थमाला में अभी ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य का रत्नप्रभा टीका सहित भाषानुवाद छपना प्रारम्भ हुआ है। यह उद्योग सराहनीय है। इस भाषानुवाद में अनेक बातें समालोचनीय हैं जिनकी समालोचना हम विस्तार से अगले अंक में करेंगे।

वैदिक सम्पत्ति—लेखक श्री पं० रघुनन्दनजी शर्मा। मूल्य ६) रु०। श्री शूरजीवल्लभदास वर्मा, कच्छ केसल, बम्बई से प्राप्य।

श्री पं० रघुनन्दनजी शर्मा हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपरिचत व्यक्ति नहीं है। आपने अक्षरविज्ञान नामक पुस्तक लिख कर नागरी अक्षरों की प्रकृति-सिद्ध रचना को बहुत उत्तम प्रतिभा से दर्शाया था। आप की उसी प्रतिभा का दूसरा चमत्कार 'वैदिक सम्पत्ति है"।

आपने इस पुस्तक में प्राय वेद के सम्बन्ध में उठने वाली सभी समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। वेद के कालनिर्णय, वेद की रचना का काल, वेद में इतिहास की सत्ता, वैदिक संस्कृति तथा वेद पर योरोपीयनों के आक्षेप और वेद में उच्च सभ्यता के दिग्दर्शन आदि नाना विषयों पर आपने बड़ी ही सुन्दर ललित और रुचिकर भाषा में विवेचन किया है। आपकी लेखशैली विस्तृत और स्वतन्त्र है। इस के बीच में से गुजरने वाला पाठक लेखक के मन्तव्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। वेद की बहुत सी समस्याएं स्पष्ट हो जाती हैं। वेद के ऊपर आक्षेप करने वालों की गहराई जल्दी ही पता लग जाती है।

आपने वेद मन्त्रों में आने वाली बहुत सी समस्याओं पर बहुत ही उत्तम प्रतिभायुक्त सूझ के समाधान दिये हैं जैसे 'इमं मे गंगे यमुने सरस्वति' मन्त्र में भौगोलिक नदियों के ग्रहण करने की समस्या का समाधान करते हुए लिखा है—

"वेद का विष्णु सूर्य है। गंगा सूर्य के चरण से निकली है। उधर यमुना को भी सूर्यतनया कहा है। क्या ये दोनों सूर्य की किरण नहीं हैं। इसी प्रकार शुतुद्रि, परूष्णी असिक्नी, वितस्ता, आर्जिकीया, आदि दसों नदी नाम सूर्य की दस किरणों के वाचक हैं। इनमें सात प्रधान हैं। इत्यादि बड़ा भारी सूर्य विज्ञान आपने प्रकट किया है।

इसी प्रकार अनेक स्थल हैं जो वेद के अनेक अविचारित और अस्पष्ट स्थलों पर नये ही विचार-धारा से प्रकाश डालते हैं। ग्रन्थ बहुत विशाल है।

यद्यपि विद्वान् पाठकों के मत भेद के भी अनेक स्थल विद्यमान हैं तो भी पुस्तक वेदप्रेमी विद्वानों को अवश्य एक बार पढ़ने योग्य है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये तो यह एक उत्तम और विशद मानसिक भोजन है।

तपोभूमि—भारतीय सभ्यताङ्क

सम्पादक श्री विश्वाम्भरसहाय प्रेमी। मेरठ से इस मासिकपत्रिका का जन्म होता है। प्रथम वर्ष का १० वां अंक हमारे सामने उपस्थित है। लेखों तथा लेखकों की प्रगति और प्रकृति से यह एक आर्य पत्रिका है। बाह्य आवरण-सौन्दर्य तथा मुद्रण सौष्ठव से यह एक उत्तम यत्न है। आर्य पत्रिकाओं के लिये एक उत्तम आदर्श है। सम्पादक के परिश्रम का यह एक उत्तम नमूना है। इसमें पाठ्य लेखों और कविताओं की संख्या ५० से भी ऊपर है। लेखक भी उच्च कोटि के गिने चुने हैं।

प्रत्येक लेख में एक न एक उत्तम बात आर्य-सभ्यता से सम्बन्ध रखती बतलाई गई है। इस प्रकार के विशेषांकों से आर्य युवकों और परिवारों में अवश्य नयी जागृति के जाग जाने की बहुत प्रबल आशा है। परन्तु सभी लेख अनुमोद्य हैं यह नहीं कहा जा सकता। जैसे श्री रामानुजदयालु बी० ए० एल० एल० बी० की 'जौहर व्रत' शीर्षक कविता का अनुमोदन आर्यसभ्यता द्वारा नहीं हो सकता। वस्तुतः पति के पश्चात् हिन्दू धर्म में स्त्रियों का अग्नि में जलकर भस्म हो जाना या सती हो जाना चाहे कितना ही महत्त्व का अनुभव किया जाता हो, परन्तु आर्य सभ्यता के धरातल में यह कोई उच्च भाव नहीं, यह एक कायरता का भाव है। पति के मर जाने पर अग्नि में प्रवेश करना यह वीरक्षत्राणी का आदर्श नहीं है। वीर क्षत्राणी का आदर्श स्थापन झांसी की रानी ने किया था। यदि उदयपुर मेवाड़ आदि क्षत्रिय भूमि लाखों वीर राज-पुत्रों को जन्म दे सकती थी तो क्या वह वीर राज-पुत्रियों को जन्म नहीं दे सकती थी। दे सकती थी और दिया परन्तु आर्य सभ्यता की घातक सती प्रथा ने वीर क्षत्राणियों को वीरता दर्शाने के अवसर पर भी वीरता नहीं दिखाने दी। भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार सती हो जाने को कहीं भी महत्त्वपूर्ण नहीं कहा गया है। हमें खेद है कि आर्य नवयुवक इस प्रकार की घातक प्रथा को किस प्रकार महत्त्व देते हैं। इस के अतिरिक्त हम श्री धर्मेन्द्रनाथजी शास्त्री एम० ए० द्वारा लिखे 'भारतीय संस्कृति के एक छिपे हुए खजाने' पर ध्यान आकर्षण करेंगे। निःसन्देह भारतीय सभ्यता में वैदिक सम्प्रदाय के नष्ट-भ्रष्ट रूप का पुनः संस्कृत रूप बौद्ध सभ्यता है। तो भी बाद में उसका तीव्र खण्डन हो जाने के कारण उसका एक प्रकार से सर्वापहारी लोप हो गया है। बौद्ध सभ्यता के साहित्य ने वैदिक साहित्य के किस प्राचीनतम सभ्यता के अंश का पुनः संजीवन किया यह बात बड़ी ही सावधानता से आलोचन करने की है। बुद्ध महाराज के उपदेशों में सहस्रों स्थल प्राचीन ब्राह्मणों के आचार विचारों को वास्तविक रूप से दर्शाते हैं परन्तु बौद्ध साहित्य का अधिकांश संस्कृत में न हो कर पाली में होने से हमारी दृष्टि से बहुत ओझल है। संस्कृतज्ञ विद्वान् तो पाली साहित्य से बहुत ही दूर हैं। श्री पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार स्नातक गुरुकुल कांगड़ी ने बौद्धसाहित्यको पाली भाषा द्वारा अनुशीलन करने में बड़ा यत्न किया था। उनके लेखों से यह विदित होता है कि बौद्धसाहित्य से वैदिक साहित्य की बहुत सी समस्याएं सरल हो सकती हैं। परन्तु आवश्यकता है बौद्ध साहित्य को वैदिक साहित्य की दृष्टि से अनुशीलन करने की। तभी बौद्धिक साहित्य के खण्डहरों में दबे वैदिक रत्नों का पुनरुद्धार हो सकता है।—जयदेव शर्मा वि० अ०

Registered No. N—502

प्रथम भाग छप कर तैयार होगया ।

महर्षि दयानन्द के निर्वाण अर्द्धशताब्दी के उपलक्ष में

महर्षि श्री स्वामी दयानन्दजी का प्रामाणिक

जीवन-चरित

ऋषि के अनन्य भक्त स्वर्गीय श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी. मेरठ, द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्रबाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक का भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान न होते हुए भी इस कार्य को बिना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का सङ्कल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफर करना पड़ा और एक-एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री संकलित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्रारम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवन-चरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही रह गई। इस हृदय-विदारक समाचार को पाकर—

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, (जो देवेन्द्रबाबू के परम परिचितों में थे) ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक काग़ज़ को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी वर्षों परिश्रम और बहुतेरा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों काग़ज़, हज़ारों छोटे छोटे पुर्जे, नोट-बुकें और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक होगा।

यह जीवन-चरित लगभग ८०० रायल अठपेजी के पृष्ठों में समाप्त होगा, बहुत से सादे व रंगीन चित्र होंगे और मनोहर सुनहरी जिल्द होगी। इसकी १००० प्रतियों के छपाने व प्रकाशित करने आदि में ७, ८ हज़ार रुपया व्यय करना गया है। इतना द्रव्य व्यय करने से एक पुस्तक पर लगभग ८) रु० लागत आती है। इतना मूल्यवान ग्रन्थ आर्य-सभासद तथा आर्यसमाजों के अतिरिक्त और कौन ले सकता है, आर्यमित्र तथा आर्य-मार्तण्ड ने इस जीवन-चरित के प्रकाशन के लिए बहुत आन्दोलन किया, फिर भी कोई प्रकाशक आगे न आया। ऐसी परिस्थिति देख तथा महर्षि दयानन्द के प्रति अपना परम कर्त्तव्य समझ—

आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर,

ने इसके प्रकाशन का कार्य अपने ऊपर लिया है और **प्रथम भाग छप कर तैयार भी होगया है ।**

हज़ारों आर्यसमाजों व लाखों सभासदों के होते हुए ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एक हज़ार प्रतियां बात की बात में बिक सकती हैं, यदि ऋषि के अनुगामी उसके सच्चे तथा प्रामाणिक जीवन-चरित को अपने अपने घरों व समाजों में रखना तथा उसका नित्य स्वाध्याय करना अपना परम कर्तव्य समझलें।

यह बात फिर नोट कर लेनी चाहिये कि यह जीवन-चरित बहुत ही अपूर्व व अमूल्य है, इसका बार-बार प्रकाशित होना बहुत कठिन काम है, अतः आर्डर भेजने में विलम्ब न करना चाहिये।

मैनेजिंग डाइरेक्टर.—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।

वर्ष २] मई सन् १९३४ ई० [अंक

ओ३म्

आर्य्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुख्यपत्र

ऋषि दयानन्द के अन्तिम हस्ताक्षर

मृत्यु से १९ दिन पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी रुग्णावस्था में ता० ११ अक्तूबर १८८३ को एक वी० पी० के एकनालिजमेन्ट के कागज पर हस्ताक्षर किये थे। इस के दूसरी ओर जोधपुर पोस्ट आफिस की मोहर लगी है।

(महर्षि दयानन्द के जीवन चरित से उद्धृत)

अवैतनिक सम्पादक—प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१ —वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २॥), नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये
२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।
३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।
४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।
५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।
६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।
७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।
८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।
९— यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो, अपने ही पोस्ट आफिस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।
१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।
११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।
१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।
१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:-
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।
साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।
छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।
पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।
आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१२) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१०) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी देना होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

ओ३म्

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २ | द्वि० वैशाख संवत् १६६१ वि०, मई सन् १६३४ ई० | सं० ८

वेदोपदेश

प्रकाश की याचना

यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमा तन्वन्ति रश्मिभिः ।

ताभिर्नो अद्य सर्वाभीरुचे जनाय नस्कृधि ॥

यजु० १३ । २२ ॥

"(अग्ने) हे अग्नि ! (सूर्ये) सूर्य में (याः ते) जो तेरी (रुचः) दीप्तियां हैं, जो कि (रश्मिभिः) किरणों के द्वारा (दिवम्) प्रकाशक (आ तन्वन्ति) विस्तार करती हैं, (ताभिः सर्वाभिः) उन सब किरणों द्वारा (अद्य) आज (नः) हमें भी (रुचे) दीप्ति के लिये (कृधि) कर, ताकि हम (जनाय) जनता को प्रकाश दे सकें" ।

(क) परमात्मा अग्निमय है, प्रकाशस्वरूप है। संसार में समग्र प्रकाश परमात्मा का ही दिया हुआ है। उपनिषदों में लिखा है कि—

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"

अर्थात् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा तारा गण—ये सभी प्रकाश-पुञ्ज परमात्मा के दिये प्रकाश से ही

प्रकाशित हो रहे हैं। सूर्य में प्रकाश भी परमात्मा का ही दिया हुआ है।

(ख) परमात्मा ने सूर्य में प्रकाश दिया, सूर्य में का प्रकाश परमात्मा का ही प्रकाश है, परमात्मा ही सूर्य के प्रकाश में चमक रहा है।

(ग) प्रकाश को प्राप्त कर सूर्य इसे उपकार के काम में लगा रहा है, सूर्य के ग्रह-मण्डल को इसी प्रकाशित सूर्य से प्रकाश मिल रहा है, यह अपनी किरणों के द्वारा इस ग्रह-मण्डल को प्रकाश दे रहा है।

(घ) उपासक इस सौर-घटना पर मनन करता है और अपने उपास्य-देव से प्रार्थना करता है कि हे प्रकाशमय ! मुझे भी तू सूर्य की न्याईं बना। उपासक चाहता है कि उसे भी प्रकाश की किरणें प्राप्त हों उस का भी अन्धकार दूर हो। उपासक इन प्रकाश-किरणों को प्राप्त कर अपनी एक भावना पूरी करना चाहता है वह यह कि "संसार के अन्धकार को दूर करना"।

आज कल प्रचार का युग है। प्रत्येक चाहता है कि वह संसार के अन्धकार को दूर कर दे। परन्तु इस दिशा की ओर कार्य बहुत कम होता दीख रहा है। सभी चाह रहे हैं, संस्थाओ और समाजों के नए २ संगठन नित्य प्रति इस इच्छा से होते चले जा रहे हैं कि संसार सीधे रास्ते पर आये परन्तु संसार वहीं खड़ा दीखता है। इसका क्या कारण ?।

इसका कारण यही है कि प्रचारकों तथा संस्थाओं ने प्रचार का वास्तविक रहस्य समझा नहीं। बुझा दीपक घर को प्रकाश नहीं दे सकता। वास्तव में, बहुत संख्या में, आज कल के प्रचारक तथा प्रचार-संस्थाएं बुझे दीपक के सदृश हैं। सूर्य में प्रकाश है तो वह संसार को प्रकाश दे भी रहा है। सूर्य में प्रकाश न हो तो वह संसार को प्रकाश देगा कैसे ?। अप्रकाशित सूर्य संसार के अन्धकार का नाश नहीं कर सकता। प्राचीन आर्यों ने इसी लिये प्रचार का पवित्र कार्य सच्चे संन्यासियों के सुपुर्द किया था। इसीलिये वैदिक-प्रचारक सूर्य के दृष्टान्त के आधार पर, प्रभु से, पहले तो स्वयं प्रकाश प्राप्त करने की प्रार्थना करता है और तदनन्तर उस प्रकाश द्वारा संसार के अन्धकार को दूर कर देने का बल मांगता है। मन्त्र में वैदिक-प्रचारक की यह उग्र भावना भी दर्शाई गई है कि प्रभु की कृपा से संसार के सभी व्यक्ति प्रकाशित हो जाँय और इस प्रकाश को प्राप्त होकर एक दूसरे की अधिक उन्नति के लिये तत्पर रहें।

प्रभु कृपा करे कि प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकाश के पाने का अधिकारी बन सके।

ईश्वर की सत्ता

[ले०—कु० श्री सावित्रीदेवी विद्यालंकृता]

वेद वाक्य

ओ३म् यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति, श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥
ऋ० अ० २ अ० ६ ब० ७ मं० ५॥

अर्थ—जिस अद्भुत भयंकर वस्तु के विषय में लोग प्रश्न किया करते हैं कि (कुह स इति) वह कहां है? और जिसके विषय में यह कहा करते हैं कि (न एषः अस्ति इति) वह है ही नहीं, वही अरि के विपरीतगामी स्वार्थी पुरुष की सब सांसारिक समृद्धि पुष्टि को भूकम्प की तरह विनष्ट कर देता है। हे मनुष्यो! इस परमेश्वर पर श्रद्धा करो, वही परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है।

नास्तिकवाद का आलोचन

कई महानुभावों का यह कथन है कि यह प्रकृति आप ही आप उत्पन्न हो गई, सारे ब्रह्माण्ड निवासी जीव जन्तु, कीट पतंग आप ही पैदा हो गये और उन्होंने नई २ वस्तुओं का आविष्कार कर लिया, इसी से सारा संसार चल रहा है।

यदि आप किसी उपवन से आयें तो एकाध लकड़ी को देखकर यह अवश्य कह सकेंगे कि यह प्रबल वायु के झोकों से गिर पड़ी होगी, परन्तु यदि आप १०० लड़कियों के एक ही माप तौल के कई एक बण्डलों को देखें तो यह कदापि न कह सकेंगे कि यह आप ही आप हवा से ऐसा हो गया। यदि कोई एक क्षण के लिये ऐसा कह भी दे तो मूर्खता ही सिद्ध होगी। इसी प्रकार यदि कोई यह कह दे कि सारे मनुष्य आप ही आप बन गये। सूर्य, चन्द्र, तारे आदि आप ही आप बन गये तो मूर्खता सिद्ध होगी। अतएव क्या सिद्ध हुआ कि इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करने वाली मनुष्य के अतिरिक्त कोई महान् शक्ति अवश्य है।

अद्भुत सृष्टि

दूसरी बात यह है कि मनुष्य ने कोई बड़ा आविष्कार नहीं किया, नकल अवश्य की है। उसी से ही उसकी प्रशंसा के गीत गाये गये हैं। और योग्यता की परम सीमा समझी गई है। यदि मनुष्य ने अच्छे २ महल बनाये हैं तो उसकी शिक्षा देने के लिये बया नामी छोटा सा जानवर उपस्थित है। एक भिड़ के छत्ते को ही लीजिये उसके सामने मनुष्य को अपने पराक्रम पर लज्जित होना पड़ता है। इसी प्रकार पंप, कैमरे, तथा रंगों का आविष्कार भी प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर ही किया गया है यदि वे इस शरीर यन्त्र की ओर दृष्टि पात करें तो ज्ञात होगा कि पंप तो साक्षात् दिल का ही अनुरूप है। जैसे दिल से समस्त रुधिर स्वच्छ होकर समस्त नाड़ियों में पहुंच जाता है उसी प्रकार पंप द्वारा जल सब जगह फैल जाता है। यदि आप इन चक्षुओं की ओर अवलोकन करें तो आप को ज्ञात होगा कि कैमरा साक्षात् आँखों का ही रूप है। इसी प्रकार रंगों का आविष्कार भी सुन्दर २ पक्षियों, रंग विरंगे फूलों वा पत्तियों को देखकर ही किया गया है। मैं आप से पूछती हूं कि क्या आपने किसी नये रंग का आविष्कार किया है? यदि किया है तो कहिये।

अपार शक्ति

तीसरी बात यह है कि मनुष्य की शक्ति परिमित तथा अनियमित है और परमात्मा की शक्ति अपरिमित तथा नियमबद्ध है।

जब कोई मनुष्य निश्चित समयानुसार एक रेलगाड़ी वा मोटरकार से यात्रा करना प्रारम्भ करता है तो उसके समय में कभी न कभी अवश्य ही भेद पड़ जायगा जैसे आज एक रेलगाड़ी अमुक समय पर अमुक स्टेशन पर पहुँचती है, पर कल १५ मिनट देर से पहुँचती है, तो सब कहने लगते हैं कि आज गाड़ी १५ मिनट लेट आई है। परन्तु क्या कभी प्राकृतिक वस्तुओं के अन्दर भी ऐसा पाया गया है? क्या कभी यह भी सुनने में आया है कि आज सूर्य अपने प्रातः काल के समय को छोड़कर दिन के १२ बजे निकला हो? नहीं, यह नियम अटल है, तुम महीनों पूर्व बता सकते हो कि अमुक मास और अमुक तिथि को सूर्य अमुक समय में निकलेगा। तुम्हारी घड़ी में भेद पड़ सकता है, परन्तु सूर्य के उदय तथा अस्त होने में भेद नहीं पड़ सकता। वस्तुतः घड़ियों का क्रम भी सूर्योदय पर ही निर्भर है इसी प्रकार चन्द्र भी एक ऐसे कठिन नियम सूत्र से बंधा हुआ है कि उसके निकलने, छिपने, बढ़ने, घटने में कुछ भी भेद नहीं पड़ता। अमुक दिवस इतनी घड़ी चन्द्र रहेगा व अमुक दिन ग्रहण पड़ेगा। ये सब बातें ज्योतिर्विद् कभी न बता सकते यदि कोई विशेष नियम न होता तथा विशेष सत्ता कार्य करने वाली न होती। ये देदीप्यमान तारागण भी अनुपम छटा दिखा रहे हैं। क्या आप में से किसी ने एक भी तारा बनाया है? नहीं, तारा बनाना तो दूर, आज तक कोई ६ हज़ार से अधिक इनकी गिनती तक नहीं पहुंच सका। फिर भी २ करोड़ से अधिक का पता लग चुका है। कोई २ तारा तो सूर्य से १२ गुणा अधिक बड़ा है। जिनमें मर्करी नामक सितारा तो सूर्य से ३ करोड़ ७० लाख मील दूर है। कई ऐसे सितारे हैं जिनका प्रकाश हम तक २० लाख वर्षों में पहुंचता है। सूर्य भी, पृथ्वी से १५ लाख गुणा बड़ा है। और ग्रहों, उपग्रहों से मिलकर ६ सौ गुणा अधिक बड़ा है और हम लोगों से १ करोड़ १३ लाख २८ हज़ार मील दूर है। सूर्य के प्रकाश की रश्मि १ सैकंड में १ लाख ९२ हज़ार मील तक पहुंचती है तथा ८ मिनट में १८ सैकंड में उसका प्रकाश हम लोगों को मिल सकता है। ये सब कितनी अद्भुत बातें हुईं। मैं सोचती हूं कि आप में से एक दो क्या, सारे के सारे उठकर ऐसी २ अद्भुत वस्तुओं का निर्माण करने लग जांय तो भी सम्पूर्ण वस्तु तो क्या, उसका कण भी न बना सकेंगे। अह एव यह ज्ञात हुआ कि इन अद्भुतों का निर्माण करने वाला अवश्य ही कोई अद्भुत है।

जड़ कर्त्ता नहीं हो सकता

इतना होने पर भी जो नास्तिक उसकी सत्ता को अस्वीकार करते हैं तो उनसे पूछना चाहिये कि तुम्हारे घर में गेहूं के दाने मिलकर स्वयं रोटी क्यों नहीं बन जाते? मिट्टी के कण स्वयं मिलकर ईंटे की क्यों नहीं बन जातीं? तथा ईंटे स्वयं उठकर मकान क्यों नहीं बना देतीं? यदि परमाणुओं के अकस्मात् मिलने से सूर्य उत्पन्न हो सकता है तो छोटा सा दीपक आप से आप क्यों नहीं चमक सका? यदि रहस्यमय मनुष्य का शरीर बन सकता है तो छोटा सा चर्खा क्यों नहीं बन सका? यदि यह

कहा जाय कि जो बन गई सो बन गई तो मैं पूछती हूँ कि उनके पास प्रमाण ही क्या है ? तुम पहाड़ों को देखकर तो मान लेते हो कि ये आप ही आप बन गये होंगे, परन्तु ताजमहल को देखकर ऐसा विश्वास क्यों नहीं कर लेते ? केवल इतना मान लो कि परमाणुओं के मेल से ये भवन बन गये होंगे। तुम मानों भी कैसे ? कारण यह कि यह काम तुम्हारे सामर्थ्य के बाहर है।

एक उदाहरण और ले लीजिये। दुकानदार की दुकान पर शक्कर, घी, भिन्न २ अनाज तथा मेवे उपस्थित हैं। उनमें से हर एक पदार्थ का अपना भिन्न भिन्न गुण और स्वाद है। शक्कर मीठी है, घी चिकना है, काली मिर्च अथवा लाल मिर्च तीखी हैं इत्यादि। हम हलवाई की दुकान पर इन्हीं पदार्थों के बने हुए बीसियों प्रकार के पकवान देखते हैं। क्या बड़े से बड़े स्वभाव वादी का यह विचार होता है कि शक्कर, घी, आटा आदि स्वयं ही प्रेरित होकर पकवानों के रूप में मिल गये होंगे। क्या यह सम्भव है कि एक घड़े से आटा दूसरे से शक्कर और तीसरे से घी ने निकल कर जलेबी का रूप धारण कर लिया हो। यदि यह हो नहीं सकता तो भला यह भी कब सम्भव हो सकता है कि पानी स्वयं समुद्र अथवा तालाब से उठे, पृथ्वी स्वयं किसी रेगिस्तान से चल पड़े और आग स्वयं कहीं से आ जाय और यह सब मिलकर कभी गुलाब के फूल का रूप धारण कर लें, कभी आम के वृक्ष का और कभी तीतर के शरीर का। जिस प्रकार हलवाई घी, आटा, शक्कर की मात्रानुसार सब मिठाइयों का नाम स्वयं रख लेता है इसी प्रकार आग, पानी, पृथ्वी हवा से बनी हुई वस्तुओं के भिन्न २ नाम ईश्वर के दिये हुए हैं। और भिन्न २ परिमाणों में मिलने के कारण ही उस शक्ति को आस्तिक लोग ईश्वर कहते हैं।

दुष्टों का दण्डकर्त्ता ही भय का हेतु है

इसी प्रकार जब कोई मनुष्य बुरा काम करने लगता है तो प्रथम ही उसके चित्त में भय, लज्जा और शंका उत्पन्न होती है। किसी अनिर्वचनीय शक्ति से प्रेरित होकर मनुष्य एक क्षण के लिये रुक जाता है, परन्तु कई ऐसे होते हैं जो उस शक्ति की प्रेरणा को नहीं सुनते। यहां तक कि एक निष्ठुर कसाई का लड़का भी यदि कटते हुए बकरे को देखता है तो प्रथम उसके चित्त में ग्लानि अवश्य हो जाती है और उस शक्ति से प्रेरित हुआ २ एक क्षण के लिये स्तब्ध रह जाता है। यह वही शक्ति परमेश्वर है।

उपनिषदों का मत
परमेश्वर की अदृश्य अप्रमेय सत्ता

इतना होने पर भी कई एक महानुभाव यह कह देते हैं कि हम कैसे जानें कि एक बड़ी शक्ति काम कर रही है ? हमें तो वह दिखाई भी नहीं पड़ती। वस्तुतः उन्हें दिखाई भी कैसे पड़े, जो स्वयं ही अन्धकार के गहरे गर्त में पड़ गये हैं। इसको तो (चिकित्वान्) अर्थात् ज्ञानी योगी ही जान सकते हैं। यह चर्म चक्षुओं का विषय नहीं है और न ही बहस का का विषय है। इसके सूक्ष्म स्वरूप को तो ज्ञानी ही जान सकते हैं, जो दूर २ के दराओं में घूमने वाले हैं, पर्वतों की गुफाओं में पुकारने वाले हैं वे हो उसका आनन्द ले सकते हैं, जो उसकी प्रेरणा से प्रेरित हो कार्य करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में एक जगह आया है:—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

"जो ज्ञानेन्द्रियों से नहीं जाना जाता, हाथ पांव आदि से पकड़ने में नहीं आता, जिसका गोत्र अर्थात् कोई कुल नहीं, जिसमें काला, पीला, श्वेत आदि रंग नहीं, जो न आंख से देखता है न कान से सुनता है। वह हाथ पांव आदि कर्मेन्द्रियों से रहित है। नित्य सब प्रकार के पदार्थों में अपनी सत्ता रूप से स्थित है। अति सूक्ष्म है। जिससे परे कोई सूक्ष्म नहीं। वह अव्यय है। उसीसे सब उत्पन्न होता है। जैसे पिता के विना पुत्र उत्पन्न नहीं होता वैसे ही वह सब के माता पिता का भी माता पिता है। इस प्रकार के परमात्मा का, ध्यानशील विद्वान् लोग भीतरी विचार वा ध्यान से, आत्मा और मन के संयोग से ही साक्षात् ज्ञान करते हैं।

गार्गी-याज्ञवल्क्य संवाद

इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य के संवाद में जब गार्गी प्रश्न करती है कि–

"सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं प्रोतं चेति ।"

जो द्युलोक से ऊपर पृथ्वी से नीचे और जो द्युलोक तथा पृथ्वी के बीच में है द्युलोक, पृथ्वी, भूत भविष्य, वर्तमान शब्दों से जिसका व्यवहार किया जाता है वह सब किसमें ओत-प्रोत है।

याज्ञ०–"एतत्सर्वमाकाशे ओतं प्रोतं चेति ।"

यह सब आकाश में ओत प्रोत हैं।

गार्गी–"कस्मिन्नुखल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" ।

तो फिर आकाश किसमें ओत-प्रोत है।

याज्ञ०–"स होवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखम मात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति कश्चन न तदश्नाति किंचन" । इत्यादि ।

हे गार्गी ! ब्राह्मण लोग जिस अक्षर अविनाशी ब्रह्म को इस प्रकार कथन किया करते हैं कि न वह स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ, न लोहित, न स्निग्ध, न तेज; न तिमिर, न वायु, न आकाश किन्तु असङ्ग अर्थात एकरस है। वह रसना तथा घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन का विषय नहीं और न ही बुद्धि का विषय है। वह प्राण तथा मुख से रहित किसीसे मापा नहीं जा सकता, वह परिपूर्ण, सबके बाहर भीतर विराजमान है, पर उसका कोई अन्दर बाहर नहीं, न वह किसी को खाता है और न उसको कोई खा सकता है उसीमें आकाश ओतप्रोत है। इस अखिल ब्रह्माण्ड के अन्दर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो इसके प्रकाश से प्रकाशित न हो, जो उसके प्रभाव से प्रभावित न हो, हरएक वस्तु उसके ही प्रकाश से प्रकाशित है, उसके ही प्रभाव से प्रभावित है। परन्तु कोई भी वस्तु उसे प्रकाश नहीं दे सकती।

काठक उपनिषद् में एक मंत्र आता है कि—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् ।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतो ऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ।

काठ० उप० ॥

उस पृथ्वी पर सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् आदि प्रकाश नहीं कर सकते, फिर इस अग्नि में तो क्या ही

सामर्थ्य है। उसके प्रकाशित होने से सम्पूर्ण पृथ्वी भासित हो रही है। इसी प्रकार संध्या के मन्त्रों में एक मंत्र है—

"ओं उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्"।

अर्थात् दिव्य गुणों से युक्त परमेश्वर को (केतवः) किरणें, नानाविध जाति के, पृथक् २ रचना को बताने वाले ईश्वर के गुण, वेद की श्रुति सकल पदार्थ लाल पीली झंडियों की तरह प्रकाशित करते हैं ताकि सब मनुष्य उसे सब प्रकार जान सकें।

इतना २ होने पर भी मनुष्य उसे जान नहीं पाते, उसे पहचान नहीं पाते। वे जानें भी कैसे? कारण यह है कि साध्य वस्तु को तो सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु असाध्य वस्तु को कैसे सिद्ध किया जा सकता है। सांख्यदर्शन में भी कहा गया है कि:—

ईश्वरासिद्धेः। सां० सू०॥ अर्थात् ईश्वर असिद्ध है, उस तक पहुंचा नहीं जा सकता। उसे तो ज्ञानी ही अपनी शक्ति के द्वारा सिद्ध अर्थात् साक्षात् प्राप्त कर सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों का प्रयास

आज से ६०, ७० वर्ष पूर्व वैज्ञानिकों के द्वारा एक नया प्रयास प्रारम्भ हुआ था कि हम जीवन को पैदा कर मनुष्य का निर्माण कर सकते हैं। कइयों ने यह दिखाया कि आंखों के अन्दर कई त्रुटियां हैं। इसमें प्रसिद्ध विद्वान् हैल्महोज़ का तो यहां तक कथन है कि मनुष्य की आंख बहुत भद्दी रीति से बनाई गई है। इसमें वह सब दोष हैं जो किसी देखने के यन्त्र में पाये जा सकते हैं। यदि कोई मुझे ऐसा चश्मा देता तो मैं अवश्य ही उसे लौटा देता। इतना होने पर भी वह स्वयं कहता है कि "Of Course I shall not do this with my eyes and shall be only too glad to keep them as long as I can—defects and all.

अर्थात् मैं अपनी आंखों को लौटा नहीं सकता मैं इतने दोष होते हुए भी इनको जितने दिन हो सकेगा रखने के लिये प्रसन्न होऊंगा।

मैं पूछती हूं कि यदि हैल्महोज़ इस प्रकार का चश्मा बनाने वाले का चश्मा वापिस करने को तैयार था तो उसने इन दोष युक्त आंखों के बदले अच्छी आंखें क्यों न बनाली! बनाता भी कैसे? क्योंकि यह काम उसकी शक्ति के बाहर था।

ये बातें तभी तक उनके दिमागों में चक्कर लगाती रहीं जब तक उनकी शक्ति अपूर्ण थी, जहां आगे बढ़ने लगे उन्हें ज्ञात हो गया कि मनुष्य क्या हम तो एक छोटी सी चींटी को भी जीवन दान नहीं दे सकते।

हरबर्ट, स्पेंसर, टिण्डल आदि ने भी अपने आपको नास्तिक नहीं, परन्तु अज्ञेयवादी अवश्य कहा है। आप लोगों का कथन है कि परमात्मा का व्यक्तित्व अवश्य ही हम लोगों से भिन्न होगा जिससे हम ज्ञेयवादी नहीं बन सकते।

वैज्ञानिकों के शिरोमणि सर ओलिवर लाज् तथा दार्शनिकों के शिरोमणि बरगूसन ने भी अपने आप को प्रभुभक्त ही कहा है। कहा जाता है कि ब्रैड्लॉ महाशय जो इंगलैंड के बहुत बड़े नास्तिक थे जिन्होंने एक समय मिसस् बीसन्टे की सहकारिता से एक नास्तिकता-प्रचारिणी सभा खोल थी, जब मृत्यु शय्या पर पड़े तो उनको यह अनुभव होने लगा कि मैं एक अदृष्ट शक्ति की ओर खिंचा जा रहा हूं। यदि जीवन में इसका अनुभव हो जाता तो मैं इस शक्ति के विषय में अधिक सोच सकता। इसका अनुभव मुझे ऐसे

समय में हुआ जब कि कुछ नहीं करते बनता। इसी प्रकार अन्य मनुष्यों के अन्दर भी ऐसा समय आयेगा वा आता है, जब उन्हें इस शक्ति का अनुभव होता है।

हम में नास्तिकता का भूत क्यों ?

यह सब कुछ होने पर भी आज न जाने भारत वासियों के दिमाग़ों में यह नास्तिकता का भूत क्यों समा गया है। तथा "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ही ब्रह्म हूं। मेरे सिवाय इस जगत् में कोई नहीं। इस भूत ने ही आज भारत को गारत कर दिया है। तभी तो अनेकों विपत्तियां आती हैं परन्तु उसके निवारणार्थ एक भी उपाय नहीं सूझता। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में और संघ के समष्टि जीवन में नित्य नये नये परिवर्त्तन हो रहे हैं। भूकम्प, वर्षा, वायु, अग्नि ऋतु आदि रूप से आधिदैविक जगत् निरन्तर बदल रहा है। वर्षा का आधिक्य हुआ तो कृषकों को असह्य वेदना सहनी पड़ी, दाने दाने के लिये तरसना पड़ा। बाढ़े आई, अनेकों गांवों के गांव नष्ट हो गये ! परन्तु कोई बचाने वाला नहीं रहा ! भूकम्प आये, देश देश में, क्या राजा, क्या रंक, सब के यहां त्राहि त्राहि मच गई। जो आज ठाठ बाट से सजे बैठे थे न जाने वह किसी मिट्टी में मिल गये। कितनी करुणाजनक झांकी है। माता पुत्र के लिये, पुत्र माता के लिये, पति पत्नी के लिये और पत्नी पति के लिये ज़ोरज़ोर से पुकार २ कर रहे हैं। परन्तु कोई सहायक नहीं दीखता। पृथ्वी खोदते २ ऐसी भी लाशें निकली जिनमें से कई एक माताओं की गोद में ज़िन्दा बच्चे निकले। यहां तक भी देखने में आया है कि ५५ वर्ष की स्त्री १२ दिन बाद निकाले जाने पर भी ज़िन्दी रही। यह सब किसका परिणाम है ? केवल उसी एक शक्ति का जो परमेश्वर नाम से कही गई है।

आज भारत में इन आपत्तियों के आने का मुख्य कारण यही है कि वह अपने धर्म कर्म भूलकर वितण्डावाद में लीन हो गये हैं। अब उपनिषदों और वेदों के बदले एक मंत्र को लेकर केवल बहस करना ही बाक़ी है ' हमारे और हमारे निर्माताओं के अन्दर बहुत फ़र्क पड़ गया है। हम लोग केवल अज्ञान रूप कुहरे से आवृत होकर प्राण तृप्ति में हीं लीन हो गये हैं। हम उस परम देव को भूलकर विनश्वर वस्तुओं में लीन हो गये हैं, अनुरक्त हो गये हैं, आसक्त हो गये हैं। अब इस गन्दी दलदल में से उठना असम्भव हो गया है। हमारी आत्माएं वस्तुतः एक दम पतित हो गई हैं। हम तो उसे २४ घण्टे में से एक मिनट भी स्मरण नहीं करते।

आदेश

भारत भाइयो ! देशवासियो !

उत्तिष्ठत !! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत"

उठो ! उठो ! देश के नवयुवको उठो ! मचले हुए नौजवानो उठो !! अब तो होश सम्भालो !! उस प्यारे प्रभु को अपनाओ !!! उसे प्रसन्न करो। उत्तम आत्माएं बनो। तभी इस देश का इस जाति का, इस गारत भारत का, इस जननी का, उद्धार हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके लिये इस के गुणों को धारण करो। न्यायकारी बनो !! समदृष्टिधारी बनो ! यह सच है कि उसके विना कोई एक बाल भी बांका नहीं कर सकता इसलिये उसे अपनाओ उसी के प्यारे बनो क्योंकिः—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति। (स्फुट)

वैदिक राहु

[ले०—श्री दुर्गाप्रसादजी मिश्र काव्य मध्यम, M. A.]

(२)❋

विद्वत्त्वस्थापनार्थाय न मे एष परिश्रमः।
किन्तु नानाविवादानां शान्तये युक्तिपूर्वकम् ॥

ऋग्वेद मण्डल ५ सूक्त ४०

इस पूरे सूक्त के ऋषि अत्रि हैं और सात मन्त्रों में से १-४ मन्त्रों का देवता 'इन्द्र' और ५वीं का सूर्य और शेषों का 'अत्रि' है।

प्रथम मन्त्र

आयाह्यद्रिभिः सुतं सोमं सोमपते पिब।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम ॥ १ ॥

अर्थ—(वृषन्[१,५])❋ बलिष्ठ की न्यांई आचरण करता हुआ (वृत्रह[२]न्तम[७]) मेघों को अतिशय ताडित करने वाला (सोमपते[४]) सोमादिलताओं का पालन करने वाला (इन्द्र[५]) ज्योतिर्मय सूर्य्य (याहि[६]) वार वार अथवा अधिक चलता या चल रहा है। (वृषभिः) वलिष्ठ (अद्रिभिः) पर्वतों द्वारा (सुतम्) पैदा हुए (सोमम्) सोम रस को (आ पिब[२]) वार वार अथवा मानों पीता, अर्थात थोड़ा थोड़ा अथवा प्रत्यक्ष उत्तप्त करके ओषधियों को प्राण धारण करने में समर्थ करता है॥

शास्त्रीय विचार।

(१) 'वृषन्' का अर्थ बरसता हुआ करने से विकरण व्यत्यय मानना पड़ेगा क्योंकि 'वृषु' और 'वृष' धातु तुदादि गण में नहीं हैं। परन्तु०

'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च'॥ पाणि० ३॥१॥११॥

इस सूत्र पर

'अपर आह—सर्व प्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब् वा वक्तव्यः'।

इस महाभाष्य स्थित वार्त्तिक से 'वृष' प्रातिपदिक से 'वृषति इत्यादि' रूप बनते हैं। तथा

'वृषादीनां च'॥ पा० ६॥१॥२०३॥

इस सूत्र से कोई स्वर विधि में भी आपत्ति नहीं है॥

'वृष' शब्द का 'बलिष्ठ' अर्थ चौरादिक 'वृष शक्तिबन्धने' धातु से निकलता है॥

(२) निरुक्त (अ० २ खं० १६।१) में यास्क लिखते हैं—

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्म्मणो वर्षकर्म्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ॥ २ ॥

तो वृत्र कौन है ? 'मेघ' ऐसा नैरुक्त लोग कहते हैं॥ 'त्वष्टावाला दैत्य' ऐसा ऐतिहासक लोग कहते हैं। पानी और ज्योति के मिलने से वर्षा होती है। इसलिये उपमालङ्कार से युद्ध वर्णन है॥ २॥

इसी प्रकार निरुक्तकार ने 'वृत्र' का अर्थ मेघ कई स्थलों पर किया है।

(३) पण्डित देवानन्द शर्म्मा ने अपने 'लघु धातुरूप संग्रह'❋ में उपसर्गों के अर्थ संगृहीत किये हैं। उनमें से 'आ' उपसर्ग के अर्थ इस प्रकार हैं—

❋ इस लेख का पूर्व भाग वैदिक विज्ञान द्वितीय वर्ष के अंक ६ में प्रकाशित हो चुका है। —सम्पादक

❋ मन्त्र के अर्थ में कोष्ठगत वेद के शब्दों पर जो अंक दिये हैं उनपर 'शास्त्रीय विचार' के उसी लेखांक में विचार किया गया है।

३३ १२ १ २ ३ ४
[अनवस्थायां] चाथाङ्किच्छाभयवाक्यशाठ्येषु ।
५ ६ ७ ८ ९ १०
कृच्छ्रेषदर्थबन्धनसन्निध्यभिविध्यनुभवेषु ॥ ३९ ॥
११ १२ १३ १४ १५ १६
निमन्त्रणाशादानादेशनिवृत्तिप्रतिष्ठासु ।
१७ १८ १९ २० २१ २२
स्पर्द्धाभिमुख्यविस्मयसंश्रयशक्तयूर्ध्वकर्मसु च ॥४०॥
२३ २४ २५ २६ २७ २८
साम्प्रादिकृतिविकृत्यन्तर्भावादिस्थाननिलयादौ ।

इनमें से ईषद् और आभिमुख्य अर्थों का ग्रहण हम ने किया है। उपसर्गों के लिये कोई वैदिक कोष न होने से उनके जो अर्थ लौकिक संस्कृत में प्रचलित हैं उन्हींमें से जो प्रयोग-स्थल में सुसङ्गत हों वे ही करने होंगे। निरुक्त में 'मानों' अर्थ भी वेद भाष्यकार सायणाचार्य्य ने 'आ' उपसर्ग को 'याहि' के साथ लिख कर 'आयाहि' ऐसा अन्वय माना है, सम्भव है कि अन्य वेद-भाष्यकारों ने भी ऐसा हो माना हो, परन्तु उनके भाष्य अब तक मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

परन्तु ऐसा अन्वय सौवर व्याकरण के अनुकूल नहीं है क्योंकि यदि 'पिब' को उपसर्ग रहित मानें जैसा कि इन भाष्यकारों ने माना है तो 'तिङ्ङतिङः'॥ ८॥ १॥ २८॥ इस सूत्र से 'पिब' को जो निघातादेश (सर्वानुदात्त) होकर एकश्रुति हो सकता है वह 'लोट् च'॥ ८॥ १॥ ५२ इस सूत्र के कारण न हो सकेगा क्योंकि भाष्यकारों ने 'आ याहि' का अर्थ 'आगच्छ' अर्थात् गत्यर्थक किया है। फल यह होगा कि मन्त्र में–

'सोमं सोमपते पिब।' ऐसा स्वर-विन्यास आवश्यक होगा परन्तु वहां पर वास्तव में 'सोमं सोमपते पिब' ऐसा पाठ है।

परन्तु यदि 'पिब' को 'आ' उपसर्ग सहित 'आ पिब' ऐसा अन्वय मानें तो–

'विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम् ॥ ८। १। ५३ ॥

इस सूत्र से 'पिब' को वैकल्पिक निघातादेश प्राप्त है इसलिये यह कह सकते हैं कि मन्त्र में 'पिब' को पाक्षिक निघातादेश हो गया है।

वेदार्थ करने में स्वरविधि को न पसन्द करने वाले बल्कि अपना मनमाना अर्थ करने वाले कभी कभी यह बड़ी जल्दी कह उठते हैं "जनाब! आप पाणिनीय स्वरप्रक्रिया का प्रयोग करते हैं वेदों के लिये प्रातिशाख्य के नियमों का पालन करना होगा"॥

निःसन्देह प्रातिशाख्य ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण की अपेक्षा प्राचीन आर्ष ग्रन्थ होने के करण प्रामाणिकतर अवश्य हैं।

परन्तु ऋक् प्रातिशाख्य में जो 'उदत्तानुदात्तस्वरितादि' स्वरों के नियम हैं वे पाणिनीय व्याकरण के प्रतिकूल नहीं हैं। साथ ही साथ पर्य्याप्त भी नहीं है। केवल तीसरे पटल में और एक आध अन्यस्थल के सूत्रों में ये नियम हैं। और यह सब नियम पाणिनीय व्याकरण के अधिक से अधिक १२ या १३ सूत्रों के बराबर हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि जो लोग प्रातिशाख्य का नाम पाणिनीय व्याकरण के विरोध में ले लिया करते हैं वे प्रातिशाख्य को पढ़ते तो शायद ही कभी ही, केवल सवेरे शाम आरती कर लिया करते होंगे। नहीं तो हम कुछ पद उनको दें और उनमें वे केवल प्रातिशाख्य के नियमों की बदौलत ही स्वर लगा दें और फिर बतलावें प्रातिशाख्य के किस नियम से कौन स्वर लगा।

(४) निस्सन्देह 'याहि' और 'पिब' लोट् लकार के मध्यम पुरुष के एक वचन में बनते हैं परन्तु लोट्

लकार का आज्ञापरक अर्थ जो अधिकतर किया जाता है यदि वही यहां पर किया जाय तो 'याहि' का 'जाओ' और 'पिब' का 'पिओ' यह अर्थ हुआ। इन अर्थों का प्रयोजन अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि इस मन्त्र के द्वारा इन्द्र देवता का विसर्जन अभीष्ट है। अच्छा भाई यदि थोड़ी देर के लिये (दुर्जनतोष-न्याय के अनुसार) हम मान भी लें कि यह मन्त्र विसर्जन परक है तो यह तो स्पष्ट है कि 'याहि' यह तिङन्त क्रिया 'पिब' की आकाङ्क्षा रखने वाली है। अतः 'क्षियाशीः प्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ॥८॥२॥१०४॥ इस सूत्र से 'याहि' के 'हि' को स्वरित-प्लुत प्राप्त है क्योंकि विसर्जन, होने से 'प्रैष' तो गम्यमान है ही। साथ ही साथ इन्द्र के देवता होने से 'आशीः' भी गम्यमान है। 'आशीः' का अर्थ इस सूत्र का भाष्य करते हुए वामन जयादित्यने काशिका में और भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी में 'प्रार्थना' किया है तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदाङ्गप्रकाश में 'आशीर्वाद' किया है परन्तु 'प्रैष' के गम्यमान होने में कोई सन्देह नहीं है। 'याहि' को 'अन्तस्वरितप्लुत' होने से 'आ याहि ३ अग्निभिः' ऐसा पाठ होना चाहिये, परन्तु ऐसा पाठ वेदमन्त्र में नहीं है। यदि कहो कि यह प्लुतविधान त्रिपादी में होने से असिद्ध है तो जितने प्लुतविधान त्रिपादी में हैं वे सब असिद्ध हो जायेंगे और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'॥६॥१॥१२५॥ इस सूत्र में 'प्लुत' शब्द निरर्थक हो जायेंगे। इसलिये 'स्वरसन्धिमें प्लुत आदेश सिद्ध होता है' ऐसा महा भाष्यकार पतञ्जलि ने 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' ॥ १ ॥ १ ॥ ११ ॥ इस सूत्र के भाष्य में कहा है।

अतः 'याहि' का अर्थ 'जाओ' नहीं हो सकता।

परन्तु 'लोट्' लकार के अनेक अर्थ होते हैं और उन सब में जो सुसङ्गततम है वह पाणिनिजी ने 'समुच्चये ऽन्यतरस्याम्' ॥ ३ ॥ ४ ॥ ३ ॥ तथा पिछले एक और अगले दो सूत्र में बतलाया है। इन्हीं सूत्रों से जो अर्थ प्राप्त है वह मन्त्र के अर्थ में किया गया है।

यह भी याद रखना चाहिये कि लोट् लकार के लिये यह नियम केवल वेद विषयक ही नहीं है। वरन् वैदिक और लौकिक संस्कृत दोनों ही के लिये यह नियम लागू है तभी तो महाकवि माघ ने अपने 'शिशुपाल वध' महाकाव्य में पहिले ही सर्ग के ५१ वें छन्द में खूब हिम्मत करके लिखाः—

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली, यइत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥५१॥ *

ग्रिफ़िथ साहब ने 'लोट्' के इस प्रयोग पर अपने वेदों के अनुवाद में बिल्कुल ध्यान नहीं दिया और जहां तहां आज्ञा क्रिया वाला अर्थ किया है। यही कारण है कि बहुत से नवयुवक अनभिज्ञ होने के कारण वेदों में बहु-ईश्वर वाद के प्रतिपादन का निष्फल प्रयत्न करते हैं।

(५) 'वृषन्', 'वृत्रहन्तम', सोमपते' इन चार पदों में से प्रथम तो प्रथमा और सम्बोधन दोनों ही हो सकता है परन्तु फिर भी लेखक ने इनका अर्थ 'हूत ग्रहण' में नहीं किया है जैसा कि ग़लतुल आम में होता है।

---

* महाकवि कालिदास ने भी मल्लिनाथ की टीकानुसार 'समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य' इस कुमार सम्भवस्थ पद्यार्थ में 'समीरण' को 'भव' का कर्त्ता माना है।

संस्कृत व्याकरण में सम्बोधन 'आभिमुख्य करण' को कहते हैं जिनको सन्देह हो वह 'सम्बोधने च' ॥ २ ॥ ३ ॥ ४७ ॥ इस सूत्र की व्याख्या व्याकरणों में देख लेवें ।, अब यह समझना चाहिये कि 'आह्वान' में 'आभिमुख्यकरण' आवश्यक है परन्तु हर प्रकार के सम्बोधन अर्थात् 'आभिमुख्यकरण' में आह्वान नहीं हुआ करता । यह भी ध्यान रहे कि सम्बोधन प्रथमा से भिन्न कोई और विभक्ति नहीं । मतलब यह है कि जिन जिन अर्थों में प्रथमा प्राप्त है यदि उनमें से एक या कई अर्थ होने पर एक अर्थ 'आभिमुख्य करण' भी है तो वहां साधारण प्रथमा न होकर सम्बोधन हो जायगी ।

दूराद्धूते च ॥ ८ ॥ २ ॥ ८४ ॥

इस सूत्र की व्याख्या में वामन जयादित्य आदि वैयाकरण कहते हैं ॥ "हूतग्रहणं च सम्बोधनमात्रोपलक्षणार्थम्" अर्थात् 'हूतग्रहण' 'सम्बोधन मात्र' यानी 'कुल सम्बोधनों' के उपलक्षण में है ॥

इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में 'सम्बोधन' केवल 'हे राम' इसी अर्थ में नहीं आता, प्रत्युत इस 'हूतार्थ' के अतिरिक्त अन्य 'आभिमुख्यकरण' अर्थ में भी आता है ।

यदि हम मान भी लें कि इस मंत्र में 'सम्बोधन' 'हूतग्रहण' का द्योतक है तो मन्त्र के अर्थ की सङ्गति क्या होगी ? अधिक से अधिक यही कहोगे न कि इस मन्त्र में यज्ञ में इन्द्र देवता को बुलाने का विधान है।

अच्छा यदि इन्द्र को बुलाने वाला अर्थ है तो यह बताओ कि दूर से बुलाना है या अदूर से ?

यदि कहो कि दूर से तो 'दूराद्धूते च ॥८॥२॥८४॥ इस सूत्र से 'वृत्रहन्तम' के म को प्लुत हो जाना चाहिये और 'वृत्रहन्तम ३' ऐसा पाठ होना चाहिये ॥

यदि कहो कि अदूर से तो

"एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ"
८ ॥ २ ॥ १०७ ॥

इस सूत्र और इसी सूत्र पर

'प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्विति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से

'सोमपते' को 'सोमपता३इ' ऐसा आदेश हो जाना चाहिये क्योंकि 'हे सोमपते जाओ सोम को पिओ' ऐसा अर्थ करने पर याज्यान्त विधि ही सुसङ्गत है । 'आओ ....' ऐसा अर्थ करने पर स्वरों में जो आपत्ति होगी वह हम पहिले ही बतला चुके हैं ।

यदि कहो कि

'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' ॥ ८ ॥ २ ॥ ८२ ॥

इस सूत्र से 'टेः' की अनुवृत्ति आती है इसलिये 'सोमपते' को जो आदेश आप प्राप्त समझते हैं वह नहीं हो सकता, तो

तयोर्य्वावचि संहितायाम् ॥ ८ ॥ २ १०८ ॥

यह सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा क्योंकि जब 'अप्रगृह्य एच्' वाक्य के टि भाग में होने से ही ॥८॥२॥१०७ के कार्य्य को प्राप्त कर सकता है तब उसके पश्चात् 'अच्' कैसे आ सकता है ।

यदि कहो कि संहिता से मतलब वाक्य संहिता से है तो प्रस्तुत मंत्र में भी वाक्यसंहिता विद्यमान है क्योंकि दो तिङन्त विद्यमान हैं ॥

सच्ची बात तो यह है कि संस्कृत सम्बोधन के इस मर्म को न जानकर जहां लोगों ने किसी निर्जीववाचक

शब्द को सम्बोधन में पाया बस एक अधिष्ठातृ-देवता घड़ लिया ॥

शायद कोई यह कहे अजी हज़रत, तुम ने तो उन सूत्रों का प्रयोग किया जिन का शायद और किसी ने नहीं किया। यदि यह बात ठीक हो तो इस के उत्तर में केवल इतना ही पर्य्याप्त है कि आख़िर यह सूत्र हैं किस मर्ज़ की दवा ? क्या ये दूसरे कल्प के लिये हैं। यदि कहो कि सूत्र निरर्थक हैं तो महाभाष्यकार ने निरर्थक क्यों नहीं कहा ?

यदि कहो कि—

गुरोरनृतो ऽ नन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ॥८॥२॥८६ ॥

इस सूत्र पर 'सर्व एव प्लुतः साहसमनिच्छता विभाषा कर्त्तव्यः' इस भाष्यकार की टिप्पणी में जो विकल्प विधान है उस को क्या करोगे ?

इस का उत्तर यह है कि 'साहस की इच्छा न करने वाला' ये शब्द बतलाते हैं कि यह नियम निगम के लिये लागू नहीं हो सकते ॥

हां, जो लोग परमेश्वर में इच्छा मानते हैं अथवा वेदों को मनुष्यकृत मानते हैं वे भी ध्यान रक्खें कि ऊपर के उद्धरण में जो प्लुतविकल्प विधान है वह केवल पहिले तीन सूत्रों के लिये है। याज्यान्त विधि में नहीं लग सकेगा ॥

मन्त्र २

सूर्यमूलक मेघ-वर्षा

वृषा ग्रावा वृषा मदो वृषा सोमो अयं सुतः ।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम ॥ २ ॥

(ग्रावा)[3] मेघ (वृषा)[1] बरसने वाला (है), (वृषा)[2] वर्षा से (मदः) हर्ष (होता है), (वृषा[2]) वर्षा से (अयम्) यह (सोमः) सोम (सुतः) पैदा हुआ (है)। (वृत्रहन्तम) मेघ को अतिशय ताडित करने वाला (इन्द्र) सूर्य्य (वृषभिः) वर्षाओं द्वारा (वृषन्) बलिष्ठ की नांई आचरण कर रहा है ॥

सूर्य्य को मेघ का ताडित करने वाला इसलिये कहा है कि वह जल को बाष्प बनाकर मेघ को लादता रहता है इत्यादि ॥

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मेघ वर्षा इत्यादि बलिष्ठ सूर्य्य ही की बदौलत होते हैं ॥

शास्त्रीय विचार ।

(१) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः ॥१॥१५६॥

इस उणादि सूत्र से 'वृष्' धातु से 'कनिन्' प्रत्यय होकर 'वृषन्' प्रातिपदिक बनता है। और निरुक्तकार यास्क ने 'वृषाकपिः' पद में जिस 'वृषा' का अर्थ 'रश्मि' यानी किरण किया है वह भी उपर्य्युक्त मन्त्र के तीसरे 'वृषा' का हो सकता है परन्तु उस दशा में 'सोम' का अर्थ चन्द्र करना होगा तथा अन्य उचित परिवर्त्तन भी अर्थ में आवश्यक होंगे।

(२) 'वृष्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'वृष्' प्रातिपदिक बनता है उसी के तृतीयैकवचन में 'वृषा' बनता है ॥

(३) निघण्टुकार 'ग्रावा' का अर्थ मेघ बतलाते हैं ॥

मन्त्र ३

वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः ।
वृषन्निन्द्र वृषभिर्वृत्रहन्तम ॥ ३ ॥

(मैं) (त्वा[1]) उस सूर्य्य को (वृत्रहन्तम[6]) मेघ को अतिशय ताडित करने वाला (वृषभिः) बलिष्ठ ग्रहों द्वारा ([7]इन्द्र[6]) ऐश्वर्य्य वाला (वृषा) वर्षा द्वारा (वृषणम्) जल को (वृषन्[6]) देने वाला (चित्राभिः[3]) सञ्चित कराई जाने योग्य (ऊतिभिः[5])

गतियों द्वारा (वज्रिन्[४]) चलने वाला (हुवे) स्वीकार करता अर्थात् समझता हूं ॥ ३ ॥

शास्त्रीय विचार

(१) 'त्वा' यह शब्द 'चादयो ऽसत्वे' ॥ १ ॥ ४ ॥ ४७ ॥

इस सूत्र में कथित चादिगण में पाया जाता है। अतः यह सर्वनाम के अर्थ वाला अव्यय है। 'तुझ को' ऐसा अर्थ जड़ वाचक शब्दों के लिये असङ्गत है।

शान्तनवाचार्य्य प्रणीत 'चादयोऽनुदात्ताः' ॥ ४ १६ ॥

इस फिट् सूत्र द्वारा अनुदात्त हो जाता है॥

(२) 'इन्द्र' का अर्थ 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुब्रचुब्रक्षुरखुरभद्रोग्रभेरभेलशुक्रशुक्लगौरवत्रेरामालाः ॥२॥२८॥

इस उणादि सूत्र द्वारा किया गया है। परन्तु यदि ऐसा अर्थ न करके यास्क का किया हुआ 'इरां दृणातीति इन्द्रः' अर्थात् 'अन्न को विदारने वाला करें तो भी कोई हर्ज नहीं, केवल 'वृषभिः' का अर्थ 'बलिष्ठ किरणों द्वारा' करना पड़ेगा।

(३) उषस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥

उषस्तच्चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यमन्नवति येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि ॥नि० अ० १२ । खं० ६।१

यहां पर यास्क ने 'चित्र' का अर्थ 'सञ्चित कराया जाने योग्य' किया है।

"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं....................
नि० अ० १२ खं० १६।१

यहां पर भी 'चित्र' का अर्थ 'चायनीय' किया है। लेखक ने 'चायनीय' में 'चि + णिच् + अनीय' ऐसी व्युत्पत्ति मानी है। यदि ऐसी व्युत्पत्ति न मान कर 'चाय् + अनीय' मानें तो 'चायनीय' का अर्थ 'पूजनीय' होगा। परन्तु प्राचीन संस्कृत भाषामें 'पूजा' का वह अर्थ नहीं है जो आज कल प्रचलित है॥ उदाहरण के लिये

पूजनात्पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः ॥ ८ ॥ १ ॥ ६७ ॥
परमाध्यापकः । अद्भुताध्यापकः । स्वाध्यापकः । इत्यादि
अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ॥ ८ ॥ २ ॥ १०० ॥
शोभनः खल्वसि माणवक ३

इन पाणिनीय सूत्रों तथा उनकी व्याख्याओं से स्पष्ट है कि पहिले 'पूज्' का अर्थ 'शोभित या प्रशंसित होना' होता था॥

सूर्य्य की गतियों को 'सञ्चित करने के योग्य' इस लिये कहा है कि सूर्य्य की जो किसी बिन्दु विशेष के गिर्द परिक्रमणात्मक गति तथा और गतियां हैं वे एक दम से नहीं जानी जा सकतीं। उनके जानने के लिये वेधों (Observations) को सञ्चित करना पड़ेगा और तब उन वेधों के सङ्गत करने पर ही सूर्य्य का अपनी कीली पर परिभ्रमण अथवा किसी बिन्दु विशेष के गिर्द परिक्रमण जाना जा सकता है॥

(४) 'वज्' धातु (जिसका अर्थ चलना है) से 'रिन्' प्रत्यय करने पर 'वज्रिन' बनता है पादादि में होने से आद्युदात्त है॥

(५) 'अव + क्ति' इस अवस्था में 'ज्वरत्वरस्रिवि + अविमवामुपधायाश्च' ॥ ६ ॥ ४ ॥ २० ॥

इस सूत्र से 'ऊति' बनता है। इसीलिये इस का अर्थ गति हुआ।

ऊतिः ॥ १५ ॥

ऊतिरवनात्।

'आ त्वा रथं यथोतये' इत्यपि निगमो भवति ॥
नि० अ० ५ । खं० ३ । ३ ॥

(६) 'वज्रिन्', 'वृषन्', 'इन्द्र', 'वृत्रहन्तम' ये शब्द लेखक ने कर्म्मकारण में माने हैं परन्तु

कर्म्मणि द्वितीया ॥ २ ॥ ३ ॥ २ ॥

तृतीया च होश्छन्दसि ॥ २ ॥ ३ ॥ ३ ॥

इन सूत्रों से 'द्वितीया' और विकल्प से 'तृतीया' प्राप्त होती है। साथ ही साथ 'आभिमुख्यकरण' अर्थात् 'प्रत्यक्षीकरण' होने से

सम्बोधने च ॥ २ ॥ ३ ॥ ४७ ॥

इस सूत्र से 'प्रथमा' प्राप्त है परन्तु।

'विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् ॥ १ ॥ ४ ॥ २ ॥

इस सूत्र से २ ॥ ३ ॥ ४७ ॥ यह सूत्र ॥ २ ॥ ३ ॥ १ ॥ और २ ॥ ३ ॥ ३ ॥ इन दोनों को बाधकर प्राप्त हो जाता है और द्वितीया तथा तृतीया न हो कर 'प्रथमा' होती है। फिर 'आभिमुख्यकरणात्मक प्रथमा' होने से 'सु' का लोप हो जाता है ॥

मन्त्र ४

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ्माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः ।

(ऋजीषी[2]) बुध और शुक्र के अतिरिक्त और ग्रहों वाला (भी) (वज्री) चलने वाला (वृषभः) वर्षा के जलों को देने वाला (तुराषाट्) शीघ्र प्रभाव करने वाला (शुष्मी) बलवान् अथवा सुखाने वाला (राजा) चमकने वाला (वृत्रहा) मेघ को ताडित करने वाला (सोमपावा) सोम को पवित्र करने वाला (अर्वाक्[3]) यह (इन्द्रः) सूर्य्य (हरिभ्याम्[1]) बुध और शुक्र से (उप × युक्त्वा) समीप में युक्त होकर (यासत्) चलता है (और) (सवने) नाक्षत्र (माध्यन्दिने) दोपहर को (मत्सत्) उन्मत्त होता अर्थात् महत्तम तेज को प्राप्त होता है ॥

शास्त्रीय विचार

(१) 'हरिभ्याम' यह द्विवचन है। निघन्टु के अ० १ खं० १५ में कथित 'दश आदिष्टोपयोजनों' में से पहिला आदिष्टोपयोजन 'हरी इन्द्रस्य' यह है। इस में भी 'हरी' द्विवचन है ॥

'आदिष्टोपयोजन' का क्या मतलब है इसके बतलाने के लिये यास्क 'हरी इन्द्रस्य०' इत्यादि के भाष्य में केवल इतना ही कहते हैं:—

'दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचार्य्यज्ञानाय' नि० अ० २ खं० २८ । २ ॥

अर्थात् दशसङ्ख्यक आदिष्टोपयोजनों को कहते हैं साहचर्य्य अर्थात् साथ ही साथ रहने के ज्ञान के लिये ॥

अतः 'हरी इन्द्रस्य' का मतलब यह हुआ कि 'दो हरि इन्द्र के साथ रहा करते हैं' ॥

ज्योतिष विद्या विशारद इस बात को स्वयं जानते हैं कि 'बुध' ग्रह सूर्य्य के निकटतम है उसके बाद 'शुक्र' है, तब 'पृथिवी', मङ्गल, बृहस्पति, अवान्तरग्रह, शनैश्चर, वरुण (Uranus) और वारुणी (Neptune) हैं और ये अन्तिम सात बहुत दूर हैं। बुध और शुक्र दोनों सूर्य्य के इतने निकट हैं कि उससे पृथक् कभी मालूम ही नहीं होते। किन्हीं, किन्हीं सिद्धान्त ग्रन्थों में इन दोनों को 'मानों सूर्य्य के सेवक' बतलाया गया है ॥

वेद भगवान् तथा यास्क के इस ज्योतिष-विज्ञानमय भाव को न समझ कर निरुक्त पर कई टीकाकारों ने सूर्य्य में दो घोड़े बांधकर सूर्य्य को किसी न किसी मैदान जङ्ग में भेजने का जो निष्फल प्रयत्न किया है, चिन्तनीय है।

ऋजीष शब्द पर विचार

(२) 'ऋजीषी' शब्द का अर्थ है 'ऋजीष' वाला। 'ऋजीष' का क्या अर्थ है इसके लिये निरुक्तकार यास्क 'आपान्तमन्युः' पद के व्याख्यान में—

"आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिःशिमीवाञ्छरुमां ऋजीषी सोमो विश्वान्यतसावनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः"॥

ऋक् संहिता अध्याय ८, अष्टक ४, वर्ग १४,

इस मन्त्र को उदाहरण के लिये लिया है। इस मन्त्र के अन्तर्गत 'ऋजीषी' की व्याख्या में कहते हैं:—

"ऋजीषी सोमो यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषमपार्जितं भवति तेनर्जीषी सोमः।

अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति—ऋजीषी वज्री इति॥

हर्य्योरस्य स भागो धानश्चेति॥ नि० अ० ५ खं० १२।१

अर्थात् ऋजीषी सोम है जो पवित्र किये जाने वाले सोम का अतिरिक्त होता है वह ऋजीष अपार्जित होता है उसके द्वारा सोम ऋजीषी हुआ॥

अथ 'ऐन्द्रनिगम' भी होता है—'ऋजीषी वज्री इति', इसके हरियों का वह (अतिरिक्त) भाग और धान (ऋजीष) है॥

यहां पर निरुक्तकार यास्क ने स्वयं उसी मन्त्र का हवाला दिया है जिसका अर्थ हमने किया है॥

'हरियों के अतिरिक्त भाग का अर्थ सौर मण्डल के अवशिष्ट ग्रह है' इस बात को वे लोग भली भांति समझ सकते हैं जो नैहारिक सिद्धान्त से भली भांति वाकिफ हैं। हां जो लोग सूर्य्य में दो घोड़े बांध कर उसको किसी ने किसी मैदान जङ्ग में घसीट कर उस बेचारे के कलह रहित शान्तिमय जीवन को भङ्ग करने के लिये सर्वथा उद्यत हैं उनकी समझ में हरियों का अतिरिक्त भाग क्या है यह वही बतला सकते हैं॥

निस्सन्देह नैहारिक सिद्धान्त (Nebular hypothesis) का नाम सुनते ही वेदों को ईश्वरीय ज्ञान न मानने वाले उछल पड़ेंगे। इन लोगों को पद पद पर यह आपत्ति हुआ करती है कि अमुक घटना सभ्यतोन्नति-सिद्धान्त के विरुद्ध है इस लिये अमुक घटना ठीक नहीं है।

रसायन शास्त्र में किसी समय अग्नितत्त्व सिद्धान्त (Flogiston theory) ठीक माना जाता था। परन्तु होते होते एक दिन ऐसा आया कि ओषजन (oxygen) का अन्वेषण अग्नितत्त्व सिद्धान्त के विरुद्ध सिद्ध हुआ। फल यह हुआ कि अग्नितत्त्व सिद्धान्त रसायनशास्त्र से निकाल डाला गया॥

कुछ ताराओं के प्रकाश के वेध ऐसे पाये गये हैं जो आईस्टाइन के सम्बन्ध-सिद्धान्त (Theory of relativity) के विरुद्ध हैं इस पर वे महाशय अपने सम्बन्ध सिद्धान्त में परिवर्त्तन करने को तैयार हैं, क्यों कि उनका कहना यह है कि वैज्ञानिक संस्कृति के अनुसार सिद्धान्त घटनाओं के अनुसार होना चाहिये न कि घटनायें सिद्धान्तानुसार।

(According to scientific spirit, the theory must yield to facts and not facts to theory)

परन्तु हमारे ऐतिहासिक अन्वेषकों की उलटटप्पू चाल ही निराली। इन के मत में सब घटनाओं का काल इन के मन माने सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिए॥

इन के मत से बाल्मीकीय रामायण और व्यास-

कृत महाभारत को बने हुए लगभग पचास वर्ष होना चाहिये क्योंकि उनमें विमानों का वर्णन है और विमानों की बने हुए पचास वर्ष से अधिक नहीं हुए।

जो दाँत से नाक काटने की घटनायें होती हैं वे सब प्रस्तर और लौहिक काल से पूर्व हुई होंगी अन्यथा सभ्यतोन्नति सिद्धान्त के विरुद्ध हो जाएंगी ॥

चूंकि मध्यभारत में कुछ पौलस्त्यवंशज पाये जाते हैं इसलिये लङ्का मध्यभारत में रही होगी चाहे महाशय कैजोरी के बताये हुए सिद्धान्त शिरोमणि से उद्धृत ज्योतिषीय प्रमाण के अनुसार लङ्का विषुवद्रेखा (Equator) पर ही क्यों नहीं।

यदि अलाहाबाद में कुछ अँग्रेज़ पाये जाते हैं तो इँग्लैण्ड देश अलाहाबाद में है ॥

सच्ची बात तो यह है कि इन ऐतिहासिक अन्वेषकों की शैली वैज्ञानिक संस्कृति जानने वाले को दुराराध्य और दुर्बोध है।

गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य, वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समादाय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ॥

वाली कहावत चरितार्थ होती है ॥

निरुक्तकार यास्क ने अ० १२ खं० ४३ । १ में ऋक्संहिता के ५ ॥ ४ ॥ ६ ॥ ३ ॥ में आये हुए

'अर्वाक्पृथ उरुज्रय' ....

इस 'अर्वाक्' को 'अर्वाञ्चः' के स्थान में मानकर 'एनान्' अर्थ किया है ॥

इन चारों मन्त्रों का देवता 'इन्द्र' है। इसलिये इन में 'सूर्य्य' के ऐश्वर्य्यात्मक धर्मों का अधिकतर वर्णन है, और 'सूर्य्य' को 'इन्द्र' नाम से ही वर्णन किया है। अगले मंत्र का वर्णन 'गोल-गणित' से सम्बन्ध रखता है। उसका देवता 'सूर्य्य' है और 'सूर्य्य' ही उसको

कहा भी है। इसीलिये अगले मंत्र से संबंध करने के लिये 'बुध' और 'शुक्र' के साहचर्य्य का सूर्य्य के साथ थोड़ा सा ज्योतिषात्मक वर्णन कर दिया है।

इस से जो लोग वेदों में ऊंट या मेण्डक की सी चाल समझते हैं वे ग़लती करते हैं ॥

मन्त्र ५

यत्त्वा सूर्य्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥ ५ ॥

अर्थ—(यत) चूंकि (त्वा) उस (सूर्य्यम्) सूर्य्य को (आसुरः) असुर अर्थात् पृथिवी के आकर्षण से उस के चारों ओर घूमने वाला अथवा सृष्टि के समय में पृथिवी से प्रक्षिप्यमाण अर्थात् फेंका हुआ (स्वर्भानुः) सूर्य्य से प्रकाशित चन्द्र (तमसा) प्रकाश रोधक अपने पिण्ड द्वारा अथवा पृथिवी की ओर सूर्य्य प्रकाश द्वारा फेंकी जाने वाली अपनी छाया द्वारा (अविध्यत्)[२] वेधन करता अर्थात् छिपाता है, (इसलिये) (अक्षेत्रवित्)[१] रेखागणित को न जानने वाले (मुग्धः)[३] मूर्ख लोग (भुवनानि) लोकों को (यथा) दूसरे अर्थ में (अदीधयुः[२] [एव])[४] प्रकाशित ही कहते हैं ॥ ५ ॥

शास्त्रीय चर्चा

(१) वेद भगवान् का अभिप्राय यह है कि रेखा गणित न जानने वाले अथवा जान करके भी उसका उपयोग न करने वाले के लिये इस बात का समझना कठिन है कि छोटा सा चन्द्रमा बड़े भारी सूर्य्य को कैसे छिपा सकता है। परन्तु रेखागणितोपयुक्त प्रकाश विज्ञान को समझने वाला भली भांति जानता है कि 'क ख' सा छोटा प्रकाशरोधक पदार्थ भी 'ग घ' ऐसे

बड़े भारी प्रकाशवान् पदार्थ को भी 'क ख ङ' क्षेत्र
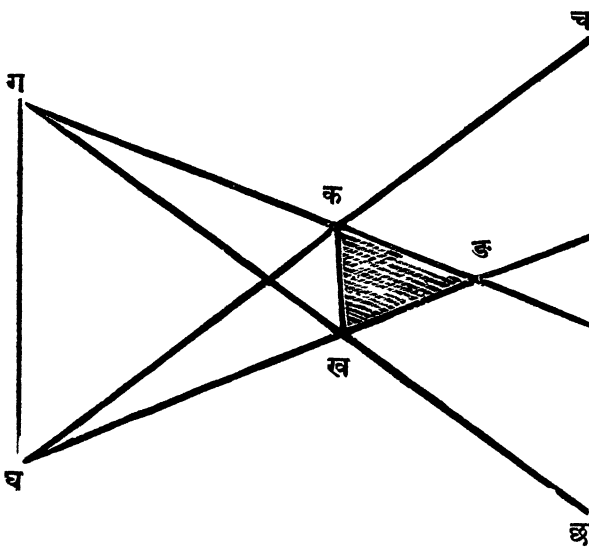
ग घ = सूर्यबिम्ब
क ख = चन्द्रबिम्ब
क ख ग = छाया शङ्कु

में वर्त्तमान पुरुष की आंखों से पूर्णतया छिप सकता है और 'क ख ङ' क्षेत्र के निकटवर्त्ती क्षेत्रों में वर्त्तमान पुरुष की आंखों से अपूर्णतया ॥

वेद भगवान् की इस वाणी को रेखा गणित के न जानने वालों ने इस कलियुग में चरितार्थ कर दिखाया। क्या इस में भी किसी को सन्देह हो सकता है ?।

(२) छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ ३ ॥ ४ ॥ ६ ॥

सामान्यतः 'लुङ्' सामान्यभूत 'लङ्' अनद्यतन भूत और 'लिट्' परोक्षभूत (Preterit अर्थात् Historical past tence) के अर्थों में क्रमशः प्रयुक्त होते हैं। परन्तु ऊपर दिये हुए सूत्र में पाणिनीजी कहते हैं कि वेदों में ये लकार सब कालों में प्रयुक्त होते हैं ॥

'अदीदधयुः' यह 'दीधीङ्' (प्रकाश देवनयोः) के लङ् लकार के प्रथम पुरुष का बहुवचन है। यदि 'दिवु' धातु के अर्थ लिये जायँ तो 'अदीधयुः' के अर्थ 'खेला करते हैं' 'वर्णन करते हैं' स्वप्न देखते हैं' इत्यादि भी हो सकते हैं ॥

इसे निघात प्रतिषेध से नहीं होता ॥

(३) 'मुग्ध ' और 'अक्षेत्रविद्' यह देखने में एकवचन मालूम होते हैं और क्रिया 'अदीधयुः' बहुवचन है। इसे बहुत से लोग सुप् व्यत्यय समझेंगे । परन्तु वास्तव में

'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥७॥१॥३९॥

इस सूत्र से 'जस्' को 'सु' आदेश हो गया है।

और 'अक्षेत्रविद् में 'नञ्' स्वर के बलवान् होने से 'अ' को उदात्त हुआ है ॥

(४) 'एव यह मूल मंत्र में नहीं है। अर्थ करने में इस को अपनी ओर से जोड़ना केवल स्वर विधि में आपत्ति को मिटाना है ॥ 'तिङ्ङतिङः' ८॥१ ।२८॥ से 'अदीधयुः' को जो निघात हुआ है वह 'यावद्यथाभ्याम् ॥ ८ ॥ १ ॥ ३६ ॥ इस अपवाद सूत्र से अप्राप्त है परन्तु 'चादिलोपे विभाषा' ॥ ८ ॥ १ ॥ ६३ ॥ इस सूत्र से यदि ' च, वा, ह, अह, एव' ये अव्यय शेष हों तो विकल्प से निघात होता है ॥

पहिले चार मंत्रों का देवता सूर्य्यवाचक 'इन्द्र' था इस लिये उन मंत्रों में ऐश्वर्य्य वाचक गुणों का अधिकतर वर्णन करके चौथे में थोड़ा ज्योतिषात्मक गुणों का भी वर्णन कर दिया ॥

इस पञ्चवें मंत्र का देवता 'सूर्य्य' है, इसलिये इस में 'गणित ज्योतिष विषय' का वर्णन वेद भगवान् ने सुचारु रूप से किया ॥

अगले ६, ७, ८, और ९ चारों मंत्रों का देवता अत्रि है ॥ अब यहां पर 'अत्रि' शब्द के अर्थ का अन्वेषण किया जाएगा ॥

'निघण्टु और 'निरुक्त' में अत्रि का अर्थ नहीं मिलता। * निरुक्तकार यास्क ने अ० ११ खं० १ में 'अत्रा' पद के उदाहरण में ऋ० सं०३।६।१५।७॥ इस मंत्र को लिया है। उस मंत्र में आये हुए 'अत्रा' का अर्थ उन्होंने 'तत्र' अर्थात् 'वहां' किया है इसलिये उस 'अत्रा' का कोई सम्बन्ध अत्रि से नहीं मालूम होता ॥

पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदजी के अर्थ की आलोचना करते हुए हम यह बतला चुके हैं कि 'अत्रि' शब्द का अर्थ उसके तत्र प्रयुक्त कारण से अत्रि नामक ऋषि अथवा अत्रि नाम का खानदान नहीं हो सकता ॥ इसलिये 'अत्रि' शब्द में नञ् समास मालूम होता है अर्थात् 'न त्रयः' इति अत्रिः अत्रयो वा। यानी तीन से भिन्न को 'अत्रि' कहते हैं ॥

ऊपर चौथे मन्त्र के अर्थ में 'सूर्य्य', 'बुध', और 'शुक्र' इन तीनों का नाम आचुका है। इसलिये इन तीनों से भिन्न चौथे स्थान वाली 'पृथिवी', का वाचक हुई ॥

अथवा तीन अर्थात् 'बुध, शुक्र और अवान्तर-ग्रहसमूह' (Asteroids) इन के अतिरिक्त हमारे सौर जगत् में वर्त्तमान अवशिष्ट सभो ग्रहों को 'अत्रि' कहते हैं ॥

* 'अत्रि' शब्द पर निरुक्तकार लिखते हैं—"अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुस्तस्मादत्रिः। न त्रयइति।" (निरु० ३।१७।) जिस पर दुर्गाचार्य लिखते हैं अत्रैव तृतीय इत्येतस्मादनुव्याहारात् अत्रिः अभवत्। अथवा एवमन्यथा स्यात् अत्रिः प्रतिषेधा र्थोऽत्राऽक्षरः। कथं ? न त्रय एवात्र। सं०

अगले तीन मन्त्रों ६, ७, और ८ में अत्रिः और 'अत्रे' ये पद एक वचन में आये हैं इसलिये इनका अर्थ पृथिवी किया गया है ॥ परन्तु अगले चौथे मंत्र ९ में 'अत्रयः' यह पद बहुवचन में आया है इसलिये वहां पर उसका अर्थ 'बुध', 'शुक्र' और 'अवान्तर-ग्रहसमूह' को छोड़कर अवशिष्ट सब ग्रह किया गया है। इन तीन ग्रहों को छोड़ देने में वेद भगवान का क्या प्रयोजन है यह उसी नवें मंत्र की टिप्पणी में बतलाया जावेगा ॥

मन्त्र ६

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्त्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥६॥

अर्थ-(यत्) चूंकि (अत्रिः) पृथिवी (दिवः)[२] आकाश से अर्थात् आकाश में एक स्थान से दूसरे स्थान को, न केवल अपनी ही धुरी पर (अव [३]) सदा चला करती है (इसलिये) (अप-व्रतेन) अनियमित अर्थात् प्रत्येक दिन न होने वाले (तमसा) अन्धकार द्वारा (गूळ्हम्) छिपे हुए (सूर्यम्) सूर्य्य को (ब्रह्मणा) बढ़ने वाले (तुरीयेण)[४] सम्भ्रमण द्वारा (अविन्दत्) पा जाती है अर्थात् सूर्य्य के सामने आजाती है [इसलिये] (अध) अनन्तर ही (स्वर्भानोः) चन्द्र की (इन्द्र)[५] सूर्य्य में (वर्त्तमानाः) वर्त्तमान (मायाः) मायाओं को (अवः) चलने वाली [पृथिवी] (अहन्) छिन्न भिन्न कर देती है ॥६॥

शास्त्रीय चर्चा

१. निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित ऋक्संहिता में गूह्ळं ऐसा पाठ है। जो अशुद्ध प्राय मालूम होता है।

२. यद्यपि पृथिवी यदि केवल अपने अक्ष ही पर

घूमती होती तो भी सूर्यग्रहण का मोक्ष हो जाया करता, तथापि अक्ष पर घूमने के अतिरिक्त उसके सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करने से मोक्ष जल्दी हो जाता है। इसीलिये मन्त्र के उत्तरार्ध में वेद भगवान ने (तुरीयेण ब्रह्मणा) अर्थात् 'बढ़ने वाले सम्भ्रमण द्वारा' ऐसा कहा है ॥

३. 'अव' यह सरसरी तौर पर देखने से 'अहन्' से पहिले उपसर्ग मालूम होता है। परन्तु पाणिनीय व्याकरण का सौवर भाग तथा फिट् सूत्रों में कथित सौवर विधान, जो ऋक्प्रातिशाख्य के अनुकूल है, हम को ऐसा न मानने के लिये बाधित करते हैं। क्योंकि फिट् सूत्रों के 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इस सूत्र से, जिसका अर्थ है "अभि" को छोड़कर उपसर्ग आद्युदात्त होते हैं, 'अव' ऐसा स्वर विन्यास हुआ। फिर 'तिङ्ङतिङः' ॥ ८ ॥ १ ॥ २८ ॥ इस सूत्र से 'अहन्' ऐसा होकर 'अव × अहन्' ऐसी स्थिति हुई। तब स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' ॥ १ ॥ २ ॥ ३९ ॥ इस सूत्र से 'अहन्' के अनुदात्तों को एक श्रुति होकर 'अव × अहन्' ऐसी स्थिति हुई। तब सन्धि करके 'अवाहन्' ऐसा स्वर विन्यास होना चाहिये परन्तु मंत्र में 'अवाहन्' ऐसा पाठ है।

इस का कारण यह है कि अतिङन्तपद 'वर्त्तमानाः' के बाद तिङन्त 'अव' को निघात आदेश होकर 'अव' ऐसी स्थिति हुई। तब 'अहन्' आगे आने से 'अव × अहन्' ऐसी स्थिति हुई। फिर 'एकादेशउदात्तेनोदात्तः' ॥ ८ ॥ २ ॥ ५ ॥ इस सूत्र से 'अवाहन्' ऐसा बन गया है ॥ महाभाष्यकार के कथनानुसार उपसर्ग और तिङन्त का समास करने से भी इस स्थल की स्वर सङ्गति नहीं मिल सकती अतः 'अव' उपसर्ग नहीं है यह भी याद रहे। मैंने महाभाष्य में उपसर्ग× तिङन्त समास का विधान नहीं देखा है। केवल लोगों से सुना है।

(४) जुहोत्यादिगण में 'तुर त्वरणे' धातु है और 'त्वरण' शब्द भ्वादिगणपठित 'ञित्वरा सम्भ्रमे' से बनता है। इसलिये 'तुर' धातु का अर्थ हुआ 'सम्भ्रमण करना'। 'तुर्' से 'क्विप्' करने पर 'तुर्' प्रातिपदिक हुआ। उस 'तुर' प्रातिपदिक से 'ईयर्' प्रत्यय करने से 'तुरीय' प्रातिपदिक बन जावेगा।

अथवा 'तुरीयेण ब्रह्मणा' का अर्थ 'शीघ्र वृद्धि द्वारा' किया जाय तब भी कोई हर्ज नहीं है।

(५) 'इन्द्र' अधिकरण कारक में है। इसलिये 'सप्तम्यधिकरणे च' ॥ २ ॥ ३ ॥ ३६ ॥ इस सूत्र से सप्तमी प्राप्त है परन्तु आभिमुख्यकरण के कारण 'सम्बोधने च' ॥ २ ॥ ३ ॥ ४७ ॥ इस सूत्र से प्रथमा प्राप्त है। इसलिये 'विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्' ॥१॥४॥२॥ इस सूत्र से सप्तमी को बाधकर प्रथमा हो गई ॥

मन्त्र ७

मामामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत्।
त्वं मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ॥७॥

(अत्रे) हे पृथिवी (तव) तेरे (समीप) (सन्तम्) वर्त्तमान (इमम्) इस (माम्) मुझ को (भियसा) भय से (इरस्या) [२] ईर्षा से (द्रुग्धः) द्रोहित होकर आप (मा) मत (निगारीत्) निगल जावे अर्थात् मुझ को नाश करने की कोशिश मत कर।

(क्योंकि) (त्वम्) तू (सत्यराधाः) नियम रूप धन वाली (असि) है (तौ) वे दोनों (मित्रः)[४] वारुणी (Uranus) ग्रह (च) और (राजा)

चमकता हुआ (वरुणः) [3] वरुण (Neptune) ग्रह (मा) हम उपग्रहों (Satellites) की (इह) इस सौरजगत् में (अवतम्) रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

चन्द्रमा की ओर से पृथिवी के प्रति यह आलङ्कारिक वचन है:—चन्द्रमा की सूर्य के ऊपर पैदा की हुई माया को पृथिवी के शीघ्र गति द्वारा छिन्न भिन्न कर देने पर चन्द्रमा कुछ भयभीत सा होकर कहता है:—मैंने जो सूर्य्यग्रहण किया वह नियम बद्ध होकर करना पड़ा इसमें तू ईर्षा मानकर मुझे निगल जाने की कोशिश न कर क्योंकि मेरे नियम पालन में तू स्वयं सहायक है और मित्र और वरुण भी अपने अपने चन्द्रों (उपग्रहों) को नियम पालन कराने में सहायक रहते हैं ॥

शास्त्रीय चर्चा

(१) निर्णयसागर की छपी हुई ऋक्संहिता में 'सन्तमत्र इरस्या' ऐसा पाठ है जो प्रामादिक मालूम होता है क्योंकि स्वरित 'त' और अनुदात्त 'र' के बीच के सभी अनुदात्तों को एकश्रुति हो जाना चाहिये और 'र' को एकश्रुति इस वास्ते नहीं हुई कि उस के परे उदात्त 'स्या' मौजूद है ॥

२ कण्ड्वादिगण के 'इरस्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'इरस्' प्रातिपदिक बन जाता है फिर 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः" ॥७।१।३९॥ इस सूत्र से 'टा' को 'ड्या' आदेश होकर तृतीया के एक वचन में 'इरस्या' बन जाता है। अल्विधि होने से स्थानिवत्-भाव नहीं होता और डित् करण भी 'ड्या' के उदात्त का सूचक है।

(३) "वरुणः" ॥ १३ ॥

वरुणो व्याख्यातः ॥ २ । २१ ॥

तस्यैषा भवति—॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ ऋ० सं० मण्ड० १ । ५१ । ६ ।

भुरण्युरिति क्षिप्रनाम । भुरण्युः शकुनिर्भूरिमध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापिवोळ्हा तत्सम्पाती भुरण्युरनेन पावकाख्यातेन । 'भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि' । तन्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः ॥१२।२२।१॥ निरु०

निरुक्तकार वरुण को 'भुरण्यन्तं' कहे जाने का हेतु बतलाते हैं:— 'भुरण्युः' यह 'जल्द', 'शीघ्र' का नाम है। 'भुरण्यु' 'शकुनिः' को कहते हैं। बड़े रास्ते को ले जाता है। आकाश में गमन करने वाले लोक का भी वाहक उससे गिरने वाला (या उससे युक्त) भुरण्युः [होता] है। इसलिये पावक कहा। 'तू दूर रास्ते तक जनों को ले जाने वाले वरुण को देखता है'। इससे हम तेरा वर्णन करते हैं। यह वाक्य शेष है।

दुर्गाचार्य्य ने निरुक्त के 'जनाननु भुरण्यन्तम्' इस अंश का अर्थ अपने भाष्य में यह दिया है "पूर्वेषां पुण्यकृतां मार्गेण देवयानेन क्षिप्रं गच्छन्तमनुपश्यति' वह निरुक्तकार यास्क के अभिप्राय के विरुद्ध है। क्योंकि यदि 'भुरण्यन्तम्' 'जनान्' का विशेषण होता तो निरुक्तकार उसकी व्याख्या में बहुवचन का प्रयोग अवश्य करते। फिर निरुक्तकार यह भी बतला रहे हैं कि इस स्थल पर 'दूर का रास्ता चलने के कारण शीघ्रगामी कहा गया है" ॥

इसके अतिरिक्त दुर्गाचार्य्य के पक्ष में विना व्यत्यय माने काम नहीं चल सकता। परन्तु हमारे पक्ष में कोई व्यत्यय नहीं रहा। यह कि यदि 'वरुण' 'वरुणम्' के स्थान में परत्व से प्रयुक्त किया गया है

तो यास्क ने व्याख्या में इसको द्वितीयान्त क्यों नहीं किया। कारण वही है जो वेद में है। 'वरुण' शब्द के इस स्थल के प्रयोग में कर्म्मकारक तथा आभिमुख्य करण दोनों ही विद्यमान हैं। 'कर्म्मणि द्वितीया'॥२।३।२ से द्वितीया और 'सम्बोधने च' ॥ २ । ३ । ४७ ॥ से प्रथमा प्राप्त है। इसलिये 'विप्रतेषे परं कार्य्यम्' ॥१। ४ । २ ॥ से द्वितीया को बाधकर प्रथमा हो जाती है।

इसलिये इस मन्त्र का अर्थ यह हुआ 'मनुष्यों को दूर मार्ग से ले जाते हुए वरुण को तू (सूर्य) देखता है'।

इससे स्पष्ट है कि 'वरुण' से मतलब निरुक्तकार का 'वरुण (Neptune) ग्रह' से है।

(४) 'मित्र' का अर्थ साधारणतया 'दोस्त' होता है, परन्तु तब वह नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। परन्तु यहां पर पुलिंग है। इसलिये यदि मित्र का अर्थ यहां पर 'दोस्त' 'उपकारक' इत्यादि किया भी जावे तो अर्थ की संगति आलङ्कारिक चमत्कार द्वारा अवश्य मिल जावेगी, परन्तु साथ ही साथ 'लिङ्ग-व्यत्यय' मानना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि पुलिङ्ग 'मित्र' संस्कृत में प्रायः, 'सूर्य' के अर्थ में आता है, परन्तु यदि 'वरुणो राजा मित्रः' का अर्थ 'श्रेष्ठ चमकता हुआ सूर्य किया जावे तो "तौ" (वे दोनों) इस द्विवचन के स्थान में 'सः' (वह) ऐसा 'सुबव्यत्यय माना पड़ेगा। इसलिये 'मित्र' का अर्थ 'वारुणी (Uranus)' ही युक्तिसंगत है।

यहां पर वारुणी और वरुणग्रहों का उल्लेख अधिक दूर होने के कारण मालूम होता है।

(५) 'अवतम्' यह लङ् लकार के द्विवचन में बनता है। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' ॥ ६ । ४ । ७५॥ इस सूत्र से 'अट्' या 'आट्' आगम नहीं हुआ।

मन्त्र ८

ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् ॥

(ग्राव्णः)[१]ग्रहण करने वाले की (ब्रह्मा) वृद्धि करती हुई (युयुजानः) [ग्रहण करने वाले के साथ] योग करती हुई (सपर्य्यन्)[२]परिचरण (Revolution) करती हुई (कीरिणा)[३] [ग्रहण दृश्य को] वर्णन करने वाले अर्थात् वेधक (Observer) के द्वारा (देवान्) विद्वानों को (नमसा)[४]गति की (उपशिक्षन्)[५]साक्षात् शिक्षा देती हुई (अत्रिः) पृथिवी (दिवि) आकाश में (सूर्य्यस्य) सूर्य्य की (चक्षुः) आँख अर्थात् प्रकाश को (आधात्) धारण करती है (स्वर्भानोः) चन्द्रमा की (मायाः) मायाओं को (अप × अघुक्षत)[६] छिन्न भिन्न कर देती है ॥८॥

शास्त्रीय चर्चा

(१) ग्रावाणः ॥ ५ ॥

ग्रावाणो हन्तेर्वा, गृह्णातेर्वा ॥ २ ॥ ८ ॥ निरुक्त० अ० ९ 'ग्राव्णः' षष्ठी का एक वचन है ॥

(२) निघण्टु अ० ३ खं०५ में 'सपर्य्यति' क्रिया को परिचरणकर्म्मा बतलाया है और 'सपर्य्यन्' उसी क्रिया की धातु का 'शतृ' प्रत्ययान्त प्रथमा का एक वचन है अर्थात् Present participle है। निरुक्तकार यास्क ने भी अ० ११ खं० ९ में 'सपर्य्यतः' का अर्थ 'परिचरतः' किया है ॥

(३) निघण्टु ३ । १६ में 'कीरीः' को 'स्तोतृनामों' में गिनाया है और इस नैघण्टुकखण्ड के निरुक्त भाष्य

में महर्षि यास्क कहते हैं 'स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश (स्तोता स्तवनात्) ॥ ४ ॥ बस इतना ही कहते हैं और उस में भी दाधिमथ पण्डित शिवदत्त का कहना है कोष्ठान्तर्गत (　　) पाठ सब पुस्तकों में नहीं मिलता।

इस में शक नहीं कि 'ष्टुञ् स्तुतौ' को लोगों ने खुशामद करने के अर्थ में ही समझ रक्खा है परन्तु यदि ऐसा होता तो 'शंसुस्तुतौ' ऐसा पाणिनिजी धातु पाठ में न लिखते क्योंकि 'शंस्' का अर्थ वर्णन करना होता है ॥

इसलिये 'स्तोतृ' का मुख्य अर्थ 'वर्णन करने वाला' ही है अन्य सब अर्थ गौण हैं ॥

(४) निघण्टु ३ । ५ में 'नमस्यति' इस तिङन्त क्रिया को 'परिचरणकर्म्मा बतलाया है उसी क्रिया की धातु से 'नमस्' बनता है।

'नमस.' पद में 'सुपांसुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' ॥ ७ ॥ १ ॥ ३९ ॥ इस सूत्र से 'अम्' के स्थान में 'आ' का आदेश हुआ है ॥

(५) 'उप' उपसर्ग 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इस फिट् सूत्र से आद्युदात्त है परन्तु 'उपशिक्षन्' में समास स्वर प्रकरण के 'गतिकारकोपपदात्कृत्' ॥६॥२॥३९॥ इस सूत्र से उत्तरपद 'शिक्षन्' को आद्युदात्त प्राप्त होने से 'उपाशिक्षन्' में 'उप' को सर्वानुदात्त हो गया ॥

(६) 'दुहिर अर्दने', 'अर्द हिंसायाम्'।

अब सूक्त के अन्तिम मंत्र में यह बतलाते हैं कि सूर्य्यग्रहण किन किन सौर ग्रहों में प्रत्यक्ष देख पड़ता है ॥

मन्त्र ९

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्य१न्ये अशक्नुवन् ॥ ९ ॥

(यम्) जिस (सूर्यम्) सूर्य को (वै) निश्चय करके (आसुरः) फेंके जाते हुए अर्थात् पृथिवी की केन्द्रपराङ्मुखी शक्ति द्वारा घूमते हुए (स्वर्भानुः) चन्द्रमा ने (तमसा) छाया से (अविध्यत्) [1]छुपाया, या छुपाता है। (तम्) उस चन्द्रपिण्ड से आच्छादित सूर्य्य को (अत्रयः) [2]तीन अर्थात् बुध, शुक्र, और अवान्तरग्रहसमूह के अतिरिक्त अवशिष्ट सब ग्रहों ने (अनु × अविन्दत्) प्रत्यक्ष देखा या प्रत्यक्ष देखते हैं (अन्ये) दूसरे (नहि) नहीं (अशक्नुवन्) [1]देख सकते ॥

शास्त्रीय चर्चा

(१) 'अविध्यत्' और 'अशक्नुवन्' में 'वैवावेति चच्छन्दसि ॥ ८ ॥ १ ॥ ६४ ॥' और 'एकान्याभ्या समर्थाभ्याम्' ॥ ८ ॥ १ ॥ ६५ ॥ इन सूत्रों से क्रमशः वैकल्पिक निघात प्रतिषेध हुआ है ॥

(२) तीन से 'बुध', 'शुक्र' और 'अवान्तरग्रह समूह' का ग्रहण इसलिये है कि इन ग्रहों का कोई उपग्रह यानी चन्द्र नहीं है इसलिये इनमें सूर्य्यग्रहण होने के कारण ये लोग सूर्य्यग्रहण को प्रत्यक्ष नहीं जान सकते।

शायद कोई यह कहे कि यदि शुक्र का कोई उपग्रह नहीं है तो क्या हुआ ? क्या शुक्र और सूर्य्य के बीच में बुध के आने से शुक्रवासियों को सूर्य्यग्रहण नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि उपग्रह अपने ग्रह के इतना समीप होता है कि उसका पैदा किया हुआ ग्रहण चिरस्थायी होता है, परन्तु ग्रह एक दूसरे

से इतनी दूरी पर हैं कि उनकी उपक्रान्ति (transition) कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकती।

आपका छाता आपके सर पर होने से भले ही सूर्य्य को आपकी आंखों से छिपा ले, परन्तु वही छाता जब आपके सर के ऊपर एक मील की ऊंचाई पर विराजमान होगा तब बीरबल की खिचड़ी के करिश्मे के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता।

इन रोचक बातों को जो अधिक समझना चाहते हों वह कोई न कोई वर्णनात्मक ज्योतिष ग्रन्थ अवश्य पढ़ें। क्योंकि वेद में सभी विद्याओं का ज्ञान बीजरूप से है। यदि ऐसा न होता तो परमात्मा के ऊपर मनुष्य को आलसी बनाने का जुर्म आयद् हो जाता, परन्तु जितने आरम्भिक ज्ञान के विना मनुष्य सदैव मूर्खातिमूर्ख रहकर भटकता फिरता, उतना ज्ञान उसने मनुष्य को तवहुम परस्ती इत्यादि से बचाने के लिये अवश्य दे दिया और स्थान स्थान पर ज्ञानवृद्धि के लिये उपदेश किया जिससे मनुष्य ज्ञान के सदुपयोग से सुखी हो सके।

वैदिक राष्ट्र-गीत

[श्री पं० सूर्यदेवजी शर्मा साहित्यालंकार M.A.L.T.]

[७]

(५६)

ये ग्रामा यदरण्यं या· सभा आधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥

सभा समिति जो मातृ भूमि में,
वन उपवन वा जो पुर ग्राम।
हित की बात करें हम सब की,
चाहे हो भीषण संग्राम।

(५७)

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान्
य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा
वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्॥

जो पृथ्वी में बसे आदि से,
अथवा द्वन्द्व युद्ध पश्चात।
जैसे अश्व धूलि को फेंके,
कम्पित करे सकल जन जात।
वही वनस्पति ओषध सब को,
करती ग्रहण निकट वा दूर।
रक्षा करे जगत् की नेत्री,
दे आनन्द सदा भरपूर।

(५८)

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः॥

जो कुछ कहें देश हित बोलें,
जो देखें हो देश सहाय।
ज्ञानवान् तेजस्वी होकर,
मारें देश शत्रु जन जाय।

(५९)

शन्तिवाँ सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥

शान्ति विधायक सुरभित सुखदा,
माता पयस्वती सह अन्न ।
दुग्ध वारि आदिक से पृथ्वी,
हम को करे सदा सम्पन्न ।

(६०)

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं[1] पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन् मातृमद्भ्यः ॥

नभ प्रविष्ट पृथ्वी को चाहे,
कर्त्ता श्रद्धा भक्ति समेत ।
मातृ भक्त के लिये प्रकट हो,
भोजन पात्र गुहा स्थित खेत ।

(६१)

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।
यत् त ऊनं तत् त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥

काम धेनु सम जनसुखदात्री,
माता करती उपज महान् ।
जो कुछ कमी रहे तेरे में,
पूरण करे प्रजापति आन ।

(६२)

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

यक्ष्मा रोग रहित रक्षित हों,
माता तेरी सब सन्तान ।
ज्ञानी दीर्घ आयु को भोगें,
तुझ पै हों सारे बलिदान ।

(६३)

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रिया मा धेहि भूत्याम् ॥

अहो मातृ भू ! मुझ को दीजै,
मेधा मंगल मोद महान् ।
पण्डित पूज्य कवीश्वर कीजै,
दे सम्पत्ति सुयश सन्मान ।

इत्योम् ॥

पुनर्जन्म

(श्री पं० सत्यव्रतजी, सिद्धान्तालंकार)

(२)

पुनर्जन्म-साधक युक्तियां

बीड (Bede) लिखता है कि एक बार नौर्थम्ब्रिया का राजा एड्विन सरदारों की मण्डली से घिरा हुआ विवाद कर रहा था कि अभी जो पौलिनस (Paulinus) नामक ईसाई प्रचारक हमारे देश में आया है उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाय ? कइयों ने कहा, उसे यम के द्वार पहुंचा दिया जाय । कइयों ने कहा, उसकी बात सुन

※ इसका पूर्व भाग, वै० वि० २ य वर्ष अङ्क ६ में प्रकाशित हो चुका है ।

ली जाय। कइयों ने कहा, जब हमारा ड्रुइड् धर्म (Druidism) ही सब कठिनाइयों को हल कर देता है तब इसका निपटारा कर देना ही ठीक मालूम पड़ता है। कई उसके हक़ में थे, कई विरोध में थे। राजा ने अपने एक पुराने सलाहकार से पूछा तो उसने खड़े होकर कहा कि महाराज ! आपने अभी देखा होगा कि इस भवन में एक चिड़िया बाहर की ठंडी हवा से बचने के लिए घुसी थी और आग के सामने पंख फड़फड़ाती हुई दूसरी खिड़की से निकल गई। मानव जीवन भी ऐसा ही है। यह कहां से आता है, कहां जाता है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः यदि पौलिनस का धर्म इस पर प्रकाश डाल सके तो वह अवश्य दैवीय होगा और तब उसकी बात को मान लेना अनुचित न होगा। वृद्ध पुरुष की सलाह को स्वीकार कर लिया गया और पौलिनस को 'आत्मा' कहां से आई, कहां जाती है, इन प्रश्नों का ईसाईमत के अनुसार हल बताने को कहा गया।

आज हम भी उन्हीं प्राचीन लोगों की स्थिति में हैं। आज हमारे सामने भी वही प्रश्न है, आत्मा कहां से आता है, कहां चला जाता है ? प्रत्येक धर्म इस प्रश्न का अपनी तरह से हल करने का प्रयत्न करता है, परन्तु क्या हमें पुनः समाधानों से सन्तोष होता है ? पौलिनस ने इस प्रश्न का ईसाइयत की तरफ़ से जो कुछ भी समाधान दिया हो परन्तु वर्तमान ईसाइयत तो बहुतों के लिये सूखे भुस के समान हो रही है। कई प्राणियों की भुस से ही भूख मिट सकती है, उन्हें उससे सन्तोष हो सकता है परन्तु जिनकी भुस से तृप्ति नहीं हो सकती उनके लिये ईसाइयत के समाधान की अपेक्षा कुछ अधिक जानने की आवश्यकता है। यह ज्ञान केवल मानसिक उत्सुकता को मिटाने के लिये ही नहीं, प्रत्युत भोजन की तरह मनुष्य जीवन के लिए आवश्यक है।

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ईसाई-मन्तव्य

वर्तमान ईसाइयत का आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रश्न पर कहना यह है कि आत्मा को जीवन के इस चोले के साथ ही पहली वार पैदा किया गया है परन्तु इस जन्म के बाद आत्मा अमर बना रहेगा, या वह स्वर्ग में चला जायगा, या नरक में जा पड़ेगा, आत्मा उत्पन्न तो होता है पर नष्ट नहीं होता। इस्लाम में भी आत्मा के सम्बन्ध में इसी विचार की कल्पना की गई है। यह विचार साधारण दृष्टि से ठीक मालूम पड़ता है लेकिन इतिहास साक्षी है कि साधारण दृष्टि की बातें आगे चलकर सचाई की बातें नहीं साबित होतीं। टोलमी (Ptolomy) पृथ्वी को जगत् का केन्द्र मानता था परन्तु कोपर्निकस (Copernicus) और गेलिलियो (Galileo) ने एक शताब्दी बाद इस विचार को पलट दिया। साधारण दृष्टि से विचार करना तो आत्मा की उस निचली अवस्था का अवशेष है जिस में वह मोटी तौर पर जो देखता था उसे मान लेता था। संसार में हम जो कुछ मोटी तौर पर देखते है प्रायः उससे उल्टा साबित हो जाया करता है।

जब यह पूछा जाता है कि संसार में दुःख, अन्याय, असमानता क्यों हैं तो एक ईसाई या मुसल्मान कहता है कि इन का आगे चलकर प्रतीकार हो जायगा। उत्तम कार्यों के लिये दुःख उठाने वाले स्वर्ग में सुख का उपयोग करेंगे; इस दुनियां में मस्त होकर चैन की बंसी बजाने वाले नरक की धधकती आग में अनन्त

काल तक दुःख उठायेंगे। वह इस बात को स्वीकार करता है कि यदि सृष्टि इतनी ही हो जितनी दीखती है तो परमात्मा न्यायी तथा उदार नहीं हो सकता।

संसार का अन्तिम नियम प्रेम, सुख तथा शान्ति का नियम होना चाहिये यह प्रत्येक व्यक्ति का अन्तरात्मा गवाही देता है परन्तु संसार में पाप और दुःख भी हैं, ऐसे पाप और ऐसे दुःख जिन के लिये अनेक अवस्थाओं में हम जिम्मेवार नहीं होते। ये पाप, ये दुःख कहां से आये? अगर हम इस जीवन में पहली ही वार उत्पन्न हुए हैं तो धार्मिक व्यक्तियों को दुःख उठाने का क्या मतलब है? इस समस्या को हल करने के लिये कई लोग तो कहने लगते हैं कि संसार में केवल जबर्दस्त का नियम काम कर रहा है। जिसकी लाठी उसकी भैंस। धार्मिक हो तो क्या, अगर कमजोर हो तो पिटते ही जाओगे। ईसाइयत तथा इस्लाम इस समस्या का हल करने के लिये भविष्य जीवन को मान लेते हैं। वे कहते हैं कि इस समय जो पाप करते हुए भी सुख भोग रहे हैं इन्हें इस जीवन के बाद नरक भोगना पड़ेगा, और अनन्त काल तक वे नरक ही भोगते रहेंगे; इसी प्रकार जो लोग पुण्य करते हुए भी दुःख उठाते दीख पड़ते हैं वे स्वर्ग में जायंगे और अनन्त काल तक स्वर्ग का आनन्द उठायेंगे। परन्तु अगर भविष्यत् जीवन को मान कर भी हम इस समस्या का हल करना चाहें तो भी प्रश्न बना रहता है कि सब को इस जीवन में समान अवस्थाएं क्यों नहीं दी गई? जब हम सब को संसार में पहली वार ही उत्पन्न किया गया तब न्याय यही है कि सब को समान परिस्थितियां दी जांय। इस प्रश्न का उत्तर पुनर्जन्म के सिवाय अन्य किसी प्रकार से नहीं दिया जा सकता।

प्रकृतिवादियों की दृष्टि

प्रकृति वादियों की दृष्टि ईसाइयों तथा मुसल्मानों के विचार से अधिक युक्ति संगत प्रतीत होती है। वे मानते हैं कि इस जन्म से ही आत्मा का आरम्भ होता है और यहीं उस की समाप्ति हो जाती है। अन्धी प्राकृतिक शक्तियों से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है और इन शक्तियों से मिलकर काम न करने से आत्मा का नाश हो जाता है। अणु अनन्त हैं, उन्हीं के कारण जीवित प्राणी भी नाना हैं। अणु मिल गये तो आत्मा उत्पन्न हो गया, अणु हट गये तो आत्मा नष्ट हो गया। परन्तु प्रकृतिवादी भी इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सकते कि इतने थोड़े अणु आत्मिक संसार की इतनी अनन्तता को कैसे पैदा कर देते हैं? इस के अतिरिक्त विज्ञान धीरे २ आत्मा की मृत्यु के अनन्तर सत्ता का सर्वथा निषेध करने के स्थान पर आत्मिक क्षेत्र की तरफ़ भी पग बढ़ा रहा है और ऐसी घटनाओं का पता लगाता जा रहा है जिन्हें अतीन्द्रिय कहा जा सकता है। आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार की गवेषणाओं को विज्ञान द्वारा ही किया जा रहा है और इस प्रकार के विज्ञान का नाम 'साइकिकल रिसर्च' रखा गया है। ऐसी गवेषणाओं का परिणाम यह होगा कि विज्ञान प्राकृतिक जगत् की घटनाओं के अतिरिक्त इन्द्रियातीत जगत् की घटनाओं को भी यथार्थ स्वीकार करने लगेगा। इस दिशा की तरफ़ विज्ञान ने क़दम बढ़ाना शुरु भी कर दिया है। आइज़क टेलर की पुस्तक Physical theory of a future life तथा स्टुअर्ट एवं टैट की पुस्तक Unseen Universe इस का प्रमाण है। पुनर्जन्म की दृष्टि से 'विकासवाद' का सिद्धान्त बहुत अधिक स्पष्ट हो जाता है। पुनर्जन्म'

तथा 'विकास' तो एक ही अभिप्राय को प्रकट करने वाले दो पृथक् २ शब्द हैं।

पुनर्जन्म की साधक युक्तियां

पुनर्जन्म को सिद्ध करने की मुख्यतया निम्न सात युक्तियाँ हैं:—

(१) अमरता का विचार।

(२) उपमान प्रमाण।

(३) विज्ञान भी इसे सिद्ध करता है।

(४) आत्मा का स्वरूप भी पुनर्जन्म की साक्षी देता है।

(५) अनेक धर्मों की पहेलियों को यह हल कर देता है।

(६) अनेक अज्ञेय अनुभवों का इसी से समाधान हो सकता है।

(७) अन्याय तथा दुःख की सत्ता के प्रश्न को यही मसला हल कर सकता है।

(१) अमरता का विचार

प्रत्येक पदार्थ के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण ढूंढने वाले लोग तो आत्मा की अमरता में विश्वास करते ही नहीं। वे कहते हैं कि आत्मा दीखता नहीं इसलिये वह है भी नहीं। ईसाई तथा मुसल्मान आत्मा को अनन्त तो मानते हैं, परन्तु अनादि नहीं मानते। विचारपूर्वक देखा जाय तो आत्मा के अनन्त मानने में सब से प्रबल युक्ति यही है कि आत्मा अनादि है। जो चीज समाप्त नहीं होती वह प्रारम्भ कैसे हो सकती है ?। जो चीज समय में प्रारम्भ होगी वह समय में समाप्त भी हो जायगी। इस दृष्टि से तो प्रत्यक्षवादियों का विचार ईसाइयों के विचार से कहीं अधिक युक्तियुक्त है। उनका कथन है कि यदि आत्मा इस जीवन के लिये उत्पन्न हुई है तो वह इस जीवन के आगे क्यों रहे ? अगर कोई आत्मा को अमर मानता है तो उसके लिये आत्मा को अनादि मानना तो जरूरी हो जाता है। श्री कडवर्थ ने लिखा है कि इसी युक्ति के आधार पर ग्रीक दार्शनिक आत्मा को अमर मानते थे, उनका कहना था कि आत्मा अमर है इसीलिये अनादि भी अवश्य है। जो आत्मा को शरीर के साथ पैदा तथा शरीर के साथ नष्ट होने वाली मानते थे उनके प्रति उनका कहना यह था कि सत्तावाली वस्तु अभाव से उत्पन्न नहीं हो सकती, न ही उसका अभाव में अन्त हो सकता है। अपनी सत्ता के विषय में किसे निश्चय नहीं है ? जब हमारी सत्ता है तो वह अभाव से पैदा नहीं हो सकती। इसी प्रकार इस सत्ता का अभाव में अन्त नहीं हो सकता। आत्मा की सत्ता अनादि काल से चलकर अनन्त काल तक रहनी चाहिए।

जो लोग आत्मा को अमर मानते हैं उनका आत्मा को अमर मानने का स्वाभाविक विश्वास आत्मा के अनादि होने के सिद्धान्त को सिद्ध करता है। ईसाई तथा मुसल्मान कहते हैं कि हमें विश्वास है कि मृत्यु के परिवर्त्तनों में भी जीवन स्थिर रहेगा। क्या इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे जीवन आने वाली मृत्यु के परिवर्त्तनों में स्थिर रहेगा वैसे ही वह हो चुकी मृत्युओं के परिवर्त्तनों में भी स्थिर रहा है। आत्मा जीवन तथा मृत्यु के क्षेत्र से बाहिर है। हमारी पीठ भूत की तरफ है इसलिये हम उन युक्तियों को भूत के साथ नहीं लगाते जिन्हें भविष्यत् के साथ लगाकर अमरता को मानते हैं। वास्तव में तो जितने भी अमरता के प्रमाण हैं वे सब के सब आत्मा की अनादिता में भी दिये जा सकते। दीर्घ जीवन की आशा, प्रकृति

के दृष्टान्तों के साथ तुलना; अनेक व्यक्तियों का आत्मा की अमरता में आध्यात्मिक विश्वास; आत्मा (Ego) का अखण्डित रूप से जीवन भर वैसे का वैसा बने रहना; नाश अथवा अत्यन्ताभाव का कल्पित न कर सकना; वर्त्तमान जीवन में असमाप्त कार्यों को पूरा करने के लिये जीवन के बढ़ने की आशा का होना और अमरता के अतिरिक्त अन्य किसी विश्वास का अयुक्त होना आदि ऐसी युक्तियां हैं जो यदि आत्मा की अमरता को सिद्ध करती है तो उसी प्रकार आत्मा की अनादिता को भी सिद्ध कर देती हैं।

ईसाइयों का विश्वास है कि सृष्ट्युत्पत्ति के समय आत्मा की भी खास तौर पर उत्पत्ति की गई, परन्तु यदि यह विश्वास ठीक हो तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होना चाहिये कि मृत्यु के समय आत्मा का नाश हो जाय, परन्तु इसे मानने को वे तैय्यार नहीं। ऐसी अवस्था में ईसाइयों के लिये भी युक्तिसंगत बात यही प्रतीत होती है कि वे शरीर के साथ आत्मा की उत्पत्ति मानने के बजाय आत्मा को अनादि मानें। आत्मा को अमर या अनन्त मानना उस के अनादि होने पर ही निर्भर है। अनादि न मानकर अनन्त मानना अपने को तर्क की उलझनों में फंसा लेना है। आत्मा की उत्पत्ति कैसे हुई, वह अगर अनादि है तो भी कैसे आया, कहां से आया आदि विषय ऐसे हैं जिन पर हम यहां विचार नहीं कर रहे। क्या आत्मा परमात्मा का ही एक अंश है, क्या वह विवर्त्त का परिणाम है, क्या वह एक स्वतन्त्र सत्ता है इत्यादि विचारों में से भले ही कोई सत्य सिद्धान्त हो परन्तु हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि आत्मा का स्वरूप अनादिता तथा अनन्तता का है। न ही हम यह मान सकते हैं कि आत्मा अनादि तो है, फिर भी इस जीवन में पहली वार ही प्रविष्ट हुआ है। स्वाभाविक विश्वास यही प्रतीत होता है कि अगर आत्मा अनादि है तो जिस प्रकार इस समय जीवन के क्षेत्र में से गुज़र रहा है इसी प्रकार अनेक जीवनों में से गुज़रता चला आ रहा है।

(२) सादृश्य

उपमान प्रमाण भी पुनर्जन्म के पक्ष में है। शताब्दियों से आत्मा की अमरता को दर्शाने के लिये तितली का दृष्टान्त दिया जाता रहा है। तितली एक ही जन्म में भिन्न २ रूप धारण करती है, और उसका पहला रूप दूसरे रूप से सर्वथा भिन्न होता है। तितली के जीवन से ऐसा मालूम होता है मानो हमारे सामने २ उसने एक ही जीवन में कई चोले बदल डाले हों। इस दृष्टान्त को देकर कहा जाता रहा है कि मृत्यु केवल एक ऊंचे जीवन की दशा में ले जाने की प्रक्रिया का नाम है। यह जीवन केवल गर्भावस्था है जो मनुष्य को आगे ले जाती है। परन्तु इसी युक्ति के आधार पर क्या यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन पूर्वावस्था की मृत्यु का परिणाम है। मनुष्य की गर्भावस्था उसकी पूर्वावस्था के विना नहीं हो सकती। इतनी विशाल तथा आश्चर्यजनक रचना का आधार शून्य नहीं हो सकता। इतनी शक्ति विना पूर्व शक्ति के धक्के से यहां तक नहीं आ सकती। इमर्सन (Emerson) ने ठीक कहा है कि हम जाग कर उठते हैं और अपने आप को सीढ़ी के एक पाये पर पाते हैं। हमारे नीचे भी सीढ़ियां हैं जिन पर से चढ़कर हम आये हैं, हमारे ऊपर भी सीढ़ियां हैं जिन के ऊपर हम ने अभी चढ़ना है।

सृष्ट्युत्पत्ति का नियम नाश का नहीं, अपितु परि-

उत्पत्ति का नियम है। हर एक चीज एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। टैडपोल मछली बन जाता है, मछली मेंडक की शक्ल में आ जाती है और कई मेंडक पक्षी बन जाते हैं। प्रकृति में इसी सिद्धान्त को देख कर ग्रीक तथा अन्य प्राचीन गाथाओं में ऐसी कहानियां कही गई हैं जिन में देवी देवता एक ही जन्म में भिन्न २ शरीर तथा भिन्न २ आकृतियां धारण कर लेते हैं। विकासवाद के सिद्धान्त ने हमारे विचारों में बहुत क्रान्ति मचा दी है और इतिहास, ज्योतिष शास्त्र तथा शरीर शास्त्र के विचारों में पहले की अपेक्षा बहुत परिवर्तन हो गया है। ईसाइयत के समय ज्योतिःशास्त्र के जिन सिद्धान्तों को हम मानते थे उन्हें अब नहीं मान रहे। जितना हम अध्ययन करते हैं उतना ही विकास का विचार विस्तृत क्षेत्र में घटता हुआ मालूम हो रहा है। शरीर का किन २ अवस्थाओं में विकास हुआ, सृष्टि के प्रारम्भ में वह किन अवस्थाओं में था, उसके बाद क्या २ अवस्थायें आती गईं, इन सब बातों का वर्त्तमान विज्ञान ने बहुत अच्छी तरह अध्ययन किया है। अब शरीर के विकास को जानने के बाद हमारा कर्त्तव्य है कि हम आत्मा के विकास को भी जानने का प्रयत्न करें।

जीवन शास्त्र हमें बतलाता है कि हम उत्पन्न होने से पूर्व गर्भावस्था में मछली, सांप, कुत्ता, बन्दर आदि की शक्लों में से होकर गुजरते हैं। विकासवादियों का कथन है कि इन भिन्न २ जीवनों में गुजरने के बाद ही मनुष्य का विकास हुआ है और गर्भावस्था में इन सब अवस्थाओं का दोहराया जाना इसी कारण होता है क्योंकि मनुष्य वर्त्तमान अवस्था में इन सब अवस्थाओं को पार करके ही पहुंचा है। प्रकृति ने मनुष्य की रचना सहस्रों वर्षों के परीक्षणों के बाद की है और उन्हीं परीक्षणों की एक झांकी गर्भावस्था में होने वाले परिवर्तनों में दीख जाती है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर की वर्तमान अवस्था एक दम उत्पन्न नहीं हुई, प्रकृति के अनेक प्रयासों के बाद वर्तमान शरीर उत्पन्न हुआ है इसी प्रकार आत्मा की वर्तमान अवस्था को भी पूर्व प्रयासों का परिणाम क्यों न समझा जाय? इन्हीं पूर्व प्रयासों के परिणाम का नाम पुनर्जन्म है। विकासवाद हमें बतलाता है कि मनुष्य का भौतिक अंश परिवर्तन की अनेक शृङ्खलाओं का परिणाम है जिनमें से प्रत्येक कार्य होती हुई अगली अवस्था का कारण है। क्या मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता के विषय में, आत्मा के विषय में भी यही सचाई लागू न होगी? अगर होगी तो इसी को तो पुनर्जन्म कहते हैं।

(३) विज्ञान भी इसे सिद्ध करता है

(क) आत्मा को इस संसार के लिये ही पैदा किया गया है यह विचार विज्ञान के विरुद्ध है। विज्ञान का नियम है कि उत्पत्ति तथा नाश निरर्थक शब्द हैं। जो वस्तु आज एक दम उत्पन्न होती हुई दिखाई देती है उसका भी पूर्ण कारण (Sufficient Cause) मौजूद है, चाहे वह कारण बादलों को बनाने वाले वाष्प की तरह ही अदृश्य क्यों न हो? तथा आधिभौतिक आध्यात्मिक विज्ञानवादी इस बात को मानते चले जा रहे हैं कि संसार में शक्ति (Force) तथा पदार्थ (Matter) की मात्रा घटती बढ़ती नहीं। उनकी शक्ल में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उनमें उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। नष्ट होती हुई चीज आंखों से ही ओझल होती है वास्तव में वह प्रकृति में रूपान्तर में उपस्थित ही रहती है। इसे शक्ति-संचय (Conser-

vation of energy) का नियम कहा जाता है। भौतिक जगत् का यह नियम आध्यात्मिक संसार में भी सत्य है। संसार की शक्ति का सञ्चय न तो घटता ही है, न बढ़ता ही है, परिवर्तित अवश्य होता रहता है। विज्ञान आत्मा के एक दम अभाव से उत्पन्न किये जाने के चमत्कार को स्वीकार नहीं कर सकता हां, वर्तमान वस्तु से अन्य वस्तुओं का उत्पन्न होना रोजमर्रा की घटना है। अतः आत्मा का पूर्वस्थित अवस्था से अनेक जन्मों में से गुजरना विज्ञान के सर्वथा अनुकूल है।

(ख) इसके अतिरिक्त विज्ञान का आधार कार्य कारण का नियम है। यह नियम भी हमारे कथन की पुष्टि करता है। मनुष्य में पार्थिव भोगों को भोगने की उत्कट लालसा है। वह प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में पैदायश से ही मौजूद रहती है। इसका क्या कारण है। यही कि उसे पूर्व जन्मों के अनेक पार्थिव अनुभव हैं जो उसकी प्रकृति में रच गये हैं। इसीप्रकार मनुष्य की अतृप्त पार्थिव इच्छाएं भी हमें यह मानने पर बाधित करती हैं कि आत्मा के अनेक पार्थिव शरीर होंगे जिनमें वह अतृप्त इच्छाओं को पूर्ण करेगा। मनुष्यों में सब प्रकार के अनुभवों में से गुजरने की एक अपूर्व प्रबल इच्छा पाई जाती है इस इच्छा का वर्तमान होना ही हमें पूर्वजन्म में विश्वास दिलाने के लिये पर्याप्त होना चाहिये। यह इच्छा विना कारण के नहीं हो सकती क्योंकि संसार में कार्य कारण का नियम काम कर रहा है। जो इच्छाएं हमारे भीतर कार्य रूप में मौजूद हैं और उनका इस जन्म में कारण नहीं मिलता उनका कारण पिछले जन्म में मानना पड़ेगा, इसी प्रकार जो इच्छाएं हमारे भीतर कारण रूप में मौजूद हैं और उनका इस जन्म में कार्य नहीं हुआ उनके कार्य रूप में लाने के लिये अगला जन्म मानना पड़ेगा।

(ग) शरीर शास्त्रज्ञों का कथन है कि इस आश्चर्यजनक मनुष्य शरीर की रचना केवल प्रकृति ने स्वयं ही कर ली हो यह नहीं माना जा सकता। इस अद्भुतरचना को देख कर कल्पना होती है कि शरीर के उत्पन्न होने से पूर्व कोई न कोई वैयक्तिक शक्ति शरीर से पृथक् व्यक्ति रूप से अपनी सत्ता रखने वाली शक्ति, होनी चाहिये जो प्राकृतिक शक्तियों को इकट्ठा करके एक खास उद्देश्य से भिन्न २ प्राकृतिक पदार्थों को जोड़ लेती है। इसी भाव को प्रकट करने के लिये सांख्यकारिका ने कहा है, "संघातपरार्थत्वात्" अर्थात् प्रकृति समूह है वह प्रकृति का ही जोड़ा हुआ और प्रकृति के ही उपभोग के लिये नहीं है। स्वयं बिस्तरे पर बिस्तरा नहीं सोता, वह किसी सोने वाले के लिये बिछाया जाता है। नहीं स्वयं बिस्तरे को बिस्तरा बिछा लेता है। उसे कोई बिछाने वाला ही बिछाता है। बिस्तरे की तरह ही शरीर है। यह भी संघात है। शरीर प्राकृतिक पदार्थों का बना हुआ है। प्राकृतिक पदार्थों ने ही प्राकृतिक पदार्थों का संग्रह करके शरीर की रचना कर दी हो यह नहीं माना जा सकता। इस कार्य के लिये शरीर से भिन्न किसी अन्य शक्ति को मानना जरूरी है। इसी शक्ति को Dynamic Agent या आत्मा कह सकते हैं। यह शरीर की रचना से पूर्व वर्तमान होना चाहिये, क्योंकि शरीर उस पर आश्रित है। बोलियर तथा जर्मन विद्वान् मूलर (Muller), हार्टमैन(Hartman) स्टेहल (Stahl) आदि ने शरीर-रचना-शास्त्र से यह

दर्शाने का प्रयत्न किया है कि शरीर की रचना से पहिले कोई शक्ति (Pre-existent soul monad) माननी चाहिये। यही शक्ति शरीर के भिन्न २ अंगों की रचना करती रहती है, उनकी मरम्मत करती रहती है, उनका निर्माण करती रहती है। जैसे पक्षी अपना घोंसला बनाता है वैसा ही आत्मा अज्ञात रूप से अपने योग्य शरीर की रचना करता है। यह तो अनेक वैज्ञानिक मानते हैं कि शरीर में जब चोट आदि लग जाती है तो मन की किसी अज्ञात शक्ति द्वारा स्वयं उसका इलाज होता रहता है। शरीर से ऊंची कोई शक्ति शरीर को अपना चोला समझती हुई उसे अपने काम में लाती है और समय समय पर उसकी मरम्मत भी करती रहती है। प्लेटो ने इसी भाव को बड़े अच्छे शब्दों में प्रकट किया है। वह कहता है कि आत्मा अपना कपड़ा स्वयं ही बुनकर उसे नया बनाता रहता है।

कई प्रकृतिवादी कहते हैं कि जिस प्रकार मशीन के चलने से उसमें से शक्ति उत्पन्न होती है इसीप्रकार शरीर के बनने के बाद शक्ति आती है। यह शक्ति, अर्थात् आत्मा शरीर से पहिले नहीं होता। परन्तु अगर यह बात ठीक है कि शरीर की रचना शरीर द्वारा नहीं हो सकती उस रचना के लिये शरीर के अतिरिक्त आत्मा मानने की जरूरत है जो शरीर का स्वामी और शरीर को बनाने वाला है तो मानना पड़ेगा कि आत्मा की स्वतंत्र शक्ति है वह शक्ति शरीर पर आश्रित नहीं। इसी बात को प्लेटो भी कहता है कि आत्मा में स्वाभाविक शक्ति होती है जो बनी रहती है। क्योंकि आत्मा शरीर से पुराना है, और क्योंकि पार्थिव जीवन में आने के उद्देश्य को आत्मा एक ही जन्म में पूर्ण नहीं कर सकता अतः आवश्यक है कि इस अनुभव को दोहराया जाय। इसीका नाम पुनर्जन्म है।

(घ) विकासवाद का विचार भी पुनर्जन्म को पुष्ट करता है। अनुभव के विद्यालय में आत्मा का क्रम-विकास हमें यह मानने के लिये बाधित करता है कि आत्मा के लिये एक शरीर ही नहीं परन्तु अनेक शरीर चाहियें। जब एक प्रकार के प्राणी शरीर को दूसरे प्रकार के शरीर में बदलने के लिये प्रकृति को सहस्रों वर्ष लगते हैं तब आत्मा को पूर्ण विकसित होने के लिये एक ही शरीर अथवा ७०—८० वर्ष कैसे पर्याप्त हो सकते हैं।

विकासवाद हमें यह बतलाता है कि Instincts केवल परम्परागत-प्रवृत्तियों का परिणाम है, भूत अनुभवों का वर्त्तमान रूप है, ये अनुभव प्राणियों ने विकास के मार्ग में से गुजरते हुए प्राप्त किये थे और आगामी आने वाली सन्तति को दे दिये थे। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वालों का यह कहना है कि मानव जगत् के पूर्व जन्मों के अनुभव वर्त्तमान जन्म में स्मृति में बन्द होकर आते हैं। विकासवाद का पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर कहता है कि प्राणी के विकास में भिन्न २ परिवर्तनों के होते हुए भी एक अविकल शक्ति (Constant Energy) विद्यमान रहती है। हमारा कहना है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी एक अविकल शक्ति (Constant Energy) रहती है और इसीको आत्मा कहा जाता है। यह आत्मा भिन्न २ शरीरों के होने पर भी अविकल रूप से एक ही बना रहता है।

हम बाह्य जगत् का ज्ञान-इन्द्रियों से ग्रहण करते

हैं। हमें कहने का अधिकार नहीं है कि इन्द्रियां केवल पांच हैं। विकासवाद का कहना है कि हमें वर्तमान अवस्था में पहुंचने से पहिले भिन्न २ अवस्थाओं में से गुजरना पड़ा था और हमारे विकास में ऐसी अवस्था भी थी जब हमें अपनी इन्द्रियों से उतना ज्ञान प्राप्त न होता था जितना अब होता है। इस समय भी अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जिनका दूसरे प्राणियों को ज्ञान है, परन्तु हमें नहीं। क्या इससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि समय आयेगा जब प्रकृति की संपूर्ण शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर सकने योग्य हमारी इन्द्रियां हो जायंगी और अनेक बन्द दरवाजे हमारे लिये खुल जायंगे। इसलिये विकास ही हमें इस बात का विश्वास दिलाता है कि यदि आज हम में आत्मा के पुनर्जन्म के जानने योग्य इन्द्रियां नहीं हैं तो इसका यह मतलब नहीं कि हमारी सदा यही अवस्था बनी रहेगी। समय आ सकता है जब हम उन बातों को अनुभव करने योग्य हो जायें जिन्हें आज हम नहीं जान सकते।

(असमाप्त)

हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी

[रच०—श्री पं० लक्ष्मीनारायण विद्याभास्कर, महाविद्यालय ज्वालापुर]

देदीप्यमान मुखमण्डल तेज धारी
आजन्म सत्यव्रत पालक ब्रह्मचारी।
योगी त्रिकाल जन कर्म विशेष ज्ञानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥

सम्पूर्ण वेद सब अंग-उपांगवेत्ता
थे विज्ञ चौंसठकला अरु शिल्प के जो।
विद्याधरीकृत किये सब देश मानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ २ ॥

था देश पूर्ण धन-धान्य-समृद्धिशाली
निर्द्वन्द्व मानव यहां अति शक्तिशाली।
थे युद्धवीर नर क्षत्रकुलाभिमानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ ३ ॥

थे वृद्ध भीष्म शर-विष्टर मध्य लेटे
कोई न आह निकली वर वीर ऐसे।
है कौन वीर अब क्षत्र कुलाभिमानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ ४ ॥

कूदे समुद्र सब राक्षस वीर मारे
ब्रह्म प्रताप सब देख पिशाच हारे।
लंका जलाय हनुमान हुए न मानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ ५ ॥

संसार देख महिमा गरिमा यहां की
आश्चर्य मुद्रित हुआ यह सोचता था—
हैं धन्य मानव यहां जग में सुजानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ ६ ॥

विद्वान् परिडत कवि कविता बनाते
मुद्रा तुरन्त बहु-विज्ञ असंख्य पाते।
हा ! भोजसा नहीं रहा अब कोई दानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ ७ ॥

विख्यात पुष्पक विमान यहां हुआ है
प्रख्यात सेतु जब सागर का बंधा है।
अब शिल्प में न लघुहस्त कोई सुजानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ ८ ॥

हा हा प्रसिद्ध वह आज न बाणविद्या
सद्यः प्रभाव भरिता-भवहृद्य हृद्या।
हा ! दुःख ये अब हुई गुजरी निशानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥ ९ ॥

शास्त्रार्थ में पटु यहां शुक सारिका थे
प्राचीन संस्कृति पटु सब ग्राम के थे।
हा ! दुःख वह सब हुई अब तो कहानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥१०॥

विद्वत्तमा अब रही, न तिलोत्तमा है,
लीलावती गणितकर्त्री यहां कहां है ?
हा ! ये सभी मनगढ़न्त हुई कहानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥११॥

हा ! कालिदास कवि पण्डित माघ ! कासि ?
हा ! बाण प्राण कवि भूषण हर्ष ! यासि !
हा ! दुःख आज भवभूति कहां सुजानी
हा ! सभ्यता नहीं रही अब वह पुरानी ॥१२॥
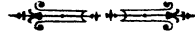
आर्य संस्कृति के शिखर

[गुरुकुल विद्यामन्दिर सूपा के दशम वार्षिक महोत्सव के अवसर पर नवप्रविष्ट ब्रह्मचारियों के वेदारम्भ संस्कार के अन्त में दिया हुआ गुर्जरकविसम्राट् श्रीयुत् नानालाल दलपतराम महोदय का मांगलिक प्रवचन । अनुवादक—श्री शंकरदेवजी विद्यालंकार]

ब्रह्मचारियों तथा आर्य बन्धु भगिनियो,

ब्रह्मचारियो ! आओ, तुम्हें तुम्हारा ब्रह्मवारसा (पैत्रिकधन) बताऊं ! पहिले तो सबको मेरे आशीर्वाद हैं ! सब के शुभ मनोरथ पूर्ण हों यह मेरी कामना है। आजतुम्हारे समक्ष पुराने से पुरानी बातें कहने के लिए यहाँ आया हूँ ! क्योंकि वे पुरातन गाथाएँ जगत् के इतिहास में अभी तक अजेय हैं।

आज वेदारम्भ का मंगल मुहूर्त है ! आज तुमको बालक से ब्रह्मचारी बनाया गया है। आज की तिथि धन्य है। आज से तुम्हारा ब्रह्मसंवत्सर प्रारम्भ हुआ है। एक बात आरम्भ में ही कह देना चाहता हूँ। मैं आर्यसमाजी नहीं हूँ—पर आर्य हूँ। आर्यसमाजी न होने पर भी आप लोग अपने उत्सवों में मुझे बारम्बार

समाध्यक्ष बनाते हैं, इस उदारता के लिए आपका आभारी हूँ।

ब्रह्मचारियो, आज तुमने ब्रह्मचर्य्य का व्रत लिया है ! आओ, तुम्हें तुम्हारी ब्रह्मवार्ता सुनाऊँ !!

आज से पाँच सहस्र वर्ष की बात है। कथा सर्वविदित है। शस्त्रसज्जित और व्यूह-बद्ध दो महासैन्य कुरुक्षेत्र की रणभूमि में खड़े थे। वहाँ धवल अश्वों- तथा मारुति की ध्वजा वाला एक रथ बीच में आकर खड़ा होगया। मेघवर्ण (श्यामवर्ण) के थे रथ के सारथी, और अन्दर बैठे हुए महारथी थे अग्नि-वर्ण के !! ये महारथी आये थे कुरुक्षेत्र जीतने को, पर घड़ी भर में ही उन्हें समोह हुआ। ये स्वधर्म भूल गये ! अंग ढीले पड़ गये, शरीर से प्रस्वेद छूटने लगा ! बाण और चाप छोड़ दिये तथा "युद्ध नहीं करूँगा" यह कह कर बैठ गये !!

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ गीता ॥

आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व ब्रह्मावर्त में—कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में—यह घटना घटी ! कौरव पांडवों का यह महासंग्राम ईस्वी सन् पूर्व ३१०२ में हुआ ! और आज है ईस्वी सन् १९३४। ठीक ५०३६ वर्ष पहले की यह गाथा है। द्वापर उस समय समाप्त हो रहा था। कलि प्रारम्भ हो रहा था ! युगसंधि के समय की पुरातन गाथा सुनाने आया हूँ ! पचास शताब्दियों में आज तक इसको कोई जीत नहीं सका है। क्योंकि यह आर्यमहाप्रजा का संस्कार वारसा (उत्तराधिकार) है। श्यामवर्ण सारथि ने मेघमन्द्र स्वर में महारथी के प्रति कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ गीता ॥

उन दिनों आर्यपुरुष के लिए असेव्य वस्तु "अस्वर्ग्य" और "अकीर्तिकर" मानी जाती थी ! और जो कुछ आर्य के लिए सेव्य था वह "स्वर्ग्य" और "कीर्तिकर" माना जाता था। पति के लिए पत्नीद्वारा किया जाने वाला परमोन्नत संबोधन था— "आर्यपुत्र !" हस्तिनापुर के राजेन्द्र का परम सन्माननीय संबोधन था उन दिनों—"आर्य" !! आर्य अर्थात् स्वर्ग्य और कीर्तिकर तथा अनार्य अर्थात् अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर। पाँच हजार वर्षों से ऐसा ही माना जाता रहा है। यह है आर्यमहाप्रजा का आर्यवारसा, ब्रह्मचारियों का ब्रह्मवारसा !! पर इसका कारण क्या है ? इतिहास इसका क्या उत्तर देता है। इसी विषय में कुछ कथन करने के लिए आज यहाँ आया हूं !

भारत की विश्व-कल्याणकारी इतिहास-गाथा, काल की पोथी पर देवलिपि में लिखी हुई है। ब्रह्मचारियो, आओ, आज वर्ष की वेद-संस्कारतिथि है। तुम्हें वेद के समय की बातें सुनाऊँ !

एक बात जन्म भर न भूलना कि जो ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे वह ब्रह्मचारी है ! तुमको आचार्यजी ने गायत्री का उपदेश किया है, तुम्हें दण्ड और कौपीन दिये गये ! विश्वनेत्र—सूर्य—के दर्शन कराये गये ! रात्रि को ध्रुवदर्शन कराया जायगा। मेधाजनन होगा ! अनस्त और अचल ध्रुव युगों से एक ही दिशा बता रहा है, उसी प्रकार गायत्री भी एक अद्वितीय आर्य-पथ को दिखा रही है। आर्यजगत् की वह परम सौभागिनी दिशा कौन सी है ? देवयान सदृश आर्य-यान कहाँ तक विस्तृत है ?

आर्य ब्रह्मचारियो, आज तुम्हारी ब्रह्मचर्य प्रवेश की मंगल तिथि है ! आओ तुमको तुम्हारा पुरातन आर्यपन्थ दिखाऊँ । इतिहास कहता है कि यह स्वर्ग-मार्ग है, यह ब्रह्ममार्ग है ।

❀ ❀ ❀

इस ऐतिहासिक प्रश्न का उत्तर एक मन्त्र जितना है। कालगाथा की एक प्रधान बोल यह है कि आर्य-प्रजा ने ऐसा काम किया है कि शताब्दियाँ बीत जाने पर भी उसके कारनामे अजेय हैं ।

गीता का फ्रेंच भाषान्तरकार कहता है कि गीता जैसा ग्रन्थ यूरोपियन साहित्य में नहीं है । शोपनहार कहता था कि उपनिषदें मेरे जीवनकाल और मरण समय में मुझे सान्त्वना और शान्ति प्रदान करने वाली हैं। जर्मन कवि गेटे, शकुन्तला नाटक को पहली वार पढ़कर आनन्द-विभोर होगया था । दूसरी वार पढ़कर उसने इसका चुम्बन किया था और तीसरी वार पढ़कर वह ग्रन्थ को माथे पर रखकर नाच उठा था ।

मानववंश की पुरानी से पुरानी पुस्तक है—ऋग्वेद ! इसका अंगरेज़ी भषान्तर किया था जर्मन-विद्वान् मोक्षमूलर ने। इस परदेशी विद्वान् के ग्रंथों से यदि आप प्रश्न करेंगे तो उत्तर मिलेगा—What India Can Teach Us? इस प्रकार की कारण-मालाओं पर विचार करने से ही ज्ञात होता है कि इतिहासगाथा में आर्य स्वर्ग्य है, कीर्तिकर है, जगद् वन्द्य है। इस आर्यत्व को १९ वीं शताब्दी में संजीवनी पिलाई गुर्जर-पुत्र महर्षि दयानन्द ने ! इस स्वर्ग्य और कीर्तिकर आर्यत्व के दो चार नमूने उपस्थित करता हूँ ।

कविता

मानवकुल की प्राचीन से प्राचीन कविता ऋग्वेद में निहित है । ईस्वी सन् पूर्व कम से कम दस सहस्र वर्ष पहिले इन काव्य मन्त्रों का निर्माण हुआ था यह स्थापना अपने "ओरियन" नामक ग्रंथ में लोकमान्य तिलक महाराज ने की है । अर्थात् आज से कम से कम बारह हज़ार वर्ष पूर्व !! इस ऋग्वेद संहिता में लोकविख्यात सूक्त है 'पुरुष सूक्त' ! विराट् की वह महाकल्पना ! विराट् की वह महामूर्ति, विराट् की वह महानुभाव कविता है ! इससे अधिक सुन्दर कविता मैंने तो बाँची नहीं है । उस में अनन्त की गौरव गाथा को नेत्र में बन्द कर दिया है ! काल और आकाश को नेत्र तारिका में पिरो दिया है। कालस्वरूप, सत्यस्वरूप, अमृतस्वरूप और कवितास्वरूप का उस में महासमन्वय किया गया है । उस अक्षर-स्वामी कलापति मंत्र-द्रष्टा ने पुरुष सूक्त में समस्त विश्व की अक्षर मूर्त्ति घड़ डाली है और पृथ्वी, आकाश और पाताल को एक कर दिया है । मानों अनन्त फिरने वाला, चक्कर लगाने वाला—एक वर्तुल बना दिया है और कहा कि कल्पना में लासकते हो तो लाओ; अनन्त इतना है !!

फिलासफ़ी

और आर्यकुल फिलासफी वह कैसी थी ? भारतीय आर्यों की नहीं, बल्कि मुसल्मानों तथा यूरुप-वासियों की साक्षियाँ देकर बताऊंगा !

दाराशिकोह औरंगजेब का ज्येष्ठ सहोदर था। अपने परदादा अकबरशाह का मानो वह अवतार था। शाहजहाँ के बाद यदि मयूरासन पर दाराशिकोह बैठा होता तो मुगल शासन एक सदी अधिक जीवित रह

सकता ! हिजरी १०५० में बादशाह शाहजहाँ, शाहजादा दाराशिकोह और शाहजादी जहान आरा—ये सब जगत् की सौन्दर्य्य भूमि काश्मीर में गये हुए थे। काश्मीर में उन दिनों हजरत मुल्लांशाह नामक एक फ़कीर बादशाह राज्य करता था। शाहजहाँ था देशस्वामी और मुल्लाशाह था ज्ञानस्वामी। मुल्लाशाह अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था। उसने दाराशिकोह को उपनिषदों की मंत्र दीक्षा दी, ब्रह्मविद्या की व्रत दीक्षा दी। भाई के समान ही उदार दिल वाली शाहजादी जहान आरा की भी ब्रह्म दीक्षा लेने की इच्छा हुई ! और आखिर हजरत मुल्लाशाह की संमति से भाई ने अपनी बहिन को ब्रह्मविद्या की व्रतदीक्षा दी। इसके अनन्तर राजधानी में लौट आने पर शाहजादा ने काशी से पंडितों को निमंत्रित किया। नृसिंहाश्रम नाम के एक विद्वान् पंडित को बादशाह शाहजहां ने "सर्वविद्याकलानिधान" की पदवी प्रदान की थी। उसको प्रधान पंडित बनाया गया। सत्रह वर्ष तक शाहजादे की इस पंडित मंडली ने ४९ उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया! फारसी भाषा के पंखों पर चढ़ कर हमारी उपनिषदें एशिया महाद्वीप में उड़ने लगीं, और उड़ती उड़ती यूरोप में जा पहुँची। अध्यापक मैक्स मूलर कहता है कि इन फ़ारसी उपनिषदों के आधार पर एक विद्वान् एनकिटल डुपेरों ने उनका लैटिन भाषा में अनुवाद किया ! शोपनहार ने इन लैटिन उपनिषदों का अध्ययन किया तथा यूरोप को उनका परिचय कराया। वह लिखता है:—

"In the whole world there is no study, except that of the Originals, so beautiful and so elevating as that of Upnishads it has been the solace of life it will be the solace of my death."

अमेरिका में एक पुस्तक छपी है—Every man a king। अमेरिका समझता होगा कि मैंने बहुत बड़ी बात कर डाली ! पर हमारे आर्य देश में तो शताब्दियों से गाया जाता है—"ब्रह्मास्मि"—Every man a God शास्त्र कहता है कि परब्रह्म विश्व व्यापी होकर भी दशांगुल जितना है। यह अपनी उपनिषदों ने कहा है—"Transcendentalism" प्लेटो और कान्ट के Transcendentalism से ऊपर यूरोप या अमेरिका ने कौन सी फ़िलासफ़ी को बनाया है ? आज की दुनियां को प्रख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टाइन सापेक्षवाद (Relativity) का सिद्धान्त समझा रहा है, और जगत् उस पर विमुग्ध हो रहा है। यूरोप के लिये कदाचित् यह प्रकाश नया होगा पर भारत को तो आज से ढ़ाई हजार वर्ष पहिले ही महावीर स्वामी सापेक्षवाद सिखा गये हैं। बीसवीं सदी का जगत् अभी तक तो आर्य इतिहास को नहीं जीत सका है। पश्चिम के लिये जो कुछ नया है आर्यावर्त के लिए तो वह सदियों पुराना है।

समाज शास्त्र और ज्ञानपीठ

ईस्वी सन् से ३०० वर्ष पूर्व सम्राट् सिकन्दर एशिया में आया था। चौथी और पाँचवी सदी में ईसाई धर्म ने यूरोप को पशुता से हटा कर मानवता के सोपान पर चढ़ाया। ईस्वी सन् ६३२ से ७१२ तक अस्सी वर्ष के अन्दर इस्लाम ने स्पेन से समरकन्द और दमिश्क से सिंध तक की भूमि को जीत कर अपनी चन्द्र-ध्वजा फहराई ! इस्लाम के जन्म से साढे

नौ सौ वर्ष पहिले तथा ईसायत की उत्पत्ति से तीन शतक पूर्व सिकन्दर एशिया में आया। उस समय हमारे तक्षशिला विद्यापीठ (शारदा पीठ) की कीर्त्ति सर्वत्र फैली हुई थी ! कल्याण मुनि नाम के एक आचार्य को सिकन्दर तक्षशिला से अपने साथ बेबिलोन ले गया था। आज से बाईस सौ वर्ष पहिले भारत जगत् को ज्ञान देता था-पढ़ाया करता था।

भारत का समाज-शास्त्र कौन सा है ? जाओ, गृह्य सूत्रों को देखो ! चार वर्णों, चार आश्रमों और सोलह संस्कारों वाली समाज संगठन की एक हवेली सी इन गृह्यसूत्रों ने बना रक्खी है। गृह्यसूत्रों के गुजराती अनुवाद तो दो एक ही हुए हैं पर Sacred Books of the East की शास्त्रमालामें सात गृह्यों के भाषान्तर हुए हैं।

गृह्यसूत्रों के मुकाबले में बौद्ध और ईसाई लोगों के सामाजिक-विधानशास्त्र तो अभी छोटे बालक से हैं। स्पेन्सर से एक पीढी पहिले फ्रान्स में कोम्ट नामक तत्वज्ञानी हुआ है। और कोम्ट की कोई ४०० वीं पीढ़ी पहिले गृह्यसूत्रकार ऋषि मुनि हुए थे। नियम वही हैं, कार्य भी वही हैं। केवल नाम बदल गये हैं, अंगरखे का कोट हो गया है, वानप्रस्थी का पेन्शनर हो गया, शूद्र मिटकर मजदूर हो गया है, और आर्यावर्त्त का हिन्दुस्थान हो गया है। जो मंत्रद्रष्टा और विचार-स्रष्टा हो वह ब्राह्मण, जो सब का रक्षक और पराक्रम-मूर्ति हो वह क्षत्रिय, जो उत्पादक ("Creator of wealth) हो वह वैश्य और जो शारीरिक श्रमजीवी हो वह शूद्र ! क्या इनके सिवाय दुनियां में कोई नया वर्ण उत्पन्न हुआ है ?—या सोलह संस्कारों के स्थान पर कोई सत्रहवाँ संस्कार बना है ?

अभी हाल में ही, इस मंडप में नव ब्रह्मचारियों का जो संस्कार किया गया है, वह गृह्यसूत्रों का एक संस्कार है। हमारे गृह्यसूत्र तो आज भी जीते हैं। बारह सहस्र वर्ष पुरानी आर्य संस्कृति आज भी जीती जागती है।

Patriarchal family और Patriarchal state तथा Patriarchal society की भावनाएँ यूरोप में रोमन कानून जितनी पुरानी है और आर्य-युग में ये भावनाएँ गृह्यसूत्रों के समय से चली आ रही हैं। क्या ये भावनाएँ आज नष्ट हो चुकी हैं ? मैं पूछता हूँ कि संसार इन भावनाओं से कितना ऊपर उठा है ? Individualism और Socialism तो आज काटने को खड़े हैं तथा Social contract का राजलेख तो अभी ज्यों का त्यों पड़ा है। यदि कोई Individualism तथा Socialism का समन्वय का मार्ग खोजेगा तो उसे आर्यों के Patriarchalism में उनका समन्वय प्राप्त होसकेगा।

ये हैं ऋषि मुनियों के द्वारा किये गये जगत्-कल्याण के कार्य। यह है आत्मा के मूल्य पर आंका गया आर्य वंश का वारसा (उत्तराधिकार) ! शोक तो इस बात का है कि बहुत से अपने ही अज्ञानी और इतिहास को न जानने वाले भाई उन ऋषिमुनियों का उपहास करते हैं। जड़वाद के पवन के कारण इन की आंखों की पुतलियां जड़ हो गई हैं। इतिहास के अक्षर तो स्पष्ट और पर्वत जितने बड़े हैं। आँखें खोल कर देखें तभी तो मालूम हो। आर्य वंश का इतिहास तो देवलिपि में आकाश में लिखा हुआ है।

आर्य संस्कृति की इतिहास गाथा और उसकी आयु

लोकमान्य तिलक रचित "ओरायन" के मतानुसार ईस्वी सन् पूर्व दस सहस्र वर्ष तथा बाद के दो हजार वर्ष—इस प्रकार ऋग्वेद के समय से दयानन्द सरस्वती के समय तक बाहर सहस्र वर्ष हुए। इतनी है, आर्य संस्कृति की आयु और इसकी इतिहासगाथा! जगत् की ऐसी और कौन कौन सी संस्कृतियाँ है जिन्होंने इतना जमाना देखा है? आज की यूरोप की संस्कृति ही चार सदी की है। एक सौ बीस शतक पुरानी आर्य संस्कृति के सामने तो वह चार वर्ष की बालिका के समान है। बालिका अपनी दादी का उपहास किया चाहती है। जब यह बालिका बारह सहस्र वर्षों से जगत् कल्याण करने वाली अपनी पितामही की हंसी करती है तब मुझे कहना पड़ता है—"बालिके, पहिले अपनी दादी जितना आयुष्य भोगो, उसके समान जग-कल्याण के कारनामे कर दिखाओ, फिर पितामही के उपहास का साहस करना।" बारह सहस्र संवत् के आयुष्य वाली संस्कृति तो आज एक ही जीवित रूप में खड़ी है—और यह है आर्य संस्कृति, जो कि आर्य पुत्रों का वारसा (उत्तराधिकार) है।

इस आर्य संस्कृति ने जितने विश्वकल्याण के कारना मे किये हैं जब उतने ही कार्य अन्य कोई संस्कृति कर दिखायेगी तब मानव वंश उसे पूछेगा, उसकी पूजा करेगा।

ब्रह्मचारियो! ये हैं आर्य संस्कृति के शिखर, यह है अमर अजेय आर्यत्व! इस वसुन्धरा पर हिमालय से ऊंचा तो अन्य कोई पर्वत नहीं हैं। हमारे कवि कुल कुमुद कलानिधि कालिदास ने उसे नगाधिराज और पृथ्वी का मानदण्ड कहा है। आर्य संस्कृति भी उसी प्रकार पृथिवी का मानदण्ड है। हिमाद्रि शिखर से ऊंचा अन्य कोई शिखर दुनियाँ में नहीं है, इसी प्रकार आर्य संस्कृति के शिखरों से ऊंचे और कौन से शिखर है? अभी तक तो हिमाचल अजित ही है।

अब समझ में आ जायगा कि महर्षि दयानन्द कौन थे और उन्होंने क्या क्या किया? स्वामीजी ने आर्यत्व के उत्थान का डंका बजाया, और आर्यावर्त की आर्य-महाप्रजा को जागृत किया! इस नैष्ठिक ब्रह्मचारी ने संजीवनी छिड़क कर गीतोक्त स्वर्ग्य तथा कीर्तिकर आर्यता को फिर से सजीव किया! स्वामीजी ने आर्यता को संमोह मूर्छा से जगाया।

गुरुकुल की महिमा

आज सूपा गुरुकुल की दशवार्षिक जयन्ती है। पूर्णा नदी के तीर स्वामी श्रद्धानन्दजी को गुरुकुल की स्थापना किये आज दस वर्ष बीत गये हैं, अतः गुरुकुल किसे कहते हैं, यह ही सब समझने लगे होंगे। श्रीमद्भागवत में एक श्लोक है। पूर्वावस्था के गुरुकुलवासी ब्रह्मचारी उत्तरावस्था में द्वारकापुरी में मिलते हैं। श्रीकृष्ण ने सुदामा से पूछा—

> कच्चित् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नो यतः —
> द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तपसः पारमश्नुते !!

भागवतकार कहता है कि ब्रह्मजन्म पाया हुआ ब्रह्मचारी जहाँ पर रहकर ज्ञेय वस्तु को जानकर, अन्धकार को पार कर जाता है—वह है गुरुकुल !!

गुरुकुल अर्थात् आर्य संस्कृति का संस्कारभंडार-(culture-store of Aryan civilization)। आर्य संस्कृति के संस्कार-संदेश गुरुकुल समस्त

जगत् को सुनायेगा। गुरुकुल का एक एक ब्रह्मचारी है—आर्य संस्कृति का जगद्-यात्री जहाज! देश देश के बन्दर बन्दर पर उसको विचरना है तथा जगत् की प्रत्येक प्रजा को आर्यत्व का संदेश सुनाना है। गुरुकुल के ब्रह्मचारियो! भूल न जाना कि तुम में से प्रत्येक ब्रह्मचारी आर्यसंस्कृति के विश्व-संदेश का जगद्-यात्री जहाज है। आर्य महाप्रजा के विश्वकल्याण के विश्व-संदेश को तुमने सर्वत्र सुनाना है। मेरे लिखे हुए "ओज और अगर" नामक काव्य ग्रन्थ में एक स्थान पर "मेघ" कहता है—

"जहाँ जहाँ व्योम की छाया पड़ती है वहाँ वहाँ जाकर देखना वसुधरा के कुञ्जों और गुफ़ाओं में आर्य महाप्रजा का अधिवास है। आर्य प्रजाओं की माता है—आर्यता का वतन है, अपनी महिमा से से सुवासित होने वाला, यह आर्यावर्त !!

सूपा गुरुकुल को स्थापित हुए आज दश वर्ष बीत गये। कुछ एक ब्रह्मचारी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा पूरी करके उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये हिमाचल की गोद—काँगड़ी गुरुकुल—में जायेंगे। इन विजयी अन्तेवासियों को मेरे आशीर्वाद हैं। पर्वतों में रहकर पर्वतों जैसे सुदृढ बनना, हिमालय के हृदय में रहकर उन्नत हिमाद्रि जैसे सरस्वती पुत्र बनना! प्रत्येक आर्यपुत्र, हिमाद्रि के समान पृथ्वी का मानदण्ड है।

ब्रह्मचारियो, आज तुम्हारा नवजन्म है, आज तुम द्विजत्व को प्राप्त हुए। तुम द्विजत्व का व्रत सीखना! तुम किसके ब्रह्मचारी हो? तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, तुम बृहस्पति के ब्रह्मचारी हो, तुम ब्रह्माण्डनाथ के ब्रह्मचारी हो। समस्त ब्रह्माण्ड ब्राह्मण का पित्र्यधन, है। श्री दयानन्द स्वामी ने आर्यावर्त्त को उस का आर्यत्व लाकर फिर से उसे सौंप दिया, मोह-मूर्छा उतार कर आर्यत्व को जीवित किया! यह बात मैं पिछले बारह वर्षों से कहता आया हूँ।

भारत के संदेश को विश्वजननी बनादो

आर्यमहाप्रजा केवल भारत तक ही सीमित नहीं हैं, आर्यप्रजा का आर्यत्व केवल भारतवर्ष के लिये ही नहीं है। देश देश की आत्म-भोजन की भूखी प्रजाओं को आत्म-भोजन वितीर्ण करो! मानव वंश को आत्मिकबल-वाला तथा महानुभाव बनाओ! आर्यत्व का अक्षय पात्र कभी भी खाली होने वाला नहीं है।

कविता, फ़िलासफ़ी, समाजशास्त्र, ज्ञानपीठ तथा मानव कुल की इतिहास गाथा पढ़ने और पढ़ाने के लिये तो अभी जगत् को भारतवर्ष के अन्तर में—हृदय में—प्रवेश करना है। मानव वंश की संस्कार यमुना, संस्कृति सरस्वती और सारस्वत गंगा—इस त्रिवेणी का मूल ऋग्वेद में है। ब्रह्मचारियो! यह तुम्हारा ब्रह्म वारसा (उत्तराधिकार) है। आर्यपुत्रो, वेद मंत्र की आज्ञा है कि आर्यावर्त को विश्व जननी बना दो, समग्र वसुधा में आर्य संस्कृति को बिछा दो—"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"! यह जुगजूनी जड़ी बूटी ही आज के रोगी जगत् के लिये परम ओषधि है।

जप, तप, संयम, ब्रह्मचर्य, सादा जीवन, सरल और आडम्बरहीन, गृहस्थजीवन, वनवासी ऋषि-आश्रम, और तपस्वियों के तपोवन—इन सब को फिर से स्थान स्थान पर स्थापित करो! जाओ अस्वर्ग्य तथा अकीर्तिकर को स्वर्ग्य तथा कीर्तिकर बना डालो। वेदारम्भ की आज की मंगल तिथि के समय एक आर्य पुत्र के तुमको आशीर्वाद हैं और मेरे वाक्य में लिखे

हुए एक स्वप्न को पूरा कर दिखाओ !! आर्यकुल-गोत्रोत्सव करो !!

"मेघ तू व्योम को आच्छादित करे तो मुझे आर्य वंश का गोत्रोत्सव करना है, आर्य कुल का महोत्सव मानना है, आर्य प्रजाओं का आर्य संघ स्थापित करना है। आर्य वंश समस्त पृथ्वी पर बिछा हुआ है। ताप से परितप्त पृथ्वी को आर्यत्व की महा-भावनाएँ शान्त रहेंगी। जिस दिन आर्य प्रजा ने उत्तर दिशा से चतुर्दिशाओं में प्रयाण किया, वह थी पृथिवी के पुण्य जन्म की तिथि! इतिहास में इससे बढ़कर महिमामय और तिथि नहीं है। पृथिवी की महाप्रजाओं! हे आर्य प्रजा की महाभाग पुत्रियों! इतिहास की उस चक्रवर्ती तिथि को मनाओ! पृथिवी को आर्यत्व का पानी पिलाओ, आज जगत् आर्यत्व का प्यासा है, सूर्य और चन्द्र का सहोदर आर्यत्व जगत् का उद्धार मंत्र है।"

सम्पादकीय-टिप्पणियां

१—गङ्गा-जल पर नया परीक्षण।

गंगा-जल को हिन्दु मात्र पवित्र मानता है। हिन्दु जनता का विश्वास है कि गंगा-जल पवित्र है और यह किसी प्रकार भी दूषित नहीं किया जा सकता। हरद्वार तथा बनारस आदि तीर्थों में लाखों नर-नारियों के स्नान द्वारा गंगा-जल में सदा मल मिश्रित रहता है, साथ ही गन्दी-सड़ी नालियों का नाना प्रकार का गन्द, मल-मूत्र और मुर्दे भी इस जल में प्रतिदिन बहुतायत में डाले जाते हैं। इससे सम्भावना की जा सकती है कि गंगा-जल में अपवित्रता की कितनी मात्रा है।

तो भी यह एक विचित्र घटना है कि जहाज में, पानी पीने के लिये, हुगली से भर लिया जाता है—हुगली में गंगा का गन्दे से गन्दा पानी आता है—और यह गंगा-जल इंगलैण्ड तक ताजा बना रहता है। इसके विपरीत जहाज जब इंगलैण्ड से भारत की ओर छूटते हैं तो इनमें पीने का पानी लण्डन में भरा जाता है, परन्तु यह पानी बम्बई आने से पूर्व ही खराब हो जाता है, कलकत्ता तक पहुंच नहीं सकता, इसलिये रास्ता में अन्य बन्दरगाहों से नया पानी भरना पड़ता है।

क्या इसका कारण यह है कि गंगा का जल पवित्र है इसलिये यह तो भारत से इंगलैण्ड जाने तक नहीं बिगड़ता और लण्डन का पानी अपवित्र है इस लिये वह भारत आने से कई दिन पूर्व रास्ते में ही बिगड़ जाता है?।

इस विचित्र घटना का वास्तविक कारण गंगा के जल का पवित्र होना नहीं, अपितु अपवित्र होना ही है। वर्तमान समय के कतिपय कीटाणु सम्बन्धी परीक्षण (Bacteriological discoveries) इस उत्तर के यथार्थ होने की साक्षी देते हैं।

भारत में हैजा (कालरा) तथा आम-रक्त (डिसेन्टरी) के प्रकोप प्रायः होते रहते हैं। इन प्रकोपों के समय एक फ्रांसीसी डाक्टर डि' हेरेले (D'Herelle) ने देखा कि—जब इन रोगों से मृतप्राय शरीर गंगा में फैंके जाते

थे—सो इन मृत शरीरों के नीचे के स्तर में हैजे या आमरक्त का कोई भी कीटाणु (Germ) प्राप्त न होता था, हालाँ कि सामान्य अवस्था में वहां लाखों करोड़ों कीटाणु होने चाहियें थे।

तब उसने इन रोगों से पीड़ित रोगियों में से इन कीटाणुओं को प्राप्त कर इन्हें बढ़ाया और इनमें गंगा का जल डाला। गंगा-जल डाल कर उसने जब कुछ काल तक इस मिश्रण (Mixture) का कृत्रिम विधियों से पोषण (Inceɪbatıon) किया तब उसने आश्चर्य से देखा कि इस मिश्रण के सभी कीटाणु बिल्कुल नष्ट हो गये हैं। उसने यह भी देखा कि इस मिश्रण का (जिसमें कि सभी कीटाणु मर चुके हैं) एक बिन्दु भी यदि नये मिश्रण में (जिसमें कि अभी नाना कीटाणु जीवित अवस्था में हैं) डाल दिया जाय तो इस नये मिश्रण के सभी कीटाणु कुछ घण्टों में पूर्ण मृत हो जाते हैं। इस प्रकार के कई परीक्षण उसने एक ही सिलसिले में किये।

उपरोक्त फ्रांसीसी डाक्टर डि' हेरेले ने एक और परीक्षण भी किया। उसने उपरोक्त मिश्रण में (जिस में कि कीटाणु जीवित हैं) गंगा-जल न डाल कर उस रोगी के मल-मूत्र का जल डाला जो कि अभी ही कालरा (हैजा) से उठा है। उसने इन रोगियों की विष्ठा को ऐसी विधि से छाना जिससे कि विष्ठा का रस तो निकल आये परन्तु विष्ठा के कीटाणु छनकर इस रस में न आ सकें। इस रस के एक बिन्दु को उसने जीवित कीटाणुओं के मिश्रण में डाला, जीवित कीटाणु उसी प्रकार पूर्ण रूप से नष्ट हो गये जैसे कि वे गंगा-जल के डालने से नष्ट हो जाते थे।

इस नये परीक्षण द्वारा उसने यह भी धारणा की कि बहुत सम्भव है कि हैजा या आमरक्त रोग से हाल ही में उठे हुओं का यह विष्ठा का रस हैजा या आमरक्त रोग की चिकित्सा के लिये एक उपयोगी औषध साबित हो सके।

इसका औषधरूप से प्रयोग निम्न प्रकार किया जा सकता है:—

पहले इन लाखों-करोड़ों कीटाणुओं का पालन-पोषण एक पात्र में करना चाहिये। तत्पश्चात् कालरा या डिसैण्टरी से नये उठे व्यक्ति की विष्ठा से या गंगा-जल से उपरोक्त तत्व को प्राप्त कर इसे जीवित-कीटाणुओं के मिश्रण में डाल देना चाहिये। इससे जीवित कीटाणु सब मर जायेंगे। यह मिश्रण-जिसमें कि जीवित-कीटाणु मर चुके हैं—हैजा या आमरक्त रोग की अमोघ औषध साबित होगा। हैज़ा-रोग से पीड़ित को "हैजा के मृत कीटाणुओं" का मिश्रण देना चाहिये और डिसैण्टरी (आमरक्त) रोग से पीड़ित व्यक्ति को "डिसैण्टरी के मृत कीटाणुओं" का मिश्रण देना चाहिये। (The Leader १२। ५। ३४)

नोटः—उपरोक्त फ्रांसीसी डाक्टर ने गंगा के अपवित्र जल के साथ ऊपर दिये परीक्षण किये हैं और परिणाम निकाला है कि अपवित्र गंगा-जल हैज़ा तथा आमरक्त रोग के लिये बहुमूल्य औषध का ख़जाना हो सकता है। परीक्षण यह भी होना चाहिये कि गंगा का जल यदि उन स्थानों से लिया जाय जहाँ कि अभी उसमें गन्द की मात्रा न के बराबर होती है (जैसे कि गंगा के पहाड़ी रास्ते में) तो क्या गंगा का वह शुद्ध जल भी इसी प्रकार औषधरूप में उपयोगी सिद्ध हो सकता है या नहीं ?।

२—सन्तति-निरोध

आज कल सन्तति निरोध का जमाना है। नवयुवक सन्तति निरोध के उपायों का यथेष्ट उपयोग करने लगे हैं। पाश्चात्य संसार इन उपायों का गुरु है। भारत में भी सन्ततिनिरोध ने प्रवेश पाया है। सन्तति निरोध का अभिप्राय है ' कि पति-पत्नी भोग के आनन्द से वञ्चित भी न रहें और इस भोग का परिणाम भी सन्तति के रूप में प्रकट न हो। सन्तति निरोध की ओर प्रेरक भाव नाना हैं। कई तो यह अनुभव कर सन्तति निरोध के उपायों का अवलम्बन करते हैं कि वे वास्तव में उत्पन्न सन्तति के पालन-पोषण तथा शिक्षा के सम्बन्ध में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। पालन-पोषण तथा शिक्षा के बढ़े हुए आज कल के व्ययों को पूरा कर सकने में वे अपने में शक्ति अनुभव नहीं करते। कई लोग जो कि इस ओर से अपने आप को अशक्त नहीं भी पाते वे भी सन्तति निरोध के उपायों का अवलम्बन कर लिया करते हैं। उनका प्रेरक भाव केवल मात्र भोग होता है। बच्चे के, माता के पेट में, होने से उन्हें भोग-लालसा सताती है। साथ ही बच्चों को उत्पन्न करते २ माताओं के स्वास्थ्य तथा लावण्य में भी ह्रास होता चला जाता है जो कि कामातुरों को अनभिमत है। इसलिये भी वे सन्ततिनिरोध के उपायों की शरण में जाते हैं। वर्त्तमान समय का सामाजिक-जीवन भी सन्तति-निरोध की हवा को तेज किये हुए है। वर्तमान समय के सामाजिक-जीवन में स्त्री-जगत् का स्थान विशेष महत्त्व पा रहा है। वह सामाजिक जीवन नहीं जहां स्त्रियों की उपस्थिति का अभाव अनुभव किया जाता हो। बच्चों के अधिक होने पर इस सामाजिक जीवन में भी क्षति पहुंचती है, क्यों कि गृह-झंझटों के कारण, स्त्री-जगत्, सामाजिक-जीवन में पूरा हिस्सा नहीं ले सकेगा। सन्तति निरोध के सिद्धान्त को अब तो राष्ट्र भी स्वीकार करने लगे हैं। इन उपायों में सहायता देने के लिये इस उपचार के औषध-भवन भी स्थान २ पर खुल गये हैं और खुलते चले जाते हैं। जर्मनी में उत्तम सन्तति की दृष्टि से सन्तति-निरोध के उपायों का अवलम्बन राष्ट्र की ओर से बाधित रूप में होने लगा है। इस उद्देश्य में प्रेरक भाव उत्तम है। कई स्त्री पुरुष बीमार ऐसे होते हैं कि उनकी बीमारी उनकी सन्तति में जा सकती है। इस प्रकार के रोगों के बढ़ने से राष्ट्र के बिगड़ जाने का भय होता है। मनुस्मृति में भी ऐसे नाना रोगों की गणना की गई है जिनकी सत्ता होने पर स्त्री-पुरुष को विवाह का अनधिकारी मनु महाराज ने ठहराया है। मनु महाराज तो ऐसे रोगियों को विवाह करने की इजाजत ही नहीं देते, परन्तु आज कल के राष्ट्र तथा समाज इन्हें विवाह करने से तो वञ्चित नहीं रखते परन्तु ऐसे रोगियों के रोगों का आक्रमण कहीं उनकी सन्तति में न हो जाय इसलिये अन्य नाना कृत्रिम उपायों का आश्रय लेते हैं। आज कल प्रायः ऐसे व्यक्तियों को इस ढंग से नपुंसक बना दिया जाता है कि उन से सन्तानोत्पत्ति तो न हो सके और साथ ही वे परस्पर-भोग का पूरा आनन्द भी उठा सकें। समय २ की जीवन-धारा का, व्यक्तियों के नैतिक-जीवन के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों पर बहुत भारी असर हुआ करता है। वर्तमान समय का युग प्रकृति-वादी है, यह युग प्रकृति की उपेक्षा नहीं कर सकता। प्रकृतिवाद का साक्षात् परिणाम है भोगवाद। इसलिये वर्तमान समय के राष्ट्रों में सभी प्रकार के व्यक्तियों को, अपनी २

भोगेच्छा की पूर्ति के लिये, विवाह का अधिकार है। परन्तु भारत का वह समय—जब कि भारत में आध्यात्मिकता की प्रबलता थी—इस प्रकृतिवाद तथा इस के परिणाम भूत भोगवाद को मनुष्य-जीवन का एकमात्र लक्ष्य या ध्येय न समझता था। इसीलिये मनु महाराज ने रोगियों की भोगेच्छा को पवित्रता, मनुष्यता तथा अन्य प्रकार के भावुकता के भावों का चोला नहीं पहनाया। वास्तव में जिस मनुष्य ने समझ लिया और ठीक प्रकार से समझ लिया कि शरीर की जीवनी-शक्ति वस्तुतः एक जीवनी-शक्ति है। वह अपनी इस उत्तम और श्रेष्ठ शक्ति को व्यर्थ में नष्ट न करेगा। ऐसा व्यक्ति इन हीरों को व्यर्थ में न लुटाता रहेगा, अपितु सत्पात्र में ही ऐसे अमूल्य रत्न का वितरण करेगा। मनुष्य-सृष्टि से यदि हम नीचे उतरें और देखें कि इस जीवनी शक्ति का उपयोग मनुष्य से इतर प्राणियों में किस प्रकार से हो रहा है तो हम देख-भाल कर इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि इस अद्वितीय शक्ति का उपयोग, अन्य प्राणियों में, सन्तति के उद्देश्य से ही किया जा रहा है। मनुष्यों से इतर प्राणियों के जीवनों में केवल भोग को, प्रकृति ने या परमात्मा ने, स्थान ही नहीं दिया। इस प्रकार मनुष्येतर प्राणियों में यह उच्च शक्ति सन्तति-धारा के बढ़ाने में लगी हुई प्रतीत होती है। मनुष्यों में यह उच्च शक्ति दो प्रकार से प्रयुक्त की जा सकती है। या तो इस शक्ति द्वारा उत्तम सन्तान संसार को दी जाय या इस शक्ति को अपने शरीर में ही लीन कर शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के उच्च-शिखर तक पहुंचा जाय। मनुष्य इन दोनों उद्देश्यों को पूरा कर सकते हैं और मनुष्येतर प्राणी केवल एक उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं। इसी लिये मनु महाराज ने रोगियों के विवाह का निषेधकर रोगियों को दूसरी ओर अपनी उच्च-शक्ति के लगाने का निर्देश किया है, उन्हें अपनी उच्च शक्ति के व्यर्थ नष्ट करने की ओर प्रलोभित नहीं किया। सन्तति-निरोध का उत्तम, श्रेष्ठ तथा महा व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित मार्ग तो ब्रह्मचर्य-मार्ग ही है। व्यक्ति यदि विवाह नहीं करता या उसे राष्ट्र यदि विवाह का अधिकारी नहीं समझता तो उसे यह न समझना चाहिये कि मैं किसी अपने मानुषिक अधिकार से वञ्चित रह गया हूं या मुझे इस अधिकार से वञ्चित कर दिया गया है। उसे अपने जीवन में इसी भाव को पुष्ट करना चाहिये कि मैंने इस जीवन में यदि पग नहीं रखा तो इसलिये कि मैं अधिक उच्च-जीवन में प्रवेश पा सकूं, या राष्ट्र ने यदि मुझे इस जीवन की ओर जाने से रोका है तो सर्व साधारण प्रजा और राष्ट्र की दृष्टि से ही रोका है। इस प्रकार मनुष्य उच्च-भावना को धारण कर अपने अविवाहित जीवन में भी सुखी रह सकता है। औषधियां बीमार के लिये हैं, स्वस्थ के लिये नहीं। उत्तम तो यह है कि मनुष्य रोगी हो ही नहीं। परन्तु यदि रोगी होता है तो उसके लिये उपचार विधियां भी होनी आवश्यक हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि भाव संयम में रहे हुए श्रेष्ठ हैं। परन्तु ये ही यदि संयम में न रहें तो रोग रूप हैं। जिस व्यक्ति को इन का रोग हो गया है उस के उपचार के लिये उपाय भी होने आवश्यक हो जाते हैं। वर्तमान समय का जगत् इन भावों के रोग का शिकार बना हुआ है। इसीलिये वर्तमान जगत् ने अपने इस रोग के उपचार के निमित्त नाना प्रकार के सन्तति निरोध के उपायों का आविष्कार भी किया है। परन्तु उच्च नैतिक-दृष्टि से न तो ये रोग ही रहने चाहियें और न इसका उपचार ही रहना चाहिये।

साहित्य-समालोचन

१—स्वामी श्रद्धानन्द—लेखक श्री पं०सत्यदेव विद्यालंकार। सम्पादक प्रो० श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति। मूल्य ३॥) रुपये, सजिल्द ४) रुपये।

पुस्तक बढ़िया कागज़ पर और उत्तम टाइप में छपी है। श्रीमद्दयानन्द निर्वाण-अर्धशताब्दी के मौके पर यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी। पुस्तक को आद्योपान्त मैंने पढ़ा है। स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का पूर्ण और प्रामाणिक वृत्तान्त इस पुस्तक में उपलब्ध होता है। कर्मयोगी स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन-लेखन में पं० सत्यदेव विद्यालंकार ने अपनी लेखनी का अपूर्व चमत्कार दर्शाया है। लेखक ने स्वामीजी की युवावस्था की उन घटनाओं को भी पुस्तक में खोलकर रख दिया है जो शायद किसी की दृष्टि में चरित्र नायक के यशस्वी जीवन में कालिमा रूप प्रतीत हो सकती है और वह इन घटनाओं को चरित्र-नायक के जीवन-चरित्र में लिखना उपयुक्त न समझे। परन्तु लेखक की निष्पक्षता ने इन घटनाओं को भी उचित स्थान दिलाया है। लेखक की यह धारणा है कि लेखक ने इस पुस्तक में जो कुछ लिखा है उसे वे स्वामीजी के पत्र-व्यवहार से प्रमाणित कर सकते हैं। एकाध स्थान पर लेखक ने स्वामीजी के पत्र के आधार पर आर्यसमाज के कतिपय वर्त्तमान अग्रसर कार्यकर्त्ताओं के सम्बन्ध में स्वामीजी की तात्कालिक सम्मति को प्रकट किया है। हमारी दृष्टि में ऐसे स्थानों में लेखक को चाहिये था कि वह इस सम्बन्ध में पूरे पत्र को छापते ताकि पूर्वापर का सम्बन्ध पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो सकता।

जो स्वामी श्रद्धानन्द के विस्तृत, पूर्ण और प्रामाणिक जीवन-चरित्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। पुस्तक में नायक के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के निदर्शक ३२ चित्र भी दिये हैं।

२—सचित्र शुद्धबोध—यह पुस्तक भास्कर-प्रेस देहरादून में छपी है। इसके सम्पादक तथा प्रकाशक श्री पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ, महाविद्यालय ज्वालापुर, हैं। पृष्ठ सं० २५५। मूल्य १) रुपया, छात्रों से ॥) आठ आने।

पुस्तक अच्छे टाईप और बढ़िया कागज़ पर छपी है। इसमें स्वर्गीय स्वामी शुद्धबोध तीर्थ का संक्षिप्त जीवन चरित्र और उनके शिष्यो व भक्तो के संस्मरण हैं। पुस्तक के सम्पादक श्री पं० नरदेवजी शास्त्री—किसी भी क्षेत्र से अपरिचित नहीं हैं। सब क्षेत्रों मे उनकी पर्याप्त प्रतिष्ठा है। इस पुस्तक का सम्पादन करके पण्डितजी ने स्वर्गीय स्वामीजी की स्मृति को चिरस्थायी बना दिया है, इसमें तो कोई सन्देह ही नही है। स्वामी शुद्धबोध तीर्थ, लोकैषणा से दूर रहने वाले और ठोस कार्य करने वाले, आर्यसमाज के एक महारथी थे। स्वामीजी ने शिक्षा के क्षेत्र में ही अधिकतः कार्य किया था। उनके पढ़ाये हुए सैंकड़ो शिष्य देश और समाज का उपकार करने में लगे हुए हैं। इस पुस्तक में स्वामीजी के शिष्यों के संस्मरण और श्रद्धाञ्जलियां तथा हृदयोद्गार अधिकतया देखने को मिलेंगे। 'हृदयोद्गार' तो सब ही संस्कृत के श्लोकों में हैं और श्रद्धाञ्जलि तथा संस्मरण-संस्कृत और

हिन्दी दोनों में हैं। इस प्रकार इस पुस्तक को पढ़ने से स्वर्गीय स्वामीजी के जीवनचरित्र के पढ़ने का आनन्द और संस्कृत के काव्य को पढ़ने का आनन्द दोनों ही मिलते हैं। यह पुस्तक संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं के जानने वालों के लिये उपयोगी है। जो स्वर्गीय स्वामीजी के जीवन तथा कार्य का परिचय प्राप्त करना चाहें, उन्हें यह पुस्तक पढ़नी चाहिये। पुस्तक में २२ चित्र भी हैं।

(श्री प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार)

३—सन्ध्या प्रदीपिका—इस पुस्तक के लेखक और प्रकाशक, मास्टर श्री नत्थनलाल अध्यापक गवर्नमेंट हाईस्कूल व श्री मंत्री आर्यसमाज जगाधरी हैं। पृष्ठ संख्या १९६ है। मूल्य ।।=) दस आने, सजिल्द का १) रुपया।

इस पुस्तक में सन्ध्या के प्रत्येक मंत्र की विस्तृत व्याख्या और मीमांसा की गई है। मंत्र के प्रत्येक पद की वैज्ञानिक ढंग से विशद और भावपूर्ण विवेचना बड़ी योग्यता के साथ की गई है। आज तक सन्ध्या पर जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, यह पुस्तक उन सब से उत्तम है। इस पुस्तक को पढ़ने से, पढ़ने वाले के हृदय में उच्च भावनाएं उत्पन्न होंगी। पुस्तक बहुत ही उत्तम लिखी गई है। प्रत्येक आर्यसमाजी को इसका मनन अवश्य करना चाहिये।

(पं० प्रेमचन्द्र काव्यतीर्थ)

हिन्दी प्रचारक—दक्षिणभारत हिन्दी-प्रचार सभा मद्रास का मुखपत्र है इसके सम्पादक हैं श्री हृषीकेश शर्मा सत्यनारायण। यह पत्र मद्रास से ११वर्ष से निकल रहा है। मद्रास जैसे प्रान्त से हिन्दी का इतना उत्तम पत्र निकलना एक बड़े ही गौरव की बात है। मद्रास प्रान्त की भाषा उत्तर भारत की भाषा से सर्वथा भिन्न है। तामिल तैलगू का सम्बन्ध हिन्दी से मराठी और गुजराती के समान सर्वथा नहीं है तो भी राष्ट्रीय भाव की व्यापकता ने मद्रास प्रान्त में भी हिन्दी के प्रति प्रेम और गौरव को जागृत कर दिया है। इसी कारण हिन्दी-प्रचारक जैसा मासिक पत्र बड़ी सफलता से चल रहा है। इसके लेख भी प्रायः मद्रास प्रान्तीय विद्वानों के हैं। इसके एक तिहाई अंश में अंग्रेजी के लेखों का भी संनिवेश है। मद्रास प्रान्त में अंग्रेजी की अधिक व्यापकता है। उनकी सहानुभूति प्राप्त करने के लिये यह भी आवश्यक हुआ है।

छपाई तथा कागज उत्तम आकर्षक है। पत्र का आवरण अधिक गम्भीर है। विद्या सम्पन्न प्रान्त से ऐसी ही गम्भीरता की आशा है। इससे यह भी अनुमान होता है कि मद्रास की विद्या-सम्पन्न जनता में हिन्दी का प्रचार बढ़ रहा है।

जीवन पथ—लेखक श्री प्रियरत्नजी आर्ष। आप आर्य जगत् में उपनिषदों और वेदों के बीच में गम्भीर विचारक, अनुशीलक विद्वान् हैं। आपने बड़ी मार्मिक विवेचना से पूर्ण यह पुस्तक बनाई है इसमें व्यक्ति का जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन, विश्वहित, धर्मचर्या और वैज्ञानिक परिचय इन मुख्य विभागों में ग्रन्थ को बांटा है।

व्यक्तिजीवन में सच्चरित्र और दुश्चरित्र का अच्छा वर्गीकरण सारणी सहित समझाया है। सामाजिक जीवन में वर्णव्यवस्था को खोला गया है। राष्ट्रीय जीवन में ब्राह्मणों के आदर, क्षत्रियों के सम-वेश और राष्ट्र भाषा पर विशेष बल दिया है। विश्वहित में परार्थ.स्वार्थ का विवेचन किया है। धर्मचर्या में ब्रह्मचारी गृहस्थ

वनस्थों के सामान्य धर्मों और पञ्चयज्ञों, संस्कारों और पारिवारिक शिष्टाचार का विवेचन है।

वैज्ञानिक परिचय में मुख्य विज्ञान भूगोल, रश्मि विज्ञान, मनोविज्ञान आदि को वेदमन्त्रों से दर्शाते हुए परिचय दिया है। उपसंहार में ब्रह्मविज्ञान को भी दर्शाया है।

पुस्तक इतना ठोस और ग्राह्य रूप से लिखा गया है कि आर्यजगत् के तीन महाविद्यालयों ने इसको अपने विद्यालय की उच्च कक्षाओं की पाठविधि में पाठ्य पुस्तक रूप से नियत किया है।

उसको अन्य भाषाओं में अनुवाद करने के लिये भी कुछ साहित्यिक लोग उत्सुक हैं।

यह पुस्तक प्रत्येक आर्यपुरुष को पढ़ने योग्य है। पृष्ठ संख्या १०४। मू० ।-) मिलने का पता—आर्य-साहित्य मण्डल, अजमेर।

'सन्ध्या'—लेखक श्री पं० देवराजजी विद्या-वाचस्पति। आचार्य गुरुकुल सोनगढ़। प्रकाशक—श्री मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल विद्यालय सोनगढ़, काठिया-वाड़। मूल्य ।)

सन्ध्या का मूल मन्त्र सरल अर्थ देकर इस छोटी सी पुस्तक में लेखक ने आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन की समस्याओं को सुलझाने का यत्न किया है।

लेखक की शैली नवीन और रोचक है। इस पुस्तक की सब से बड़ी विशेषता यह है कि जो बात इस पुस्तक में लिखी है उस का आधार केवल शास्त्र ज्ञान न होकर लेखक की निज क्रियात्मक साधना भी है। हमारी इच्छा है कि जनता इस ग्रन्थ से ब्रह्म-यज्ञ का महत्त्व समझकर अपने जीवन पथ को सुखी करे।

ब्रह्मसूत्र शङ्करभाष्य का हिन्दी अनुवाद

अच्युत ग्रन्थ माला के प्रथम तीन अंक—संरक्षक श्री गौरीशंकर गोयन का समर्पित निधि-काशी। प्राप्ति स्थान अच्युत-ग्रन्थमाला कार्य्यालय, ललिताघाट काशी। वार्षिक मूल्य ६)

इस अनुवाद के सम्बन्ध में हम थोड़ा सा परिचय पाठकों को पूर्व ही दे चुके थे। परन्तु विस्तृत आलोचना स्थानाभाव से नहीं की थी। इस ग्रन्थ-माला के सम्पादक हैं श्री पं० चन्डीप्रसादजी शुक्ल प्रिंसिपल जो० म० गोयनका संस्कृत महाविद्यालय। स० सम्पादक तथा प्रकाशक हैं श्री पं० श्रीकृष्ण पन्तजी साहित्याचार्य।

उक्त दोनों महानुभाव शास्त्रों के उत्तम ज्ञाता, दर्शन विषय के अच्छे अभ्यासी हैं। उनका यह उद्योग बहुत ही सराहनीय है।

भगवनपाद आचार्य शंकरदेव भारतवर्ष के भीतर जमाने की काया पलट कर देने वाले महा पुरुष आज से दो हजार वर्ष पूर्व हुए थे, उस समय पाश्चात्य देशों में अन्धकार था। आज कल के योरोप का तो उस समय बीजवपन भी नहीं हुआ था। यूनान में प्लेटो और अरस्तु की मान्यता थी। और अरब के पश्चिमतट जिसको अरब वा संस्कृत में अपरान्तक प्रदेश कहते हैं वहां उन दिन भारत का शिष्य क्राइस्ट (कृष्ण) नामक साधु प्रचार कर रहा था। और वह भी उसी प्रचार में आततायी लोगों के हाथ शूली पर चढ़ाया गया था।

परन्तु श्री शंकराचार्य जैसे महा पुरुष को जन्म

देकर भारत जननी ने उस समय वसुन्धरा पर एक अद्वितीय दार्शनिक सूर्य को प्रकाशित किया जिस की प्रतिभा के समक्ष इस समय सारा योरोप और अमेरिका अपना मस्तक झुका रहा है। इस अलौकिक महा पुरुष ने भारत में फैले प्रचण्ड नास्तिक जैन वाद के घोर अन्धकार को छिन्न भिन्न कर दिया। और प्राचीन आर्य सम्प्रदाय वेद, उपनिषदों और दर्शनों की आर्य दार्शनिक विचारपरम्परा को पुनः स्थापित कर दिया महर्षि वेद व्यास के परम गूढ़ सूत्रों पर भाष्य रच कर तो उनको सदा के लिये दार्शनिक धरातल पर चमका दिया। ऐसे महा पुरुष के इस सारस्वत उपासनारूप तप को कोई भी विद्याप्रेमी भूल नहीं सकता।

ब्रह्म सूत्र के ऊपर किये उसी शंकर भाष्य पर गोविन्दानन्द कृत रत्नप्रभा नाम की व्याख्या भी अति उत्तम है। जो भाष्य के तात्पर्य को भली प्रकार खोलती है।

प्रस्तुत अनुवाद में दोनों का ही भाषान्तर बड़ी ही सरल रीति से किया है।

अनुवादक महोदय तुच्छ साम्प्रदायिक रंग में रंगे हुए प्रतीत नही होते। उनके विचार उदार प्रतीत होते हैं। क्योंकि उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में केवल 'श्री' से काम नहीं लिया प्रत्युत ओं और श्री परमात्मने नमः का प्रयोग किया है।

पत्र के प्रारम्भ में भी 'ओं सहनाववतु.' मन्त्र से ही मङ्गल किया है। हम प्रकाशकों के इस उदार भाव की प्रशंसा करते हैं। समस्त भाष्य में जहां २ ब्रह्म आदि नाम आये हैं बुद्धिमान् अनुवादक ने वहां अनुवाद में प्रकरणानुसार परमात्मा, ईश्वर आदि शब्दों का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनुवादक महाशय के विचार से शंकराचार्य का भाष्य वर्तमान साम्प्रदायिक ब्रह्मास्मि-वादी वेदान्तियों की ही सम्पत्ति नहीं प्रत्युत सभी के लिये समान रूप से विचार योग्य है।

हमने समग्र छपे खण्डों को देखा है सर्वत्र अनुवाद भावग्राही हुआ है साधारण हिन्दी का जानने वाला भी इस भाषानुवाद से शंकराचार्य के वास्तविक महत्त्वपूर्ण जगद् विख्यात भाष्य का भाव अनायास समझ सकता है।

हम अनुवादक विद्वानों को इस उद्योग के लिये धन्यवाद देंगे।

शांकर भाष्य में बहुत से स्थल हैं जो आर्य सिद्धान्त और प्राचीन साहित्य की दृष्टि से बहुत ही संग्राह्य हैं ऋषि दयानन्द और शंकराचार्य के दार्शनिक विचारों की तुलना करने के उत्सुक आर्य पुरुषों को अवश्य इस अनुवाद मे लाभ उठाना चाहिये।

(श्री पं० जयदेव शर्मा वि० अ० मी० ती०)
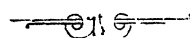
वेद-भाष्य के ग्राहकों को आवश्यक सूचना

(१) वेदभाष्य के ग्राहकों को वैदिक विज्ञान केवल ३) रु० में दिया जाता है।
(२) ऋग्वेद भाष्य का ३ य खण्ड छपकर तैयार होगया है। शीघ्र मंगालें।

Registered No. N—502

शीघ्र मंगालेवें ! **अवसर न चूकें !!** **फिर न पछतावें !!!**

महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रामाणिक

जीवन-चरित

दो भागों में सम्पूर्ण छप गया।

महर्षि के अनन्य भक्त स्वर्गीय बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संगृहीत तथा आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता श्री बाबू घासीराम एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ, द्वारा सम्पादित वा अनूदित।

श्री देवेन्द्रबाबू ने, जिनके हृदय में ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति थी, महर्षि की जीवनी की खोज में निरन्तर १५ वर्ष भारतवर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भ्रमण करके जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रह की। उन्होंने धनवान न होते हुए भी इस कार्य को बिना किसी की विशेष आर्थिक सहायता के अकेले ही करने का संकल्प किया था। इस कार्य के लिये उन्हें सहस्रों मीलों का सफर करना पड़ा और एक एक घटना की सत्यता जांचने के लिये भारी से भारी कष्ट उठाना पड़ा।

आप जब समस्त आवश्यक सामग्री एकत्रित कर चुके और सर्वाङ्गसुन्दर वा सर्वाङ्गपूर्ण जीवनी लिखने को बैठे तथा प्रारम्भिक भाग लिख भी लिया, उसी समय आपका स्वर्गवास हो गया और इस जीवन-चरित के प्रकाशन की लालसा आपके हृदय में ही रह गई। इस हृदय-विदारक समाचार को पाकर—

श्री पं० घासीरामजी एम. ए., एल-एल. बी., मेरठ निवासी,

भूतपूर्व प्रधान आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, (जो देवेन्द्रबाबू के परम परिचितों में थे) ने वह सारी सामग्री बहुत यत्न और व्यय करके प्राप्त की। उसके एक एक कागज को पढ़ा तथा बंगला से हिन्दी में अनुवाद कर क्रमबद्ध किया। इस कार्य में आपको भी बड़ा परिश्रम और बहुतसा धन व्यय करना पड़ा, क्योंकि आपको सैकड़ों कागज, हजारों छोटे छोटे पुर्जे, नोट-बुक और पत्रादि ऐसे मिले जो किसी क्रम में न थे। अब आप स्वयम् विचारें कि यह जीवन-चरित कितना उत्तम व प्रामाणिक है।

यह जीवन-चरित रायल अठपेजी के [illegible] पृष्ठों से भी अधिक पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इस में बहुत से सादे व तिरंगे चित्र लगाये गये हैं जिन से ऋषि के चरित्र की बहुतसी अज्ञात बातें खुलती हैं। इस जीवन-चरित्र से बहुत सी नयी बातें पढ़ने को प्राप्त होंगी। और बहुत सी प्रचलित असत्य बातों की विवेचना करके यथार्थ घटना का उल्लेख किया गया है।

ऋषि दयानन्द के चरण चिन्हों पर चलने और ऋषि दयानन्द के विचारों का ठीक २ अनुशीलन करने के लिये प्रत्येक आर्यपुरुष को इस जीवन-चरित का मनन पूर्वक अध्ययन करना चाहिये। प्रत्येक आर्यसमाज में इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य होनी चाहिये। साप्ताहिक सत्संगों में ऋषि के जीवन की गाथा का उपकथन होना चाहिये जिससे ऋषि के जीवन और विचारों और उसके महान कार्यों को जनता भली भांति जाने।

यह बात भली प्रकार जानलें कि इतना विशाल ग्रन्थ बार २ नहीं छपता। एक बार समाप्त हो जाने पर फिर इसके संस्करण के लिये कई वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। जिन्होंने प्रथम भाग ले लिया है वे दूसरा भाग शीघ्र मंगालें। पत्र व्यवहार का पता

मैनेजिंग डाइरेक्टर,—आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर।

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।

वर्ष २ जून सन् १९३४ ई० [अंक ६

ओ३म्

वैदिक विज्ञान

आर्य्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुख्यपत्र

श्री दण्डी गुरु विरजानन्द सरस्वती

विज्ञानमुनि पं० गुरुदत्त

महर्षि दयानन्द सरस्वती

आर्यपथिक पं० लेखराम

अमरकीर्त्ति श्रद्धानन्द सरस्वती

अवैतनिक सम्पादक प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २॥),नमूने की प्रति ।≤) के टिकट भेज कर मँगाइये

२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो,अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:—
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।

साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।

छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१२) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१०) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी देना होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।), नमूने की प्रति ।=) के टिकट भेज कर मँगाइये

२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो, अपने ही पोस्ट आफिस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:—
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

विषय-सूची

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थो के तत्त्वो पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्य सिद्धान्तो और आर्य वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २	ज्येष्ठ संवत् १९९१ वि०, जून सन् १९३४ ई०	सं० ६

वेदोपदेश

छिद्र-पूर्त्ति

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।

विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः स दधातु बृहस्पतिः ॥ अथर्व०१९।४०।१॥

(मनस) मन का (यत्) जो (मे) मेरा (छिद्रम्) छिद्र है, (च) और (यत्) जो (वाच) वाणी का छिद्र है, (मन्युम्) उस क्रोध रूपी मेरे छिद्र का (सरस्वती) विद्या (अन्त जगाम) अन्त कर दे । (बृहस्पति) वाणी का पति आत्मा (विश्वै देवै सह) सब देवो के साथ (सविदान) एक मत होकर (तद्) उस क्रोध रूपी छिद्र का (सदधातु) जोड़ दे, पूरा कर दे, भर दे ।

मनुष्य-जीवन मे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि नाना प्रकार के छिद्र है । "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति" अर्थात् छिद्रो के रहते हुए मनुष्य के जीवन मे नाना अनर्थ होते रहते हैं । ऐसा कोई विरला ही मनुष्य ससार मे होगा जिसके कि जीवन मे कोई न कोई छिद्र न हो । परन्तु मनुष्य भूल करता है जब कि वह अपने इन छिद्रो से आखे बन्द कर लेने की कोशिश करता है, जब कि वह अपने छिद्रो के

सम्बन्ध में अपने आप को भ्रम मे रखने का यत्न करता है। मनुष्य अपने जीवन के छिद्रो को देखना नही चाहता और अपन से भिन्न व्यक्तियो के जीवनो मे उन छिद्रो को बहुत बढा कर देखना चाहता है। सामाजिक जीवन का यह भी एक महाछिद्र है। इस का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति न तो अपन जीवन को ही सुधार पाता है, क्याकि वह अपन छिद्रो को देखता नही और न सामाजिक जावन मे वह प्रसन्न ही रहता है, क्याकि सामाजिक-जीवन उसे छिद्रमय और दोषपूर्ण दृष्टि-गाचर होता है। वेद हरेक मनुष्य को अपन २ छिद्रा क देखन का उपदेश दता है।

उपरोक्त मन्त्र मे क्रोध रूपी छिद्र का वर्णन किया है। क्राध रूपी छिद्र मन और वाणी मे प्राय प्रकट होता है। सभी विचारो या सकल्पो का चाहे शुभ हो या अशुभ, मूलस्थान या भूमि मन है। जिन विचारो या सकल्पो का हम रोकना चाहत है या जिन पर हम विजय पाना चाहत हैं उन क सम्बन्ध मे हमे यह निश्चय कर लना चाहिये कि इन्हे हम अपन मन मे स्थान न देंगे। मन मे इन्हे स्थान देत ही ये जीवन पर अपनी मार करनी आरम्भ कर दत है। मनुष्य क जीवन मे य विचार मन के द्वार स अन्दर प्रवेश पाते है। मन के कपाट यदि कुविचारो या अशुभ सकल्पो के लिय बन्द रह तो य शरीर मे प्रवेश नही पा सकेंगे। इसी लिय ऊपर क मन्त्र मे पहल मन के छिद्र का वर्णन किया है।

मन के छिद्रा का असर फिर वाणी पर होता है। मन मे बैठा हुआ क्राध भाव वाणी मे प्रकट होता है। बहुत स लोग इस क्राध को शरीर मे लाने की अवस्था तक नही जाते। मन मे क्रोध की लहर उठी, वह वाणी को क्षुब्ध कर प्राय नष्ट हो जाती है। शरीर तक वह लहर प्राय असर नही करती। जहा कही असर करती है तो वह लहर मार पीट की अवस्था तक मनुष्य को गिरा देती है जिसके कि परिणाम सामाजिक-जीवन मे कई बार बडे २ भयकर हा जाते हैं। सभ्य समाज मे क्रोध का प्रभाव शारीरिक मार पीट तक प्राय नहीं होता, परन्तु इस सभ्य समाज क व्यक्तियो मे मन तथा वाणी इस क्रोध रूप छिद्र स प्राय दूषित रहते है। वेद उपदश दता है कि यह छिद्र मन तथा वाणी मे भी नही रहना चाहिय।

इस छिद्र को दूर करने का क्या उपाय है ? वेद ने इस छिद्र के भरन का उपाय कहा है—"सरस्वती" अर्थात् विद्या, ज्ञान। ऊपर क मन्त्र मे कहा है कि सरस्वती, विद्या अर्थात ज्ञान इस छिद्र का अन्त कर दता है। यह बात है भा अनुभव क अनुकूल। वास्तव म विद्या या ज्ञान ही ऐसा एक उपाय है जा कि इन छिद्रा क नाश करन म समर्थ हो सकता है। जिस ज्ञान नहीं कि छिद्र अनथकारी भी हात है या जिस ज्ञान नहीं कि ऐस छिद्रा पर विजय किस प्रकार प्राप्त करनी चाहिय वह व्यक्ति इन छिद्रा क छाडन मे न ता उद्यत ही हा सकता है और न इन पर विजय ही पा सकता है।

दूसरा उपाय दर्शाया है-"आत्मा का सब देवो के साथ ऐकमत्य"। सत्सग का प्रभाव महान् होता है। सत्सग के काष्ठ के साथ लोहा भी तर जाता है। यह आत्मा जो कि बृहस्पति है, वाणी का पति है, जब देवा के साथ, समाज क दिव्य जीवनो वाले व्यक्ति के साथ सत्सग करता है ता इन के सत्सग का प्रभाव इस क्रोधी आत्मा पर भी शनै २ होने लगता है। इस

लिये ऐसे २ अशुभ संकल्पो पर विजय पाने के निमित्त इस मन्त्र मे सत्संग की महिमा भी गाई गई है।

ज्ञान और सत्संग, दो साधन इस प्रकार के है कि इन साधनो का अवलम्ब लेकर हम अपने क्रोध रूपी छिद्र को दूर कर सकते है।

वैदिक साम्यवाद

[ले०—श्री पूज्य नारायण स्वामीजी महाराज]

ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरासाप्तानि सुन्वते।
एकमेक सुशस्तिभिः॥ ऋ० १। २०। ७॥

जो (सुशस्तिभि) उत्तम विद्वान् (माप्तानि, एकमेकं, त्रिरा, सुन्वते) सात प्रकार के कर्मों मे से एक एक करक त्रिगुणित फल प्राप्त करते हैं (ते, नो, रत्नानि धत्तन) वे हमारे लिय रत्नो को धारण करते है।

सात प्रकार के कर्म आश्रम और वर्ण है—परन्तु ४ आश्रम और ४ वर्णों का योग ८ होता है। इसलिये पहिले मैं यही बतलाता हूँ कि किस प्रकार इनका योग ७ ही होता है। मनुस्मृति मे जा वर्णों का कर्त्तव्य विधान किया गया है वह विधान दा भागो मे विभक्त है:—(१) परलोक सम्बन्धी कर्त्तव्य (२) लोक सम्बन्धी कर्त्तव्य। इनमे से परलोक सम्बन्धी कर्त्तव्य समस्त वर्णों के एक ही हैं अर्थात् वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना। वर्णों का भेद केवल लाक (जीविकोपलब्धि) सम्बन्धी कर्त्तव्य मे है अर्थात् ब्राह्मण, वेद पढ़ा, यज्ञ करा और दान लेकर जीविकोपलब्धि करे, क्षत्रिय प्रजा का रक्षणादि राज्य सम्बन्धी काम करके, वैश्य कृषि व्यापार आदि से और शूद्र शारीरिक परिश्रम करके धन प्राप्त करे। अत स्पष्ट है कि वर्ण वृत्ति पर निर्भर है और वृत्ति प्राप्ति अथवा धनोपार्जन करना केवल गृहस्थाश्रमियो के लिये तो विहित है परन्तु अन्य (तीनो) आश्रमियो के लिये निषिद्ध। इसलिये गृहस्थाश्रम के ४ वर्णों मे बट जाने से, ये ४ बाकी ३ आश्रम (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यस्त) मिलकर ७ ही की संख्या लब्ध होती है। उपर्युक्त मन्त्र मे इसी लिये ७ प्रकार के कर्मों का उल्लेख हुआ है।

प्राचीन काल म, जन्म से वर्ण मानने की प्रचलित प्रथा का अभाव था और वर्ण मे गुण कर्म का इतना प्राबल्य था कि लकड़ी को भी उसकी योग्यतानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कहा जाता था। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गवासी डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने संस्कृत के हस्त लिखित ग्रन्थो का संक्षिप्त विवरण अनेक जिल्दो मे लिख कर History of Sanskrit manuscripts के नाम से प्रकाशित किया था। इस माला की पहली जिल्द मे वनस्पति विद्या से सम्बन्धित एक ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। ग्रन्थ का नाम "वृक्षायुर्वेद" (Science of plant life) है, यह ग्रन्थ एक विद्वान् भोज धारापति की रचना है। ग्रन्थकर्त्ता ने अपने ग्रन्थ में लकड़ी के अन्दर ब्राह्मणादि वर्णों के होने की बात उठाते हुए बतलाया है कि जहाज के बनाने मे, उसके

किस हिस्से में, किस वर्ण की लकड़ी का प्रयोग होना चाहिये । लकड़ी का वर्णभेद इस प्रकार प्रकट किया है.—

1 Brahman class wood—that is light & soft and can be easily joined to any other kind of wood

2. Kshatriya class wood—that is light and hard but cannot be joined on to other classes

3 Vaishya class wood—soft and heavy

4. Shudra class wood—is characterized by both hardness and heavyness.

अर्थात् उस लकड़ी को ब्राह्मण कहते थे जो हलकी और मुलायम हो और सुगमता से अन्य लकडियो से जोड़ी जा सके । क्षत्रिय लकड़ी वह कही जाती थी जो हलकी और सख्त हो और दूसरी लकडियो से न जोड़ी जा सके । वैश्य लकड़ी मुलायम परन्तु भारी होती थी और शूद्र लकड़ी कठारता और भारी पन के लिये प्रसिद्ध थी ।

इन वर्णों मे किसी प्रकार की छुटाई बड़ाई का भाव नहीं है—और न उचित रीति से हो सकता है । जिन वस्तुओं मे श्रेणी का भेद होता है उनमे दरजों का भेद नहीं होता । दरजों (Degree) का भेद केवल एक श्रेणी (Kind) की वस्तुओ मे हुआ करता है । उदाहरणार्थ यह नही कह सकते कि मेज अच्छी है या घड़ी ? क्योंकि इनमे श्रेणी का भेद है । हां, १० घड़ियों में यह बतलाया जा सकता है कि कौन सी अधिक श्रेष्ठ और कौनसी अल्प श्रेष्ठ है, क्योंकि वे एक ही श्रेणी (Kind) की वस्तु हैं । इस नियम को लक्ष्य में रखते हुए जब वर्णों पर दृष्टि डाली जाती है तो उनमें श्रेणी का भेद पाया जाता है । गुण, कर्म की दृष्टि से प्रत्येक वर्ण पृथक् २ है । इसलिये उनमे दरजो का भेद नहीं हो सकता और दरजों का भेद न होने से किसी वर्ण को छोटा या बड़ा नही कह सकते ।

इसलिये वेद मे एक जगह कहा गया है:—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते स भ्रातरो वावृधु सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषा सुदुघा पृश्नि सुदिना मरुद्भ्य ॥
ऋ० ५।६०।५॥

अर्थात् "सब मनुष्य आपस मे भाई भाई की तरह मिलकर सौभाग्य प्राप्ति के लिये वृद्धि करे । इनमे कोई छोटा या बड़ा नही है । सर्व शक्तिमान् (रुद्र) परमेश्वर इन सब का पिता और अनक प्रकार क भोजन देन वाली पृथिवी सब की माता है । अस्तु,

वैदिक साम्यवाद का रूप अब स्पष्ट हो गया । पुरुष स्त्री में भाई बहिन का सम्बन्ध है, वे एक ही पिता (ईश्वर) और माता (पृथिवी) की सन्तान हैं और सब बराबर हैं । उनमें से प्रत्येक को प्रारम्भिक जीवन (ब्रह्मचर्याश्रम) गरीबी (निर्धनता) के साथ व्यतीत करना पड़ता है । केवल दूसरे (गृहस्थाश्रम) मे प्रत्येक को धन कमाने का अधिकार है । इसके बाद अन्त के दो (वानप्रस्थ और संन्यास) आश्रमों में फिर प्रत्येक को निर्धनता का जीवन व्यतीत करना पड़ता है ।

इस प्रकार जब प्रत्येक मनुष्य को आरम्भ और अन्त दोनों ओर निर्धनता का जीवन व्यतीत करने के

लिये बाधित होना पड़े तो फिर श्रम (Labour) और पूंजी (Capital) का झगड़ा किस प्रकार हो सकता है ? इस वैदिक साम्यवाद में हिंसा और प्रतिहिंसा आदि किसी की भी गुंजाइश नहीं है।

पुनर्जन्म

(श्री प० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार)

(३)

(गतांक से आगे)

(४) आत्मा के स्वरूप या आत्मा के स्वभाव से पुनर्जन्म सिद्ध होता है

आत्मा जैसे अपने नाश को नहीं सोच सकता इसी प्रकार अपनी उत्पत्ति को भी नहीं सोच सकता। निद्रा तथा विस्मृति मे भी अविकल रूप से किसी एक चेतनता का ज्ञान रहता ही है। बेहोशी होने के बाद बेहोशी से पहिले की बातें भूल नही जाती, याद रहती हैं। इस का यह अभिप्राय है कि जिस समय चेतनता की धारा टूट गई मालूम पड़ती है उस समय भी वह टूटी नहीं होती। उस धारा का निरन्तर बहने वाला प्रवाह किसी न किसी रूप मे बना ही रहता है। यह अविकल निरन्तर चेतनता, जिस से हम निद्रा या बेहोशी के बाद फिर अपने को पहिचान लेते हैं, सिद्ध करती है कि आत्मा वर्तमान शरीर से स्वतन्त्र है, और शरीर आत्मा का जेलखाना है। खूब भर पेट सोने के बाद यह कैसे मालूम पड़ता है कि मैं बड़े आनन्द से सोया ? शरीर तो सोने की अवस्था में ज्ञान ले रहा नहीं था। इस से मालूम पड़ता है कि शरीर में कोई शक्ति है जो सोने के समय में भी ज्ञान रूप मे नहीं तो अज्ञान रूप में शरीर को अपना साधन समझती रहती है, अपने भिन्न २ ज्ञानों को जोड़ती रहती है, पिरोती रहती है। तो इस युक्ति से अगर यह मान लिया जाय कि शरीर के अतिरिक्त आत्मा है आत्मा का शरीर से अलग स्वरूप है और अगर यह मान लिया जाय कि शरीर के अतिरिक्त स्वरूप वाला आत्मा इस मानव शरीर मे प्रकट हुआ है तब यह मानने में क्या आपत्ति रह जाती है कि जिस प्रकार आत्मा मानव रूप में इस समय प्रकट हुआ है, उसी प्रकार अन्य समयों मे भी प्रकट हो सकता है। अगर आत्मा है, वह अनादि तथा अनन्त है और इस समय मनुष्य शरीर में आया हुआ है तो इस प्रक्रिया का यह युक्तियुक्त परिणाम है कि इस जन्म मे आने की तरह वह अन्य जन्मान्तरों में भी चक्कर काटे। हम में पहिले देखी चीज़ को पहिचानने की शक्ति है, हम में यह भी ज्ञान है कि जो मैं कल था वही आज हूं। हमारा यही ज्ञान विस्मृति तथा निद्रा को खाई को अरता रहता है। यह तादात्म्य की अनुभूति जिसके [illegible] है वही आत्मा है। जिस प्रकार विस्मृति तथा निद्रा के टूटने पर तादात्म्य का फिर से ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार यह समझा जा सकता है कि हम इस जन्म रूपी निद्रा

की अवस्था के कारण पूर्व जन्म की अवस्थाओं को भुलाए हुए है जिनकी नीद के टूटने पर ज्ञान हो सकता है। जिस प्रकार एक ही जन्म में निद्रा के द्वारा चेतनता की धारा टूटती सी प्रतीत होती है इसी प्रकार वर्तमान जन्म के कारण चेतनता की अनादि तथा अनन्त धारा टूटती प्रतीत होती है। निद्रा के बाद जैसे जीवन की धारा फिर एक हा जाती है। इसी प्रकार इस जन्म क बाद आत्मा की धारा एक अखण्ड, अविरत धारा के रूप मे बहने लगती है। निद्रा के बाद हम नया जीवन नही शुरु करत, उसी जीवन को आगे ले चलते हैं। इसी प्रकार इस जन्म मे आकर हम नया जन्म नही शुरु करते, पिछले जन्म का ही आगे ल चलत हैं। नीद स उठ कर जैसे मनुष्य अलसाया सा होता है इसी प्रकार इस जीवन को प्रारम्भ करते हुए हम अलसाये से हात है। आत्मा का ऐसा ही स्वरूप है। बच्चे का मानसिक विकास इस कथन की पुष्टि करता है। बच्चा पिछले जन्म की मानो नींद से उठा है, इसलिये वह अभी पूर्ण जागृत नही दिखाई देता, अलसाया हुआ दिखाई देता है, परन्तु इस अलसाने का यह मतलब नही कि वह जीवन को नये सिरे से शुरु करता है।

जीवन की अनेक अवस्थाओं के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि हमारा जीवन शरीर से सर्वथा भिन्न है, स्वप्न समाधि तथा इसी प्रकार की दूसरी अवस्थाए क्या सिद्ध करती हैं? इस समय हम इन्द्रियो स काम नही ल रहे होव परन्तु हम ठीक ऐसा अनुभव कर रहे हावे हैं जैसा इन्द्रियो से काम लवे समय हम अनुभव करते हैं। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही हो सकता है कि इन्द्रिया ज्ञान का सचय करके जीवन की किसी ऐसी शक्ति को सुपुर्द करती रहती हैं जो बिना इन्द्रियो के भी उस ज्ञान का उपयोग कर सकती है। कहा जा सकता है कि स्वप्न तथा समाधि म स्मृति शक्ति काम कर रही होती है और इसका आधार हमारा मस्तिष्क है। परन्तु इन अवस्थाओ मे स्मृति शक्ति काम नही कर रही होती। हमे उन चीजो का स्मरण नहीं आ रहा होता जिन्हे हमने देखा होता है। समाधि (Trance) मे तो जो अनुभव होता है उसका स्मृति से कोई सम्बन्ध ही नही होता। इन अनुभवो मे मुख्य इन्द्रियो से शरीर से, स्मृति से सब से ऊपर उठ जाता है। क्या ये अनुभव यह सिद्ध नही करत कि शरीर से ऊपर उठ जाने वाली शक्ति—जा शरार को, इन्द्रियो को, स्मृति को "अपना" अनुभव करती है—इन सब से भिन्न है। यही शक्ति आत्मा है।

हमारा यह आत्मा इस ससार मे आया है। क्यो? इसलिय कि उसमे पार्थिव भोगो तथा पार्थिव अनुभवो मे स गुजरने का जो इच्छा है उसे पूरा कर सके। इसके अतिरिक्त आत्मा के इस भौतिक जीवन मे आने का उद्देश्य ही क्या हो सकता है? और अगर आत्मा का इस जीवन में आने का उद्देश्य यहा का अनुभव प्राप्त करके अपना विकास करना है ता क्या यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि पृथिवी के अनुभवो को पूरा प्राप्त किये बिना ही आत्मा चल दे, या वह खत्म ही हो जाय, या उसे एक दम स्वर्ग या नरक मे ही भेज दिया जाय? मनुष्य का चाहे कितना ही बड़े से बड़ा जीवन क्यो न हो एक जन्म में वह इस पृथिवी लोक का क्या २ अनुभव कर सकता है? जो बिचारे छोटी आयु के होत हैं

उनका तो १०-१५ साल के अरसे में कुछ बन ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त जो पैदा होते ही चल बसते हैं उनका तो आना ही निष्फल हो जाता होगा।

कई विचारकों का कहना है कि हमारे जीवन में कई ऐसे विचार हैं जो अनुभव से उत्पन्न नहीं होते, जो हमारे जन्म के साथ आते हैं, जो हमारी मानसिक रचना के एक प्रकार से हिस्से हैं उदाहरणार्थ कारण, सत्ता देश, काल के विचार, ऐसे विचार हैं, जो अनुभव से हमें प्राप्त हुए हों ऐसी बात नहीं, परन्तु इनका ज्ञान हमारे भीतर स्वतः विद्यमान है। अनुभववादी (Sensationist) कहते हैं कि नहीं ये विचार भी अनुभव से ही प्राप्त हुए हैं। स्पेन्सर तथा उसके अनुयायी, इन दोनों विचारकों के बीच के मार्ग का अवलम्बन करते हैं। उनका कथन है कि ये विचार आते तो अनुभव से ही हैं परन्तु अब ये विचार पैतृक वंश परम्परा के अनुसार आते हैं। हमारे पूर्वजों ने धीरे २ इन विचारों को प्राप्त किया, अनुभव से उपलब्ध किया। अब वही अनुभव पैतृक संस्कारों के तौर से आगे चलता है और हमें अनुभव की प्रक्रियाओं से गुजरे बगैर भी इन विचारों का ज्ञान होता है। इन विचारों में कौन सा ठीक है, और कौन सा ग़लत है— इस सम्बन्ध में मनोविज्ञानियों में बहुत वाद-विवाद है, परन्तु अगर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मान लिया जाय तो इन सब का समन्वय हो जाता है और सब ग्रन्थियां सुलझ जाती हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार हमने इन विचारों का शुरु में तो अपने ही अनुभव से प्राप्त किया होगा परन्तु हमें इतने जन्म जन्मान्तरों में से गुजरना पड़ा है कि अब इन विचारों को प्राप्त करने के लिये इनके अनुभवों में से गुजरने की आवश्यकता नहीं रही, यह विचार हमारी मानसिक रचना के ही अभिन्न हिस्से हो गये हैं। आत्माओं का जो वैविध्य पाया जाता है, वह भी इसी बात को सिद्ध करता है कि आत्मा भिन्न २ जन्मों से होकर भिन्न २ प्रवृत्तियों को धारण कर चुका है। एक ही आत्मा में भी आन्तरिक कलह चलता रहता है। उसकी प्रवृत्तियां तथा स्वभाव उसे एक तरफ़ खींचते हैं। और वह दूसरी तरफ़ जाना चाहता है। उद्योग करने पर भी हम अपने स्वभाव के काबू रहते हैं। यह स्वभाव पिछले जन्म से चला आ रहा है, ऐसा मान लेने से ही समस्या हल होती है अन्यथा नहीं।

(५) पुनर्जन्म का सिद्धान्त मनुष्य के पापी होने के प्रश्न को भी हल करता है

पैलेजियस का विश्वास था कि मनुष्य पैदाइश के समय पापरहित पैदा होता है, आगस्टाइन का विश्वास था कि सब पापी ही पैदा होते हैं। इन दोनों विवादों के कारण ईसाइयत के सदा से दो भाग रहे हैं। युरोप के इतिहास के उस काल में जिसे 'रिफार्मेशन' कहा जाता है इरेस्मस तथा उसके अनुयायी यह मानते थे कि मनुष्य पाप की गठड़ी को पीठ पर लादकर पैदा होता है इस की अपेक्षा वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति को लेकर उत्पन्न होता है यह मानना ही अधिक युक्तियुक्त है। इसके विरुद्ध लूथर के अनुयायियों का विचार था कि मनुष्य जाति पूर्ण पाप के वश में है। ईसाइयों में अधिक संख्या इसी विचार को मानती है कि मनुष्य जन्म से ही पापी पैदा होता है। सेण्ट पॉल के अनुसार आदम ने ईश्वर की आज्ञा न मानकर अदन के बाग़ का निषिद्ध फल जो खा लिया था उसके कारण वह पापी हो गया था। हम सब आदम की ही सन्तान

हैं, इसलिये हम उस पाप की वसीयत को लेकर ही पैदा होते हैं। क्योंकि हम जन्म से ही पापी हैं, वह पाप हमारे कर्म से नहीं परन्तु आदम के कर्म से हुआ है अतः उसे हम अपने कर्म से धो भी नहीं सकते। उसी को धोने के लिए ईसा मसीह का जन्म हुआ। ईसा मसीह ने सूली पर चढ़कर उस पाप का फल हम सब के लिये भोग लिया। जो ईसा में विश्वास ले आते हैं उनका पाप धुल जाता है दूसरों का नहीं। इस विचार को बहुत से चर्चों में यद्यपि स्वीकार किया जाता है तो भी यह साधारण बुद्धि के प्रतिकूल है। यह वास्तविक कठिनाई को हल नहीं कर सकता। पाप को आदम की जिम्मेवारी पर छोड़ने से कठिनाई किसी प्रकार हल नहीं होती क्योंकि अपने पाप का दूसरा जिम्मेवार नहीं हो सकता। हां, आदम को ही अपना पुराना आत्मा यदि समझलें तो आदम द्वारा हमारा पापी होना पूर्वजन्म का ही रूपान्तर है।

कई बच्चों में प्रारम्भ से ही पाप करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इससे भी उन्हें इस जन्म से पूर्व इस पापमय संसार का सम्पर्क हो चुका होगा यह अनुमान होता है। पलेजियस का विचार कि बच्चे शुद्ध निष्कलंक पैदा होते हैं, ठीक नहीं है, परन्तु इस के साथ सेण्ट आगस्टाइन का विचार भी अशुद्ध है क्योंकि मनुष्य चाहे कितना भी पापी क्यों न हो उसकी धार्मिक प्रवृत्ति दबी नहीं रहती। पापी से पापी भी जब अपनी कुप्रवृत्तियों में से गुजरता गुजरता थक जाता है तब उन्हें स्वयं छोड़ देता है। हमारा पापमय जीवन कई वार इसी लिये होता है कि हम उसमें से गुजर कर उसकी हेयता का पूरा पूरा अनुभव करलें और फिर उधर हमारा खिंचाव होना बंद हो जाय।

कई वार मनुष्य को अपने पापी होने का इतना ~~प्रबल~~ अनुभव होता है कि वह समझने लगता है कि यह पाप इस जन्म से नहीं आया। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस जन्म में उसने कहीं से एकदम हरिण की तरह छलांग मार दी है और उसकी पीठ पर पाप ऐसे गड़ा हुआ है जैसे हरिण की पीठ पर चीते के पञ्जे। वह अपने को इन से छुड़ाना चाहता है परन्तु छुड़ा नहीं सकता। इसका उत्तर ईसाइयत आदम की कथा से देती है। आदम ने पाप किया था इसलिये उसका पाप पैत्रिक परम्परा के रूप में हम तक भी चला आ रहा है। परन्तु हमारे पापों के लिए दूसरा कैसे जिम्मेवार हो सकता है। मनुष्य की पापमय अवस्था का कारण आदम को नहीं माना जा सकता है। इसका कारण केवल यह हो सकता है कि हमने प्राचीन जन्मों में निरन्तर दैवी भावों को रोका है और बुराई को अपने भीतर आने दिया है। ईसाइयत के प्रारम्भ में ओरिजन (Origen) नामक व्यक्ति ने 'संसार में शुरु २ में पाप कहां से आया' इस प्रश्न का समाधान करने के लिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रचार किया था, परन्तु (५४१ ई०) कान्स्टेण्टीनोपल में एक कान्फ्रेन्स की गई जिसके द्वारा इस सर्व प्रिय सिद्धान्त को कुचल दिया गया। ईसाइयत ने कभी इसका यथार्थ उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया। यह सिद्धान्त बाइबल के भी अनुकूल है यह भी कइयों ने सिद्ध करने का यत्न किया है। उक्त कौन्सिल से पहिले कई ईसाई इसे मानते भी रहे, परन्तु ५४१ ई० के बाद कट्टर ईसाइयत ने यह घोषणा कर दी कि संसार में पाप का आरम्भ कहां से हुआ इस का समाधान पुनर्जन्म के सिद्धान्त में न ढूंढ कर

आदम के पाप के सिद्धान्त में ढूंढना चाहियें। हम पापी इस लिये नहीं हैं क्योंकि हमने पिछले जन्म में पाप किया था, अर्थात् हम अपने पाप के कारण पापी नहीं हैं परन्तु हम पापी इसलिये हैं कि हमारे आदि पुरखा आदम ने पाप किया था। पाप की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ईसाइयत का यह समाधान किसी का सन्तोष नहीं कर सकता। इसका समाधान तो केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही दे सकता है।

इस जीवन के बाद हमारे उत्तम कर्मों का परिणाम स्वरूप हमे स्वर्ग मिलेगा या निकृष्ट कर्मों के परिणाम में नरक मिलेगा इस प्रकार का जो धार्मिक विश्वास सर्वत्र फैला हुआ है उसका भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त से ही समाधान हो सकता है। ईसाइयत का कथन है कि आत्मा इस अवस्था से एकदम अनन्त अवस्था मे चली जाती है चाहे वह अवस्था सुख की हो या दुःख की हो, स्वर्ग हो या नरक हो। परन्तु यह बात किसी भी युक्ति से समझ नहीं आ सकती। सान्त कर्मों का फल एकदम अनन्त कैसे हो जायगा। इसी लिये रोमन कैथोलिक लोग परगेटरी (Purgatory) को मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा एकदम स्वर्ग या नरक मे नही चला जाता, परन्तु उससे पहिले वह 'परगेटरी' मे रहता है जहा उसके बहुत से पापो का परिशोध होता रहता है। उसके बाद कयामत के समय स्वर्ग या नरक मिलता है। पुनर्जन्म के मानने वालो का यही कथन है कि एक 'परगेटरी' (पापों के परिशोध-स्थान) की जगह यहा पापो के परिशोध के अनेक स्थान हैं और पार्थिव मनुष्य जीवन उन मे से एक है। प्रोटेस्टैण्ट लोगो का विश्वास है कि स्वर्ग तथा नरक की अनेक श्रेणिया हैं। यह बात पुनर्जन्म के नजदीक ही आ

जाती है। प्रोटेस्टैण्ट लोग स्वर्ग तथा नरक की अनेक श्रेणिया तो मानते हैं परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जब हमारी प्रवृत्तिया पार्थिव लोक की हैं तब उन के लिए दण्ड वा पुरस्कार पृथिवी पर ही क्यों न मिले। जो वस्तु जैसी होती है वह अपने समान धर्म वाली वस्तु को खींचती है, यह प्रकृति का एक सामान्य नियम है। ऐसी अवस्था मे यह क्यो न माना जाय कि आत्मा भी पार्थिव प्रवृत्तियो के लिए पार्थिव रूपों को ही धारण करती है। यह क्यों माना जाय कि पार्थिव प्रवृत्तियो का फल भोगन के लिये आत्मा को स्वर्ग तथा नरक की भिन्न २ श्रेणियो मे जाना पड़ता है।

(६) पुनर्जन्म अनेक अद्भुत अनुभवों की व्याख्या करता है

कइयो को ऐसे अनुभव हुए हैं जो मानों पुरानी याददाश्त को फिर से ताजा करते मालूम पड़ते हैं। पुराने दृश्यो के धुधले धुधले स्वप्न किसे नहीं आते ? कभी २ दूर की विस्मृति के अन्धकार मे लीन घटनाएँ एकदम स्मृति के प्रकाश मे आ जाती हैं और मनुष्य को आश्चर्य मे डाल देती है। ऐसे अवसरों पर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो प्रकृति ने हमें मूर्छा मे लाते हुए हमारी पुरातन स्मृतियो को बिलकुल नहीं मिटाया और हम उन अनुभवो को जो हमारे सामने पिछली किसी अवस्था के संस्कारो को लेकर अस्पष्ट रूप मे आते हैं, जानने का यत्न करने लगते हैं। कभी २ किसी अपरिचित चीज को देखकर ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि हमने उसे पहले कहीं देख रखा है। कई वस्तुओं का ज्ञान, कई चेहरो को पहिले पहल देखना, ये ऐसे अनुभव है जो हमे कभी २ ऐसा याद

कराते हैं मानों इनसे हम पहले से ही परिचित हैं। कभी २ भ्रमण करते हुए हम ऐसे स्थान पर पहुंच जाते है कि मालूम होने लगता है कि हम यहां पहिले आ चुके हैं। प्रत्येक मनुष्य को इस प्रकार के अनुभव हैं। कई तो इस प्रकार के अनुभव अस्पष्ट से होते हैं परन्तु कई इतने स्पष्ट होते हैं कि अनुभव करने वाला यह महसूस करने लगता है कि उसका ज्ञान विगत जन्म के अनुभवो पर आश्रित है। कई लोग इस प्रकार अपने विगत जन्म के इतिहास को भी कई अंशो तक बता सकते हैं। सर वाल्टर स्कॉट इन अनुभवो से प्रभावित होकर पुनर्जन्म को मानने लगा था। वह अपनी डायरी मे एक स्थल पर लिखता है कि मालूम नही क्यों कल भोजन के समय मुझे पूर्व स्थिति का अनुभव होने लगा। ऐसा मालूम होने लगा कि जो कुछ मै देख या सुन रहा था वह पहले भी कभी देख या सुन चुका हूँ। इन्ही विषयो पर तथा इन्ही मनुष्यो के साथ पहले भी कभी बात चीत कर चुका हूँ, यह अनुभव बहुत जबर्दस्त प्रतीत होता था। कल तबीयत बहुत घबराई हुई थी और दिल में बर्कले के विचारमय जगत् (Ideal world) की कल्पना आने लगी। मैं जो कुछ कर या कह रहा था उसमें अवास्तविकता का घृणोत्पादक अनुभव हो रहा था। हेनरी बर्ट्रम लिखता है कि क्या कारण है कि कई दृश्य उन विचार शृङ्खलाओ को उत्पन्न कर देते हैं जो मानो हमारे किन्हीं प्रारम्भिक अनुभवो को जागृत कर रहे हो। कितनी वार हम समाज मे ऐसे नये व्यक्तियों से मिलते है जिन्हे मिलने से यह मालूम होने लगता है कि वे लोग हमारे लिये नये नही हैं।

बलवर लिटन कहता है कि हमारे अन्तरात्मा में कोई ~~आध्यात्मिक~~ स्मृति अवश्य बनी रहती होगी तभी तो हम कभी २ किन्ही स्थानों तथा मनुष्यो को देखकर ऐसा अनुभव करने लगते हैं मानो हम उन्हे पहचान मे रहे हो, उनके विषय में अपनी स्मृति को ताजा सा कर रहे हो। इसी को प्लेटो के अनुयायी पूर्व जन्म की न बुझी हुई जीवित चेतना (Unquenched and struggling consciousness of former life) का नाम देते हैं। लिटन महोदय आगे चल कर अपनी पुस्तक गोडाल्फिन (Godolphin) में लिखते हैं कि क्या ही आश्चर्य की बात है कि हमारे जीवन में कभी २ ऐसे अवसर आते हैं जब हम कई ऐसे स्थानो पर आ पहुंचते हैं कि कई वार उन दृश्यो का स्वप्नमय भूत से सम्बन्ध सा जान पड़ने लगता है और कई वार उन्ही दृश्यो का भविष्यत् से भी कोई सम्बन्ध होता है और उन्हे देखकर मनुष्य सोच विचार मे पड़ जाता है। कई स्थलो तथा समयो पर प्रत्येक व्यक्ति का इस प्रकार के आश्चर्यजनक अनुभव होते हैं और साथ यह भी मालूम होने लगता है कि हम इन सब घटनाओ का कारण पता लगाने मे असमर्थ हैं।

एडगर ए० पो० महाशय लिखते है कि हम इस संसार मे अपने भाग्यचक्र मे घूमते हुए भी, इससे भी बड़े भाग्यचक्र की धीमी धीमी स्मृति से हर समय घिरे रहते हैं। जवानी मे भी हम कई प्रकार की स्वप्न सम धुंधली स्मृतियो से घिरे रहते हैं परन्तु साथ ही हमे यह भी अनुभव हो रहा होता है कि वे स्मृतियां स्वप्नमात्र नही हैं। जहा तक हमारा अनुभव हमें ले जाता है, ऐसा मालूम होता है कि वे हमारे अनुभव किसी पिछली घटना की पुन स्मृतियां हैं। जब हमें

ऐसा अनुभव हो रहा होता है उस समय हमें यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा होता है कि हमारे उस अवस्था के अनुभव 'स्वप्न' नहीं होते, 'स्मृतियां' होती हैं और उस समय यह भेद इतना स्पष्ट मालूम होता है कि हम इन दोनों को मिलाते नहीं और समझते हैं कि ये किसी प्रकार की स्मृतियां हैं, साधारण स्वप्न मात्र नहीं।

इस प्रकार के स्पष्ट अनुभवों का वर्णन हौथोर्न (Houthorne), विलिस (Willis), कोलरिज (Coleridge), डि क्विन्सी (De quincy) आदि अनेक लेखकों ने किया है। विलियम होम (William Home), को तो ३० वर्ष की अवस्था में इस प्रकार का अनुभव इस जोरों से हुआ कि तब से वह कट्टर नास्तिकता को छोड़कर प्रकृति से भिन्न आत्मा की सत्ता में विश्वास करने लगा। वह कहता है कि लण्डन में अपने व्यापार के सम्बन्ध में एक घर के सामने मैं गया जहां मैं पहले कभी न गया था। मुझे एक कमरे में बैठने को कहा गया। जब मैंने चारो तरफ देखा तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सब कुछ परिचित जान पड़ने लगा। मैंने सोचा, यह क्या है? मैंने यह जगह कभी न देखी थी परन्तु ऐसा मालूम पड़ने लगा कि मैं वहां का सब कुछ जानता हूं। मुझे ऐसा भी भास होने लगा कि यहां के तख्ते में एक गांठ है। तख्ते को जब खोला गया तो मैंने आश्चर्य से देखा कि उसमें वैसी ही गांठ थी जिसकी मुझे स्मृति थी।

हिन्दुओं का कथन है कि कपिल ने वेदों को पूर्वजन्म की स्मृति से लिखा। विष्णु पुराण में भी ऐसी कई घटनाएं पाई जाती है। पिथागोरस के विषय में कहा जाता है कि उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति थी। कहा जाता है कि आरगस (Argos) में जूनं (Juno) के मन्दिर में उसने उस ढाल को पहिचान लिया जिसके साथ उसने पूर्वजन्म में ट्रोजन युद्ध में यूफोरबस (Euphorbus) के रूप में पैट्रोक्लस (Patroclus) पर आक्रमण किया था। कइयों का कथन है कि ये कहानियां झूठ हैं, परन्तु वर्त्तमान समय में भी कई ऐसी घटनाएं इस बात की यथार्थता को प्रमाणित करती हैं। वाकर महाशय कहते हैं कि उनका एक विद्वान् मित्र अपने पूर्वजन्मों को जानता है और कहता है कि अपने अन्तिम जन्म मे वह स्त्री था, यद्यपि वर्त्तमान अवस्था में उसमें स्त्रीत्व का कोई भी लक्षण नहीं पाया जाता। वाकर का एक और मित्र कहता है कि उसकी एक मात्र मृतकन्या अपनी दूसरी बहिन को याद किया करती थी जिसके विषय में किसी को कुछ पता न था। जब उसे कहा जाता कि तुम्हारी कोई बहिन नहीं है तब वह कन्या कहा करती—"नहीं, मेरी बहिन है और वह स्वर्ग में है।" वही महाशय अपने पड़ोसी की एक घटना का वर्णन करते है और कहते है कि उनके यहां पुनर्जन्म का नाम तक किसी ने नहीं सुना था। कुछ लड़के खेल रहे थे, उनकी माता पास बैठी हुई देख रही थी। खेल में १०० का नम्बर खतम करके फिर से गिनती शुरू हुई। उनमें से एक प्रतिभाशाली बच्चा अपनी मा को कहने लगा—"मां! हम गिनते हैं – १०, २०, ५० और १०० और फिर १० से शुरू कर देते हैं। सब लोग ऐसा ही करते है। गिनती खतम कर फिर से गिनती शुरू कर देते है। मां – लोग ऐसा ही करते हैं। अन्त तक पहुंच कर वे फिर शुरू

करते हैं। मैं भी फिर जब शुरू करूगा तो तू ही मेरी मां होगी "

नोट्स एण्ड करीज (Notes & queries) ग्रन्थ में एक लेखक लिखता है कि एक प्रतिभाशाली विद्वान् महाशय ने जिनका अब देहान्त हो चुका है एक बार मुझे कहा कि उन्होंने स्वप्न मे एक दिन अपने को एक विचित्र शहर मे पाया, परन्तु उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि उस शहर का उन्हे इतना ज्ञान था कि उन्हे उसकी गली गली का पूरा पूरा स्मरण हो आया। कुछ हफ्ते बाद उन्हे लीसेस्टर स्क्वेयर मे एक तसवीर देखने का मौका हुआ। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब कि उन्होंने वही शहर चित्र में भी देखा। फरक यह था कि उस चित्र मे एक चर्च और दिखाई दिया जो इन महाशय को स्मरण नही था। इन्होंने तसवीर दिखाने वाले के पास जाकर उस शहर के विषय मे बात चीत की तो उसने कहा कि यह चर्च हाल ही मे बना है। ऐसी घटनाओ को प्रातिभ ज्ञान (Clairvoyance) की कल्पना द्वारा भी हल नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि अभी उसे वह शहर दिखाई दिया था तो वह हाल का बना चर्च भी दीख पड़ना चाहिये था।

प्रसिद्ध व्याख्याता युजीन एष्टन (Eugene Ashton) ने निम्नलिखित दो घटनाएँ पत्रो मे प्रकाशित की थी— 'न्यूयार्क मे एक वाद्य निपुण स्त्री ने एक भोज में एक अतिथि को कहा कि किसी जन्म मे मैं उम्मीद करती हूं कि मेरी आवाज दोषरहित और सर्वाङ्ग पूर्ण हो जायगी क्योंकि मै इसी काम के लिये उत्पन्न हुई हूं। इन पर उससे पूछा गया कि यदि तुम्हे पुनर्जन्म पर विश्वास है तो क्या तुम अपने पूर्व किसी जन्म के विषय में कुछ बता सकती हो? उसने कहा कि यद्यपि पूर्वजन्म के विषय मे ठीक ठीक तो पता नहीं, परन्तु हां, कई बार मैं ऐसे स्थानो पर गई हूं, जो वर्त्तमान शरीर के लिये नवीन थे परन्तु मेरी आत्मा के लिये नवीन नही प्रतीत हुए।'

'एक दूसरी विदुषी स्त्री अपने पूर्वजन्म के विषय मे कहती है कि मुझे निश्चय है कि मै भूत मे भी मौजूद थी। उसका कहना है कि एक बार जर्मनी मे हेडल-बर्ग के पुराने किले को देखने के लिये हम कई मित्र गये। वहा जा कर मुझे एक दुर्गम कमरे का भान होने लगा। मुझे कागज पेन्सिल दिये गये और मैंने उस कमरे का चित्र खींच दिया। जब हम पीछे उस कमरे मे गये तो मेरा चित्र बिलकुल ठीक पाया गया। मुझे मालूम नही कैसे, परन्तु किसी न किसी प्रकार मेरा उस कमरे से सम्बन्ध अवश्य था। वही स्त्री कहती थी कि उसका दूसरा अनुभव एक पुस्तक के विषय में था। उसे किसी प्रकार यह ज्ञान होने लगा कि हेडल-बर्ग के विश्व विद्यालय मे एक पुस्तक है, और यह भी अनुभव सा हुआ कि इस पुस्तक मे एक पुराने जर्मन प्रोफेसर का नाम लिखा है। अपनी समाज के एक सभासद् को उसने यह अपना अनुभव सुनाया तो पुस्तक के विषय मे खोज की गई। पहले तो पुस्तक नही मिली, परन्तु उस स्त्री का कहना है कि उस का अनुभव प्रबलतर होता गया। दुबारा ढूंढने पर पुस्तक मिल गई और प्रोफेसर का नाम भी उस पर लिखा पाया गया। पीछे से उस स्त्री को अन्य अनेक बातो से यह विश्वास हो गया कि वह दो सौ या तीन सौ साल पहले हेडलबर्ग मे भिन्न २ शरीरो में रह चुकी थी"।

वाकर महोदय के एक मित्र को यह मालूम हुआ करता था कि कोई व्यक्ति उसके सिर को कुल्हाड़े से मारा करता है। एक अद्भुत व्यक्ति ने जिसे इन महाशय के साथ कुछ परिचय नहीं था, वाकर के मित्र को बतलाया कि पूर्वजन्म में उसकी मृत्यु कुल्हाड़े से हुई थी। वाकर महाशय के एक और मित्र कहा करते थे कि वे पूर्वजन्म में हिन्दू थे।

इन घटनाओं को हल करने के लिये कई लोग कहते हैं जैसे शराबी को कई बार एक ही चीज़ दो दीखती है वैसे ही कइयो को एक ही चीज़ दो बार दीखती है। पहली बार और पिछली बार के देखने मे एक क्षण का ही अन्तर होता है परन्तु मन को ऐसा जान पड़ता है जैसे वह पहले देखी किसी चीज़ को याद कर रहा हो। मस्तिष्क की रचना को जानने वाले इस बात को जानते हैं कि मस्तिष्क मे प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के दो केन्द्र हैं, एक केन्द्र मस्तिष्क के दांये भाग की तरफ और दूसरा उसके बाये भाग की तरफ। उनका कहना है कि जब हमे किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो सम्भवत: दोनो केन्द्रों को एक दम ज्ञान नहीं होता। एक केन्द्र को दूसरे केन्द्र की अपेक्षा एक-आध क्षण कुछ पहले अनुभव हो जाता है, तब दूसरे को होता है। इस प्रकार मस्तक की दोहरी रचना है। मन को जब अनुभव होता है तब वह मस्तक मे दोहरा होकर आया होता है। मन को ऐसा मालूम पड़ने लगता है जैसे वह किसी पिछले अनुभव को याद कर रहा हो हालां कि पिछला अनुभव अभी इसी अनुभव के साथ हुआ था। इस विचार को 'मस्तिष्क की दोहरी रचना का वाद' (Double structure of the brain theorv) नाम दिया जाता है। कहा जाता है कि मस्तक के एक हिस्से (Lobe) मे विचार एक क्षण पहिले प्रकट होता है अत. विचार की मैशीनरी का दूसरा हिस्सा पहिले अनुभव की किसी भूत घटना की स्मृति समझ लेता है। १८४४ ई० में डा० वीगन ने 'ड्युएलिटी आफ दी माइण्ड' (The dualit, of the mind) नामक पुस्तक प्रकाशित कर इस विचार को प्रचलित किया था। परन्तु यदि यह अनुभव कहानियो के अनुभव की तरह का हो तो अच्छे भले दिमाग़ के लोगों में यह क्यों पाया जाता है? अगर इसका कारण 'मस्तिष्क का दोहरी रचना' है तो हरेक में ऐसा अनुभव पाया जाना चाहिये क्योकि अगर यह रचना ही इस का कारण है तो हरेक के मस्तिष्क की ऐसी ही रचना है। इस के अतिरिक्त अनेक व्यक्तियो को ऐसा अनुभव भी होता है जिसमें उन्हें आगामी होने वाली घटना की भी झांकी सी मिल जाती है। इन सब बातो से यही सिद्ध होता है कि मस्तक की दोहरी रचना मान लेना मात्र किसी भी प्रकार सन्तोषजनक नही है।

१८७५ के मासिक पत्र 'पेन' (Penn monthl,) में एक लेखक 'मस्तक की दोहरी रचना की कल्पना' द्वारा उक्त प्रकार की विचित्र घटनाओं के हल पर विचार करता हुआ लिखता है कि मुझे कई ऐसी घटनाए मालूम है जिन का इस कल्पना से भी कोई हल नही हो सकता। वे घटनाएं निम्न हैं—

(१) एक मित्र को ४ वर्ष की बालिका कई ऐसी बातें कह रही थी जिन्हें सुनकर उस की बड़ी बहिन ने कहा कि तुझे यह सब कैसे मालूम हुआ? यह तो तेरे पैदा होने से बहुत पहिले हो चुका था। वह लड़की बोली कि यहां पैदा होने से पहिले मैं स्वर्ग मे बहुत बड़ी उम्र की हो गई थी। इसका यह अभिप्राय नही

कि लड़की ने जो कुछ कहा सब ठीक मान लिया जाय। परन्तु इसमे सन्देह नही कि उस का जिक्र करना, जिन्हे जानने के लिये अभी इस की उम्र भी नहीं हुई थी, साधारण घटना नही है।

(२) दूसरी घटना ऐसे स्वप्नो अथवा स्मृतियो का आना है जिनका स्मरण किसी प्रकार भी समझ में नही आता। सब जानते है कि स्वप्न ज्ञात तथा अनुभूत बातो के रूपान्तर हुआ करते हैं। परन्तु एक स्त्री जो साधारण स्थिति की थी और पढ़ी लिखी न थी, कहा करती थी स्वप्न मे वह अपनी स्थिति से ऊंची समाज में पहुंच जाती है। जिस प्रकार का वह वर्णन करती थी वह १८ वीं शताब्दी के ? य जार्ज के समाज का वर्णन था। इस की शिक्षा ऐसी नही थी कि जिस ने यह कल्पना की जा सकती कि वह इस सारे वर्णन को अपनी तरफ से बना लेती हो वह एक २ बात का ऐसी बारीकी और विस्तार से वर्णन करती थी जैसा वही कर सकता है जिस ने हरेक चीज अपनी आंखो से देख रखी हो जैसा वर्णन वह करती थी वैसा पुस्तकों के लेखक भी नही करते।

(३) इसी प्रकार एक और व्यक्ति ऐसा वर्णन करता था जो भारतवर्ष के वर्णन से मिलता जुलता था। उसे याद था कि वह जवानी मे मरा था अपनी मृत्यु के सारे दृश्य की उसे धुंधली २ सी स्मृति थी।

(७) पुनर्जन्म का विचार ही संसार में व्यापक असमानता, अन्याय, बुराई तथा दुःख के प्रश्न को हल कर सकता है।

दृश्यमान अव्यवस्था पुनर्जन्म को मानते ही समझ आ जाती है। कई समझदार ससार की बुराइयो को देखकर कह उठते है कि परमात्मा नही है, यह सब कुछ अन्धी शक्ति से ही संचालित हो रहा है। एक तरफ मानव समाज के दु खों का ढेर दिखाई देता है, बुराई फलती फूलती दीख पड़ती है, योग्य व्यक्ति जीवन-संग्रह में पछाड़ खाते दिखाई देते है, सर्व साधारण अत्याचारपीड़ित हैं, और दूसरी तरफ कुछ ही भाग्यशाली समृद्ध तथा सुखी दिखाई देते है। इस से संसार कभी २ न्यायशून्य तथा ढोंग से भरा हुआ मालूम पड़ने लगता है। परन्तु जब मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि संसार तो चक्रवत् चल रहा है, यह पहला ससार नहीं, यह तो एक अनादि-अनन्त शृंखला में एक कड़ी है तब सारा का सारा दृश्य बदल जाता है और मनुष्य अन्याय तथा असमानता की जगह न्याय तथा समानता को देखने लगता है।

किसी भी कल्पना की सत्यता जानने के लिये आवश्यक बात यह है कि वह कहा तक दूसरी कल्पनाओ की अपेक्षा कठिनाइयो का सामना अधिक अच्छी तरह से करती है। ससार का विभिन्नता को पुनर्जन्म को छोड़कर कोई भी दूसरी कल्पना हल नही करतो। यह विचार परमात्मा पर से पक्षपात का आक्षेप भी बड़ी अच्छी तरह से हटा देता है। हैरोक्लस कहा करता था कि पुनर्जन्म को विना माने परमात्मा के कार्यों को न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता। ईसाई भी अब इस विचार को मानने लगे है यद्यपि कई इसे बाइबल के विपरीत समझते हैं। डा० एडवर्ड बीचर ने अपनी पुस्तक 'कोन्फ्लिक्ट आफ एजेज' (Conflict of ages) मे यह बतलाने का यत्न या है कि यदि हम परमात्मा को कई आक्षेपो से मुक्त करना चाहते हैं तो पुनर्जन्म को मानना आवश्यक है। डा० जुलियस मूलर और डा० डोर्नर ईसाई होते हुए भी इसी पक्ष को मानने वाले है।

सत्य का प्रकाश दरसाया दयानन्द ने

(श्री पं० ओम्प्रकाशजी शास्त्री,)

काम क्रोध लोभ मोह जड़ता ने जकड़ा था,
पकड़ा था आनकर कर दुख द्वन्द्व ने।
सुख स्वर्ग सुपनों में भी न सूझते थे हमें,
जूझते थे आपस में मारे मति मन्द ने।
सत्य को भगाया था असत्य ने सताय कर,
आय कर जोर था जमाया, छल छन्द ने।
कपट कुपट सों, लपेट कर झटपट,
पट कीन्हें, काज सब, आय, स्वार्थ-अन्ध ने ॥१॥

भाई को भुलाय कर, भागे थे भगौरे जन,
भीति मारे जनो को, भुलाया सुख कन्द ने।
राज-पाट खोय कर, संपदा के साज खोये,
लाज खोये फिरैं थे, सताये दैव मन्द ने।
छुआछूत भूत ने, सताये थे कुपूत ऊत,
छीने थे अबोध बाल, छली भाई-बन्ध ने।
पोल खोल दुतकारा, बैरियो को ललकारा,
सत्य का प्रकाश दरसाया दयानन्द ने ॥२।

वैदिक धर्म और विज्ञान *

(लेखक श्री सम्पादक)

वैदिक साहित्य बड़ा गहन साहित्य है। इस के यथार्थ भावों को समझने के लिये प्रथमतः नाना विद्याओं से परिचय होना आवश्यक है। यास्काचार्य लिखते हैं कि:—

"न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति, तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्।" (निरुक्त १३, १२)।

अर्थात् इन मन्त्रो के अर्थों को वे लोग प्रत्यक्ष नही कर सकते जो कि न तो ऋषि हैं और न तपस्वी हैं, परन्तु, पर और अवर या आत्मा और प्रकृति के विषयो के जानने वालो में जो व्यक्ति, इन विद्याओं और इन विद्याओ के भेदो को अधिक जानता है वह वेदों के अर्थों के समझने में अधिक अधिकारी होता है, प्रशस्त होता है। ऋषियो के न रहने पर, मनुष्य, तर्क-ऋषि के सहारे वेदार्थ के जानने में समर्थ होता है। परन्तु वेदार्थ में यह तर्क तभी सहायता दे सकता है जब कि मनुष्य नाना विद्याओ का जानने वाला हो।" इस पर यास्काचार्य ने - जिसने कि वेदों की शैली पर निरुक्त में पर्याप्त प्रकाश डाला है—दर्शाया कि वेदों के सही अर्थ जानने के लिये पूर्व से ही नाना विद्याओ के ज्ञान तथा विशुद्ध तर्क की आवश्यकता होती है।

जिस की दृष्टि-शक्ति कमजोर होगई हो उस के

*यह निबन्ध गुरुकुल कांगड़ी के ३२ वें वार्षिक महोत्सव पर 'सर्वधर्म सम्मेलन' में लेखक द्वारा पढ़ा गया था।

लिये "आंख के ज्ञाता" ऐनक का विधान करते हैं। ऐनक द्वारा उस व्यक्ति की दृष्टि-शक्ति यथोचित काम करने लगती है। जिस समय वेदों के पढ़ने की, प्राचीन गुरु परम्परा की परिपाटी प्रचलित थी उस समय वेदों के यथार्थ अर्थों के जानने के लिये वेदों से अतिरिक्त किसी अन्य बाह्य विद्याओं के पढ़ने की ज़रूरत शायद न पड़ती होगी। उस समय प्राचीन आर्य्य वेदों से ही वैदिक अर्थों को ठीक २ जान लेते होंगे। परन्तु मध्यकाल और वर्त्तमान काल में चूंकि वह गुरु परम्परा की परिपाटी नहीं रही इसलिये वर्त्तमान समय तथा प्राचीन समय की नाना विद्याओं के पढ़े विना वेदों की विद्याओं को इस समय समझ सकना असम्भव सा हो गया है। इन नाना विद्याओं के परिज्ञान की ऐनक के लगाने के पश्चात् ही वैदिक ज्ञान के नाना रत्न अपने उज्ज्वल प्रकाश में दीख पड़ने लगते हैं। वेदों में विज्ञान है या नहीं, इस सम्बन्ध में, कतिपय प्राचीन काल के तथा वर्त्तमान काल के वैदिक विज्ञानों के क्या अनुभव हैं, इस का पहले दिग्दर्शन कराना आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) प्राचीन आचार्यों का यह सिद्धान्त रहा है कि वेदों के समझने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपवेद, ६ अंगों तथा उपांगों का जानना आवश्यक है।

(क) ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में नाना प्रकार के विज्ञान हैं, इन ग्रन्थों में वेद की ज्योतिष विद्या पर बहुत प्रकाश डाला गया है।

(ख) उपवेदों में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद हैं।

(१) आयुर्वेद में शरीर-विज्ञान का वर्णन है। शरीर के भिन्न २ हिस्सों तथा, नस-नाड़ियों, रोगों और उन के उपचारों तथा चीरा-फाड़ी का वर्णन आयुर्वेद में होता है। प्राचीन मुनियों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है। सुश्रुत संहिता में लिखा है कि –

"इह खलु आयुर्वेदो नाम यद् उपांगमथर्ववेदस्य"

अर्थात् आयुर्वेद, अथर्ववेद का, उपांग है, या उपवेद है। अतः प्राचीन मुनियों ने अथर्ववेद में आयुर्वेद के विज्ञान की सत्ता मानी है।

(२) दूसरा उपवेद है धनुर्वेद। धनुर्वेद में व्यूह रचना, सैनिक विभाग और अस्त्र-शस्त्रों की विद्या का वर्णन है, यह उपवेद यजुर्वेद का है,। अतः प्राचीन ऋषियों ने यजुर्वेद में युद्ध-विद्या की सत्तामानी है।

(३) तीसरा उपवेद गान्धर्ववेद है। गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद है। गान विद्या और इसके आधार भूत शब्द (Sound) की विद्या की पराकाष्ठा इस गान्धर्ववेद में पाई जाती है। इसलिये प्राचीन ऋषियों ने गान विद्या अर्थात् Sound की विद्या की सत्ता सामवेद में मानी है।

(४) चौथा उपवेद है अर्थवेद। यह ऋग्वेद का उपवेद है। अर्थवेद को आजकल अर्थशास्त्र कहते हैं। इसलिये राजनीति तथा धन के उपार्जन और उसके साधनों की सत्ता, प्राचीन मुनियों ने ऋग्वेद में मानी है।

(ग) छः अंगों में वैदिक छः दर्शनों का समावेश होता है। इन में प्रकृति और उसके कार्य सम्बन्धी नाना कल्पनाएं और सिद्धान्त मिलते हैं। ब्रजेन्द्रनाथ सील की पुस्तक इस सम्बन्ध में बहुत महत्व की है।

(घ) इसी प्रकार छः उपांगों में से निरुक्त में तो शब्द शास्त्र (Philology) का और ज्योतिष में आकाशीय तारागण आदि का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार हमने देखा कि प्राचीन मुनि उपरोक्त साहित्य को—वेदों की व्याख्या, उपवेद, वेदांग तथा वेद के उपांग कह कर इन साहित्यों में वर्णित विद्या की सत्ता वेदों में भी मानते रहे हैं।

परन्तु वैदिक विज्ञान की दृष्टि से वैदिक साहित्य का मध्यकाल, अन्धकारमय था। इसी अन्धकारमय काल में महीधराचार्य तथा सायणाचार्य आदि भाष्यकार हुए। ये दोनों आचार्य विज्ञान की घटनाओं को बहुत कम समझते थे। इसलिये वेदभाष्य करते समय इन्हें नाना प्रकार के ऐसे वर्णन मिले, जिन की कि ये कोई उचित और बुद्धिगम्य व्याख्या न कर सके। ऐसे स्थलों को भी प्रामाणिक दर्शाने के निमित्त इन भाष्यकारों ने अपूर्व की कल्पना घड़ी और नाना देवतावाद की एक नई सृष्टि खड़ी कर दी। समझ और युक्तिपूर्वक, वेदों के अर्थ करने की दृष्टि से महीधर तथा सायण का समय अन्धकार पूर्ण समय था।

वेदार्थ की दृष्टि से इस काली महारात्रि में, यकायक, एक वैद्युत चमक सी दौड़ पड़ी। यह दिव्य ज्योति महर्षि दयानन्द के रूप में प्रकट हुई। मध्य काल के वैज्ञानिक–अन्धेरे की काली-घटा को चीर-फाड़ देने वाला वैदिक-सूर्य्य, भारत के आकाश में, उदय हुआ और शनैः २ प्रचण्ड हुआ। यह वैदिक-सूर्य्य, वैदिक सद्धर्म के बीजदाता और प्रचारक, स्वनामधन्य महर्षि दयानन्द के रूप में प्रकट हुआ इस महर्षि से वैदिक-विज्ञान का नवयुग प्रारम्भ हुआ। इस नव युग का जन्मदाता महर्षि है। इस नवयुग के चक्र को इस महर्षि ने जोर से चक्कर दिया है। यह काल चक्र कितनी देर तक जोरों से चक्कर काटता रहेगा इस की कल्पना अभी नहीं की जा सकती। वैदिक-विज्ञान के इतिहास में वैदिक-साहित्य का प्राचीन युग तथा नवयुग अति-उज्ज्वल हैं।

(१) महर्षि ने अपने समय के पाश्चात्य विचारों, अर्थात् विकासवाद (Evolution) के विचारों की रत्ती भर भी परवा न कर, वेदों में वर्णित विज्ञानों का दिग्दर्शन ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में कराया।

महर्षि ने वैदिक मन्त्रों के आधार पर ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में समुद्री जहाजों, विमानों या हवाई-जहाजों, आकर्षण शक्ति (Gravitation) पृथ्वी के घूमने, इसके गोल होने, चन्द्रमा के सूर्य्य से प्रकाशित होने आदि नाना विज्ञानों का वर्णन किया।

(२) महर्षि के पश्चात, महर्षि के सच्चे शिष्य स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त M. A. ने महर्षि की वैज्ञानिक धारणा को अपनी गवेषणाओं द्वारा और दृढ़ तथा पुष्ट किया। इस स्वर्गीय पण्डित ने वेदों में से जल के Composition को ढूंढ निकाला और वेदों में Spectrum या रश्मि-पट्ट की सत्ता को दर्शाया।

पण्डित गुरुदत्त के साथ आर्य्यसमाज में वेदों की वैज्ञानिक खोज की धारा बन्द हो गई। जिस धारा को महर्षि ने भगीरथ प्रयत्न से बहाया और जिस के मार्ग को ठीक करने के लिये पण्डित गुरुदत्त सा प्रतिभाशाली इञ्जनीयर मिला वह धारा आर्य्यसमाज की सुस्ती से देर से सूख चुकी हुई है।

(३) आर्य्यसमाज से अतिरिक्त क्षेत्र में, बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् स्वर्गीय पण्डित सत्यव्रतजी

सामश्रमी ने वेदों में नाना विद्याओं के होने तथा महीधर और सायण के, वेदो को यथार्थ रूप मे न समझ सकने के कारण पर प्रकाश डाला है। आप अपने त्रयी-सग्रह नामक सग्रह ग्रन्थ मे लिखत हैं कि —

1— when the त्रयी-सग्रह was being com piled the impression grew upon me that the real meanii g of many mantras did n ɔt come out in Sayana s commentary and the desire became strong in me to publish the inter pretations of Yaska and other old exposi-tors of the Veda

अर्थात् "त्रयीसग्रह" पुस्तक का जब सङ्कलन हो रहा था उस समय मुझे अनुभव हुआ कि सायण के भाष्य मे बहुत स मन्त्रो के यथाथ भाव प्रकट नही हो सके, इसलिय मुझ मे यह इच्छा प्रबल हुई कि यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारो के भावार्थों का मैं स्वय उद्घाटन करू"।

वे आगे लिखत हैं—

2— At a time when photography, phono graphy, gaslight telegraph telephone Railway and ba oons had not b en intro duced into the country how could our people understand any verses referring to these things

"उस समय जब कि फोटोग्राफी फोनोग्राफी, गैसलाइट, टेलिग्राफ, टेलिफोन, रेलवे और हवाई-जहाजा का भारत मे प्रचार न था, किस प्रकार भारत के वेदभाष्यकर्त्ता उन मन्त्रों क यथार्थ रहस्यो का समझ सकते थे जिन मे कि इन वस्तुआ के इशारे हो"।

वे आगे और लिखते हैं —

3—' Our opinion is that in Vedic times our country had made extraordinary progress In those days the sciences of geology, astronomy and chemistry were called 'आधिदैविक विद्या" and tl ose of physiology psychology and theology "अध्यात्म विद्या" Though the works embodying the scientific knowledge of those times are entirely lost, there are sufficient indications in Vedic works of those sciences having beer widely known in those days It is needless to say that the reason why these indications are not understood now is due to the imperfact interpretation of an expositor having no knowledge of the sciences The study of certain portions of the vedas leads even to the conclusion that certain scienti fic researches had been carried in the country to such perfect on that even America th constant source of scientific discoveries and the advanced countries of Lu op have not yet attained it It is this which makes it impossible for us to under stand the real purport of such passages In fact a full and satisfactory interpretations of the veda requires a p rfect familiarity with all the sciences on the part of the expositor and it is simply a misfortune to undertake its exposition without such familiarity

"हमारी सम्मति है कि वैदिक काल मे हमारे भारत देश न पर्याप्त उन्नति करली थी। उस समय भूगर्भ विद्या, ज्योतिष और रसायन विद्या को 'आधिदैविक विद्या" कहा जाता था और शरीर विद्या, मनो विज्ञान तथा ब्रह्मविद्या को "अध्यात्म विद्या"। उस समय के वैज्ञानिक ग्रन्थ यद्यपि इस समय सर्वथा लुप्त होगये हैं तो भी वेदो मे उन विज्ञानो के सम्बन्ध के पर्याप्त निर्देश मिलते है जिनसे प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे उन विज्ञानो का पर्याप्त प्रचार था। वेदो के भाष्यकारो को चूंकि स्वयं ऐसे विज्ञानो का परिज्ञान नही होता इस लिये वे वेदा मे आये वैज्ञानिक निर्देशो को ठीक प्रकार समझ नही सकते। वेदो के कतिपय भागो के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भारत भूमि मे कई वैज्ञानिक खोजें इतनी गहरी भी होचुकी हैं कि वैज्ञानिक अन्वेषणो क अनुसार अमेरिका तथा यूरोप के उन्नत देश भी अभातक उस गहराई तक पहुंच नही पाये। इसी कारण अर्थात् 'वैदिक विज्ञान" की गहराई के समझ सकने के भावना के न होने के कारण ही हम वेदो के कई अशो के वास्तविक अभिप्रायो को समझ नही सकत। वास्तव मे वेदो की पूर्ण तथा सन्तोषप्रद व्याख्या के लिए आवश्यक है कि व्याख्याता को सभी विज्ञानो और उनकी शाखाओ से पूर्ण परिचय हो। बिना इस पूर्ण परिचय के वेदो के भाष्य क लिये यत्न करना दौर्भाग्य तथा अनिष्ट है।"

वे आगे और लिखते हैं:—

4.—"It is p rfactly plain, therefore, that it is only one that has attained a thorough knowledge of Agriculture, Commerce, Geology, Astronomy, Hydrastatics, Igneology, Botany, Zoology, physiology and the science of war, can alone be a ne interpreter of the vedas, and that, it is only a Com mentary written by such an expositor that can alone give full satisfaction and remove all doubts'

"इसी लिये यह स्पष्ट है कि वही मनुष्य वेदो का योग्य भाष्यकार होसकता है जिसे कि कृषि शास्त्र, व्यापार, भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष, जल स्थिति विद्या, अग्नि विद्या, वनस्पति शास्त्र, जीव शास्त्र, शरीर शास्त्र, तथा युद्ध विद्या आदि का पूर्ण ज्ञान हो। ऐसे व्यक्ति द्वारा लिखा गया भाष्य ही केवल पूर्ण सन्तोष दे सकता है और सब प्रकार के संशयो को मिटा सकता है।' इस प्रकार प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी का यह विश्वास था, जो विश्वास कि वेदो के मन्त्रो द्वारा पुष्ट होता है, कि वेदो के ऋषि विज्ञान मे इतनी तरक्की कर चुके थे, जहां तक कि पाश्चात्य-वैज्ञानिक-जगत् अभी तक पहुंच नही सका।

सन् १९११ मे एक पुस्तक बंगलोर से प्रकाशित हुई थी, जिसका नाम है—(दि ऋक्स्) 'The Riks' लेखक का नाम परम शिव ऐयर है, जो कि बंगलोर के डिस्ट्रिक्ट और सेशन जज् थे।

योग्य लेखक ने इस पुस्तक मे यह दर्शाने की कोशिश की है कि वेदो मे जो गाथाएं और आख्यायिकाएं दीखती है वे वास्तव मे वैदिक-समय के वैज्ञानिक-तत्व है। वे कहते है कि वेदो की कथाएं वास्तव मे भूगर्भ शास्त्र (Geological) और रसायन के विषय (Chemical Phenomena) हैं। वेदो और वेदो की आधार शिला पर खड़े किये गये

साहित्य की यौक्तिक व्याख्या का अधिकार कैसे व्यक्ति को हो सकता है, इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि:—

"A full and accurate exposition of the Vedas, and the Brahmanical literature, based on the Vedas, will demand the aid of a plastic intellect, scientific imagination, expert knowledge, practical and theoretical, of Geology, Mining, organic chemistry, Agriculture, and Astronomy as well as close familiarity with high mountains and petroliferous regions."

अर्थात् "वेदों और वेदों के आधार पर रचे गये ब्राह्मण ग्रन्थों की पूर्ण तथा ठीक व्याख्या के लिये-उपजाऊ बुद्धि, वैज्ञानिक कल्पना शक्ति, भूगर्भ शास्त्र, खनि विद्या, ऐन्द्रियिक रसायन, कृषि शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र के क्रियात्मक और सिद्धान्त सम्बन्धी पूर्ण ज्ञानों की आवश्यकता है और साथ ही, इसके लिये, ऊंचे पर्वतों और मट्टी के तेल के प्रदेशों से भी परिचय आवश्यक है"

इस उपरोक्त लेख द्वारा ज्ञात होता है कि "The Riks' पुस्तक के लेखक की दृष्टि में भी वेदों में ऊंचा विज्ञान विद्यमान है।

(५) महाराष्ट्र के प्रसिद्ध तथा वयोवृद्ध वैदिक विद्वान् मि० एन० बी० पावगी अभी जीवित हैं। इन्होंने एक पुस्तक लिखी है 'The Vedic fathers of Geology." इस पुस्तक में योग्य लेखक ने वेदों के मन्त्रों के आधार पर Geology या भूगर्भ शास्त्र के उच्च सिद्धान्तों का वर्णन किया है। इस पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं कि.—

"........the Vedic Rishis had not only superficial knowledge of, but intimate acquaintance with Geology." (पृ० ३)

वे आगे लिखते हैं:—

"I had naturally to ransack the whole field of the Rig-Veda, and other Vedic and ancient Sanskrit Literature; and it was then, that I had come across many passages, numerous comments, and sundry arguments. The study of these, first made me think, that our Vedic fore-fathers were, in all probability, acquainted with the main features, and perhaps with even the minute details of Geology. I......continued my researches with persistent energy. I then minutely examined the various original Sanskrit texts, from this stand point, carefully scrutinized them with the object of gaining some insight into the matter, and found the probability to be a certainly as I thought that there were very cogent grounds and strong evidence to affirm, that the Rig vedic Rishis and subsequent sages had in truth very wide acquaintance with, and intimate knowledge of Geology'. (पृष्ठ ३)

वे आगे और लिखते हैं कि:—

"I may, therefore, take this opportunity to remind the reader, without fear of contradiction, that the Vedas, contain many things not yet known to anybody, as they

form a mine of inexhaustible literary wealth, that has only partially been opened, and has still remained unexplored' (पृ० ६)

अर्थात् "वैदिक ऋषियों को भूगर्भ शास्त्र का अल्प ज्ञान न था, अपितु, भूगर्भ शास्त्र के साथ इन का गहरा परिचय था"।

"मैंने स्वभावत समग्र ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक और प्राचीन संस्कृत साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से आलोडन किया, तब वैदिक भूगर्भ शास्त्र के सम्बन्ध के नाना वाक्य और युक्तिया पाई। इन की आलोचना से प्रथम मुझे यह विचार हुआ कि हमारे वैदिक पुरखा, सम्भवत भूगर्भ शास्त्र (Geology) की मुख्य मुख्य रूप रेखा से, और शायद इस की सूक्ष्म बारीकियो से भी परिचित थे"। "मैंने अपनी गवेषणाओ को लगातार जारी रक्खा। फिर, इस सम्बन्ध, के मौलिक नाना संस्कृतसन्दर्भों की सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा की, ताकि इस विषय मे मैं कुछ गहरा ज्ञान प्राप्त कर सकूँ।

मैंने देखा कि मेरी पहिले की सम्भावना अब निश्चय रूप मे परिणत हो गई है, क्योंकि, इस परीक्षा मे यह कहने के लिये, मुझे दृढ़ प्रमाण मिल गये कि ऋग्वेद के ऋषि और उन के पश्चात् के मुनि, भूगर्भ शास्त्र (Geology) के साथ बहुत विस्तृत परिचय, बल्कि गहरा ज्ञान रखते थे।

"मुझे, अपने पाठकों को, विना किसी संकोच के यह कहने का सौभाग्य है कि वेदो में ऐसी नाना वस्तुएं हैं जो कि अभी तक किसी को भी ज्ञात नहीं हुई और वेद साहित्यिक धन के अक्षय्य खान हैं, जिसके कि एक अंश को हम देख पाये हैं और शेषांश अभी अनिरीक्षित ही पड़े हैं"।

इस उदाहरण से प्रतीत होता है कि मि० पावगी वेदो में भूगर्भ शास्त्र के स्थूल तथा सूक्ष्म सिद्धान्तो की भी सत्ता मानते हैं।

(६) सन् १९३१ में बम्बई से एक और पुस्तक प्रकाशित हुई है इसका नाम है दी वैदिक गॉड्स एज़ फिगर्स आफ बायोलोजी (The Vedic Gods As figures of Biology)। इस के लेखक डा० वी० जी० रेले L M & S, F. C P S हैं।

लेखक ने इस पुस्तक मे वेदो के देवताओं पर प्रकाश डाला है। आप का कथन है कि वेदों के देवता शरीर के Nervous system और Brain अर्थात् सुषुम्ना-चक्र और मस्तिष्क के भिन्न २ केन्द्र हैं। लेखक ने इस पुस्तक मे वैदिक गाथाओं और आख्यायिकाओं की व्याख्या भी वैज्ञानिक ढग से, सुषुम्ना-चक्र और मस्तिष्क के गुणो और क्रियाओं के आधार पर की है। लेखक का विश्वास है कि शरीर शास्त्र, Anatomy तथा Physiology के पूर्णरूप से जाने विना, वेद ठीक प्रकार से समझे नहीं जा सकते। उन का यह भी विश्वास है कि वेदो म Nervous system की Physiology और Biology का मुख्य रूप से वर्णन है। जैसे कि आप लिखते हैं कि—

(I) My conviction as a whole leads me to believe that the Vedas are books on the physiology of the nervous system written by different Vedic seers (पृ० ९)

अर्थात् यह मेरा विश्वास है कि वेदों मे भिन्न भिन्न ऋषियो द्वारा, Nervous system की Physiology का वर्णन किया गया है।

वे आगे लिखते हैं कि —

(II) My acquaintance with the Rig-Veda ...... .leads me to believe that the Vedic Rishis were well acquainted with the normal working of the nervous system in the body and that its physiology lies hidden in the mysteries of the Vedas (पृ० १०)

अर्थात्, मेरे ऋग्वेद के स्वाध्याय ने, मुझ में, यह विश्वास दृढ़ कर दिया है कि, वेदों के ऋषि शरीर के सुषुम्ना-चक्र (Nervous system) से पूर्ण परिचित थे. और वेदों में, वास्तव में, इस सुषुम्ना-चक्र (Nervous system) का रचनाज्ञान (Physiology) छिपा पड़ा है।

लेखक यह भी अनुभव करता है कि वेदों के कतिपय वर्णन, इस कल्पना के आधार पर, समझ नहीं पड़ते। लेखक इस का कारण यह भी दर्शाता है कि: —

"—or it may be that we are still ignorant, about the physiological functions of the parts of the body, which they represent, and have yet to rediscover them. (पृ० XI)

अर्थात् "सम्भव है कि हम इस ज़माने में भी शरीर के भिन्न भिन्न हिस्सों की भौतिक रचना (Physiology) न समझ सकते हों (जिस का कि ऋग्वेद में वर्णन है), और इस का समझना भविष्य के गर्भ में छिपा पड़ा हो' ।

इसी प्रकार लेखक और आगे लिखते हैं कि:—

"Even in cases where the knowledge of modern science is still insufficient to solve certain psychological problems, our ancient seers will be found to have offered convincing solutions. (पृ० २)

अर्थात् "उन स्थानों में भी, जहाँ कि, वर्त्तमान समय का विज्ञान, अभी तक, कतिपय मनोवैज्ञानिक-समस्याओं के हल करने में असमर्थ है, हमारे प्राचीन ऋषियों ने निश्चायक हल पता लगा लिये थे"।

इस प्रकार इस योग्य लेखक का मत है कि ऋग्वेद शरीर विज्ञान का ही पुस्तक है, और ऋग्वेद में शरीर विज्ञान इतना ऊँचा है कि वर्त्तमान समय का वैज्ञानिक जगत् भी वहां तक अभी पहुँच नहीं सका।

(७) इसी प्रकार बैल्जियम के फ़िलास्फ़र मिस्टर मौरिस मैटरलिक, सन् १९२२ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट सीक्रेट' (=महान् रहस्य) (The great secret) में वेदों के आकाश-तत्त्व के सम्बन्ध में लिखते हैं कि —

(I) . ... is not this the theory of the Akasha, which we more clumsily call the ether, the sole source of all substances, to which our physical science is returning ?

(पृ० ४४)

(II) It is true that the recent theories of Einstein, deny the existence of the ether, supposing that radiant energy, visible light for example, is propagated independently, through a space, that is an absolute void. But apart from the fact that these theories seem still to be doubtful, it should be noted that the scientific ether, to which our modern scientists have been obliged to resort, is not precisely the Hindu Akasha,

which is much more subtle and immaterial, being a sort of spiritual element or divine energy, space uncreated, imperishable, and infinite. (पृ० ४४ टिप्पणी)

(III) "........either, (the) cosmic, imponderable fluid, the bridge between mind and matter, the source of all that, which the primitive religion called Akasha......."

......"the infinite ether, mysterious and always in movement, whence all things come and whither all return," to which our scientists, in their laborataries, are atlast obliged to have recourse, in order to account for a host of phenomena, which without it, would be utterly inexplicable.' (पृ० ८५)

अर्थात्—

(१) "क्या यह आकाश-तत्त्व नहीं,—जिसे कि हम भद्दे शब्दों में ईथर (Ether) कहते हैं,—जो कि सब संसार का मुख्य स्रोत है और जिसकी ओर कि हमारा भौतिक-विज्ञान लौट रहा है?"।

(२) "यह सत्य है कि आइन्स्टन (Einstein) की नवीन कल्पना ईथर की सत्ता से इनकार करती है, और यह मानती है कि प्रकाश, स्वतन्त्र रूप से, प्रदेश अर्थात् पूर्ण शून्य में से होकर हम तक फैलता है। तो भी यह जानलेना चाहिये कि आइन्स्टन की यह कल्पना अभीतक संशयास्पद ही प्रतीत होती है। साथ ही यह जानना चाहिये कि वर्त्तमान समय का वैज्ञानिक ईथर निश्चितरूप में, वैदिक-आकाश नहीं। यह वैदिक आकाश ईथर से अधिक सूक्ष्म और अप्राकृतिक सा है जो अनश्वर और व्यापक है"।

(३) "ईथर जो जगत् का कारण और अमीमांस्य द्रव्य है, जो आत्मा और प्रकृति में सेतुवत् है, जो प्राकृतिक संसार का स्रोत है, जिसे आरम्भ का धर्म्म आकाश कहता है" .... ।

"यह अनन्त ईथर—जो अज्ञेयसा और सदा क्रियाशील है—जिससे सब वस्तुएं उत्पन्न होतीं, और जिसमें लीन होजाती हैं, वैज्ञानिक अपने विज्ञान-भवनों में जिसका आश्रय लेने में बाधित हुए हैं, ताकि वे ऐसी नाना घटनाओं की सत्ता का कोई यौक्तिक कारण बतलासकें, विना आकाश के माने जिनकी समुचित व्याख्या नहीं हो सकती"।

इस प्रकार मौरिस मैटरलिंक की सम्मति में वेदों का आकाश तत्त्व, वर्त्तमान वैज्ञानिक खोजों की पहुंच से अभी तक दूर का है और वर्तमान वैज्ञानिक-खोजें इस आकाश-तत्त्व के मानने की ओर आरही हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि जिस किसी लेखक ने भी वेदों के विज्ञान के सम्बन्ध में लिखा है, उसने यही अनुभव किया है कि वेदों में वह विज्ञान अपने पूर्ण-यौवन में भरा पड़ा है, जिस विज्ञान को कि लेखक जानता है। शरीर-विद्या का जानने वाला कहता है कि वेदों में शरीर-विज्ञान उच्च कोटि का है, भूगर्भ-शास्त्र का जानने वाला कहता है कि वेदों में भूगर्भ-शास्त्र भरा पड़ा है, भौतिक विज्ञान (Physics) का जाननेवाला अनुभव करता है कि वेद भौतिक-विज्ञान ((Physics) के गहन-समुद्र हैं—इत्यादि। वस्तुतः बात तो ठीक यह है कि वेदों में नाना विद्याएं विद्यमान हैं। परन्तु भिन्न २ विद्वान् वेदों में से केवल उस २ विद्या को ही देख पाते हैं जिस २ विद्या के कि वे विद्वान् होते हैं। वेदों के सम्बन्ध में यही सम्मति सभी

सम्मति है, जो कि श्रीमच्छंकराचार्य्य ने, जो कि महर्षि के लेखानुसार ईसा से पूर्व के हैं, अपने वेदान्त भाष्य में, "शास्त्रयोनित्वात्" (१ । १ । ३) सूत्र पर वेदों की उत्पत्ति को परमात्मा से दर्शाते हुए लिखी है कि—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिन सर्वज्ञकल्पस्य योनि कारण ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यत सम्भवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्र यस्मात्पुरुष-विशेषात् सम्भवति स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति प्रसिद्ध लोके। किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य, देवतिर्यङ्मनुष्य-वर्णाश्रमादिप्रविभागहेतो ऋग्वेद्याद्यास्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिश्वासवत् यस्मान्महतो-भूतायोनेः सम्भवः तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्व चेति"

इस सन्दर्भ में भी शङ्कराचार्यजी ने वेदो को सर्वज्ञ-कल्प, सर्वज्ञगुणान्वित तथा सर्वज्ञानाकर कहा है। इस से ज्ञात होता है कि श्री शङ्कराचार्यजी की अनुभूति के अनुसार वेद सब ज्ञानो की खान है और मानो कि सर्वज्ञ के सदृश हैं।

इस प्रकार श्री शङ्कराचार्य वेदों में सब ज्ञानो की सत्ता मानते हुए, अर्थात् वेदो मे विज्ञान की भी सत्ता मानते प्रतीत होते हैं।

वेदो मे नाना विद्याओं के होने के सम्बन्ध, में बिलकुल यही सम्मति, जो कि श्रीमन् शङ्कराचार्य ने प्रकट की है महर्षि दयानन्द सरस्वती भी मानते है।

(क्रमश)

लौगाक्षि गृह्यसूत्र-व्याख्या[1]

(ले०—श्री सम्पादक)

(१)

ब्रह्मचारी के व्रत

आचार्य लौगाक्षि ने गृह्यसूत्रो से पूर्व ३९ अध्यायो मे श्रौतसूत्र रचे थे और उनमें वैतानिक कर्मो का प्रतिपादन किया था। वैतानिक-कर्मों को श्रौत कर्म भी कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थो की विधियो के आधार पर जो यज्ञ-कर्म किये जाते हैं उन्हे वैतानिक-कर्म या श्रौत-कर्म कहते हैं। आचार्य लौगाक्षि अब गृह्य कर्मों का वर्णन करते हैं। गृह्य कर्म का अभिप्राय है-वे कर्म जो कि विवाहोत्तर काल मे गर्भाधान, जातकर्म तथा इसी प्रकार के अन्य संस्कार और कतिपय गृह्य-धर्मों के उपयोगी अन्य कर्म किये जाते हैं। ये गृह्य-कर्म गृह्याग्नि में करने होते हैं। विवाह के पश्चात् विवाहाग्नि को ला कर गृह मे इस अग्नि का स्थापन किया जाता था।

यद्यपि आचार्य लौगाक्षि को चाहिये था कि वे प्रथम गृह्य कर्मों का वर्णन करते और तत्पश्चात् वैता-

[1] इन लेखो में इन सूत्रो के व्याख्याकार आचार्य देवपाल की व्याख्या के अनुसार ही व्याख्या की जावगी।

(सम्पादक)

निक या श्रौत कर्मों का, क्योंकि जिस मनुष्य के जात-कर्म, यज्ञोपवीत आदि गृह्य कर्म विधिपूर्वक न हो चुके हो उस मनुष्य को श्रौत कर्मों या वैतानिक कर्मों के करने का अधिकार ही नहीं होता, तो भी आचार्य लौगाक्षि ने जो वैतानिक-कर्मों का पहले प्रतिपादन किया है और गृह्य कर्मों का पीछे, इस का कारण यह है कि वैतानिक कर्मों की प्रामाणिकता प्रत्यक्ष विधि के आधार पर है, अर्थात् वैतानिक-कर्मों की प्रामाणिकता स्पष्ट रूप मे ब्राह्मण ग्रन्थो की विधियो के आधार पर है और गृह्य कर्मों के आधार ये ब्राह्मण ग्रन्थ नही हैं। गृह्य कर्मों की प्रामाणिकता का आधार सत्पुरुषो मे प्रचलित परम्परा है। इस लिये आचार्य वैतानिक-कर्मों का प्रतिपादन कर अब गृह्य कर्मों का वर्णन करते हैं। आचार्य पहले व्रतो का वर्णन करते हैं और तत्पश्चात् मन्त्रो के वर्णनो से सूचित होने वाले संस्कारों का वर्णन करेंगे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन तीन वर्णों वाले व्यक्तियो को, जब कि वे विवाहित हो चुके हो, गृह्य-कर्मों मे अधिकार प्राप्त होता है और इन का विवाह तब तक नही हो सकता जब तक कि ये किसी न किसी वेद का पूर्ण रूप से अध्ययन न कर ले। क्योंकि लिखा है कि—

"वेदमधीत्य स्नात्वा भार्यामधिगच्छेत्"

अर्थात् "वेद का अध्ययन कर और विधिपूर्वक स्नान कर भार्या को प्राप्त करे"। परन्तु वेदाध्ययन मे अधिकार उपनयन किये हुए ब्रह्मचारी का है। इस उपनयन का वर्णन आचार्य आगे करेंगे। प्रथम उन व्रतो का वर्णन होता है जो कि संस्कार-कर्म के लिये उपयोगी है—

उपनयनप्रभृति व्रतचारी स्यात् ॥ १ ॥

अर्थ —"उपनयन से लेकर (जब तक कि वेदाध्ययन की समाप्ति न हो तब तक, ब्रह्मचारी) व्रतो का पालने वाला हो" ॥ १ ॥

इस सूत्र मे व्रत शब्द का अर्थ है यम और नियम[1]। यम वे है जो कि स्वभाव से प्राप्त प्रवृत्तियो का निषेध करते हैं, जैसे कि मांस भक्षण नही करना चाहिये इत्यादि, और नियम वे है जो कि उन प्रवृत्तियो का विधान करते है जो प्रवृत्तियां कि स्वभाव से प्राप्त नही हैं, जैसे कि भैक्ष्यवृत्ति आदि।

यमो और नियमो का वर्णन योग दर्शन मे भी हुआ है। यथा —

"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" ॥

पात० २। ३० ॥

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

पात० २। ३२ ॥

पातञ्जल योगदर्शन मे वर्णित इन यम नियमो का भी सम्बन्ध यहां यथा सम्भव जानना चाहिये। उपनयन से आरम्भ कर वेदाध्ययन की समाप्ति पर्यन्त, व्रतो के आचरण करने की प्रवृत्ति वाला होना चाहिये।

मार्गवासाः ॥ २ ॥

अर्थ —(ब्रह्मचारी) मृग चर्म के वस्त्र वाला हो ॥२॥

यद्यपि सूत्र मे मृग शब्द सामान्य वाची है तो भी यहां मृग से एण-मृग का ग्रहण करना चाहिये जो कि

(१) आचार्य देवपाल की यह व्याख्या कुछ संगत प्रतीत नही होती। प्रकरणानुसार इस सूत्र के व्रत शब्द द्वारा उन्ही व्रतों का ग्रहण करना चाहिये जिनका कि वर्णन सूत्रकार ने दूसरे सूत्र से किया है, न कि यमों और नियमों का। (सम्पादक)

कृष्ण वर्ण मृग होता है। इस सूत्र के दो अभिप्राय हो सकते हैं। एक यह कि ब्रह्मचारी मृग-चर्म को ही अपना वस्त्र माने अर्थात् इस से ही अपने वस्त्र का काम लिया करे, दूसरा यह है कि मृग-चर्म से अपना वस्त्र बना कर उसे पहना करे।

[2]संहतकेशः ॥ ३ ॥

अर्थ - कटे हुए केशों वाला अथवा एक जैसे केशों वाला हो ॥ ३ ॥

"संहत" शब्द में "सम्" का अर्थ है "सम्यक् प्रकार" और "हन्" का अर्थ है "हिंसा"। अर्थात् ब्रह्मचारी के केश सम्यक् प्रकार से कटे हुए होने चाहियें, उस्तरे द्वारा कटे हुए होने चाहियें न कि कैंची द्वारा तराशे हुए, अर्थात् ब्रह्मचारी का सिर मुंडा होना चाहिये। कई यह आपत्ति करते है कि इस अर्थ में आगे कहे जाने वाले मुण्डन (मुण्डन संस्कार) की दृष्टि से, पुनरुक्ति दोष प्रतीत होता है। अथवा "संहत" का अर्थ है "एकरूप"। अर्थात ब्रह्मचारी के केश एक रूप होने चाहियें। सूत्रकार आगे कहेगा कि "मुण्डो जटिलः शिखी वा", अर्थात् ब्रह्मचारी या तो मुण्ड हो या जटिल हो या शिखा वाला हो। त्रैवर्णिक ब्रह्मचारी कालभेद से इच्छापूर्वक कभी मुण्ड, कभी जटिल या कभी शिखी न हो, इस लिये यहां नियम कर दिया कि ब्रह्मचारी केशों की दृष्टि से एक प्रकार का ही हो। यदि वह जटिल होना स्वीकार करे तो अन्त तक जटिल ही रहे, मुण्डी होना स्वीकार करे ता अन्त तक मुण्डी ही रहे, और शिखी होना स्वीकार करे तो अन्त तक शिखी ही रहे।

भैक्षाचार्यवृत्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ "भिक्षा से अपना जीवन निर्वाह करे, और आचार्य के आधीन इस की स्थिति तथा शरीर का पालन-पोषण हो"।

भैक्ष का अर्थ है "भिक्षा[1] का समूह"। इस भिक्षावृत्ति द्वारा ब्रह्मचारी अपने शरीर का धारण-पोषण करे।

आचार्य वह होता है जो कि शिष्य का उपनयन-संस्कार करा उसे विद्या में पारंगत करता है। मनु में लिखा है कि—

उपनीय तु यः शिष्यम् ॥ मनु० २ । १४० ॥

इस आचार्य के आधीन रहकर ब्रह्मचारी अपनी *स्थिति तथा शरीर* का पालन-पोषण करे। आचार्य किसी व्यक्ति को प्रेरित कर ब्रह्मचारी को भिक्षा दिलवाता है इस लिये ब्रह्मचारी का शारीरिक पालन-पोषण भी आचार्य के अधीन है। अथवा यदि अन्य किसी स्थान से भिक्षा नहीं मिले तो आचार्य ही उस समय ब्रह्मचारी को भोजन आदि देता है। इस प्रकार भी

(२) संहत या संघात—ये दोनों शब्द एक ही उपसर्ग तथा धातु से बने हुए हैं। संहत का अर्थ यहां संघात प्रतीत होता है। ब्रह्मचारी के केश इधर उधर बिखरे न रहें अपितु सदा बन्धे रहें। यह अर्थ संगत प्रतीत होता है। आचार्य लौगाक्षि की अपनी संमति यही प्रतीत होती है, चाहे आचार्य ने आगे विकल्प अवश्य कहा है। (सम्पादक)

(१) एक घर से ही जीवन-निर्वाह-योग्य पुष्कल अन्न प्राप्त करने का निषेध है। इसीलिये सूत्रकार ने सूत्र में भिक्षा शब्द का प्रयोग न कर भैक्ष शब्द का प्रयोग किया है भैक्ष का अर्थ है "भिक्षाओं का समूह"। अर्थात् नाना भिक्षाएँ करनी चाहियें एक भिक्षा नहीं। घर २ से थोड़ी भिक्षा लेनी चाहिये। (सम्पादक)

ब्रह्मचारी का शारीरिक पालन-पोषण आचार्य के अधीन है।

सत्वक्कदण्डः ॥ ५ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी छिलके वाला दण्ड रखा करे ॥ ५ ॥

यद्यपि सूत्र में सामान्य दण्ड का विधान है, किसी विशेष वृक्ष की शाखा का दण्ड रखे ऐसा विधान नहीं, तो भी सूत्रकार चूंकि आगे दण्डों में विशेषता स्वयं कहेगा इस लिये यहां अपने २ वर्ण का उपयोगी दण्ड ही रखना चाहिये, अर्थात् पलाश (ढाक) आदि का। दण्ड स्वाभाविक छिलके के साथ ही होना चाहिये, छिलके से रहित नहीं।

(यथाक्रम)

गुरु दक्षिणा

(ब्र० योगेन्द्रनाथ, 'काञ्चन' १४ वा श्रेणी, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय)

(१)

चढ़ती जवानी नई, मुखड़ा गुलाब सा ये,
　देखते हो देव ! कौन लिए चला आता है।
दिव्य भाल[1] है विशाल, जगमग जगमग,
　विन दीए दिव्य ज्योति, कौन ये जलाता है।
दूर दूर घूम घाम, यमुना के तीर पर,
　छोटी सी कुटीर पर, कौन झुका आता है।
पढ़ने पै मार सारी पीर अपनी विसार,
　कौन तत्काल गुरु चरण दबाता है ॥ १ ॥

(२)

लौंग "गुरु दक्षिणा" के गुरुवर लौंग ले ओ,
　तस्तरी में धर कौन लौंग लिये आता है।
बोल उठा प्रिय शिष्य, भगवान् वेदकुञ्ज,
　तेजपुञ्ज गुरुजी ये दयानन्द आता है।
चाहियें न लौंग मुझे जान हो प्राण प्यारे,
　सब सुध बुध लेता पेट की विधाता है।
जाओ जाओ दीनों की पुकार हाहाकार सुनो,
　भारत का रोम रोम तुझे ही बुलाता है ॥ २ ॥

(३)

नाम काम जप तप. रोम रोम में है रमा,
　जिस की यह सेवा पुण्यमयी निष्काम है।
शत[2]रवि, राकापति[3] जब मिलकर जगें,
　छाया भी नहीं वे दूर अभी तो ललाम है।
भूल चुका जग मुझे, जग को भुलाया मैंने,
　पर ऋषि तेरा ध्यान मुझे आठों याम[4] है।
दाँए बाँए, ऊंचे-नीचे, उस दिव्य ज्योति को ही,
　मेरा एक वार नही सौ सौ लो प्रणाम है ॥ ३ ॥

१-मस्तक, २ सैंकड़ों सूर्य, ३ चन्द्रमा, ४. पहर,

वेद और जन्मसिद्ध जातिभेद

[ले०—श्री पं० नित्यानन्दजी वेदालंकार]

(१) वर्ण व्यवस्था और उन्नति

वर्णव्यवस्था वैदिक सभ्यता का आधारभूत सिद्धान्त है। जिन स्तम्भों के ऊपर वैदिक सभ्यता का भवन खड़ा हुआ है उनमें वर्णव्यवस्था एक मुख्य स्तम्भ है। हमारे देश का प्राचीन काल सुवर्णीय युग था। उस समय हमारा देश हर प्रकार से संसार के सब देशों से उन्नत था। ज्ञान में, विद्या में, वैभव में, शक्ति में, साहस में, हर दिशा में हमारा देश संसार के दूसरे देशों को रास्ता दिखाने वाला था। उस समय समाज के अन्दर सुख और शान्ति का राज्य था। इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था अपने विशुद्ध रूप में यहां प्रचलित थी। प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता से अपनी योग्यता के अनुसार अपने जीवन के लिये कार्य को चुना करता था और अपनी इच्छानुसार चुने हुए कार्य को पूर्ण योग्यता के साथ करना अपना धर्म समझता था। इस कार्य को चुनने में—अपने वर्ण के निर्वाचन में समाज का किसी प्रकार कोई प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र था। इसलिये उस समय प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करने का अवसर प्राप्त था, जिससे समाज के अन्दर अनेक प्रकार के ज्ञान और विज्ञान की वृद्धि होने से उस समय का जीवन सुखमय था।

परन्तु हमारे देश के दुर्भाग्य से, या यों समझिये कि समय के प्रवाह से वर्णव्यवस्था का स्तम्भ जर्जरित होता चला गया और इस वर्णव्यवस्था के स्तम्भ के जर्जरित होने के साथ २ वैदिक सभ्यता का भवन भी गिरता चला गया। वर्णव्यवस्था के स्थान पर जन्मगत जाति भेद (Caste System) का हमारे देश में प्रचार हुआ। हमारे अज्ञान से लाभ उठाकर स्वार्थी ब्राह्मणों ने समाज में अपनी प्रभुता को कायम रखने के लिये धर्मशास्त्रों तथा पवित्र वेदों के नाम पर जन्मगत जातिभेद (Caste System) का प्रचार किया, जिससे हमारा देश ज्ञान, विज्ञान और प्राचीन गौरव से विमुख होकर जात पांत के झंझटों में उलझ गया।

वर्णव्यवस्था और जन्मगत जातिभेद में भेद

वर्ण व्यवस्था और जन्मगत जातिभेद में बड़ा भेद है। वर्ण व्यवस्था समाज के ४ विभाग करती है। व्यक्तियों के जन्म के अनुसार नहीं, परन्तु योग्यता के अनुसार वर्णव्यवस्था समाज को ४ श्रेणियों में, ४ वर्णों में विभक्त करती है। वर्ण शब्द ही स्वयं 'वृञ् वरणे' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'चुनना'। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति जिस पेशे (Profession) को या (Occupation) धन्धे को चुना करता था उसी के अनुसार उसके वर्ण का निश्चय हुआ करता था। इस वर्ण के निर्वाचन में जन्म का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसके विपरीत जातिभेद मनुष्य के जन्म के अनुसार, उसके पेशे व कार्य को, खान पान तथा विवाह

के क्षेत्र को निश्चित करता है। मनुष्य के आचरण, योग्यता तथा प्रवृत्तियो को विना देखे, केवल जन्म के अनुसार जातिभेद Caste System) मनुष्य की स्थिति को समाज नियत करता है। भारत मे प्राचीन समय में वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी और यह वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त वैदिक साहित्य में ओत प्रोत है। इसके विपरीत जन्मसिद्ध जातिभेद (Caste System) न तो प्राचीन भारत मे प्रचलित था और न ही शास्त्रो द्वारा इसका प्रतिपादन होता है।

जातपांत की भयंकरता

भारत धर्मप्राण देश है। धर्म के नाम पर यहां किसी भी सिद्धान्त का प्रचार किया जा सकता है। स्वार्थी ब्राह्मणो ने हमारी इस अवस्था को खूब पहिचाना और समाज मे अपनी प्रभुता को कायम रखने के लिये जन्मगत जात-पांत का मनमाने तौर पर शास्त्रो द्वारा प्रतिपादन किया। इसी का परिणाम है कि आज हमारे देश मे जन्मगत जात-पांत का प्राबल्य है। इस जात-पांत के नाम पर जनता के एक बड़े भाग पर अत्याचार हो रहे हैं, परन्तु फिर भी हम जन्मसिद्ध जातिभेद को प्रभु की देन समझते है। इस सामाजिक अन्याय के कारण हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति दिन प्रतिदिन कमजोर होती जा रही है। उच्च वर्णो के अभिमानी जिन्हे अछूत कहते हैं, वे हिन्दू धर्म को शाप देकर तिलाञ्जलि देने को तैयार हैं। इस सामाजिक अन्याय के कारण ही इस्लाम और ईसाइयत के पैर हमारे देश मे धीरे २ जमते जा रहे है। परन्तु फिर भी हमारा जात-पांत के ऊपर विश्वास जमा हुआ है। ४ वर्णों के स्थान पर जात-पांत के प्रचार होने से ४०० जातियां और उपजातियां हमारे देश मे पैदा हो चुकी हैं। इन जात-बिरादरियो की दीवारों मे हजारो आत्माएं तड़प रही हैं। जात-पांत के प्रचलित होने से ही अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियां हिन्दु समाज के अन्दर प्रविष्ट हो चुकी हैं। वे कुरीतियां हिन्दु समाज की जड़ो को काट रही हैं। जात-बिरादरियो के संकुचित दायरे में विवाह हो सकना, योग्य लड़के और लड़कियां मिलना असम्भव है, इसलिये हिन्दु समाज के अन्दर बाल विवाह हो रहे है। लड़कियो को बेचने की प्रथा भी इसी का परिणाम है। बाल विवाह का यह परिमाण है कि ५ वर्ष से कम उमर की लाखों विधवाएं वैधव्य की कठोर यातनाओ को सहती हुई बड़ी मुसीबत से अपने दिनो को काट रही है। परन्तु फिर भी जात-पात को हम अपना धर्म समझे हुए हैं। इसी जात-पात के कारण हमारी जातीय उन्नति (National progress) तथा विकास बन्द हो चुका है। इसी जात-पांत के कारण सुसंगठित हिन्दु समाज आज टुकड़े टुकड़े मे विभक्त हो चुका है। हमारे देश मे जातीय एकता (National unity) और राष्ट्रियता (Nationality) का विकास होना इस जात-पांत के कारण ही असम्भव हो रहा है। परन्तु फिर भी हम इस जात पांत के झगड़े को छोड़ने को तैयार नहीं। इसी जात पांत के कारण स्वयं ब्राह्मणो का पतन हो चुका है। जो ब्राह्मण किसी दिन अध्यापन का कार्य करते थे वे आज पाचन का कार्य कर रहे हैं। देश का कितना पतन है, परन्तु फिर भी हम जात-पांत के साथ चिपटे हुए हैं। इस का मुख्य कारण यह है कि हम समझते हैं कि जात-पांत के नियमो का पालन करना धर्म है। और जन्म सिद्ध जाति भेद वेदो तथा अन्य हिन्दु धर्म शास्त्रों

द्वारा प्रतिपादित है । हिन्दु जाति का जब तक यह विश्वास बना रहेगा कि जन्मसिद्ध जातिभेद शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित है और हमारे बापदादों का यह रीति रिवाज है तब तक हमारे देश से जात-पांत के भूत को नहीं भगाया जा सकता। यदि हम जात-पांत के अन्यायों को दूर करना चाहते हैं और फिर से विशुद्ध वर्ण व्यवस्था का प्रचार करना चाहते हैं तो हमें बड़े जोर से इस बात का प्रचार करना पड़ेगा कि जन्मसिद्ध जातिभेद वेदों तथा अन्य वैदिक शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित नही है और न ही प्राचीन काल में इस प्रकार की जात पांत प्रचलित थी।

(२) जात पांत वैदिक नहीं

इसलिये इस लेख माला द्वारा हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि वेदों तथा अन्य वैदिक साहित्य में जन्म से जातिभेद को स्वीकार नही किया गया है। वैदिक साहित्य से यह भी बताने का प्रयत्न करेंगे कि उस काल में जन्म से नीच कुल में उत्पन्न पुरुषों को भी अपने उच्च गुणों तथा कर्मों के कारण समाज में उच्च स्थान तथा सन्मान दिया जाता था। परन्तु इस लेख में वेदों तक ही हम अपने को सीमित करेंगे।

वेदों में जन्म सिद्ध जाति भेद को स्वीकार नहीं किया गया है। जन्म से जात पांत को माननें वाले—

"ब्राह्मणो ऽ स्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो ऽ जायत" ॥

इस यजुर्वेद के मन्त्र को पेश किया करते हैं और इस मन्त्र के आधार पर ही जन्म सिद्ध जाति भेद को वेदो द्वारा अनुमोदित बतलाया करते हैं। परन्तु यदि मन्त्र के अर्थ को गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तथा पूर्वापर की संगति लगाते हुए मन्त्र के तात्पर्य का निश्चय किया जाय तो पता लगता है कि यह मन्त्र जन्म सिद्ध जातिभेद को प्रतिपादित न करता हुआ वैदिक वर्ण-व्यवस्था को ही प्रतिपादित करता है। पौराणिक लोग मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं:—

"ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण पैदा हुआ, बाहू से क्षत्रिय पैदा हुआ, ऊरु से वैश्य और शूद्र ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न हुआ"।

अर्थात् सब व्यक्तियों में जन्म से ही भेद हैं। ब्राह्मण का जन्म ब्रह्मा के मुख से अर्थात् परमात्मा के सबसे उत्कृष्ट अंग से हुआ है। इस लिये वह जन्म से ही सब से श्रेष्ठ हैं। उस के गुण कर्मो को विना देखे हुए ही उसे अपने जन्म के कारण समाज में सब से ऊंची स्थिति प्राप्त होनी चाहिये। इस के विपरीत शूद्र का जन्म पैर से ब्रह्मा के सब से निकृष्ट अंग से हुआ है, इसलिये चाहे उसके गुण कर्म कैसे भी हों, उसकी समाज में सबसे नीची स्थिति होनी चाहिये।

परन्तु हमारी दृष्टि में यह अर्थ ग़लत है, और प्रकरण की दृष्टि से संगत भी नही है। परमात्मा के मुख, बाहू, पेट और पैर कौनसे हैं। पहिले यही प्रश्न उपस्थित होता है। परमात्मा,–'अपाणिपादो जवनो गृहीतः (उप०) विना हाथ पैर वाला है। फिर क्या मुख बाहू और पैर से किसी की उत्पत्ति हो सकती है ? यह सृष्टि क्रम के विरुद्ध है। इसलिये भी पौराणिकों के उपरोक्त अर्थ को ठीक नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त व्याकरण की दृष्टि से देखा जाय तो भी 'ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीत्' इस वाक्य का अर्थ ब्राह्मण परमात्मा के मुख से उत्पन्न हुआ—यह नही हो सकता। शाब्दिक अर्थ यही हो सकता है कि ब्राह्मण इस का मुख था। इस लिये व्याकरण की दृष्टि से भी पौराणिक लोगों

का अर्थ ठीक नहीं कहा जा सकता। यदि प्रकरण की दृष्टि से देखा जाय तब तो ब्राह्मण परमात्मा के मुख से पैदा हुआ यह अर्थ बिलकुल असंगत है।

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त के १० वें मन्त्र में मनुष्य जाति का एक व्यक्ति के रूप में वर्णन हुआ है। उसी मन्त्र में यह प्रश्न पूछा गया है कि—"मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरूपादा उच्येते"। अर्थात् "उसका सिर कौन सा है, उसकी भुजाएं कौनसी है, उसके ऊरु और पैर कौन से हैं?। 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' यह अगला मन्त्र है और इस द्वारा प्रश्न का उत्तर दिया गया है। मुख क्या है? इस प्रश्न का—ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ यह बिलकुल असंगत उत्तर है। इस लिये मन्त्र का ठीक और प्रकरणसंगत अर्थ निम्नलिखित है। यथा:—

व्यक्ति के रूप मे वर्णित मनुष्य समाज (Personified mankind) का ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय उसकी भुजाएं है, वैश्य ऊरु और पैर शूद्र स्थानीय है।"

इस प्रकार मन्त्र द्वारा जन्म सिद्ध जातपात का प्रतिपादन सर्वथा नही किया गया है। परन्तु अलंकार रूप से मनुष्य समाज की व्यक्ति के शरीर के साथ तुलना करते हुए समाज के आदर्श संगठन की तरफ मन्त्र निर्देश करता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की समाज मे वही स्थिति है जो व्यक्ति के शरीर मे क्रमशः मुख, बाहु, ऊरु और पैर की है। ब्राह्मण मुख का प्रतिनिधि है। मुख आंख, कान, नाक इत्यादि ज्ञानेन्द्रियो द्वारा ज्ञान का संचय करता है और वाणी द्वारा उस ज्ञान का वितरण करता है। इसी प्रकार समाज मे जो पुरुष सम्पूर्ण ज्ञान का संग्रह करके उसका प्रचार करते है, भटकते हुए लोगो को अपने सदुपदेश से सच्चा रास्ता दिखाते हैं, वे ब्राह्मण हैं। क्षत्रिय बाहु का प्रतिनिधि है। 'बाहुवै बल बाहुवै वीर्यम्' (शतपथ ब्राह्मण)। बाहु के अन्दर बल है, भुजा के अन्दर वीर्य है। यह अपने बल से निर्बलो की रक्षा करता है। इसी प्रकार समाज मे जो बल की उपासना करता है, शक्ति का संचय करता है और अपनी शक्ति से अशक्तो की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। वैश्य ऊरु का प्रतिनिधि हैं। ऊरु का तात्पर्य मध्यभाग है क्योकि अथर्ववेद मे 'मध्य तदस्य यद्वैश्य' ऐसा पाठ भी मिलता है। पेट भोजन का संचय करता है तथा अन्य अंगो मे उसका वितरण करता है। जंघा द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान मे गमन किया जाता है। इसी प्रकार समाज मे जो धन का संचय करता है तथा अन्य व्यक्तियों मे जो उसका वितरण करता है, एक स्थान से दूसरे स्थान को व्यापार तथा व्यवसाय के लिये गमन किया करता है वह वैश्य है। शूद्र पैर का प्रतिनिधि है। पैर दूसरे अंगो की परिचर्या करता है। इसी प्रकार समाज मे जो मूर्ख हैं और जिनका दूसरे वर्गों की परिचर्या करना ही मुख्य कार्य है वे शूद्र हैं।

इस प्रकार यह जन्मगत Caste System का प्रतिपादन नहीं है। परन्तु श्रमविभाग (Division of labour) के सुन्दर सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य समाज के चार विभाग किये गये हैं। यह विभाग व्यक्ति के जन्म के अनुसार नहीं परन्तु व्यक्ति के गुणो तथा योग्यता के अनुसार किया गया है। यही वर्णव्यवस्था है। परमात्मा ने मुख को - जो ज्ञान का स्थान है मनुष्य के शरीर मे सब से ऊंचा स्थान दिया है। इसके पश्चात् वीर्य और शक्ति के प्रतिनिधि

भुजा का स्थान है। उसके नीचे धन के प्रतिनिधि पेट और जांघ को स्थान दिया गया है, सब से नीचे सब की सेवा करने वाले पैर को स्थान दिया गया है। इसी प्रकार समाज में ज्ञान और विद्या को सब से ऊंचा स्थान दिया जाना चाहिये। फिर शक्ति का और उसके पश्चात् धन का स्थान है। भगवान् का बताया हुआ यह सुन्दर क्रम है। इस से उत्तम समाज की कौनसी व्यवस्था हो सकती है। जिस समाज में ताकत और दौलत से ऊपर विद्या और ज्ञान को स्थान दिया जाता है उस समाज में धन के कारण उत्पन्न होने वाले और संघर्ष नहीं हो सकते। इस प्रकार मन्त्र बड़े उत्तम रूप से श्रम विभाग के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिस श्रम विभाग के विना किसी भी सभ्य समाज का सुन्दर संगठन नहीं हो सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

"स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते" ॥बृह० उप०॥

मनुष्य अकेला रहता हुआ जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। भगवान् ने मनुष्य के अन्दर दूसरे मनुष्यों के साथ मिल कर उन्नति करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पैदा की है। इस लिये समाज के प्रत्येक कार्य को उत्तमरूप से संचालित करने के लिये वेद व्यक्ति के गुण, कर्म और योग्यता के अनुसार मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त करता है। यह वर्ण-विभाग जन्म के ऊपर आश्रित नहीं है।

इसके विपरीत सम्पूर्ण वेद से जन्म द्वारा जात-पात को प्रतिपादित करने वाले एक भी मन्त्र को पेश नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण वैदिक शिक्षा जन्म से जातिभेद की कल्पना का बलपूर्वक विरोध करती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार के मन्त्रों को दिखाया जा सकता है, जिनसे यह प्रतीत होता है कि एक ही परिवार के भिन्न २ व्यक्ति अपनी रुचि, प्रवृत्ति और योग्यता के अनुसार अपने जीवन के भिन्न २ कार्यों और पेशों को चुनते हैं।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
ऋग्० ९।११२।३॥

अर्थात मैं कवि हूं, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता धान पीसने वाली है। हम सब भिन्न २ कार्यों में लगे हुए हैं, भिन्न २ मार्गों से हम धन और सुख की कामना करने वाले हैं। हे इन्द्र! हम पर सुख की वर्षा करो।

यह मन्त्र स्पष्ट रूप से बता रहा है कि व्यक्ति जन्म की उपेक्षा करता हुआ अपने जीवन निर्वाह के लिये अपनी प्रवृत्ति और योग्यता के अनुसार किसी भी कार्य को कर सकता है। इस प्रकार के अन्य मन्त्र भी पेश किये जा सकते हैं जिन से यह सिद्ध हो सकता है कि वेद जन्म सिद्ध जाति भेद को स्वीकार नहीं करता। परन्तु प्रमाणों को भर कर हम अपने लेख का कलेवर अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। पूर्व और पश्चिम के विद्वान्, जिन्होंने पक्षपात को छोड़कर गम्भीर दृष्टि से वेदों का अध्ययन किया है, वे इसी परिणाम पर पहुंच रहे हैं कि वेद के अन्दर एक भी ऐसा मन्त्र नहीं है जिससे जन्म सिद्ध जाति भेद को प्रतिपादित किया जा सके।

श्री महर्षि दयानन्दजी का पत्र

सत्

जब न्यायस्थान पर जावे तब सब प्रजास्थ वादि प्रतिवादी साक्षी राजपुरुष सम्प्रेक्षक आदि मनुष्यों को प्रसन्नवदन कृपा दृष्टि से आनन्दित करे। दक्षिण हाथ उठा कर सब को स्वास्थ्य अभय दान देकर न्यायासन पर बैठ सर्वव्यापक यथावत् न्यायकारी, अन्तर्यामी को मन से नेत्रोन्मीलन कर के प्रार्थना करे कि हे परमेश्वर ! आप की कृपा दृष्टि हो जिस से मैं चाहता हूँ कि कभी काम, क्रोध, मोह, भय, शोकादि के वश हो के अन्याय न करूँ ऐसा अनुग्रह आप भी कीजिये परन्तु इस बात को सदा ध्यान में रक्खे कि सब कामादि और अन्याय में फंसानेवाला लोभ है उस को अपने से और आप उस से सदा दूर रहे। उस समय न किसी का शत्रु और न किसी का मित्र तथा उदासीन बने किन्तु समदृष्टि कि जैसा पक्षपात छोड़ परमेश्वर वा आप्त पुरुष सब के साथ वर्त्तता है वैसे वर्त्ते। प्रत्येक सप्ताह में गुरुवार के दिन ऋणाऽदानादि में विवाद अर्थात् दिवानी का न्याय करे और रविवार के दिन साहसिकों का अर्थात् फौजदारी का न्याय करे। जब अर्थी वा प्रत्यर्थी अथवा साक्षी जो कुछ स्वभाव से बोले उस पर अतीव ध्यान देकर विचार करे और उन को कठिन से कठिन शपथ करावे, सब साक्षियों को पृथक् २ रक्खे सिखावट की साक्षी को न माने और यह भी जना देवे कि मिथ्या बोलने, मानने और करने वाले को इस जन्म और पर जन्म में सुख वा प्रतिष्ठा नहीं होती। और देखो थोड़े से जीवन में धर्मात्मा अथवा सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी मनुष्य धर्मार्थ काम मोक्ष फलों को प्राप्त होता और मिथ्यावादी, मिथ्यामानी, अनृतकारी सर्वदा दुःख को प्राप्त होता है इसलिये किसी को आत्मा और परमेश्वर के मिथ्या भाषणादि से शत्रु न बनाना चाहिये जैसा कुछ तुम्हारे आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोलो, जब वे कुछ भाषण करें वह सब लिपिबद्ध होवे और उन के नेत्र तथा मुखाकृति की ओर देख कर भीतर के आशय को पहिचाने। यदि कोई बड़ा ढीठ अथवा प्राड्विवाक अर्थात् बारिष्टर वा वकील जो कुछ परस्पर प्रश्नोत्तर करें उस पर ध्यान देकर सुने तथा लिखे यदि जहाँ २ कुछ उचित हो पूछे, बीच में अन्य २ सम्वाद करके वक्र वा सरलता से प्रश्न करे यदि इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न हो तो उन पर विश्वास न कर के जहां वह विरुद्ध कार्य्य हुआ हो वहां के सुपरिचित धार्मिक पुरुष के पुरुष और स्त्रियों की साक्षी में स्त्रीजनों से पूछ कर निश्चय करे परन्तु स्त्रियों से रार्ग्रा पूछे अथवा यदि पड़दे में रक्खे तो बड़े प्रबन्ध से रख के पूछे कि वहां उस के बदले दूसरी स्त्री न बोले। यदि सामने होवे तो न कोई उस पर दृष्टि डाले न हास्य करे और न डरावे, इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न होवे तो गुप्त में उन को बात करते सुन अथवा धार्मिक आप्त जन दूतों के द्वारा निश्चय करे पश्चात् जो अपराधी हो उसको यथायोग्य दण्ड देकर हरावे और और अनपराधी का मान्य कर जितावे। जो हारे उस पर ताना न मारे किन्तु ऐसा कहे कि देखो भाई मैं तुम से ऐसे काम करने की आशा नहीं करता था

तुम ने ऐसे कुल वा ऐसे के पुत्र हो कर ऐसा अनुचित काम किया इस पर मुझ को बड़ा शोक है। हे भद्र! यदि तू ऐसा काम न करता तो ऐसे दण्ड को प्राप्त क्यों होता। यदि कोई धूर्त वा आतुर बुरा शब्द बोले वा कुचेष्टा करे सह लेना परन्तु अपने शरीर की रक्षा सब प्रकार से करना और सब की मानसी वा बाह्य चेष्टा को जानते रहना। चाहे कोई कितनी ही प्रार्थना करे वा क्रोड़ रुपये भी देकर अन्याय कराया चाहैं तो भी कभी अन्याय न करे, यही राजा के प्रताप, कीर्त्ति, श्री और राज्य बढ़ाने वाला कर्म है। यदि भूमि, धन, धरावट, सीमा आदि जितने विवाद लेख, वचन से हों अथवा साहस, मारपीट, कुवचन आदि से दूसरे को पीड़ा वा हानि पहुंचावे उनका भी न्याय यथोचित करे जैसा मनुस्मृति के अष्टम और नवमाध्याय में न्यायव्यवस्था १८ प्रकारों में लिखी है यथायोग्य करे। ये सब काम मध्यान्होत्तर चार बजे तक कर के कुछ ४५ पल अर्थात् १५ मिनट तक स्वस्थ होकर जिन के साथ मिल के राज प्रबन्धार्थ विचार करना चाहिये ५। सवा पाँच बजे तक प्रजास्थ जनों से बात करे पश्चात् यदि प्रातःकाल १० बजे भोजन किया हो और उष्ण काल हो तो शौचादि से निवृत्त होकर ६ छः बजे तक भोजनादि से निवृत्त हो। जहां का शुद्ध वायु, शुद्ध देश एकान्त हो पैदल घूमने को जाय, यदि चलने में असमर्थ हो तो सवारी पर बैठ कर घूमे, परन्तु यदि शीतकाल हो तो परमेश्वर की उपासना के पश्चात् भोजन करे अर्थात् उष्णकाल में आठ बजे पर्यन्त भोजन के पश्चात् घूमना उपासना करनी उचित है। और शीतकाल में भी ५ बजे से सात बजे तक भ्रमण उपासना से निवृत्त होकर साढ़े सात बजे तक भोजन कर ले पश्चात् ४५ पल अर्थात् १५ मिनट पर्य्यन्त किसी से न बोले किन्तु हस्तमुख प्रक्षालन कर लघुशंका से निवृत्त हो ताम्बूल भक्षण कर शत पद घूम के किंचित् उत्तान दक्षिण और वाम पार्श्व से लोट कर उठ बैठे तत्-पश्चात् अर्थात् पौने आठ बजे से नौ बजे तक दूत द्वारा स्वदेश, स्वनगर, परदेश, पर-राज्य के समाचार जो कि अपने और दूसरे के सम्बन्ध में हों सुने और उस से स्वकार्य्य सिद्धि के लिये आज्ञा भी देवे, नौ से दश बजे तक आय व्यय आदि का वृत्तान्त सुन कर अगले दिन के लिये यथोचित प्रबन्ध करे। पश्चात् आध घन्टे में इष्ट मित्र वा मंत्री आदि से जो कि उस समय उपस्थित हो प्रसन्नता पूर्वक विदा करके साढ़े दश बजे शयन करे यदि उष्णकाल हो तो १० बजे तक इन सब कामों से निवृत्त हो शयन करे। शयन एकान्त मे करे और उसी समय परमेश्वर को इसलिये धन्यवाद देना कि हे परमेश्वर आप की कृपा से गत अहोरात्र जैसा आनन्दपूर्वक बीता वैसे ही अग्रस्थ अहोरात्र भी आनन्द पूर्वक व्यतीत होवे। दो दिन में पूर्वोक्त दो काम करने मंगल के दिन किसी राजपुरुष ने वा अन्य राज्य से प्रजास्थ वा राज-जन पीड़ित हुए हो उन की बातें और तीन दिन अर्थात् बुध, शुक्र और शनैश्चर मे सब राज्य की उन्नति और स्वास्थ्य के लिये प्रबन्धार्थ अकेले वा मुख्य धार्मिक स्वराज्य-भक्त मंत्रियो (के) साथ विचार करना चाहिये।

विशेष नियम।

१—जब पति और पत्नी समक्ष हों प्रसन्नतापूर्वक 'नमस्ते' कर जिस २ प्रकार दोनों में प्रेम बढ़े वैसा व्यवहार करें। विरुद्ध कभी नहीं।

२– ऋतुदान के पश्चात् किंचित् ठहर स्नान कर शालव मिश्री, केशर आदि सुगन्धियुक्त परिपक्व दुग्ध शीतल यथारुचि पीके ताम्बूल भक्षण कर मुख प्रक्षालन करके पृथक् २ शयन करे।

३—दोनों सदा विद्या धर्म्म प्रजा सुख के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

४—किसी वेद विद्या युक्ति विरुद्ध मतमतान्तर के झगड़े में दोनों कभी न फसे किन्तु पक्षपातरहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म्म ही का आचरण करें और करावें।

५—अपने वा पराये राज्य में जहां तक शक्य हो किसी मत वाले की बहकावट से विद्या-युक्तिविरुद्ध मत में किसी को न फंसने देवे। यदि कोई समझाने पर न माने, जो कूप मे गिरना ही चाहे तो उसका अभाग्य समझना चाहिये।

६ जब बुरे बुराई नहीं छोड़ते तो भले भलाई क्यो छोड़ें।

७—सदा सनातन वेद शास्त्र आर्य्य राजपुरुषों की नीति पर निश्चित रह कर इनकी उन्नति तन, मन, धन से सदा किया करें। इन से विरुद्ध भाषाओं की प्रवृत्ति वा उन्नति न करे वा करावे। किन्तु जितना दूसरे राज्य के सम्बन्ध में यदि वे इस भाषा को न समझ सकें उतने ही के लिये उन भाषाओं का यत्न रक्खे जो वह प्रबल राज्य हो।

८—कभी विना विचारे लिखे नियत काल के आज्ञा न देवे पश्चात् जैसी जितने समय में कार्य्य सिद्धि करने की आज्ञा दी हो वह यथावत् नियमित समय में पूरी हुई वा नहीं उस पर ध्यान सदा रक्खे।

९—जो यथोक्त समय में आज्ञा को यथावत् प्रीति से पूरी करे उसका सत्कार करना पारितोषिक देना और उसकी उन्नति करना अति योग्य है और जो यथोचित न करे उसका अपमान दण्ड और ह्रास किये विना कभी न छोड़े।

१०— विना योग्यता वा परीक्षा के किसी को बड़ा व छोटा अधिकार न देवे किन्तु जो धर्मात्मता से उस कार्य्य के करने में समर्थ हो उसी के अधीन वह कार्य सिद्ध करे वा करावे। दरिद्र वा लोभी को प्रारम्भ में बड़ा अधिकार भी न देवे और एक कुटुम्ब सम्बन्धी परस्पर मित्रों को भी एक अधिकार मे न रक्खे।

११ – सदा वेदोक्त धर्मावलम्बी अधिकारियों पर अन्य मतावलम्बियों को अधिकार न देवे। किन्तु जिस २ कार्य्य में न्याय वा (उपदा) अर्थात् रिश्वत खाने का सम्बन्ध हो उनको छोड़ अन्य गौणाधिकारों में यदि वैदिक धर्मावलम्बियो से कार्य्य सिद्ध न हो सके, रक्खे।

१२—जो प्रीतिपूर्वक धर्मात्मता से ३० वर्ष तक राज-कार्य्य करे उनको आधी नौकरी जब तक वे जीवें देवे, यदि संग्रामादि में जिसका मृत्यु हुआ हो उसकी स्त्री पुत्रों को भी उसी प्रकार देवे यावत् उनके पुत्र समर्थ न हों, जब समर्थ हो तब उनके पुत्रों को यथा-योग्य अधिकार देवे। परन्तु उसकी स्त्री को योग-क्षेमार्थ यथोचित जब तक व(ह) जिये सदा दिया करे यदि वह पांच रुपये मासिक पाता हो पूरा देवे पुत्रों के समर्थ हुए पर स्त्री को आधा देवे।

१३—सबके लड़के लड़कियों को ब्रह्मचर्य्यपूर्वक विद्या दान दिलावे।

१४—न्यून से न्यून सोलहवें वर्ष कन्या और २५ वें वर्ष लड़के का स्वयम्वर विवाह होने देवे पूर्व नहीं।

१५—अपनी सत्ता शक्ति को यथा सम्भव बढ़ाता जावे न्यून न होने देवे।

१६—अपने अंश को न छोड़े और पराये अंश का स्वीकार कभी न करे।

१७—संग्राम में जो सेनास्थ पुरुष जीत में शत्रुओं के पदार्थ पावें उनमें में १६ वां भाग आप लेवे और समुदाय के जीते हुए पदार्थों में से १६ वां भाग चाहे कितने ही क्रोड़ों रुपये क्यों न हों सेना को अवश्य देवे १५ वां भाग आप रक्खे।

१८—युद्ध में जो शत्रु घायल हो उसकी रक्षा औषध अवश्य करे स्त्री, बालक, वृद्ध आतुर, भीरु शरणागत पर शस्त्र कभी न चलावे।

१९—हारे हुए शत्रु की अप्रतिष्ठा कभी न करे किन्तु उसका यथायोग्य मान्य रक्खे परन्तु उसको छोड़कर स्वतंत्रता कदाचित् न देवे।

२०—सदा प्रयत्न से अलब्ध के लाभ की इच्छा लब्ध की सम्हाल से रक्षा, रक्षित की व्य(ाजा)दि से वृद्धि और बढ़े हुए पदार्थों का व्यय विद्याधर्म्म राज्य की वृद्धि इन (के*) प्रचार अनाथों के पालनादि शुभ व्यवहारों में करे।

२१—सर्वदा सन्तानों की शिक्षा में धन का व्यय करे किन्तु विवाह, मृत्यु आदि में न करे।

२२—सदा दासी, वेश्यागमन, हास्य, नृत्य, भाँड, चारण आदि के मिथ्या स्तुति करने आदि व्यवहार से पृथक् रहे और अन्य को भी ऐसे प्रसङ्गों से सदा बचाया करे।

२३—सदा पूर्ण युवाऽवस्था में अर्थात् २५ वर्ष के उपरान्त हृद्य स्वदृश एक स्त्री से विवाह करे और उसी से सदा ऋतुगामी रहे यदि प्रमाद से अनेक स्त्री हों तो भी उनके साथ पक्षपात छोड़ नियमित समय में एकसा वर्त्ते।

२४—उन में परस्पर द्वेष उत्पन्न न होने दे किन्तु सब को तुल्य अन्न वस्त्राभूषण सम्भाषणादि प्रेम व्यवहार तुल्य रक्खे और प्रेम रखवावे।

२५—उन स्त्रियों को योग्य है कि एक के पुत्र होने में सब अपने को पुत्रवती समझें तथा सब भाई भी एक के पुत्र होने में अपने को पुत्रवन्त मानें।

२६—राजा और राज्ञी का जिस २ कर्म से पति पत्नी में और प्रजा में परस्पर प्रेम बढ़े उस २ का सेवन और विपरीत का सर्वथा त्याग करे।

२७—सुपरीक्षित दूत द्वारा राज्य और राजपुरुषों की सुचेष्टा और कुचेष्टा से अपने को अभिज्ञ रक्खे जिस २ यत्न से उनकी कुचेष्टा छूटें और सुचेष्टा बढ़े वैसा यत्न सदा किया करे।

२८—अपराध में प्रजा से राजपुरुषों पर अधिक दण्ड होना चाहिये क्योंकि बकरी के प्रमाद रोकने से सिंह का प्रमाद रोकने में अधिक प्रयत्न होना उचित है।

२९—जैसे राजा और कृषीवलादि प्रजा सुखी रहे वैसा करप्रबन्ध प्रजा में करे और उन्हीं कृषीवलादि को सब राज्य के सुख का मूल कारण समझ उन से पितावत् वर्त्ते।

३०—जहां (साम) मेल (दान) कुछ दे, (भेद) तोड़ फोड़ से शत्रु वश में न आवें वहीं दण्ड प्रचरित करना चाहिये।

३१—किसी धर्मात्मा से विरोध वा लड़ाई करना न चाहे और दुष्ट से विरोध वा लड़ाई निःशंक करे।

* अंश कटगया।

३२—सब काम धार्मिक सभ्यों के बहु पक्षानुसार नियत करे और वह आज्ञा जो कि प्रजा के साथ सम्बन्ध रखती हो सब में प्रजा की सम्मति से वे और सर्वत्र सिद्ध कर के गुण दोष समझ पश्चात् गुणाढ्य नियमों को नियत और दोषयुक्तों का त्याग करे।

३३—अपना वा अपने कुटुम्ब का नित्य नैमित्तिक व्यय भी नियमपूर्वक करे, यथेष्ट नहीं।

३४—जिस किसी को मासिक धन वा भूमि धर्मार्थ अथवा गुणानुसार कुछ भी देवे वह यावत् माननीय जीवे वा अन्यथा न वर्त्ते तावत् वह दान रहे पश्चात् नहीं।

३५ यदि पूर्वजों ने इस से विपरीताशय लेख पूर्वक किया हो और उसके कुलोत्पन्न वैसे न वर्त्तते हों तो भी वह दिया न दिया हो जावे। क्योंकि वह जिस समय दिया जाता है वह उत्तम काम के लिये होता है।

३६—परन्तु धर्मार्थादि के लिये जो दिया हो उस के भोक्ता अन्याय से वर्त्तते हों तो भी उस अंश को राजांश में न मिलावे किन्तु कुकर्मी से छुड़ा योग्य धर्मात्मा को उस का अधिकारी करे, यदि वह भी प्रमादी हो तो पूर्वोक्त प्रकार उस से भी लके अन्य योग्य को यदि उसी के कुल में योग्य न हो तो देवे।

३७—यदि उन के सन्तान पितरों से अधिक योग्य हों तो उन को अयोग्य के अंश में से अधिकांश देवे और अधिक प्रतिष्ठा करे।

३८ यदि न्यायाधीश ही प्रमादी होकर अन्याय किया चाहे तो उन को राज्य और प्रजा के धार्मिक प्रधान पुरुष समझावें कि आप अन्याय मत कीजिये यदि न मानें तो उस को पदच्युत करके जो उसी के कुल में निकट सम्बन्ध से न्यायास्पद के योग्य पुरुष हो उस को न्यायाधिकारी करें परन्तु यह काम पक्षपातरहितता से होना उचित है।

क्योंकि राज्य, विद्या, तथा धर्म की वृद्धि और अधर्म की हानि के लिये सब प्रतिष्ठा है प्रमाद के अर्थ नहीं।

३९—सब राज्य के आय में से दशांश धर्मादि के लिये नियत रक्खे उस से वेद विद्या, धर्म, सुशिक्षा की वृद्धि के लिये अध्यापक और उपदेशक प्रचरित करें। आपत् काल में राज्य और अनाथों की रक्षा भी उसी धन से करे।

४०—और राज्य से आय के नवांशों में से दो भाग स्थिर कोष, दो अंश राजकुल. तीन अंश सेना विभाग, एक अंश स्थान विशेष और एक अंश शिल्प विद्या की उन्नति में लगावे।

४१—राज्य का ~~सब~~ कार्य एक पर निर्भर न रक्खे किन्तु राजपुरुष और प्रजापुरुष की अनुमति के अनुकूल प्रचलित करें।

४२—जो राजासन पर नियत हो उस का किंचित् भी अपमान कोई मन, कर्म, वचन से न करे किन्तु जो जिस पर प्रधान हो चाहे उस से अप्रधान किसी गुण में अधिक भी क्यों न हो तथापि परमेश्वर से द्वितीय स्थान में माननीय राजा और स्वामीवत् माननीय अपने २ प्रधान को माने।

४४—अधिष्ठाता लोग राजाज्ञा को अपने प्राण से भी अधिक मानें चाहे कोई कैसा ही सम्बन्धी वा मित्र क्यों न हो परन्तु जब राजाज्ञा भंग वा उस में आलस्य करे तब वह शत्रुवत् दण्डनीय हो जावे।

४५—प्रथम सब प्रयत्न से विचार कर सर्वहित समझ के आज्ञा देनी चाहिये पश्चात् उसको पूरी करने में पूरा ध्यान और पुरुषार्थ रक्खे।

४६—अपने आत्मा वा शरीर को राजा वा अधिकारी न समझें किन्तु राजनीति ही को राजा और राज्याधिकारणी माने।

४६—इस को निर्दोष और चलाने के लिये एक राजसमाज दूसरा विद्यासमाज और तीसरा धर्म-समाज नियत करे।

४८—इन समाजों में राजपुरुष और प्रजापुरुष नियत रहें। राजपुरुष राज्योन्नति और प्रजापुरुष प्रजा की वृद्धि में प्रयत्न किया करें और तीनों समाज के विचारानुकूल नये नियम प्रचरित किये जावें।

४९—जो २ आज्ञा इन समाजों से निश्चित हो कर प्रचरित की जायें उन का उल्लंघन कोई भी न करे यदि करे तो वह सब का अमाननीय और दण्डनीय।

५०—सदा वेदादि शास्त्र मनुस्मृति के सप्तम अष्टम और नवम अध्याय महाभारत के राजधर्म आपत्-धर्म और विदुर प्रजागर, विदुरनीति के शब्दार्थ सम्बन्ध और कर्त्तव्य को सब राजपुरुष जान के तदनुकूल वर्तें और इन के प्रचार में सदा प्रयत्न किया करें।

५१—जो २ सामयिक नियम और उपनियम नियत करना होवे तो पूर्वोक्त समाज और वेदादि शास्त्रों के अनुसार निश्चित करें और करावें।

५२—यह निश्चय है कि जैसा शील आचरण उत्साह पुरुषार्थ प्रधान पुरुष करता है वैसे ही इतर इतर जन वर्तते हैं, इसलिये प्रधान पुरुषो को अत्यावश्यक है कि सदा अधर्मयुक्त कर्मों को छोड़ कर न्याय रूप धर्मकृत्यों में वर्त्ता करें क्योंकि जो २ धर्म वा अधर्म प्रधान पुरुष दृष्टान्त से इतर जनों में प्रवर्त्तमान होता है उसका मुख्य निमित्त प्रधान होकर फलभागी होता है इसलिये मुख्य पुरुषों को बहुत विचार के वर्त्तना चाहिये।

टिप्पणि—श्री महर्षि दयानन्दजी के जो पत्र श्री ठाकुर किशोरसिंहजी हिस्टोरियन पटियाला ने गुरुकुल कांगड़ी भेजे हैं, उनमें से यह एक पत्र है। पत्र के ऊपर न तो तिथि तारीख़ आदि लिखी है और न यह लिखा है कि यह पत्र किसके नाम लिखा गया है। परन्तु लेखनशैली में ऋषि दयानन्द की भाषा और विचारधारा अत्यन्त स्पष्ट है और प्रतीत होता है कि वैदिक-विज्ञान के द्वितीय वर्ष के ६ठे अङ्क में प्रकाशित पत्र के ही सिलसिले में यह पत्र लिखागया है। (सं०)

सम्पादकीय टिप्पणियां

१—वैवाहिक-सम्बन्ध का स्वरूप

वैवाहिक सम्बन्ध में मैथुन के अंश का कितना सम्बन्ध होना चाहिये इस प्रश्न का विवाद है। कई कहते हैं कि विवाह दो व्यक्तियों में एक आत्मिक-सम्बन्ध है, विवाह में मैथुन का भाव केवल शारीरिक है इसलिये यह भाव किसी प्रकार भी विवाह के साथ अनिवार्य रूप में सम्बद्ध नहीं प्रतीत होता। इसलिये ऐसे विचारकों के मतानुसार आदर्श विवाह में शारीरिक आनन्द को महत्त्व न देना चाहिये। प्लेटो के अनुयायी प्रेमी इसी आत्मिक-सम्बन्ध के मानने वाले हैं जो कि वैवाहिक-सम्बन्ध में वैवाहिक-संस्कार तथा विधियों को हेय दर्शाते हैं। यह विचार धारा विवाह के आत्मिक-सम्बन्ध की कल्पना का यौक्तिक परिणाम प्रतीत होता है। आत्मिक-सम्बन्धवादियों का विश्वास है कि जब परमात्मा किसी आत्मा को जन्म देता है तो वह तदनुसार एक दूसरी आत्मा को भी जन्म दे देता है जिस की कि अनुभूतियों तथा प्रवृत्तियों का झुकाव पहली आत्मा के साथ हो सके। परन्तु इस सम्बन्ध में उचित विधि यह सोचनी होती है कि इस संसार में इन दो सहानुभूति वाली आत्माओं का मेल किस प्रकार किया जा सके, ये आत्माएं एक वार यदि मिलाई जा सकें तो इन्हें अन्त तक कोई शक्ति पृथक् २ कर सकने में समर्थ न होगी। आत्मिक-सम्बन्ध की कल्पना में यह समझ में नहीं आता कि परमात्मा ऐसी दो आत्माओं को—जिन्हे कि वह इसी लिये जन्म देता है ताकि उनका पारस्परिक अविनाशी सम्बन्ध बना सके—दूर २ तथा अपरिचित स्थानों में जन्म क्यों दे देता है ?।

विवाह की हिन्दू-कल्पना इससे भिन्न है। हिन्दू-कल्पना में यह मानना होता है कि विवाह-सम्बन्ध केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये है, सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य के विना पति-पत्नी में शारीरिक-सम्बन्ध उचित नहीं। हिन्दू-कल्पना में भावों और आवेगों का विवाह-सम्बन्ध में स्थान बहुत थोड़ा है, इस कल्पना में उत्तम सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से भौतिक-झुकावों की उचित महत्ता माननी पड़ती है और साथ ही स्वाभाविक परिणाम रूप में यह भी मानना पड़ता है कि वह जोड़ा जिस में कि एक दूसरे के प्रति झुकाव या अनुराग नहीं इस उद्देश्य मे सफल नही हो सकता और उनका वैवाहिक-सम्बन्ध इस उद्देश्य की पूर्त्ति मे सहायक नहीं। हिन्दू-कल्पना के अनुसार दो आत्माओं में आत्मिक-सम्बन्ध की धारणा को केवल भ्रमात्मक मानना होता है। इस कल्पना के अनुसार अपने साथी में स्वास्थ्य, शारीरिक नीरोगता, उचित आयु, सौन्दर्य, सदाचार तथा इसी प्रकार के अन्य सद्गुणों तथा योग्यताओं का होना आवश्यक है। इन सद्गुणों या योग्यताओं के होने पर हिन्दू-कल्पना में जोड़ा विवाह का अधिकारी माना जायगा।

पाश्चात्य संसार की वैज्ञानिक सम्मति यह है कि "युवा तथा स्वस्थ मनुष्य में मैथुनेच्छा सदा प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहती है और यह मैथुनेच्छा उस समय जागृत अवस्था में आ जाती है जब कि इच्छा वाले स्त्री-पुरुष का परस्पर दर्शन या स्पर्शन होता है।

स्त्री में मैथुनेच्छा प्रायः प्रसुप्तावस्था में रहा करती है और नियत समयों पर ही जागृत होती है। पाश्चात्य वैज्ञानिक संसार मानता है कि स्त्री में मैथुनेच्छा की जागृति मास में दो बार हुआ करती है और इस जागृति में प्रकृति का उद्देश्य सन्तान-धारा को आगे बढ़ाना ही है।

पाश्चात्य संसार में कतिपय विचारक यह भी मानते हैं कि प्रकृति में मैथुनेच्छा की पूर्ति के निमित्त साथी के यौक्तिक चुनाव तथा उचित देख-भाल के नियम अधिकतर काम नहीं कर रहे। वे यह भी मानते हैं कि ऐसे मेलों को भी हमें घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये क्योंकि ऐसे प्राकृतिक-मेल भी व्यक्ति की भावनाओं को ऊंचा बनाने वाले हैं। वे मानते हैं कि इस प्राकृतिक मेल के समय में एक उच्च-भावना जागृत होती है जो कि चाहती है कि हम प्रेमी सदा एक दूसरे से मिले रहें। यह प्रेम का भाव एक उच्च भाव है। शारीरिक-सम्बन्ध से एक उग्र धारणा प्रकट होती है कि हम दोनों कभी भी एक दूसरे से पृथक् न हों। समाज भावना की जड़ यह प्रेम-भावना ही है। पशु-पक्षियों में भी इस भावना के चिन्ह दृष्टि-गोचर होते हैं। कई पक्षी ऐसे हैं जो कि अपने प्रथम मेल के पश्चात् लगभग एक वर्ष तक साथ २ रहते हैं और चकवा-चकवी तो इस मेल के पश्चात् जीवन पर्यन्त साथ २ रहते सुने जाते हैं, इन में से यदि एक की मृत्यु हो जाती है तो दूसरा प्रेमी भी वियोग में कुछ काल के पश्चात् ही समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार शेर तथा रीछ जाति में भी प्रेमी-साथी देर तक एक दूसरे के साथ रहते जाने गये हैं।"

नोट—ऊपर तीन प्रकार के विचार दर्शाये गये हैं। एक विचार तो यह कि वैज्ञानिक सम्बन्ध एक आत्मिक-सम्बन्ध है। दूसरा यह कि वैवाहिक-सम्बन्ध का उद्देश्य उत्तम सन्तानोत्पत्ति है। तीसरा यह कि वैवाहिक-सम्बन्ध प्राकृतिक इच्छाओं का एक आवश्यक परिणाम है और इस वैवाहिक-सम्बन्ध में औचित्य तथा अनौचित्य के विचारों को विशेष स्थान न मिलना चाहिये, क्योंकि परस्पर के मेल एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव को जागृत करते हैं जो प्रेम-भाव कि सामाजिक-जीवन की आधार-शिला है। अब हमने देखना है कि इस सम्बन्ध में वैदिक सिद्धान्त क्या है ? । यह धारणा सत्य है कि वेद वैवाहिक सम्बन्ध को अनश्वर सम्बन्ध नहीं मानता। सर्वसाधारण जनों को छोड़कर, जिनके जीवन के लिये श्रेय यही है कि वे अपने गृहस्थ में ही रहकर यथा सम्भव पवित्रता से अपनी जीवन यात्रा को समाप्त करें—शेष जनों के लिये जिनके कि आत्मा में शक्ति है कि वे आगे २ प्रगति कर सकें—वेद की आज्ञा चातुराश्रम विधि की है। अर्थात् वेद उनके लिये जो कि अधिक ऊंचा उठ सकते हैं—चार आश्रमों का विधान करते हैं। वैवाहिक सम्बन्ध में वेदों की यदि आत्मिक-सम्बन्ध की कल्पना होती तो वेद में चार आश्रमों के जीवन को अधिक उत्तम न कहा जाता। चार आश्रमों के जीवन में किसी भी आश्रम में जीवन पर्यन्त टिकना नहीं होता। वैवाहिक-सम्बन्ध गृहस्थाश्रम का जीवन है। वैवाहिक-सम्बन्ध को वेद यदि दो आत्माओं का मेल मानता होता तो इस गृहस्थ की जीवन धारा को मध्य में ही विच्छिन्न कर अगले आश्रम की ओर पग बढ़ाने को वेद उत्तम मार्ग न बताता। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि आजीवन-ब्रह्मचर्य को वेद ने

सर्वोच्च कोटि का जीवन माना है। वेदों के ब्रह्मचर्य-सूक्तों के पढ़ने से आजीवन-ब्रह्मचर्य की वैदिक-महिमा जानी जा सकती है। भला जो जीवन दो शरीरों को नहीं, अपितु, दो आत्माओं को परस्पर जोड़ने वाला है, ऐसी आत्माओं को परस्पर जोड़ने वाला है जिन आत्माओं को कि इस पारस्परिक-जोड़ के लिये ही परमात्मा ने जन्म दिया है—वह नीचे दर्जे का हो, और वह जीवन जो कि परमात्मा की इच्छा के विरुद्ध जीवन है—अर्थात् आजीवन-ब्रह्मचर्य का जीवन वह उच्च दर्जे का हो—यह आत्मिक सम्बन्ध की कल्पना के अनुसार संगत प्रतीत नहीं होता। इसलिये विवाह सम्बन्ध में वैदिक धारणा यही है कि विवाह किसी ठोस उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया जाता है, वह पितृ-ऋण अदा करने का एक साधन है। वह ठोस उद्देश्य है "उत्तम सन्तान को पैदा करना"। इसी प्रकार यह पितृ-ऋण चुकाया जा सकता है। इस पितृ-ऋण के चुका देने के पश्चात् वैदिक सिद्धान्तानुसार पति-पत्नी को अलग २ हो जाना चाहिये अर्थात् उन्हें अगले आश्रम में चला जाना चाहिये। इसलिये जो वेद वैवाहिक सम्बन्ध को उत्तम सन्तानोत्पत्ति के लिय मानता है, जिस वेद मे कि वैवाहिक-सम्बन्ध एक ऋण अदा करने का साधन माना गया है, जो वेद पति-पत्नी को मरणान्त एक गृहस्थाश्रम में ही रहने की आज्ञा नहीं देता, तथा जो वेद आजीवन-ब्रह्मचर्य जीवन को सर्वोच्च और सर्व श्रेष्ठ समझता है—वह विवाह-विधि में विवाह के उद्देश्य से जन्म धारण की हुई दो आत्माओं के स्थिर मेल की कल्पना को स्थान दे सकता है—यह बात समझ में सुगमता से नहीं आ सकती।

साथ ही वेद की यह भी धारणा है कि विवाह सम्बन्ध के लिये पुरुष तथा स्त्री में कतिपय आवश्यक शारीरिक, मानसिक और सामाजिक गुणों की सत्ता का होना भी लाज़मी है। जिन व्यक्तियों में ये गुण विद्यमान नहीं, वेद उन व्यक्तियों को विवाह का अधिकारी नहीं समझता। इसी लिये मनु महाराज ने विशेष प्रकार के रोगियों को विवाह करने के अधिकार से वञ्चित रखा है। इस कल्पना में कि विवाह-सम्बन्ध में उन्हीं आत्माओं को मिलना होता है जिन्हें कि मिलने के लिये ही परमात्मा ने जन्म दिया है—रोगी शरीरों वाली आत्माओं के पारस्परिक विवाह—सम्बन्ध को रोकना अयौक्तिक और अप्रामाणिक ज्ञात होगा। परन्तु वेद तथा वेदानुयायी धार्मिक साहित्य ने ऐसे व्यक्तियों को विवाह का अधिकार नहीं दिया। इससे प्रतीत होता है कि वेद की दृष्टि में विवाह सम्बन्ध आत्मिक-मेल नहीं है।

इससे यह भी प्रतीत होता है कि वेद की दृष्टि में केवल मैथुनेच्छा से प्रेरित होकर किया गया सम्बन्ध भी नाजायज़ है। वेद ऐसे नाजायज़ सम्बन्धों को स्वाभाविक, प्रेममय तथा इसी प्रकार के अन्य कोमल तथा भावुक शब्दों द्वारा स्मरण कर ऐसे नाजायज़ सम्बन्धों को सुन्दरता का जामा नहीं पहनाता। वेद की दृष्टि में विवाह का एक निश्चित उद्देश्य है। वेद व्यक्ति को उस निश्चित उद्देश्य से विचलित नहीं होने देता। ऐसी प्राकृतिक, स्वाभाविक और प्रेममयी प्रवृत्तियों को, वेद सामाजिक जीवन की दृष्टि से अधिक उपयोगी तथा सुन्दर बनाना चाहता है।

२—'सूर्य-सिद्धान्त' का काल

सूर्य सिद्धान्त ग्रन्थ भारत का एक प्राचीन ग्रंथ है। इस मे ज्योतिष विद्या के सिद्धान्तों का वर्णन है। पाश्चात्य विद्वान इस ग्रन्थ को ईसा के पश्चात् का मानते है। प्रो० मैकडोनल (Macdonell) एम० ए० अपनी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' (A History of Sanskrit Literature) पृ० ४३४ मे सूर्य सिद्धान्त पुस्तक का काल लगभग ३०० ई० प० (अर्थात् ईसा से लगभग ३०० वर्ष पीछे) मानते हैं। परन्तु बैलजियम के विद्वान् मिस्टर मौरिस मैटर्लिङ्क (Maurice maeterlink) अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट सीक्रेट' (The great secret) के पृ० १८ पर लिखते हैं कि "सूर्य सिद्धान्त में जो नक्षत्रों का वर्णन हुआ है उन नक्षत्रों की स्थिति पर विचार करने से प्रतीत होता है कि नक्षत्रों की यह स्थिति ५८००० वर्षों से भी पूर्व की होनी सम्भव है। यथा:—

There is, for example, a catalogue of stars known as the catalogue of Surya-Siddhanta, and the differences in the position of eight of these fixed stars, taken at random, Show that the Surya-Siddhanta were made more than 58,000 years ago.

जितनी खोज होती चली जाती है उससे भारतवर्ष की सभ्यता बहुत प्राचीन सिद्ध होती जा रही है। सूर्य सिद्धान्त ग्रन्थ जब मिस्टर मैटर्लिङ्क के मत के अनुसार ईसा से ५८००० वर्षों से भी अधिक प्राचीन ठहरता है तो उसके मत मे वेदों का जो काल होगा उस की कल्पना भारतीय वैदिक-काल की कल्पना के साथ अवश्य समतुलित हो सकेगी।

३—धर्म के नाम पर क्रूरता

एलोर (Ellore) नगर मे हाल मे ही बड़ी माता (Small Pox) की देवी पर बलि चढ़ाई गई है। एलोर नगर दक्षिण में है। इस बलि मे ५०० पशु थे और ५०० पक्षी। पिछले ६ मासो मे एलोर मे माता का बड़ा प्रकोप रहा। अब इस का प्रकोप कुछ शान्त हुआ है। इसलिये हिन्दू जनता ने बड़ी माता की देवी पर बलि चढ़ाने और इसे प्रसन्न करने का निश्चय किया। यह बलि न चढ़ाई जाय इस सम्बन्ध मे पर्याप्त आन्दोलन किया गया तथा जिला मैजिस्ट्रेट की अदालत मे बलि-भेंट को बन्द करने की अर्जी भी दी गई। साथ ही इस निमित्त मद्रास हाईकोर्ट तक भी पहुंचा गया, परन्तु परिणाम कुछ न निकला। बल्कि सरकार द्वारा वहा विशेष पुलिस तैनात की गई जहां कि बलि चढ़ाई जानी थी ताकि कोई दंगा-फसाद खड़ा न हो जाय। बलि के लिये ये पशु उन परिवारो से प्राप्त हुए थे जिन परिवारो मे बड़ी माता के रोग का प्रकोप रहा था या जिन्हे यह भय था कि हमारे घरो मे भी कही यह प्रकोप प्रकट न हो जाय। २ मई के प्रातः काल बलि भेंट का कार्य आरम्भ हुआ। पशुओ के वध के लिये ८ आदमी तैनात किये गये। पशुओं के धड़ तो दानियो को दिये गये और सिर देवी की भेंट चढ़े। ये ५०० पशु प्रायः बकरे और भेड़े थे। इनके साथ ५०० पक्षी भी थे। यदि इस बलि के विरुद्ध आन्दोलन न होता तो इन पशुओ और पक्षियों

की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती । रक्त बहकर कहीं सड़कों पर न चला जाय इस के उपाय के रूप में यह हत्या-कर्म नीचे रेता बिछा कर किया गया। कई भक्त पके चावल तथा मिठाई भी भेंट के रूप में लाये थे। दिन भर यह हत्या कर्म जारी रहा। मध्य रात्रि को ८ भैंसे भेंट चढ़ाए गये। इन के रक्त को घड़ों में इकट्ठा किया गया और भेंट में आये पके चावलों में इसे मिलाया गया। प्रधान पुरोहित के वस्त्रों को इस रक्त में लथ-पथ कर रक्त मिश्रित पके चावलों को एक बड़े थाल में रखकर उस पर भैंसे का एक बड़ा सिर रख दिया गया। तत्पश्चात् प्रधान पुरोहित ने देवी का आह्वान किया। यह बड़ा थाल प्रधान पुरोहित के सिर पर रखा गया और मन्त्रोच्चारण पूर्वक इसका जलूस मध्य रात्रि के समय नगर में से निकाला गया। रक्त मिश्रित पके चावलों को नगर की सड़कों पर बखेरा गया। यह सब कुछ इस आशा से किया गया जिस से कि देवी प्रसन्न हो जायगी और हमारे नगर पर इसका क्रोध शान्त हो जायगा।

नोट—यह है क्रूरता धर्म के नाम पर। वह धर्म क्या जिसमें दया और निर्बलों की रक्षा का भाव नहीं? हिन्दु जाति कितने गहरे अन्धकार में अभी तक पड़ी है इस का एक नमूना यह बलि-कर्म है। भारत के नाना स्थानों में ऐसे बलि कर्म वर्ष में कई बार हो जाते हैं। भला, जिस नगर में इतनी बलि हो और रक्त का सचार हो वहां की वायु कभी शुद्ध रह सकती है?। ऐसा नगर का शिकार कैसे न हो? जहां रोगों के निवारण के लिये अग्निहोत्र तथा बड़े यज्ञों की रचना होनी चाहिये थी वहां सनातनी भाइयों की मूर्खता के कारण वे उपाय अवलम्बन किये जा रहे जिनसे कि रोग और फले फूले। क्या ऐसे धार्मिक विश्वासों के साम्राज्य को देखकर भी हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में आर्यसमाज के लिये अब कोई स्थान नहीं रहा? क्या हम ऐसी अवस्थाओं की सत्ता में यह चाह सकते हैं कि आर्यसमाज अपने धार्मिक तथा समाज सुधार के काम को बन्द कर दें और आर्यसमाज भी अस्थिर राजनैतिक चालों में सहयोग देना शुरू कर दे?। आर्य पुरुषों को सावधान होना चाहिये और ऐसे अधार्मिक कृत्यों के उच्छेद के लिये कमर कस लेनी चाहिये। (सं०)

४—प्रकाश की उपवास-चिकित्सा

जैसे पेट में स्थूल भोजन की भूख लगती है और मनुष्य स्थूल अन्न खाकर उससे तृप्ति करता है और इस से शरीर की वृद्धि हो जाती है। परन्तु अधिक खा लेने पर या अनियमित जीवन से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा दीर्घ उपवास करने के अनन्तर शनैः २ भोजन वृद्धि करने से हो जाती है और जाठराग्नि की तीव्रता से रोगकारी अंश दग्ध होकर निर्मूल हो जाते हैं। इसी प्रकार शरीर पाञ्चभौतिक है। इसकी रचना पृथिवीमय अन्न हो अन्न के अंश से नहीं है प्रत्युत अप्, तेज, वायु, आकाश इन तत्त्वों की रचनाएं भी हैं वे तत्व भी शरीर में व्यापक हैं। उन को पुष्ट करने और स्वस्थ रखने के लिये वे मूलघटक तत्व अपेक्षित हैं। उनका नियमित सेवन शरीर को नाना प्रकार से पुष्ट करता, रोगों का नाश कर के शरीर को सुखी और स्वस्थ रखता है।

सूर्य्य की रश्मियों से हमें तेजोमय, आग्नेय भोजन

प्राप्त होता है। जिस के दो स्वरूप हैं। एक प्रकाश-मय और एक तापमय। ये दोनों ही शरीर को पोषण करने और स्वस्थ रखने में भोजन के समान ही उपयोगी हैं। यदि इन की प्राप्ति न हो तो शरीर क्षीण हो जाता है यदि इन की अधिक प्राप्ति हो तो शरीर में नाना विकार उत्पन्न होते हैं।

उदाहरण के लिये जैसे—शरीर को यदि सूर्य्य की अधिक रश्मियें और अधिक काल तक लगें। अर्थात् यदि मनुष्य अधिक धूप खा जावे तो वह रोगी हो जाता, है देह पर उस के फुन्सियां निकल आवेंगी, सिर में चक्कर, यकृत् वा पित्त का बढ़ जाना दस्तों का लगना, पाण्डु, पीलिया, हृदय रोगादि हो जाना सम्भव होता है।

ठीक इसी प्रकार यदि बहुत दिनों तक या अधिक देर तक मनुष्य को धूप न लगे या प्रकाश के स्थान पर जल आदि का स्पर्श अधिक रहे तो शरीर पीला, रक्त हीन, दुर्बल हो जाता है। इस का अर्थ यह है कि शरीर को तेज या प्रकाश का भोजन नहीं प्राप्त होता। बनस्पति भी प्रकाश न पाकर पीले पड़ जाते हैं। इस से यही परिणाम निकलता है कि भोजन के समान ही प्रकाश-ताप भी एक आवश्यक भोज्य पोषक पदार्थ हैं।

जिस प्रकार स्थूल भोजन के उपवास से नाना रोग नष्ट होते हैं ठीक उसी प्रकार प्रकाश और ताप का भी उपवास करके अनन्तर उसके अल्प २ मात्रा में सेवन करने से नाना रोगों की शान्ति होती है।

सौर चिकित्सा के विद्वानों ने कई ऐसे प्रयोग किये हैं जिन में रोगी को सब से प्रथम कुछ दिन के लिये प्रकाश से सर्वथा वञ्चित कर दिया, अनन्तर उस के शरीर में एक इञ्च मात्र भाग पर प्रकाश डाल कर प्रकाश की स्वल्प मात्रा का भोजन दिया, शनैः २ शरीर के भाग तथा प्रकाश की मात्रा में भी वृद्धि की इस रीति से आश्चर्यक जनक लाभ दिखाई दिया।

इस चिकित्सा का नाम हम यदि 'प्रकाश-उपवास चिकित्सा' कहे तो अनुपयुक्त न होगा।

प्राचीन काल मे भी इस प्रकार की चिकित्सा या 'प्रकाश-उपवास-सेवन' की विधि का प्रयोग होता था।

सोमकल्प में साधक को अन्तगर्भ मे रक्खा जाता था। इसी प्रकार दीक्षित यजमान को पृथक् एकान्त तहखाने मे रहने के लिये कुछ दिन नियत होते थे। इस से उन को तेजस्वी करने का अभिप्राय होता था।

साहित्य-समालोचना

भारतीय शल्यतन्त्र—लेखक श्री पं० अत्रि-देवजी विद्यालंकार भिषग्रत्न। प्रकाशक – वैद्य शिव-नारायण मिश्रजी भिषग्रत्न, प्रकाश-आयुर्वेदीय औष-धालय तथा प्रकाश-पुस्तकालय, कानपुर। मू० १)

लेखक ने पुस्तक को अच्छे श्रम से निर्माण किया है। वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, महाभारत, पुराण बौद्ध, आदि कालों में क्रम से चिकित्सा शास्त्र की सप्रमाण विवे-चना प्रथम के प्रकरणों में की है। और उसकी अवनति दर्शाकर एक प्रकरण में चरक, सुश्रुत का विस्तृत परि-चय दिया है।

७ से १२ वें प्रकरण तक लेखक ने शल्यतंन्त्र (सर्जरी) या चीर फाड़ के साधक साधनों का

वर्णन किया है। जिसमें फलक, यन्त्र, शस्त्र, सूची. पट्टी तथा आंख, गला कान, गर्भाशय आदि नाना स्थानों के लिये उपयोगी यन्त्रों, शस्त्रों का विस्तार से परिचय कराया है। उनके प्राचीन शस्त्रों में आये नामों के साथ वर्त्तमान सर्जरी के नवीन शस्त्रों की तुलना भी दिखाई है। १३ वें प्रकरण मे बुद्ध के काल मे शल्य-तन्त्र का वर्णन प्रसिद्ध चिकित्सक 'जीवक' तथा बुद्ध भगवान की चिकित्सा से किया है।

अन्वेषण की दृष्टि से पुस्तक पढ़ने योग्य और संग्रह योग्य है। इस पुस्तक को हम शल्यशास्त्र की भूमिका या परिचय कहे तो उपयुक्त होगा।

भारतीय शल्यशास्त्र के पूर्ण प्रतिपादन वा सर्जरी के विज्ञान के लिये लेखक को अभी इस पुस्तक की अपेक्षा पर्याप्त विशाल ग्रन्थ का निर्माण करना चाहिये जिसमें नाना रोगों के रूप उनके उपयोगी शस्त्रप्रयोग, तथा शस्त्रों के चित्र आदि भी होने उपयोगी हैं। लेखक को शल्य शास्त्र पर एक ठोस पुस्तक का निर्माण करना चाहिये जिस में अभी तक उपलब्ध आयुर्वेद के ग्रन्थों के भीतर विद्यमान सर्जरी का एक्जॉस्टिव (निरवशेष) ज्ञान और अभ्यास का भी उपदेश हो जो वर्त्तमान वैद्य और (प्रैक्टिकल) क्रियात्मक श्रेणी के विद्यार्थियों की पाठ्य पुस्तक होकर उनको उत्तम शल्य चिकित्सक बना सके। —जयदेव शर्मा वि० अ० मी० ती०

———

विद्वान् महोदयों की सेवा में निवेदन

मान्य महोदय वर्य !

आप संस्कृत साहित्य, वेद साहित्य और आर्य संस्कृति के उत्तम ज्ञाता और अनुशीलक हैं। आर्य जगत् में आप एक अभिमानयोग्य विद्वद्-रत्न हैं। आप के सद् विचारों से आर्य जनता को बड़ा भारी लाभ होने की सम्भावना है। आप के उद्योग और सहयोग से हिन्दी वा आर्यभाषा में उत्तम कोटि का साहित्य उत्पन्न हो सकता है। यदि आप एक विशेष लक्ष्य को लेकर प्रतिमास एक स्वतन्त्र लेख वा एक अध्याय भी लिखें तो अनायास ही आप एक वर्ष में १२ अध्याय वा १२ लेख प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रकार आप एक उत्तम ग्रन्थ के निर्माता बन सकते हैं।

आप जैसे नित्य स्वाध्यायशील विद्वान् के लिये ऐसा करना कुछ भी कठिन कार्य नहीं है। इससे आप यश और आर्थिक लाभ दोनों के भागी हो सकते हैं।

यदि आप ऐसा करने का दृढ़ संकल्प करें तो 'आर्य साहित्य मण्डल लि०' इस कार्य में आप का पूरी तरह से सहायता कर सकता है। आप के लिखे, उत्तम बहुमूल्य विद्या और अनुशीलन से पूर्ण लेखो और निबन्धों को उत्तम गुणग्राही जनता तक प्रसिद्ध करके आप का यश बढ़ा सकता है।

आप भली भांति जानते हैं कि 'आर्य साहित्य मण्डल लि०' वैदिक विज्ञान नामक एक उच्च कोटि का मासिक पत्र प्रकाशित करता है। आप के उत्तम २ लेखों को उसमें प्रकाशित करके उनको उच्च कोटि के शिक्षित जनता में प्रचारित करेगा। और उत्तम, पुरस्कार योग्य लेखों तथा निबन्धों को ग्रन्थाकार प्रकाशित करके उनको पुरस्कार वा रॉयल्टी के रूप में भविष्य में आप की आय का स्थायी साधन भी बना सकता है।

आप के इन उद्योगों से जो भारी लाभ आर्य जनता को भविष्य में होने सम्भव हैं उनको और आप के आर्थिक और यश-सम्बन्धी लाभो को दृष्टि में रखकर आप हमारे निवेदन को कभी भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखेंगे और प्रतिमास आप अपने निश्चित विषय पर एक अध्याय वा स्वल्प निबन्ध लिख कर हमारे पास भेजने का संकल्प करेंगे और अपने इस निश्चय से मुझे अवश्य सूचित करेंगे।

लेख, निबन्ध, कविता या ग्रन्थादि लिखते समय जिन विशेष नियमों का ध्यान आप को रखना चाहिये वे संक्षेप में ये हैं।

(१) लेख, निबन्ध, वा ग्रन्थ ऋषि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक आर्ष सिद्धान्तों से विपरीत न हों।

(२) वे पत्र के एक ही ओर स्पष्टाक्षरों में लिखें हो।

(३) एक लेख, निबन्ध वा एक अध्याय फुलस्केप साइज ८-१० पृष्ठों से अधिक न हों। यदि अधिक भी हो तो खण्डों वा शीर्षको में विभक्त हों।

(४) लेख वा ग्रन्थ मौलिक वा आलोचनात्मक हो वा अन्य भाषाओं में लिखें महत्व पूर्ण ग्रन्थो के स्वतन्त्र अनुवाद हों।

(५) अन्य धर्मों, सम्प्रदायों और धर्मग्रन्थों के अनुवाद वैदिक धर्म, आर्य संस्कृति और आर्य सिद्धान्तो से तुलना सहित किये जायें।

(६) नये अन्वेषण, नयी सूझ, नये विचार, और विनोदात्मक लेख, गल्प और औपन्यासिक कथाएं तथा यात्रावृत्त, और ऐतिहासिक स्थलों के वर्णन और कविताएं भी हो सकते हैं।

(७) लेख, निबन्ध वा ग्रन्थों में दिये उद्धरणों की प्रतीकें, और पते ठीक २ हों, और उनके उद्धरण या तो पादटिप्पणी में या लेख के क्रम में ही ग्रथित हों।

पुनश्च (१) हम आप से आग्रह पूर्वक निवेदन करेंगे कि आप के लेख पुरस्कारयोग्य ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने के लिये स्वीकृत हो जाने पर ज्यों २ आप अपना लेखादि भेजते जावेंगे त्यों २ हम उसे प्रकाशित भी करते जावेंगे। इस प्रकार आप को देर तक छपने आदि की प्रतीक्षा करनी भी नहीं पड़ेगी।

(२) साथ के पृष्ठ पर हम आप के लेख, निबन्ध ग्रन्थादि लिखने के कुछ लेख्य विषयों का दिग्दर्शन कराते हैं। उन पर भी आप अवश्य ध्यान दीजिये। और अपना निश्चय बहुत शीघ्र सूचित कीजिये।

व्यवस्थापक—

आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

लेखनीय लेखों, निबन्धों और ग्रन्थों के लिये

दिशा-प्रदर्शन

(१) अनादि वेद,

वेदों की उत्पत्ति,

वेदों के छन्द, ऋषि, देवता,

वैदिक आख्यायिका वा ऐतिह्य स्थलों की आलंकारिक व्याख्या,

वेद के ऐतिहासिक स्थलों की आलोचना। वेद के ऐतिहासिक स्थलयुक्त सूक्तों को उचित व्याख्या,

वेद में ऐतिहासिक नामों के अर्थ,

वेदों की प्रतिपादन शैली,

आर्ष साहित्य परिचय,

वेद, वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में विवरण, प्रत्येक शाखा का पृथक् २ विवेचन,

वेद काल की प्राचीन प्रथाएं

वैदिक कर्मकाण्ड और उनकी पद्धतियें,

वेद के ऋषियों के जीवन चरित्र। और उन के शिक्षाप्रद जीवनांश,

वेद से सम्बद्ध भौगोलिक, खगोलिक, भूगर्भ, तथा अन्यान्य विद्याओं और विज्ञानों के विवरण और तुलना,

वेद के मन्त्रों से मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, वसिष्ठ आदि स्मृतिकारों के वचनों की तुलना उनके परस्पर समर्थक वाक्यों का संग्रह।

वेद के सूक्तों, मन्त्रों, मन्त्रांशों की शाखों, दर्शनों, स्मृतिग्रन्थों आयुर्वेद के ग्रन्थों और श्रौत गृह्यादि सूत्रों, तन्त्रों, पुराणों तथा अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थ में प्रकारान्तर से की गई संक्षिप्त या विस्तृत व्याख्याएं।

वैदिक साहित्य का लौकिक साहित्य के समान आलोचन, अर्थात् वेद मे अलंकार, रस, रीति, श्लेष चित्र-कथन आदि की विवेचना।

वेद मन्त्रो की नानापक्षीय योजना।

वेदो पर योरोप, अमेरिका, जापान रूस आदि के विदेशी विद्वानो के श्रम, विचार और उनकी आलोचना।

(२) ब्राह्मण ग्रन्थो का परिचय, उनका पृथक् आलोचन, काल निर्णय,

ब्रा० ग्रन्थो मे ऐतिहासिक स्थल, ऐतिह्यो का सरल अनुवादो सहित संग्रह,

ब्राह्मणग्रथो मे व्याख्यात कर्मकाण्डो की पद्धतियां और उनकी व्याख्याए,

ब्राह्मण ग्रथो के निवचनो का संग्रह,

ब्राह्मण ग्रथो के आधार पर संग्रहीत ब्रह्म विद्या के स्थल,

ब्रह्मविद्या विषयक नाना स्थलो के आलोचन,

उनके सिद्धान्तो और वाक्यो की मनु आदि स्मृतियो, दर्शनो और अन्य धर्मग्रथो से तुलना करने वाले लेख।

ब्राह्मण ग्रथो मे आये भौगोलिक और भौतिक पदार्थ विज्ञान तथा खगाल आदि सम्बन्धी स्थलो पर आलोचन।

(३) श्रौतसूत्र, गृह्य सूत्रो के आधार पर आर्ष शिष्टाचार और आर्ष सिद्धान्तो का संग्रह, श्रौत सूत्रो और गृह्य सूत्रो की आलोचना।

श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्रो के भीतर आये श्रौत, स्मार्त्त कर्म और उनकी पद्धतियो की आलोचना,

श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्रो के सरल अनुवाद।

(४) षड् दर्शनो के मूल तथा आर्षभाष्यो के स्वतंत्र अनुवाद, षड् दर्शनो के मूल तथा भाष्यो में आये आर्ष, वैदिक सिद्धान्तो के अनुसार उनके पोषक तर्क-परम्परा का संग्रह और विवेचन।

(५) स्मृतियो के विवेचन उनके आधार पर आर्ष वैदिक सिद्धान्तो का संग्रह और आलोचन,

(६) अन्य बौद्ध, यवन, ईसाई, जिन्दावस्था, ताओ, आदि नाना सम्प्रदायो, मिश्र स्केन्डेनेविया, जापान, रूस, चीन, अमरीका, मलाया, पेरू, मैक्सिको, तथा अन्य प्रान्तो के धर्मग्रथो, धार्मिक प्रथाओ और विचारो के आर्ष सिद्धान्तानुसारी स्थलो क अनुवाद सहित संग्रह वा पूर्णग्रथो का आलोचना सहित अनुवाद।

(७) नाना जातियो के धार्मिक आचारो विचारो का संग्रह। और उनकी तुलना।

(८) वैदिक वा संस्कृत साहित्य तथा विज्ञान के अर्वाचीन और प्राचीन देशी और विदेशी विद्वानो के जीवन चरित्र और जीवनाशो के वर्णन,

(९) धार्मिक सच्चरित्र, धर्म विज्ञान के उपासक विद्वानो राजाओ और प्रचारको के तथा अन्य आचारवान् और निष्ठ पुरुषो के चरित्र।

(१०) स्वदेशी और विदेशी विद्वानो की की हुई गवेषणाओ और अनुशीलनो का संग्रह और आलाचन आदि।

(११) ईश्वर, जीव, प्रकृति, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, सृष्टि, वेदोत्पत्ति, नास्तिक-आस्तिकवाद आदि नाना सिद्धान्तो का आलोचन-प्रत्यालोचन।

नोट [यह दिग्-दर्शन केवल आपकी सेवा मे आप को अपने उचित लक्ष्य विषय निर्धारण करने के लिये सहायतार्थ ही करा दिया जाता है। और भी नयी २ बातें आपको सूझ सकती हैं।]

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य-साहित्य म० लि० के लिये फाइन आर्ट प्रि० प्रेस अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।

वर्ष २]

जुलाई सन् १९३४ ई०

[अंक १०

ओ३म्

वैदिक विज्ञान

आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुख्यपत्र

आर्षग्रन्थो की अनभिज्ञता के सम्बन्ध मे ऋषि दयानन्द का
राजा शिवप्रसाद (बनारस वाले) को पत्र
(महर्षि दयानन्द जीवन चरित से उद्धृत)

अवैतनिक सम्पादक श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगडी

वार्षिक मूल्य ४) रु०

प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।), नमूने की प्रति।=) के टिकट भेज कर मँगाइये
२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह मे ग्राहको की सेवा मे पहुँच जाया करता है।
३—"वैदिक विज्ञान" मे वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थो के तत्वो पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तो पर ही लेख छापे जाते है।
४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख कागज़ के एक तरफ लिखा होना चाहिए।
५—लेखो को स्थान देने या न देने का तथा उन्हे घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।
६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहे, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते है।
७—लेख हर महीने की ५ तारीख तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।
८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हे पहले अपने पोस्ट आफिस म तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफिस की सूचना के साथ प्रबधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।
९—यदि ग्राहको को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो, अपने ही पोस्ट आफिस मे उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनो के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहे तो, उसके लिए हमे लिखना चाहिए।
१०—ग्राहको को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।
११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।
१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातो के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगडी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।
१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातो के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है— प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट मे नही छापे जायँगे।
साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकडा कमीशन दिया जायगा।
छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०। प्रति मास।
आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वाले को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिए

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१२) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
पाठ्य विषय मे	१०) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फार्म प्रति फार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी देना होगा। भारी क्रोड़-पत्रो का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

ओ३म्

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन-प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्य सिद्धान्तों और आर्य वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र.

वर्ष २ || आषाढ संवत्० १९९१ वि०, जुलाई सन् १९३४ ई० || सं० १०

वेदोपदेश

विद्वेष-भाव से अलग होना

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्योअन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथर्व० ३ । ३० । १ ॥

"(व) तुम्हारा (सहृदय) एक हृदय (कृणोमि) करता हूँ, (सामनस्यम्) एक मन करता हूँ, (अ वद्वेषम्) इस प्रकार तुम्हें द्वेष रहित करता हूँ, (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे की (अभि हर्यत) प्रेमपूर्वक चाह किया करो (अघ्न्या इव) गौ जिस प्रकार कि (जात वत्सम्) उत्पन्न हुए बछड़े को चाह करती है"

यह मन्त्र परस्पर प्रेम और मोहब्बत से रहने का उपदेश करता है। वर्तमान संसार के लिये प्रेम मुहब्बत का भाव स्वप्न-सदृश हो रहा है। आजकल के समय मे स्वार्थ की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई भाई तथा भाई-बहिनों में भी परस्पर प्रेम की कमी दिखाई देती है। इन सम्बन्धो मे प्रेमभाव का होना स्वाभाविक था, परन्तु वर्तमान समय में इनमें भी प्रेमभाव की झलक नहीं दीखती।

वेद उपदेश देता है कि तुम सब आपस में प्रेम-भाव से रहा करो, परस्पर विद्वेष न किया करो। इस उद्देश्य तक पहुँचने के साधन भी वेद दर्शाता है। वेद कहता है कि तुम—

१—एक हृदय वाले हो जाओ। वास्तव में जब तक लोगों के हृदय आपस में नहीं मिलते तब तक उनमें प्रेमभाव नहीं रह सकता। हृदय का काम है सहानुभूति। परस्पर सहानुभूति प्रेम-बन्धन को दृढ़ करती है और पारस्परिक-विराग इस प्रेमबन्धन को ढीला करता है। प्रत्येक मनुष्य को कोशिश करनी चाहिये कि उस के हृदय में अन्य मनुष्यों के प्रति सहानुभूति का भाव जागृत होसके। कोशिश करते २ मनुष्य के हृदय का झुकाव सहानुभूति की ओर स्वयं हो जाता है। केवल आदत डालने की कमी होती है।

२—हृदय की एकता के साथ साथ सांमनस्य अर्थात् मन की एकता भी चाहिए। कई वार मन अर्थात् विचार के भेद आपस में फूट तथा कलह का बीज बो दिया करते हैं। धर्मों में भेद इसी विचार-भेद के कारण होता है, और अन्त में एक धर्म्म के मानने वाले दूसरे धर्म्म के मानने वालों को शत्रु और दुश्मन समझने लगते हैं। यही हाल राजनैतिक विचार का भी है। राजनैतिक नाना दल भी इस विचार-भेद के परिणाम हुआ करते हैं। वेद कहता है कि परस्पर प्रेम के लिये मन अर्थात् विचार की एकता का होना भी आवश्यक है। विचार की एकता न रहने से हृदय भी आपस में फट जाते हैं और मनुष्य एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। इसके लिये समझौता (Compromise) करने की आदत सीखनी चाहिये। वर्त्तमान समय की राजनैतिक प्रगति में आये दिन आशंका रहती है कि राजनैतिक दल और अधिक फटकर एक दूसरे से कहीं दूर २ न हो जांय, परन्तु महात्मा गान्धी की समझौता कराने की शक्ति इतनी जबरदस्त दिखाई देती है कि उससे राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं में अधिक फटाव होने से रुक जाता है और कार्य पुनः परस्पर के सहयोग से चलने लगता है। इसलिये हृदयों को परस्पर मिलाए रखने का मुख्य साधन मन की एकता है, विचार की समानता है। विचार की समानता न रहने पर भी परस्पर फटाव, कई स्थानों में पारस्परिक समझौते से शान्त हो जाया करता है। इस लिये सामाजिक-जीवन में प्रेमभाव बनाये रखने के लिये समझौते की आदत को भी बनाना चाहिये। इस प्रकार हृदयों और मनो की समानता हो जाने पर परस्पर के द्वेष भाव दूर हो सकते हैं।

वेद ने प्रेम, मुहब्बत में दृष्टान्त गौ का दिया है। वेद ने गौ को "अघ्न्या" कहा है। "अघ्न्या" का अर्थ है "हत्या न करने योग्य"। वेद ने इस मन्त्र में गौ का नाम "अघ्न्या" देकर यहां यह भी सूचित किया है कि गौ का मारना वेद की दृष्टि में सर्वथा निषिद्ध है। अतिथि और वर के सत्कार के निमित्त अथवा यज्ञ के निमित्त किसी प्रकार भी गौ का वध करना वैदिक आज्ञा के सर्वथा विपरीत है।

गौ में आदत है कि वह बछड़े के उत्पन्न होते ही उससे प्रेम करने लगती है। गौ के प्रेम का दृष्टान्त मनुष्यों को दिया गया है कि वे परस्पर इस प्रकार

एक दूसरे के साथ प्रेम किया करें जिस प्रकार कि गौ अपने नवजात शिशु के साथ प्रेम करती है। इस प्रकार प्रेम, सहानुभूति, मन की एकता, समझौता आदि उपायों द्वारा मनुष्य-समाज को अधिक वांछनीय बनाया जा सकता है और मनुष्य-समाज में से द्वेष की जड़ को काटा जा सकता है।

वेदान्त*

(ले० श्री स्वामी हरप्रसादजी 'वैदिक मुनि')

तत्त्वदर्शी ऋषियों की दृष्टि को ही 'दर्शन' कहते हैं। ऋषियों ने अपनी दृष्टि का औरों को ज्ञान कराने के लिये हेतु का आश्रय लिया। हेतु ही सब दर्शनों का एक मात्र आधार है। यह कहा जा सकता है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के सिद्धान्त शास्त्र के द्वारा सीमित हुए हैं। इन की दृष्टि स्वतन्त्र नहीं परन्तु शास्त्र की कैद में हैं, अतः इन्हें दर्शन न कहना चाहिये। परन्तु यह कथन किसी प्रकार मान्य नहीं हो सकता क्योंकि ये दर्शनशास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तों को युक्ति तथा हेतु से सत्यता स्थापित करते हैं। इसलिये शास्त्रानुकूल हेतु मीमांसा का भी आधार है, अतः मीमांसा भी दर्शन है।

'वेदस्य अन्तः परिसमाप्तिर्यस्मिन्नर्थे स वेदान्त.' अर्थात् जिस अर्थ में वेद की परिसमाप्ति होती है, वेद उपदेश देता हुआ जिस अर्थ पर पहुँच कर रुक जाता है, वह वेदान्त है। वेद के अनुसार इस विश्व की तीन अन्तिम सत्तायें हैं। इस में प्रमाण रूप से निम्न मन्त्र पेश किया जा सकता है।

उद् वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

इन तीन सत्ताओं में एक 'उत्' है, दूसरी 'उत्तर' है और तीसरी 'उत्तम' है। प्रथम उत्-तम है. और अवशिष्ट दो ज्योतियां हैं। तम प्रकृति का नाम है, अवशिष्ट दो ज्योतियां जीव और परब्रह्म हैं। वेद में इन तीनों का वर्णन है। पर ब्रह्म से परे कोई अन्य पदार्थ नहीं जिस का वर्णन वेद करे। वेद के प्रतिपाद्य विषयों की पर ब्रह्म में परिसमाप्ति होती है, वेद वर्णन करता करता अन्त में परब्रह्म पर रुक जाता है। अतः वेदान्त का अर्थ परब्रह्म ही है।

इस के अतिरिक्त वेद में कर्म और उपासना का उपदेश देते हुए ज्ञान के विना उन की व्यर्थता का प्रतिपादन किया है। ज्ञान के द्वारा ही कर्म और उपासना की परिपूर्णता होती है। अतः वेदान्त का अर्थ 'ज्ञान' भी है।

इस प्रकार वेदान्त के दो अर्थ हुए—ब्रह्म और ब्रह्मज्ञान। जो व्यक्ति प्रकृति के ज्ञान से ही सन्तुष्ट रहता है वह वेद के तत्त्व को नहीं जानता, वह प्रकृतिवादी (Materialist) है। जो जीव तक रहता है,

* गुरुकुलीय साहित्य परिषद् में श्री स्वामी हरप्रसाद जी द्वारा दिये गये व्याख्यान का सार।

वह भी पूर्ण तत्त्वान्वेषी नहीं, वह शरीरपूजक ही है। वैदिक पुरुष तो वह है जो प्रकृति और जीव के साथ ब्रह्म के स्वरूप को भी जानता है। ब्रह्म के जानने के अनन्तर कुछ अन्य ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। ऋग्वेद में लिखा है कि:—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
ऋ० १। १६४। ३९

"वेद द्वारा प्रतिपादित जिस अविनाशी, उत्कृष्ट और व्योम के समान व्यापक परमात्मा में सूर्य और चन्द्र आदि देव अधिष्ठित हैं उस परमात्मा को जो नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा और जो उस परमात्मा को जान लेते हैं, वे मानों सब कर्त्तव्यों को समाप्त कर लेते हैं।"

इस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति रूप कर्त्तव्य को समाप्त कर के बैठ जाना या यहां पहुँच कर अन्त में रुक जाना ही वेदान्त है। इस तरह वेदान्त का अर्थ परब्रह्म और उस का ज्ञान है।

श्री शङ्कराचार्यजो मुण्डकोपनिषत् का भाष्य करते हुए लिखते हैं:—

"य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषत्।"

यहां उन्होंने ब्रह्मविद्या को उपनिषत् माना है। वेद के जिन मन्त्रसमूहों में परब्रह्म का प्रतिपादन है, वे वेदान्त कहाते हैं। परब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण ही उपनिषत् और वेदान्त-दर्शन को भी वेदान्त कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन के नवीन भाष्यकार 'वेदान्त' शब्द की भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। कात्यायन के 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र के अनुसार संहिता ग्रन्थों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की 'वेद' संज्ञा है। 'वेद' के पर भाग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों के पर भाग आरण्यक हैं और आरण्यकों के अन्तिम भाग तथा कुछ आरण्यकों की 'उपनिषद्' संज्ञा है। इस प्रकार वेदान्त का अर्थ उपनिषद् है। स्वामी सदानन्द ने 'वेदान्ता उपनिषदः' लिख कर उपनिषदों को ही वेदान्त बतलाया है। मनु ने भी 'वेदान्तम् विधिवत् श्रुत्वा' तथा 'वेदान्तोपगतं फलम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा उपनिषदों को ही वेदान्त बतलाया है।

जैसे पहिले प्रतिपादित किया जा चुका है कि उपनिषदों को वेदान्त इसलिये कहा जाता है कि इस में ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है। वेदों में भी ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है, परन्तु उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का जैसा क्रमिक तथा भावनामय वर्णन है वैसा वेदों में नहीं इसलिये उपनिषदों को ही वस्तुतः वेदान्त कहा गया है।

वेदान्त को अपने सिद्धान्तों का आधार मानने वाले जितने दार्शनिक हुए हैं, उन सब ने उपनिषद्, वेदान्त दर्शन तथा गीता, इस प्रस्थानत्रयी पर अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार भाष्य किये हैं। शङ्कर इन में से अद्वैत सिद्धान्त को निकालता है। रामानुज इन के आधार पर विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार भास्कर, यादव, वल्लभ, मध्व और निम्बार्क अपने २ सिद्धान्तों को इस प्रस्थानत्रयी में बिखरा हुआ पाते हैं।

साधारणतया यह समझा जाता है कि वेदान्त ज्ञानमार्ग का उपदेश देता है, और कर्म को संसार का बन्धन होने से हेय और तुच्छ बताता है। यह किसी प्रकार भी मान्य नहीं हो सकता। दस प्रामाणिक उपनिषदों में प्रथम संहितोपनिषद् है जो कि यजुर्वेद का ४० वाँ अध्याय है। अन्य सब उपनिषदें इस ईशावास्योपनिषद् की ही व्याख्याएं हैं। इस ईशोपनिषद् में ही कर्म की ज्ञान की अपेक्षा प्रधानता सिद्ध की है। उस में लिखा है कि:—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

केवल कर्मवादी भी गाढ़ान्धकार में पड़े हुए हैं और केवल ज्ञानवादी तो उस से भी अधिक अन्धकार में पड़े हैं।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि मन्त्रों द्वारा इस उपनिषद् में कर्मयोग की स्थापना की है।

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परं तपः ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

गीता का यह श्लोक ज्ञान की श्रेष्ठता तथा कर्म की तुच्छता की स्थापना के लिये पेश किया जाता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। इस श्लोक का अभिप्राय तो यह है कि कर्म ज्ञान के विना अपूर्ण है, कर्म की ज्ञान के होने पर ही पूर्णता होती है। 'निषद्' शब्द का अर्थ कर्म है, उस की पूर्णता 'उपनिषद्' अर्थात् ज्ञान से होती है। ज्ञान कर्म के विना लंगड़ा है। वेदान्त निष्कर्मण्यता का उपदेश नहीं देता। 'क्रतुमयोऽयं पुरुषः' से 'क्रतु' का अर्थ संकल्प शक्ति (Will power) है। जीव अपनी संकल्प शक्ति से असम्भव कार्य को भी कर सकता है। जीव की संकल्प शक्ति में महान् शक्ति छिपी हुई है। नानाविध आश्चर्यजनक वैज्ञानिक आविष्कार जीव की सङ्कल्प की ही तो कृतियां हैं। निष्कर्मण्यता के झूठे उपदेश से हमारा जातीय जीवन नष्टप्राय हो गया है। वेदान्त निष्कर्मण्यता का उपदेश ज़रा भी नहीं करता। वेद का तो यह उपदेश है कि हे जीव! तू अनन्त शक्ति की निधि है, तुझ में संसार की सब महान् शक्तियां छिपी हुई हैं। तू अपने स्वरूप को समझ। अपनी अन्तर्दृष्टि को खोज और संसार में निष्काम भाव से कर्त्तव्य-कर्म का पालन कर।

शङ्कर से पूर्व भारत में बौद्धों के शून्यवाद और क्षणिकवाद प्रबल रूप धारण कर चुके थे। इन दार्शनिक विचारों के कारण वेदादि पर से लोगों की श्रद्धा उठ चुकी थी तथा जातीय जीवन-शक्ति नष्ट हो चुकी थी। उस समय बौद्धों के दर्शन के सदृश प्रबलतम दर्शन की आवश्यकता थी जो देश को बौद्धों के कुप्रभाव से मुक्त करा सकता। शङ्कर ने अपने अद्वैत वेदान्त के प्रचार से इस कार्य को किया। बौद्धों के शून्यवाद तथा क्षणिकवाद की उस ने धज्जियां उड़ा दीं और वेदादि के प्रति लोगों की श्रद्धा को पुनः जागृत किया। शङ्कर ने वैदिक संस्कृति को नष्ट होने से बचा लिया यह उस की वैदिक संस्कृति के प्रति बड़ी भारी सेवा थी।

लौगाक्षि-गृह्यसूत्र-व्याख्या ।

(ले० सम्पादक)

सप्तमुञ्जां मेखलां धारयेत् ॥ ६ ॥

सात मुञ्जों वाली मेखला धारण करे ॥ ६ ॥

मूंज के सात फांक लेकर (पहले तीन को और फिर दो २ को, रस्सी की न्याईं) बटकर मेखला बनानी चाहिये। मेखला का निर्वचन है, मेहन + ख + माला, अर्थात् मेहन सम्बन्धी 'ख' अर्थात् अवकाश की माला। गुप्तेन्द्रिय को मेहन कहते हैं। गुप्तेन्द्रिय के अवकाश स्थान पर जिसे माला की न्याईं धारण किया जाय, उसे मेखला कहते हैं। मेहन शब्द 'मिह् सेचने' धातु से बना है। जिस द्वारा वीर्य आदि सींचा जाय वह 'मेहन' है अर्थात् आनन्द-इन्द्रिय। इस आनन्द-इन्द्रिय के ऊपर और नाभि के नीचे जो अवकाश है उस स्थान पर यह मेखला माला की न्याईं पहनी जाती है।

न मधुमांसे अश्नीयात् ॥ ७ ॥

मधु और मांस न खावे ॥ ७ ॥

मधु का अर्थ है शहद। शहद और मांस ब्रह्मचारी को नहीं खाने चाहिये। शहद और मांस तृप्ति के साधन हैं। कहीं ब्रह्मचारी इन साधनों द्वारा आत्म-तृप्ति न करे इसीलिये ब्रह्मचारी के लिये शहद और मांस का निषेध किया गया है।

मधु का अर्थ मद्य भी है। क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी के लिये इस सूत्र में मद्यपान का निषेध किया है—ऐसा कई कहते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी के लिये मद्यपान का प्रसङ्ग प्राप्त ही नहीं, जिसका कि इस सूत्र द्वारा निषेध करना था।

"तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्"

इत्यादि वचनों द्वारा तीन वर्णों के लिये सुरापान का निषेध समानरूप से है, अतः इन वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिये भी सुतरां सुरापान का निषेध है, इसलिये तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिये भी इस सूत्र में सुरापान का निषेध नहीं किया गया। क्योंकि ऐसा करना व्यर्थ ही है जब कि उनके लिये सुरापान का निषेध पहले ही प्राप्त है।

क्षारलवणवर्जी ॥ ८ ॥

खारे लवण का सेवन न करे ॥ ८ ॥

सूत्र में कर्मधारय समास है। अर्थात् खारा जो लवण है उसका सेवन ब्रह्मचारी न करे। खारा लवण ऊषर भूमि से पैदा होता है और समुद्र आदि से भी पैदा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी सैन्धव लवण या सौवर्चल लवण का चाहे सेवन करे परन्तु वह ऊपर निषिद्ध लवण का सेवन न किया करे। इस सूत्र का कई लोग यह अर्थ भी करते हैं कि "ब्रह्मचारी न तो क्षार का सेवन करे और न लवण का"। इस अर्थ में किसी प्रकार के भी लवण का सेवन ब्रह्मचारी के लिये निषिद्ध है।

आचार्यस्याप्रतिकूलः ॥ ९ ॥

आचार्य के प्रतिकूल कभी न हो ॥ ९ ॥

अर्थात् उसके अनुकूल सदा रहे।

सर्वकार्यास्वतन्त्रः ॥ १० ॥

सब कार्यों में ब्रह्मचारी अस्वतन्त्र है ॥ १० ॥

अध्ययन आदि आवश्यक कार्य ही नहीं, अपितु कोई भी कार्य, ब्रह्मचारी, विना आचार्य की आज्ञा के न करे।

पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी ॥ ११, १२ ॥

पहले उठे और पीछे सोवे ॥ ११, १२ ॥

खाट आदि का आश्रय लिये हुआ गुरु जब उठना चाहे तब ब्रह्मचारी गुरु से पहले ही उठे, और आचार्य जब खाट आदि पर पड़ा हो तो ब्रह्मचारी आचार्य के पैरों की सेवा आदि कर पीछे सोने के स्थान में सोये।

जघन्यसंवेशी—का अर्थ यह भी है कि जब आचार्य खट्वा पर स्थित हो तब ब्रह्मचारी खट्वा की अपेक्षा नीचे आसन अर्थात् पट्टे पर या और किसी शय्या आदि पर सोवे। यदि आचार्य शय्या आदि पर हो तो ब्रह्मचारी उस से भी नीची किसी वस्तु पर सोये इत्यादि प्रकार से यह विधान जानना चाहिये।

यदेनमुपेयात्तदस्मै दद्यात् ॥ १३ ॥

जो कुछ इस ब्रह्मचारी को प्राप्त हो, वह उसे इस गुरु को दे दे ॥ १३ ॥

सोना आदि जो कोई वस्तु इस ब्रह्मचारी को मिले वह वस्तु ब्रह्मचारी इस आचार्य को दे दिया करे

बहूनां येन संयुक्तः ॥ १४ ॥

बहुत आचार्यों से जिस आचार्य के साथ ब्रह्मचारी सम्बद्ध हो (उसे ही देवे) ॥ १४ ॥

यद्यपि ब्रह्मचारी सब वेदों, वेदांगों तथा उपायों के ज्ञान के लिये, योग्यतानुसार, क्रम से नाना आचार्यों की सेवा करता है तो भी, ब्रह्मचारी जिस आचार्य के समीप रहता हुआ जिस किसी वस्तु को प्राप्त करता है, वह वस्तु वह ब्रह्मचारी उसी आचार्य को दे देवे, अर्थात् किसी भी प्राप्त वस्तु को सभी आचार्यों में सदा बांट कर ही दिया करे यह नहीं है।

नास्य शय्यामाविशेत् ॥ १५ ॥

इस आचार्य की शय्या पर न बैठे ॥ १५ ॥

जिस शय्या पर आचार्य स्थित हो उस शय्या पर ब्रह्मचारी, आचार्य के रोगी आदि होने पर, आचार्य के प्रति करुणा तथा स्नेह से प्रेरित होकर भी न बैठे, और यदि आचार्य स्वस्थ हो और वह यदि अपनी शय्या पर बैठने की ब्रह्मचारी को स्वीकृति भी दे तो भी ब्रह्मचारी आचार्य की शय्या पर न बैठे। इस प्रकार जघन्यसंवेशी (सू० ११, १२) से पुनरुक्ति नहीं होती।

न रथमारुहेत् ॥ १६ ॥

न रथ पर चढ़े ॥ १६ ॥

आचार्य के रथ पर न चढ़े। अर्थात् आचार्य की स्वीकृति होने पर भी आचार्य के रथ पर न चढ़े। कई व्याख्याकार कहते हैं कि सू० १५ में जो 'शय्या' पद है, वह उपलक्षण है अर्थात् उस सूत्र में 'शय्या' द्वारा आचार्य से अधिष्ठित आसन, रथ आदि सभी का ग्रहण होता है। इसलिये सू० १५ द्वारा आचार्य के रथ पर न चढ़ने का विधान भी हो जाता है। वे व्याख्याकार यह भी कहते हैं कि सू० १६ में जो 'रथ' पद पढ़ा है वह भी उपलक्षण है। इस पद द्वारा हाथी

घोड़े आदि का भी ग्रहण होता है और साथ ही ये व्याख्याकार सू० १७ से " न " पद का सम्बन्ध इस सूत्र में करते हैं, या वे इसी सूत्र के " न " पद को दुबारा पढ़ते हैं और इस प्रकार अर्थ करते हैं कि " आचार्य के रथ पर न चढ़े यह नहीं " अपि तु ग्राम आदि को जाता हुआ ब्रह्मचारी यदि असमर्थ हो और उसे यदि कोई अन्य सवारी न मिल सके तब वह आचार्य की स्वीकृति होने पर आचार्य द्वारा अधिष्ठित हाथी या घोड़े आदि पर भी सवार होजाय।

न संवस्त्रयेत ॥ १७ ॥

समान वस्त्र न करे। १७ ॥

आचार्य और अपने वस्त्रों को एक न रखे, अर्थात् आचार्य के वस्त्रों को ब्रह्मचारी न पहना करे। और न एक ही पेटी में आचार्य के वस्त्रों के साथ ही अपने वस्त्रों को रखा करे।

सर्वाणि सांस्पर्शिकानि स्त्रीभिः सह वर्जयेत् ॥ १८ ॥

स्त्रियों के साथ सभी प्रकार के स्पर्श के सम्बन्धों का त्याग करे ॥ १८ ॥

स्त्रियों का पाणिग्रहण तथा उन्हें उबटना आदि काम जिन में कि स्त्री के साथ स्पर्श करना आवश्यक हो जाता है—सभी स्त्रियों के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी छोड़ दे। लिखा है कि " गुराविव तत्पुत्रदारेषु वर्तनीयम् " अर्थात् " गुरु की न्याई गुरु के पुत्र तथा गुरु की स्त्री के साथ भी वर्तना चाहिये " इस कथन का अपवाद यह सूत्र है। गुरु के पैरों को दबाना होता है तथा और भी कई प्रकार को शारीरिक सेवाएं गुरु की करनी होती हैं। उपरोक्त कथन द्वारा गुरु की स्त्री के सम्बन्ध में भी ये शारीरिक सेवाएं प्राप्त हैं। ऐसी सेवाओं का निषेध इस सूत्र द्वारा किया गया है। इस सूत्र में कहा है कि ब्रह्मचारी किसी भी स्त्री की ऐसी कोई सेवा न किया करे जिससे कि स्त्री के शरीर के साथ स्पर्श करना पड़े।

न मुषितां प्रेक्षेत् ॥ १९ ॥

आंख चुराकर नङ्गी स्त्री को न देखे ॥ १९ ॥

न विहारार्थं जल्पेत् ॥ २० ॥

क्रीड़ा के निमित्त स्त्री से बातचीत न करे ॥२०॥

विहार का अर्थ है क्रीड़ा। क्रीड़ा अर्थात् हंसी-खेल के निमित्त स्त्रियों से परिहास आदि न करे। अथवा सूत्र १० के अनुसार ब्रह्मचारी को जो अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के लिये आचार्य की अनुज्ञा लेनी आवश्यक होती है उस अनुज्ञा के सम्बन्ध में इस सूत्र में अपवाद है। विहार का अर्थ मल-मूत्र का त्याग भी होता है अर्थात् मल मूत्र के त्याग के निमित्त आचार्य स्वीकृति ग्रहण करने के लिये आचार्य के प्रति ब्रह्मचारी वचन न बोले।

(क्रमशः)

समत्वं योग उच्यते

[ले०—श्री पं० सत्यपालजी विद्यालङ्कार, अमेठीराज]

(१)

इतना गर्व न्वार मत करना जिससे अन्तस्तल में
सहसा भर जाए अवसाद ॥
भृकुटि तान अन्धड़ के सम्मुख,
खड़ा व्यर्थ क्यों शक्ति खो रहा ।
अरे बढ़ा चल, नहीं देखता,
उधर सूर्य है अस्त हो रहा ।
किन्तु राह देने से पहले जरा देख लेना, मन में
है नहीं विराग-विषाद ॥ इतना० ॥

(२)

लक्ष्य-सिद्धि को रहे भावना,
बल-साहस से भरा हृदय हो ।
सकल विघ्न-बाधा ढ़ल जाए,
जिधर बढ़ चलें जय ही जय हो ।
किन्तु सजग रहना पग २ पर, कहीं न कलुषित करें
हृदय को द्वेष, दम्भ उन्माद ॥ इतना० ॥

(३)

संयम हो भीतर, दृढ़ मन हो,
किन्तु न बाहर रूखापन हो ।
मौन मधुर सङ्कोच रहे पर,
ज्ञान गँभीर आत्म-चिन्तन हो ।
भस्मसात् हो सकल वासना; किन्तु जागते रहें
निरन्तर करुणा, स्नेह, प्रसाद ॥ इतना० ॥

(४)

उठें तरंगें दाएँ बाएँ,
कितना ही अभ्युदय जताएँ ।
मानस के अन्तर-तर में पर,
सोता निःश्रेयस को पाएँ ।
भाव त्याग का सदा रहे पर सावधान रहना, ओढ़े
पट प्रकटे न कहीं प्रमाद ॥ इतना० ॥

अनेक शक्तियों का परमेश्वर से क्या सम्बन्ध है ?

वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः व्यूतयो रुरुहुरिन्द्र पूर्वीः ॥ ऋ० ६ । २४ । ३ ॥

हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (पुरुहूत) सब से प्रशंसित एवं स्वीकृत प्रभो ! (पूर्वीः) सदा से विद्यमान ये पूर्ण सामर्थ्य वाली (ऊतयः) बड़ी २ शक्तियां जो जगत् की रक्षा, तृप्ति, पालन, गति, वर्धन और संहार कर रही हैं वे सब (वृक्षस्य वयाः नु) वृक्ष की शाखाओं के समान निश्चय से (वृक्षस्य) 'क्षा' अर्थात् आश्रय रूप प्रकृति को व्यापने वाले (ते) तेरे ही (वयाः) शाखाओं के समान जगत् में व्यापने, जगत् को प्रकाशित करने और उसको उथल पुथल करने और रक्षा करने वाले सामर्थ्य हैं ।

भक्ति विनय तरंग

[ले०—चतुर्वेदभाष्यकार श्री पं० जयदेवजी विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ]

द्वेषमय जगत् में एक मात्र स्नेही प्रभु

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ऋक् १।९०।९॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥

१—शं नो मित्रः ।

वह हमारा परम प्यारा, स्नेही, हमें मृत्यु से बचाने हारा, हमें शान्ति दे, हमारा कल्याण करे ।

जिधर देखते हैं उधर ही द्वेष का राज्य है । नंगे पैर घूमता हूं, मार्ग में कांटे लगते हैं, मैंने मार्ग का क्या बिगाड़ा कि वह भी मेरे लिये कांटे लिये हुए मुझ से दुश्मनी निकालता है ? गुलाब बड़ा प्रिय मालूम होता है, देखने में रूप मनोहर, पत्ती हरी, फूल गुलाबी, पर क्यों न इस प्रिय लुभावनी वस्तु को मैं अपने हाथ में लूं, मुंह से चूमूं, नाक से सूघूं, मैं अपने रागमय स्नेह से उसका प्रिय होकर उसे पुचकारूं, और क्यों न आनन्द प्राप्त करूं ? ।

हाथ बढ़ाता हूं, ओह ! हाथ में कांटे लगते हैं और बड़ी पीड़ा होती है । मैं क्या समझता था, जितना कोमल और मनलुभावना गुलाब को समझता था, वह उतना ही कण्टकाकीर्ण है, उतना ही दुखःदायी है । मैं नहीं समझता था कि वह भीनी गन्ध और गुलाबी रंग वाली मोहिनी सूरत भी हृदय में और कर्म में मुझ से वैर बांधे बैठी है ।

मलयाचल से आती हुई मन्द पवन बड़ी सुखद है, वसन्त का काल बड़ा मनोरम है, पर उस काल की गरम-सर्द वायु का मिश्रण इस देह पर कफ का प्रकोप उत्पन्न करता है और देह निमोनिया जैसे रोगों से पीड़ित होता है । अनायास मुंह से निकलता है ओह ! ऋतु बड़ी खराब है । क्यों ? क्या वह भी मुझ से दुश्मनी बांधे बैठी है ? जिस रात्रि के अन्धकार से पीड़ित होकर मैं सूर्य को चाहता हूं मध्यान्ह होते ही मैं उसके प्रखर ताप से तापित होकर उस में भी भयंकर संतापजनक शत्रुभाव देखता हूं । उस के प्रखर तेज से अपमानित सी होकर आंखे क्षण भर नहीं ताक सकतीं, देह संतापित होकर हारे के समान बार २ पसीना छोड़ता है, और फिर यह चित्त शीतलता की उपासना करता है, तृषार्त्त होकर पानी २ चिल्लाता है । पर देखो,

वर्षाकाल में जल ही जल बरसता है । बहुत दिन बराबर बरसे तो वह भी नहीं सुहाता, नदी नाला चढ़ आवे तो नगर और ग्राम बह जाते हैं, मानो वह भी हमारे शत्रु है । उसे हम तृषार्त्त हो चाहते थे परन्तु उस ने भी वैर सा प्रकट किया । फिर शरद् में जल का उपद्रव शान्त होता है । शीतलता की भावना करते २ शीत काल का आगमन होता है, पर देखिये, शीत ऋतु में शीत ही दु खदायी होता है । तब यह जीव किस की शरण जाए, छोटे से छोटे कीट पतंग इस मानव देह को काटने दौड़ते हैं, मानो ये सभी कीट पतङ्ग हमारे ही शत्रु हैं । सब ऋतुओं में एक न

एक आधिव्याधि लगी ही है। जल, हवा, धूल आदि पदार्थ भी देश कालानुसार रोगोत्पादक होते हैं। क्या ये सब हमारे शत्रु नहीं हैं ?।

यह पारस्परिक सम्बन्धों से बद्ध संसार भी तो अपने स्वार्थों के कारण परस्पर मिलता है। स्वार्थ के समाप्त होते ही नयनों में रुखाई आ जाती है। जीवन भर जिनको अपना कहा जाता है वे भी अन्त में आँख मींच कर इस जगत् के मार्ग में हमें अकेला भटकने को छोड़देते हैं। तब कौन किस का स्नेही कहा जा सकता है ? यहां तो कोई भी किसी का स्नेही नहीं दीखता, कोई किसी को नहीं अपनाता।

हैं ! तो क्या हम ऐसे बीहड़ जंगल में पड़े हैं ? हम ऐसे नीरव निर्जन में चिल्ला रहे हैं ? कोई हमारा नहीं ? तो क्या हम असत्य स्वप्नों की तरंगों में उलझ रहे हैं ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जिसने सूर्य कीसी अनबुझ ज्योति को चमका रखा है, उस के राज्य में ऐसा अन्धकार नहीं हो सकता। जिसने प्रत्येक पदार्थ में सत्ता सामान्य को जागृत किया है उसके शासन में इतने भयंकर असत् का शासन नहीं हो सकता। जिसने सहस्रों बन्धनों से समस्त जीवों को बांधा है उसके शासन में इतनी उच्छृङ्खलता नहीं हो सकती, जिसके शासन में परमाणु से लेकर महान् सूर्य तक की गति व्यवस्थित है वहां कोई नियम ही न हो यह कैसे कल्पना करें। जिस के पराक्रम का कोई अन्त नहीं, उस के शासन में मैं तुच्छ २ शत्रुओं से भयभीत होऊं भला क्यों ? जो मुझे रात दिन गोद में लिये है, मेरी प्रत्येक आह में सहारा है, जो मेरे प्रत्येक स्नेही में स्नेह का प्रकाश देता है, भला उसके रहते मैं क्यों उदास हो बैठूं ? वह तो मेरा 'मित्र' है, कैसा मित्र है ? स्नेही है, परम सखा है। मुझे हृदय से प्यार करता है।

ओह ! पिता पुत्र से स्नेह करता है, भाई बहिन से स्नेह करती है, माता पुत्र से स्नेह करती है, पुत्र माता पिता से स्नेह करता है, पति पत्नी से, पत्नी पति से, भाई भाई से, मित्र अपने मित्र से, पर ये सब स्नेही अपने एक २ प्रकार के स्नेह व्यवहार को निभाते हैं। पुत्र पिता से स्नेह करता है, पर पुत्र पिता के प्रति पितृस्नेह प्रकट नहीं कर सकता। पिता पुत्र से पुत्र का सा स्नेह नही दिखा सकता। इसी प्रकार अन्य सम्बन्धों का भी यही हाल है।

परन्तु वह महान् स्नेही परम मित्र मेरे साथ सब प्रकार के स्नेह निभा सकता है, निभाता है और निभाता रहेगा। जिसका पिता मर जाता है, वह 'हा पिता !' चिल्लाता है, पर आखिर पिता को न पा कर फिर उसी परम स्नेही की शरण में जाता है। उसमें उसे पितृस्नेह का सुख सन्तोष प्राप्त होता है। उसका अवलम्ब लेने पर प्रभु को 'पिता' मानता है। भाई के वियोग से विरही भाई को न पाकर उसी प्रभु की शरण में जाता है, वहां ही उसको परम भाई के स्नेह का निकास प्राप्त होता है। मित्र का विरही मित्र को न पाकर निराश हो कर उसी में त्रिकाल स्नेही मित्र की प्रतिकृति का अवलोकन करता है। पतिविरहिणी स्त्री पति को लाख यत्न करने पर भी न पाकर पुनः उसी को अपना पालक, हृदयेश्वर जान परम सन्तोष लाभ करती है, पत्नी का विरही पुरुष पत्नी को न पाकर निराश होकर, उसी परम हृदयाधिदेवता पर आशा करके समस्त शोक के झंकारो को भूल जाता है। मानों, इसी प्रकार समस्त संसार के समस्त स्नेह सम्ब-

न्धों की 'षोडशकला' या समूची मात्राएं लेकर उस भगवान्, प्रभु, जगदीश्वर की स्नेहमयी मूर्त्ति का निर्माण हुआ है। हरेक अपने प्रिय स्नेही की पूर्ण विकसित स्नेह राशि को उसी परम हृदयराट् में पा लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस किसी का भी कोई स्नेहपात्र व्यक्ति खो जाता है और वह उसको खोजने लगता है, और खोजते २ हार जाता है तब उसे वह अपना स्नेहपात्र व्यक्ति इसी परमेश्वरी सत्ता की मणि-मण्डपिका में छिपा हुआ मिल जाता है। वह उसे उस से भिन्न नहीं पाता। वहां वह उस प्रभु के वास्तविक स्नेह का साक्षात् करता है, तब उसे ज्ञात होता है कि संसार के सब सम्बन्ध हमें कष्टदायी थे। शत्रु भाव से स्थित सहयोगी तो मिलकर हमें कष्टप्रद सिद्ध हुए और मित्र या स्नेही कोटि के सहयोगी भी वियुक्त होकर हमें कष्टदायी हुए, तब इन में शान्तिदाता कोई न हुआ, परन्तु हां, शत्रु के संयोग और मित्र के वियोग में पीड़ित इस द्वंद्वाभिभूत जीव को यदि किसी स्नेही ने शान्ति रस का पान कराया तो प्रभो! तूने कराया है। तेरी भावना के उदय होते ही सर्वस्नेहों का पूर्ण बिम्ब हृदय में आकर शान्ति की वर्षा करता है। हृदय अनुभव करता है 'शं नो मित्रः' वह मेरा मित्र मुझे शान्ति देता है, सुख देता है, परमानन्द देता है।

तू मित्र क्यों हैं? तू मुझे दीखता नहीं, मिलता नहीं, बोलता नहीं, तो भी मित्र कैसे है? कैसे कहूँ कि तू मित्र है? कैसे कहूँ कि तू मित्र नहीं हैं?।

दुःखी और पराये बालक को मार्ग में सन्तप्त देखकर कह कौन सी स्फूर्त्ति है, जो बाधित करती है कि उसे गोद में लेकर जल पिलावें, उसे पंखा करें और मूक मुद्रा से उसके मुख पर निहारें बस! यह वही स्नेहमुद्रा है, जो मुझ अशक्त, दीन, हीन, बालकसम जीव को जिसने तुझे कभी पहचाना भी नहीं, उसे तू परम प्रत्येक दुःख में अपने गोद में ले लेता है और थपकता हुआ शान्ति का जल देता है। बालक को खिलौने के समान, हम जीवों को प्रकृति-मिट्टी के बने हुए सहस्रों विनोदजनक पदार्थ देता रहता है। हम संसार में खेलते रहते हैं और प्रसन्न होकर तुझे ऐसे ही भूल जाते हैं जैसे खेल में मस्त बालक अपने माता पिता को। थोड़ा भी गिर जांय या पिट जांय, या कोई खिलौना छिन जाय या टूट जाय, तो बालक के समान ही हम फिर मातृवत् तेरी ही पुकार करके रो पड़ते हैं और फिर जब तक तू हमें पुचकार नहीं लेता, हमारी सुबकी बन्द नहीं होती।

अहा! वह स्नेह की थपकी हमें क्षण भर में सब दुःख भुला देती है, वह तेरी स्नेह-तरंग अपार है, जिसके कारण तू 'मित्र' होकर शान्तिदायक होता है। तू हमें हर संकट से मरने से बचा लेता है, तेरी रक्षा और शान्ति में मृत्यु भी इस जीव का कुछ नहीं बिगाड़ती। सोते से जगने के समान या स्वप्न से उत्थित के तुल्य महामृत्यु का आक्रमण भी एक विनोद हो जाता है। हे परम प्रभो! हे त्रिकाल मित्र! ऐसे ही तेरे नित्य स्नेह के रस से तृप्त होकर तुझ से मैं परम शान्ति लाभ करता हूँ और अनुभव करता हूँ 'शं नो मित्रः।'

शान्तिदायक, परम सुखदायक यदि कोई है तो वही स्नेह का सरोवर, प्रेम का पयोद, करुणा का

सागर, वात्सल्य का आलय, सौहार्द का सुधानिधि, मनोरति का निकुञ्ज. आत्मीयता का अनन्य मित्र है ,जिस को मैं जगत् की अगम, दुर्गम, अन्धेरी और उजेली ऊंची और नीची घटियों में सदा साथ पाता हूँ, वह सदा प्रतिपल मुझे सन्मार्ग की चेतावनी देता है, सद्-असद् विवेक का प्रदान करता है ।

तुझे स्मरण करते हुए, हे प्रभो ! तुझ में भी मैं मित्र के लक्षणों की परीक्षा करता हूँ ।

स किंसखा साधु न शास्ति यो नृपम् ।

वह अच्छा मित्र नहीं, जो नृप या राजा को अच्छा उपदेश नहीं देता । हे मेरे त्रिकाल सखा ! तू तो मुझे सदा ही सत् अनुशासन करता है, मैं ही बालवत्, अज्ञवत्, मत्तवत्, कुमार्गगामी होता हूँ । पर तू तब भी मुझे त्यागता नहीं, पाप के मार्ग से तू सदा निवारण करता रहता है, पद २ पर तेरी ही रोक थाम मुझे सर्वत्र संभालती दीखती है । कवि ने ठीक कहा है, प्रभो !

पापान्निवारयति योजयते हिताय

गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।

आपद्गतं च न जहाति, ददाति काले

सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

पापों से बचाना, हितों की ओर प्रेरित करना, गोप्य को छुपाना, गुणों को प्रकट करना, आपत्ति काल में भी न त्यागना, और समय २ पर साहाय्य देना, ये सन्मित्र के लक्षण बतलाते हैं ।

तुझ में प्रभो ! ये सब लक्षण प्रकट हैं । तू तो मेरा हृदयगत मित्र है, मैं सब लौकिक बनावटों को त्यागकर लेटा, खड़ा, बैठा, उठा, हर स्थिति में तुझ से बात कर लेता हूँ । परन्तु तुझे जरा भी न रोष है, न अपमान वेदना है, मैं तुझे कैसे ही भुला लूं परन्तु तेरी स्मित-मुद्रा भंग नहीं होती । तेरी अपार दया, दानशीलता, व्यवस्था और कृपा में जरा भी भेद नहीं आता । मैं तो तेरी इस समवेदिता पर मुग्ध हूँ । तेरी इस मित्रता, यारी, दोस्ती में सदा शान्ति अनुभव करने में मेरा कल्याण है । प्रभो ! मेरी यही सदा प्रार्थना है तुम मेरे सदा मित्र रहो और शान्ति, सुख, देते रहो ।

२—शं वरुणः ।

इस तुम्हारे अपार स्नेह का कुछ ठिकाना है ? भला, चाहे मैं समस्त भूमि पर विचरूं, चाहे मैं अति स्वल्प कीट होकर एक जल कण में छुप जाऊं, वहां भी तेरी अपूर्व दयाशीलता है । क्या ही उत्तम कहा है ।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः

उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ अथर्व० ॥

यह महान् भूमि उस वरुण राजा तुझ प्रभु की है जो सर्वश्रेष्ठ, और सब दुखों का वारक है, इतना सूक्ष्म और सर्वव्यापक है कि इस छोटे से जलबिन्दु तक में भी छुपे रूप से व्यापक रहता है । तू 'वरुण' सर्व श्रेष्ठ, सर्वोपरि, सब दुःखों का वारक और परम सुखप्रद होने से सब तुझे ही अपना करके वरण करते हैं । वे तुझे ही अपना भाग्यविधाता, रक्षक, नायक, और सर्वोपरि चुनते हैं । इसी से तू 'वरुण' है । प्रभो ! हमें शान्ति दे, हमारे समस्त कष्टों का वारण कर । तू सब से ऊंचे से ऊंचे आकाश में भी व्यापक है, तू मेरे इस हृदयाकाश में भी सर्वोपरि आसनपर आसीन हो, मैं तेरी सुखद शोभा को देखूं, तू ही मुझे शान्ति, आमोद, आनन्द और आश्वासन

दे। प्रभो ! 'शं वरुणः'। तू ही एकमात्र सर्वोपरि वरुण होकर हमें शान्ति दे। और तू ही—

३—शं नो भवत्वर्यमा।

एक मात्र न्यायकारी, पाप और पुण्यों की यथार्थ व्यवस्था करने वाला, सब के एवज में ठीक २ फल देने वाला है। तेरी कर्मफल की व्यवस्था को बिगाड़ने वाला आज तक भी कोई उत्पन्न नहीं हुआ, जो गर्वी अभिमानी, होकर स्वयं दानशील न होकर अन्यों के भी अधिकारों पर हस्तक्षेप करता है ऐसे सर्वशत्रु नीच पुरुष को तू ही बांधता है, उसको तू ही दण्ड देता है, तू 'अर्यमा' है। सब दुष्टों का राजावत् न्यायासन पर विराज कर नियमन करता है। राज्यशासन में जिस प्रकार उत्तम न्यायकारी राजा के न्याय के बल पर, निर्बल पुरुष बलवान् द्वारा सताया जाकर भी न्यायानुसार दण्डव्यवस्था की आशा करके बड़ा सन्तोषी और सहनशील होजाता है, अन्यायी के घोर अन्याय को भी सहन कर जाता है और बाद में जब राजदण्ड से दुष्ट दण्डित होता है तो दण्डदाता की गुणस्तुति करता है और भविष्य में बड़ी शान्ति और सन्तोष प्राप्त करता है उसी प्रकार तेरी नियमव्यवस्था में भी अत्याचारियों से पीड़ित होकर भगवन् ! हम त्राहि २ करते हैं और तेरी दुष्टदलनी अद्भुत व्यवस्था से उन अत्याचारियों को मिलनेवाले दण्डों की अवश्यंभाविता देखकर हमारे हृदय में बड़ा सन्तोष, बड़ा धैर्य, बड़ा साहस और बड़ी भारी सहनशीलता उत्पन्न होती है, तेरा नाम मात्र स्मरण करके अत्याचारी हाथों की दी सब यम-यातनाएं फूलों के समान सह लेते हैं। भगवन् ! तेरा नाम जब उस अत्याचारी के कर्णकुहर में प्रवेश करता है तब उस पर कैसा प्रभाव करता है भारवी ने इसका ठीक वर्णन किया है—

> तवाभिधानाद् व्यथते नताननः।
>
> सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥ भारवि ॥

जैसे सांप दुःसह मन्त्र का अक्षर सुनते ही सिर नमा लेता है और कुछ नहीं कर पाता है उसी प्रकार तेरे भक्तों द्वारा तेरी नामध्वनि सुनकर अत्याचारी का भी सिर नीचा हो जाता है, वह सब कुछ करके भी अपने श्रम को निष्फल जान फिर कुछ नहीं कर सकता। और शर्मा कर फिर अपने किए के कुफलों से भयभीत होकर कांपता है, मन ही मन लोटता और मसोसता है। इसी से तू 'अर्यमा' है। भगवन् ! तू हमें सदा शान्ति प्रदान कर। मैं अल्पशक्ति, अल्पज्ञानी जीव तेरी अपार शक्ति के आगे अकिञ्चन हूं, और तू सर्वव्यापक, महान् पराक्रमी है।

४—शं न इन्द्रः।

तेरा अपार ऐश्वर्य है, तू इस समस्त जगत् को धारण करने हारा सब को अन्न देने वाला, सब को तेज प्रकाश देने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी, हृदय के अन्तराकाश को और ब्रह्माण्ड के विशाल आकाश को एक साथ चमका देने हारा है। तू मेघवत् अपार शान्तिमय जल का वर्षण करने वाला, तू दुष्टों का दलन करने हारा, तू विद्युत् के समान असह्य शक्तिमान् 'इन्द्र' है। तू समस्त विश्व को देखने हारा, सब के हृदयों की रग २ की जानने हारा, 'इन्द्र' है। तू हमें शान्ति दे।

भगवन् ! आप महान् हैं। यह आपका बनाया विश्व भी महान् है। आप इस के पालक हो, यह सब ऐश्वर्य आपका है। आप स्वामी हो, यह महान् विश्व

आपका अपना है। इस बृहत् ब्रह्माण्ड के पालक, स्वामी, होने से प्रभु आप 'बृहस्पति' हो।

५—शं न इन्द्रो बृहस्पतिः।

आपका शासन इस संसार के कोने २ में परिचालित होता है। आपकी ज्ञानमय प्रभु वाणी का दिव्य शासन किस लोक में नहीं ? तुरीया वृत्ति से सर्वत्र विद्यमान है। प्रत्येक लोक, प्रत्येक पिण्ड और प्रत्येक परमाणु में वही वाणी, वही पुण्य घोष अनुनादित है। वह तेरी सत्यता का बखान कर रहा है। उस को सुनने वाला कोई नहीं है। परन्तु विरले ही प्रकाशित आत्मा वाले उसको साक्षात् करते हैं।

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचम्
उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे।
जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

एक उस वाणी को आंख से देखता हुआ भी नहीं देखता और एक उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वह मूर्ख है। पर जो बुद्धिमान् है, जो तेरी अद्भुत लिपि को बांचना जानता है, उसके आगे तो वह तेरी वाणी अपनी विस्तृत ज्ञानमयी काया को ऐसे खोल के धर देती है जैसे कामनायुक्त सुन्दर वस्त्रधारिणी स्त्री अपने पति के आगे अपना देह खोल देती है। भगवन्! आप उस बृहती वाणि के पालक पतिवत् हो। आप नित्य हो तो आपकी प्रभु वाणी भी वेदमयी नित्य है।

६—शं नो विष्णुरुरुक्रमः।

आप व्यापक हो वह वाणी भी व्यापक है। अनन्त आकाश में विस्तृत प्राकृतिक जगत् का शासन करने वाले आप भी इस महान् विश्व में परमाणु २ में व्यापक हो, आप 'विष्णु' हो। जहां आप ने जगत् को बनाया है वहां आप उस के कण २ में रम रहे हो। उसके परमाणु २ के भीतर घुसे हुए हो, "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। उप०।" इस जगत् के प्रत्येक छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी क्रिया के प्रवर्त्तक आप हो। आप के महान् कार्य का क्या वर्णन करूं। सहस्रों सूर्यों को आप नियमानुसार एक ही धक्के में चला रहे हो। सहस्रों भूमियों को अपनी क्रान्ति पर घुमा रहे हो, सहस्रों समुद्र उमड़ रहे हैं। प्रभो! सहस्रों वायुगण वेग से बह रहे हैं। जहाँ देखो वहाँ तेरा ही पराक्रम दृष्टिगोचर होता है, भूमि के ज्वालामुखी, आकाश के वज्राघात और उत्तराकाश के सूर्य सब तेरी ही लीला है, तेरे ही पराक्रम हैं, तेरी ही रचना और तेरी ही सञ्चालना है। तू 'उरुक्रम है'। तू हमें भी शान्ति दे। तेरे से बड़ा दूसरा नहीं, तू सब को शान्ति दे सकता है।

७—नमो ब्रह्मणे।

शान्ति के अपूर्व भण्डार भगवन्! तेरी अपार शक्ति के आगे हमारे मस्तक नत हो जाते हैं। आप महान् 'ब्रह्म' हो। आप के आगे झुकने का मन करता है। आप एक रस, अखण्ड, सब से महान्, परमानन्दमय हो।

८—नमस्ते वायो।

आप ज्ञानमय, सब के प्राणाधार, सब को जीवन देने हारे, सब से बलवान्, अन्तरिक्ष में वायुवत् सब के आश्रय और देह में प्राणवत् मृत्यु के पाश से भी छुड़ाने वाले हो। आपके विना मेरा जीवन एक क्षण के लिये भी सम्भव नहीं। मैं आपके विना जी

नहीं सकता। भगवन् ! मुझ पर कृपा करो, मैं आप के आगे विनीत बालक के समान याचना करता हूं और पिता तथा गुरुवत् आपका आदर करता हूं।

९—त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।

आप के सन्मुख खड़ा आपकी महती महिमा को साक्षात् करता हूं। ओह ! महान्, महान्, महान्।

१०—त्वामेव प्रत्यक्षंब्रह्म वदिष्यामि

तुझ से महान् दूसरा नहीं, मैं तुझ से बड़ा दूसरे को कभी न मानूंगा, न कहूंगा। तुझे ही सब से बड़ा करके मानूं और कहूंगा। तुझ से बढ़कर कौनसी शक्ति है जो मुझे अपने आगे झुका सकती है। कोई नहीं ! कोई नहीं !! कोई नहीं !!! (क्रमशः)

वैदिक धर्म और विज्ञान

[ले०—सम्पादक]

(२)[1]

(गतांक से आगे)

(९) अब मैं वेदों की नाना वैज्ञानिक घटनाओं का वर्णन करता हूँ।

(१) सीसे की गोली से शत्रु का नाश

अथर्ववेद १। १६। ४ का मन्त्र निम्न लिखित है:—

"यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो तथा नो ऽसो अवीरहा॥"[2]

मन्त्र कहता है कि "यदि तू हमारे राष्ट्र की गौओं की हत्या करता है, यदि राष्ट्र के अश्वों की हत्या करता है, और यदि राष्ट्र के प्रजाजनों की हत्या करता है तो तुझे हम, सिक्के द्वारा, बींधते हैं, ताकि इन अवीरों अर्थात् निर्बल-निरपराधियों की तू हत्या न कर सके"। मन्त्र के "सीसेन विध्यामः" का पं० ह्विटनी (Whitney) ने अथर्ववेद के अंग्रेजी-भाष्य में निम्न लिखित अनुवाद किया है:—

"We pierce thee there with lead."

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद में शत्रु को सिक्के द्वारा बींधने का वर्णन है। सिक्के द्वारा बींधना सिक्के की गोली द्वारा ही सम्भव प्रतीत होता है।

सिक्के की गोली का वर्णन शुक्रनीति में भी मिलता है। वहां गोली को गुलिका कहा है। शुक्रनीति में इसके साथ २ तोप, बन्दूक, तथा बारूद का भी वर्णन मिलता है।

---

(१) इस लेख का पूर्व भाग वैदिक विज्ञान वर्ष २, अंक ९ में प्रकाशित हुआ है।

(२) (यदि) यदि (तू) (नः) हमारी (गां) गौ की (हंसि) हत्या करता है (यद्यश्वं) यदि अश्व की, और (यदि पूरुषम्) यदि पुरुष की हत्या करता है, (तब) तं त्वा) उस तुझको, हम (सीसेन विध्यामः) सीसे से बींधते हैं, (यथा) ताकि तू (अवीरहा) निर्बलों की हत्या करने वाला (नो ऽसः) न हो सके।

(२) अग्नि द्वारा शिलावर्षण

अथर्ववेद ८।४।५ में, शत्रुसेना पर अग्नि से तपे पत्थरों की वर्षा करने का भी वर्णन मिलता है। यथाः—

इन्द्रा सोमा वर्तयतं दिवस्परि अग्नितप्तेभिर्युवमश्मइन्मभिः।[१]

वेद में अग्नि से तपे हुए पत्थरों की वर्षा करने का वर्णन मिलता है। तपे हुए पत्थरों की यह वर्षा विना मशीन के नहीं हो सकती।

(३) पूतिरज्जु

अथर्ववेद ८।८।२ में एक पूतिरज्जु का वर्णन आता है। यथाः—

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।

धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वादधतां भयम्॥[२]

मन्त्र कहता है कि "दुर्गन्ध फैला देने वाली रस्सी, जिसे कि अग्नि लगाने पर ज़ोर से आवाज़ उठती है, उस सेना में दुर्गन्ध फैला दे, ताकि इससे उठे हुए धूएं और आग को देखकर शत्रु अपने हृदयों में भयभीत हो जांय।"

इस प्रकार यह "पूतिरज्जु" शत्रु दल में दुर्गन्ध के फैलाने, शत्रु सेना को आवाज़ से डराने तथा एक दम आग और धूएं को उत्पन्न कर देने का साधन प्रतीत होता है। पूति-रज्जु के इस वर्णन द्वारा आज कल के वैज्ञानिक-गैस-युद्ध का स्मरण हो उठता है।

(४) शत्रुस्तम्भक जाल

इसी प्रकार शत्रु सेना पर एक दम जाल फैंक देने का वर्णन भी अथर्ववेद में आता है जिस द्वारा कि शत्रु के सौ, हज़ार, १० हजार, तथा लाख तक योद्धाओं को एक दम जकड़ कर परास्त किया जा सकता है। देखो अथर्ववेद ८।८।५-७॥

अन्तरिक्षं जालमासीजालदण्डा दिशो महीः। तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत्॥ अथर्व० ८।८।५॥[३]

बृहद्धिजालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।

तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम्॥

अथर्व० ८।८।६॥[४]

बृहत् ते जालं बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।

तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥ अथर्व० ८।८।७॥[५]

---

(१) (इन्द्रा सोमा) हे इन्द्र और सोम ! (युवम्) तुम दोनों शत्रुओं पर (अग्नितप्तेभिः) अग्नि से तपे (अश्म-हन्मभिः) पत्थरों से शत्रुओं की हत्या करो।

यहां इन्द्र और सोम सेना के अध्यक्ष प्रतीत होते हैं।

(२) (उपध्मानी) अग्नि के संयोग से शब्द करने वाली (पूतिरज्जुः) दुर्गन्ध वाली रस्सी (अमूम् सेनां) उस सेना को (पूतिं कृणोतु) दुर्गन्धि कर दे। (धूममग्निं) धुएं और अग्नि को (परादृश्य) दूर से देखकर (अमित्राः) शत्रु (हृत्सु) अपने हृदयों में (भयम् आदधताम्) भय मानें।

(३) (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (जालमासीत्) जाल था, (महीः दिशः) बड़ी २ दिशाएं (जालदण्डाः) उस जाल के दण्ड थे। (शक्रः) इन्द्र ने (दस्यूनां सेनां) शत्रुओं की सेना को (तेन अभिधाय) उस जाल से बांध कर (अपावपत्) नष्ट भ्रष्ट कर दिया।

(४) (वाजिनीवतः) बलवाली सेना के स्वामी (बृहतः शक्रस्य) महान् तथा शक्तिशाली सेनापति का (जालं बृहत्) जाल बड़ा है। (तेन) उस जाल से (सर्वान् शत्रून्) सब शत्रुओं को (अभि न्युब्ज) नीचा कर, (यथा) ताकि (एषां कतमः) इन शत्रुओं में से कोई भी (न मुच्यातै) इस जाल से, न छूट सके।

(५) हे (शूर इन्द्र) शूर इन्द्र ! (सहस्रार्घस्य) हज़ारों प्रकार की पूजा वाला और (शत-वीर्यस्य) सैकड़ों

(५) सहस्रनाशी वज्र

वेद में ऐसे वज्र का भी वर्णन आता है जो कि हजारों शत्रुओं की एक दम हत्या कर सके। यथाः—

परः सहस्रा हन्यन्तां तृणेद्वेनान् मत्यं भवस्य ॥

अथर्व० ८। ८। ११ ॥[१]

अर्थात् सेनापति का वज्र इनका नाश करे, और शत्रु सेना के हजारों सैनिक नष्ट हों।

वेद में शत्रु की इस प्रकार की हत्या का आधार Defensive-war अर्थात् आत्म-रक्षा की नीति है। वेद, सदा, आत्म-रक्षा की दृष्टि से युद्ध का उपदेश देता है। आत्म रक्षा या आत्मीय स्वतन्त्रता के भाव से प्रेरित होकर, वेद शत्रुओं पर आक्रमण करने तथा उनकी हत्या करने का उपदेश देता है। इसलिये मनुष्यता की दृष्टि से इन मन्त्रों पर आक्षेप नहीं किया जा सकता।

(६) रश्मियों द्वारा शत्रुविजय

अथर्ववेद में सूर्य की नीली तथा लाल किरणों द्वारा शत्रु दल को घेर लेने और इस प्रकार शत्रु पर विजय पाने का भी वर्णन आता है। यथाः—

इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ अथर्व० ८। ८। २४ ॥[२]

अर्थात् – ये हमारे सैनिक विजयी हों, वे शत्रु के सैनिक पराजयी हों, नीली और लाल किरणों द्वारा मैं उन शत्रुओं को घेर लेता हूँ"।

युद्ध का यह प्रकार भी वैज्ञानिक है। क्योंकि सूर्य की नीली और लाल किरणों को इकट्ठा कर सकना और इन द्वारा शत्रु का पराजय कर सकना, विना उच्च-विज्ञान की सहायता के असम्भव है।

(७) अग्नेयास्त्र और वायव्यास्त्र

अथर्ववेद में आग्नेयास्त्र और वायवास्त्र का भी वर्णन है। यथा—

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥[3]

अथर्व० ३। १। ५। तथा ३। २। ३ ॥

अर्थात्—'हे सेनापति! तू शत्रुओं की सेना

प्रकार के बलों वाला (ते) जो तू है उसका (जालं) जाल (बृहत्) बड़ा है, (बृहत्) अर्थात् बहुत बड़ा है। (शक्रः) इन्द्र ने (तेन) उस जाल से (सेनया) सेना के द्वारा (शतं) सौ (सहस्रं) हज़ार, (अयुतं) दस हज़ार (न्यर्बुदं) तथा लाख तक (दस्यूनां) शत्रुओं को (अभिधाय) बांधकर (जघान) मार दिया।

(१) (परः सहस्राः) हज़ारों से भी अधिक शत्रु (हन्यन्ताम्) नष्ट हो जायं (भवस्य) रुद्र का (मत्यं) अस्त्र (एनान्) इनको (तृणेढु) नष्ट करे।

(२) (इमे) हमारे पक्ष के मनुष्य (जयन्तु) विजय को प्राप्त करें, (अमी) शत्रुपक्ष के मनुष्य (पराजयन्तां) पराजय को प्राप्त करें, (एभ्यः स्वाहाः) हमारे पक्ष के मनुष्यों के लिये सूक्तियां हों और (अमीभ्यः दुराहा) शत्रुपक्ष के मनुष्यों के लिये दुरुक्तियां हों। सूर्य की, (नील-लोहितेन) नीली और लाल किरणों से (अमून्) इन शत्रुओं को (अभ्यवतनोमि) घेरता हूं।

(३) (इन्द्र) हे सेनापति ! तू (अमित्राणां) शत्रुओं की (सेनां मोहय) सेना को अचेतन कर दे। (अग्नेः) अग्नि की और (वातस्य) वायु की (ध्राज्या) गति द्वारा, (विषूचः) दूर दूर जाने वाले शत्रुओं को (विनाशय) नष्ट कर दे।

को अचेतन कर दे। आग और वायु के वेग द्वारा तू इन का नाश कर"। इस मन्त्र में अग्नि और वायु के वेग द्वारा शत्रु के नाश करने का उपदेश है। अग्नि और वायु द्वारा तभी शत्रु का नाश किया जा सकता है जब कि अग्नि और वायु पर प्रभुत्व पाने के विज्ञान से पूरी वाकफीयत हो। विना विज्ञान की उन्नति के इन शक्तियों पर विजय नहीं पाया जा सकता

(८) अन्धकारास्त्र अप्वा

अथर्ववेद में एक अन्धकारास्त्र का भी वर्णन है। मन्त्र में इस अस्त्र को 'अप्वा' कहा है। यथा :—

अमीषां चित्तानि प्रति मोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्राँस्तमसा विध्य शत्रून्॥[1]
अथर्व० ३।२।५॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥[2]
अथर्व ३।२।६॥

अर्थात्—"हे अप्वा अस्त्र! इन शत्रु-योधाओं के संकल्प-विकल्पों या युद्ध सम्बन्धी ज्ञानों का नाश करता हुआ तू इनके अङ्गों को जकड़ दे, हे अप्वा अस्त्र! तू दूर जा, शत्रुओं की ओर जा, शत्रुओं के हृदयों में उत्पन्न हुए (किंकर्त्तव्य-विमोह के) शोकों द्वारा तू उन्हें जला, हे जकड़ देने वाले अस्त्र! तू शत्रुओं को अन्धकार द्वारा वींध दे"। तथा

"हे योद्धाओ! शत्रुओं की जो वह सेना, स्पर्धा करती हुई, वेग से हम पर धावा बोलती है, उसे अन्धकार द्वारा बींधो, ताकि शत्रु के योद्धा काम न कर सकें, और इन में के लोग एक दूसरे को न पहचान सकें"। इसलिये यह अप्वा-अस्त्र इस प्रकार का है कि जिस के छोड़े जाने पर शत्रु-दल पर अन्धकार छा जाता है। जिस का परिणाम यह होता है कि शत्रु अपने और पराये लोगों को भी नहीं पहचान पाते। अन्धकार के कारण ये युद्ध के काम से वञ्चित हो जाते हैं और हृदयों में शोक करने लगते हैं कि हाय! हम पर क्या आपत्ति टूट पड़ी कि सामर्थ्यों के रहते हुए भी हमारे अङ्ग जकड़ से गये हैं और हम कुछ नहीं कर सकते।

इस अस्त्र के चलाने से शत्रु का संहार तो नहीं होता, परन्तु शत्रु दल पर विजय अवश्य प्राप्त किया जा सकता है। आत्मरक्षा की नीति पर किये गये युद्ध (Defensive war) को भी इन मन्त्रों ने और अधिक मनुष्यता का चोला पहना दिया है।

---

(१) (अप्वे) हे अप्वा नामक अस्त्र! (अमीषां) इन शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (प्रति मोहयन्ती) ज्ञान शून्य करता हुआ, तू (अंगानि) शत्रुओं के अंगों को (गृहाण) जकड़ दे, (परेहि) दूर जा, (अभिप्रेहि) शत्रुओं की ओर जा (हृत्सु) शत्रुओं के हृदयों में उत्पन्न हुए २ (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) उन को नष्ट कर दे और (ग्राह्यां तमसा) जकड़ देने वाले अन्धकार से (अमित्रान् शत्रून्) अमित्र अर्थात् शत्रुओं के (आ विध्य) बींध दे।

(२) (मरुतः) हे योद्धाओ! (परेषां) शत्रुओं की (असौ या सेना) वह जो सेना (ओजसा स्पर्धमाना) बल से स्पर्धा करती हुई (अस्मान् अभि एति) हमारी और आरही है तां उस को (अप-व्रतेन) कर्मों को नष्ट करने वाले (तमसा) अन्धकार के द्वारा (विध्यत) बींधो, ताकि (एषां) इन के मनुष्य (अन्योअन्यं) एक दूसरे को (न जानात्) न पहिचान सकें।

इस प्रकार ये युद्ध-सम्बन्धी कतिपय वैज्ञानिक घटनायें हैं। ऐसे नाना अस्त्रों का वर्णन रामायण और महाभारत में प्रायः मिलता है।

यात्रोपयोगी वैज्ञानिक साधन

अब आप यात्रा के उपयोगी वैज्ञानिक साधनों को देखिये।

(१) वेदों में विमानों का वर्णन

वेदों में विमानों का वर्णन आता है। विमानों द्वारा प्रभु के विस्तृत आकाश की विभूति का आनन्द उड़ाया जा सकता है। ऋग्वेद में मन्त्र आये हैं कि—

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥

ऋ० १। ११६। ३ ॥[१]

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतंगैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥

ऋ० १। ११६। ४ ॥[२]

ता भुज्युं विभिरद्भ्यः समुद्रात्तुग्रस्य सूनुमूहथुः रजोभिः।
अरेणुभिर्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभिरर्णसो निरुपस्थात् ॥

ऋ० १। ११२। ६ ॥[३]

युवं भुज्युमर्णसो निः समुद्राद्विभिरूहथुर्ऋज्रेभिरश्वैः ॥

ऋ० १। ११७। १४ ॥[४]

अर्थात्—"हे अश्वि-देवताओ! तुम ने भुज्यु को समुद्र में त्याग दिया, जैसे कि मरा हुआ मनुष्य अपने धन को त्याग देता है। हे अश्वि देवताओ! तुम दोनों ने उसे नौकाओं द्वारा उठाया, जो नौकाएं आत्मा वाली थीं, अन्तरिक्ष में उड़ती थीं, और जिनका जल से सम्बन्ध नहीं था।"

तीन रात और तीन दिन बहुत वेग से चलने वाले पतङ्गों द्वारा, हे असत्यरहित दोनों अश्वियो!

---

(१) (आश्विना) हे अश्वियो! (तुग्रः) तुग्रने (भुज्युं) भुज्यु को (अवाहाः) छोड़ दिया (न) जैसे (ममृवान्) मरता हुआ (कश्चित्) कोई मनुष्य (रयिं) धन को छोड़ देता है। हे अश्वियो! (तं) उस को तुम दोनों ने (आत्मन्वतीभिः) आत्मावाली, (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्ष में उड़ने वाली (अपोदकाभिः) जिन का जल से कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसी (नौभिः) नौकाओं द्वारा (उद-मेघे) जल से पूर्ण बादल जहां रहते हैं ऐसे अन्तरिक्ष में (ऊहथुः) उठाया।

(२) (नासत्या) हे आश्वियो! तुम दोनों (तिस्रः क्षपः) तीन रात और (त्रिः अहा) तीन दिन (अतिव्रजद्भिः) बहुत वेग से चलने वाली (पतंगैः) पक्षी के आकार के हवाई नौकाओं द्वारा, (भुज्युं) भुज्यु को (ऊहथुः) उठाकर लेगये। और (धनवान्) अन्तरिक्ष में (आर्द्रस्य समुद्रस्य) गीले समुद्र के (पारे) पार लेगये।

(३) हे (ता) तुम दोनों अश्वियो! (तुग्रस्य सूनुं) तुग्र के पुत्र (भुज्युं) भुज्यु की (भुजन्ता) रक्षा करने वाले तुम दोनों ने, उस को (रजोभिः) वेगवाली (विभिः) पक्षी के समान आकार वाली हवाई नौकाओं द्वारा (अद्भ्यः) जल से और (समुद्रात्) समुद्र से (ऊहथुः) बाहर निकाला। और अन्तरिक्ष के (अरेणुभिः) धूलि से रहित (योजनेभिः) लम्बे २ मार्गों द्वारा (पतत्रिभिः) पंखों से बढ़नेवाली नौकाओं से (अर्णसः) समुद्र के (उपस्थात्) मध्य से (निः) निकाला।

(४) (यूयं) तुम दोनों (अर्णसः समुद्रात्) जल भरे समुद्र से (भुज्युं) भुज्यु को (विभिः) पक्षी के के समान आकारवाली नौकाओं के द्वारा (निरूहथुः) बाहर निकाल कर ले गये।

तुम ने भुज्यु का वहन किया। धन्व अर्थात् अन्तरिक्ष में चलते हुए, आर्द्र अर्थात् जल वाले समुद्र से पार, उसे तुम लाये"।

"तुम दोनों ने 'वि' या 'पतत्रियों' द्वारा— जो कि परस्पर मिल जुल कर संख्या में नाना थे— समुद्र की गोदी से, धूलि से रहित मार्गों द्वारा, तुम के पुत्र भुज्यु का वहन किया"।

"तुम दोनों ने जल भरे समुद्र से "वि" या "अश्वों" द्वारा भुज्यु का वहन किया"।[1]

(२) हवाई जहाज़ का वर्णन

यजुर्वेद १०। १९ मन्त्र, हवाई-जहाज की यात्रा का वर्णन उत्तम शब्दों में कर रहा है। यथा—

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः।
ता आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः।
विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥[2]

अर्थात्—"वर्षा करने वाले मेघ और पर्वत की पीठ तक हवाई-नौकाएं विचरती हैं, ये मेघ में से गुज़रती हुईं मेघ के जल से सींची जाती हैं, कभी ये ऊपर की ओर उड़ती हैं और कभी नीचे की ओर आती हैं, कभी २ ये दौड़ते हुए मेघ का पीछा करती हैं। हवाई-नौकाओं का यह वर्णन बहुत मनोहर प्रतीत होता है।

(३) हवाई जहाज़ का व्यापारिक उपयोग

वेदों ने हवाई जहाजों के व्यापारिक उपयोग का भी निर्देश किया है। अभी तक हवाई जहाज़ व्यापार का साधन पूरे रूप में नहीं बन पाये। परन्तु वैदिक हवाई-जहाज़ व्यापार के भी साधन हैं। अथर्ववेद में मन्त्र आया है कि :—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥
अथर्व० ३। १५। २ ॥[3]

इस मन्त्र का अर्थ है कि "जो मार्ग बहुत से हैं जिन पर कि देव अर्थात् व्यवहारी लोग जाते आते हैं और जो द्यु लोक और पृथिवी लोक के मध्य में खूब चलते हैं, वे दूध तथा घी से मेरी सेवा करें, ताकि ख़रीद कर मैं धन कमा सकूं"।

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि व्यापारी लोग अन्तरिक्ष के मार्गों से आएं जाएं, स्थान २ पर विमानों के स्टेशन बने हुए हों, ताकि वहां उतर कर खान पान से यात्री निवृत्त हो सकें और वहां से माल भर कर या वहां माल उतार कर व्यापार के सिलसिले के द्वारा व्यापारी धन कमा सकें।

---

(१) इस सम्बन्ध में देखो वैदिक विज्ञान, प्रथम वर्ष अङ्क ३। पृष्ठ ९८ से १०४ तक।

(२) (वृषभस्य पर्वतस्य) वर्षा करने वाले मेघ और पर्वत की (पृष्ठात्) पीठ तक (नावः) हवाई नौकाएं (चरन्ति) विचरती हैं और (इयानाः) विचरती हुई (स्वसिचः) जल से सींची जाती हैं। (ताः) वे हवाई नौकाएं (अधरागुदक्ता) कभी नीचे और कभी ऊपर (आववृत्रन्) उड़ती हैं और (बुध्न्यमहिम्) अन्तरिक्ष में दौड़ते हुए मेघ के (अनुरीयमाणाः) पीछे दौड़ती हैं।

(३) (ये बहवः पन्थानः) जो बहुत से मार्ग हैं, जिन पर कि (देवयानाः) व्यापारी लोग आते जाते हैं, और जो कि (द्यावापृथिवी अन्तरा) द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में (संचरन्ति) खूब चलते हैं (ते) वे मार्ग (पयसा, घृतेन) दूध और घी के द्वारा (मा जुषन्ताम्) मेरी सेवा करें, (यथा) ताकि (क्रीत्वा) ख़रीद कर (धनम् आहराणि) मैं धन को कमा सकूं।

वेद के हवाई जहाज मामूली ढङ्ग के नहीं। वेद में एक ऐसे हवाई जहाज या रथ का वर्णन मिलता है, जिसे कि चलाने वाला यदि बुद्धिमान् हो तो वह १०० मनुष्यों को भी एक साथ बिठाकर आकाश में उड़ सकता है और उन्हें अपने २ अभीष्ट स्थानों तक पहुँचा सकता है। अथर्ववेद १२। ७६। २ का मन्त्र निम्न लिखित है :—

"अनु त्रिशोकः शतमावहत् नॄन्

कुत्सेन रथो यो असत् ससवान्" ॥[1]

हवाई-जहाजों के सम्बन्ध में ऋग्वेद का एक और मन्त्र भी बहुत महत्त्व का है। वह निम्न लिखित है। यथा :—

यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः।

विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम् ॥[2]

इसका अर्थ यह है कि "इन्द्र अर्थात् विद्युत, जो कि पाक-स्थामा है, अर्थात् (हवाई नौका के) अग्नि-स्थान में स्थित है, जो कि यान अर्थात् नौका-रथ को चलने योग्य बनाती है, इस विद्युत् से उत्पन्न वायु के द्वारा हमें ऐसा नौका-रथ प्राप्त हो जो कि अत्यन्त शोभायुक्त हो और द्युलोक में दौड़ता चला जाय"।

इस मन्त्र में हवाई-नौका के चलने के दो कारण कहे हैं एक विद्युत्, दूसरी वायु जो कि इस विद्युत् द्वारा हवाई-नौका में उत्पन्न होती है।

(४) व्योमचारी विहङ्ग यन्त्र

राजा भोज ने, जो कि धारा नगरी के महाराज थे, अपनी पुस्तक 'समराङ्गण सूत्रधार' में आकाश में उड़ने के दो यन्त्र लिखे हैं। एक का नाम है 'व्योमचारी विहङ्ग यन्त्र' और दूसरे का 'आकाश-गामी दारुमय विमान यन्त्र'। इन दोनों हवाई-यन्त्रों को राजा भोज ने पारे और अग्नि के द्वारा, आकाश में उड़ाया है। देखो समरांगण सूत्रधार—

लघुदारुमयं महाविहंगं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
तत्रारूढः पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन।
सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥

(समरांगण सूत्रधार अध्याय ३१ श्लो० ९५-९७) ॥

समुद्री जहाज

(२) हवाई-जहाजों की सैर के पश्चात् अब हम समुद्री-जहाजों का कुछ निरीक्षण करते हैं।

(१) कला से युक्त नौका

ऋग्वेद में मन्त्र आया है कि —

(१) (त्रिशोकः) नीचे, ऊपर और मध्य– तीन स्थानों में प्रकाशित होनेवाला (रथः) रथ (कुत्सेन) कुत्स अर्थात् बुद्धिमान् चलाने वाले के द्वारा (शतं नॄन् अनु आवहत्) सैंकड़ों मनुष्यों को ले जाता है (यः) जो रथ कि (ससवान् असत्) अन्न से पूर्ण है।

(२) (पाकस्थामा) अग्नि-स्थान में स्थित (कौरयाणः यान को पूरा करने वाला (इन्द्रः) विद्युत् और (मरुतः) वायु (मे) मुझे (यं) जिस रथ को (दुः) देते हैं जो रथ (विश्वेषां शोभिष्ठम्) सब से अधिक शोभा युक्त और (त्मना दिवि धावमानम्) स्वयं अपनी शक्ति से द्युलोक में दौड़ने वाला है।

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम् ।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ॥
ऋ० १० । १५५ । ३ ॥

अर्थात् वह जो लकड़ी की नौका, समुद्र के पार जाने के लिये, उछल रही है, जो कि पुरुष के बल से नहीं चलती (अपितु कला के बल से चलती है), हे व्यापार द्वारा राष्ट्र के दुःखों को दूर करने वाले व्यापारी ! तू उस नौका द्वारा समुद्र के परले किनारे तक जा"।

इस मन्त्र में समुद्री-नौका को पुरुष के सामर्थ्य द्वारा, अर्थात् चप्पुओं द्वारा न चलने वाली कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि ऐसी नौका के द्वारा समुद्र के दूर से दूर के किनारों तक जाना चाहिये।

(२) समुद्र यात्रा का आनन्द

ऋग्वेद मन्त्र ७। ८८। ३, समुद्र-यात्रा के आनन्द का वर्णन बड़े उत्तम शब्दों मे करता है। यथा:—

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥[२]

अर्थात् हे समुद्र राजा ! जब तू और मैं नौका पर बैठ कर समुद्र के मध्य में जाते हैं तब जलों की तरंगों पर सवार हो कर हम दोनों झूले में चढ़े हुए के समान हिलोरे लेते हैं"।

(३) व्यापारी और जंगी जहाज़

ऋग्वेद मन्त्र १ । १४० । १२, वर्णन करता है कि धनी, वीर योद्धा, तथा सर्व साधारण लोग, जिस में कि घर केसे आराम हों ऐसी नौका पर, सवार होकर समुद्र के पार तक जाया करें। यथा:—

रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने ।
आस्माकं वीराँ उत नो मघोनो जनांश्च या पारयाच्छर्म याच ॥[३]

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि वेद ने नौकाओं द्वारा व्यापार करने तथा नौकाओं द्वारा युद्ध करने की ओर भी इशारा किया है। इस मन्त्र में यह भी कहा गया है कि "नौका, हमारे व्यापारियों, वीर योद्धाओं तथा सर्व साधारण लोगों को, अग्नि-शक्ति के द्वारा समुद्र से पार करती है"। इससे प्रतीत होता

---

(१) (अदः) यह (यद् दारु) जो लकड़ी की नौका (सिन्धोः पारे) समुद्र के पार जाने के लिये (प्लवते) उछल रही है, जो कि (अपूरुषम्) पुरुष के बल से नहीं चल रही, अपितु यन्त्र बल से चल रही है (दुर्हणः) हे दुःखों को दूर करने वाले व्यापारी ! (तद् आरभस्व) उस नौका को सहारे ले और (तेन) उस नौका के द्वारा (परस्तरम्) समुद्र के पार (गच्छ) जा।

(२) नौका (अस्माकं) हमारे (वीरान्) वीर योद्धाओं को (उत) और (नः) हमारे (मघानः) व्यापारियों को (जनांश्च) और साधारण मनुष्यों को अग्नि-शक्ति के द्वारा (पारयात्) समुद्र से पार करती है, जो नौका कि (पद्वतीम्) नीचे लगे हुए पैरों वाली है। यहां नौका के नीचे लगे हुए चक्रों को, जिन से कि वह समुद्र के जल को चीरती चली जाती है, पैर कहा गया है।

(३) (वरुणः) हे समुद्र के स्वामी !, मैं और तू (यत् नावम्) जब नौका पर (आ रुहाव) चढ़ते हैं, और (यत्) जब बैठकर (समुद्रं मध्यम् ईरयाव) समुद्र के मध्य में जाते हैं, तब, (अपां स्नुभिः चराव) जलों की तरंगों के साथ घूमते हैं और (शुभे) आनन्द के लिये (कम) सुख पूर्वक (प्रेङ्खे) झूले पर (प्रेङ्खयावहै) मानो झूलते हैं।

है कि वैदिक-नौकाएं अग्नि-शक्ति से भी चलने वाली हैं।

साथ ही ऋ० १। १४०। १२, में नौका का विशेषण दिया है—पद्वती अर्थात् जिस के नीचे पैर लगे हुए हैं। वेद ने नौकाओं के नीचे लगे उन चक्रों को, जिन द्वारा कि ये नौकाएं समुद्र की छाती चीरती हुई चलती हैं, पैर कहा है। जहाजों के उपरोक्त वर्णनों में 'अपूरुष', 'अग्नि' और 'पद्वती' शब्द बड़े महत्व के हैं। ये सब शब्द मिल कर इस भाव को दृढ़ रूप से सूचित करते हैं कि वैदिक-नौकाएं कलायन्त्र द्वारा चलने वाली भी हैं।

(क्रमशः)

महर्षि दयानन्द के उपकार

(लेखक श्री ब्र० शिवदत्तजी, महाविद्यालय ज्वालापुर.)

(१)

विद्या न थी चहुं ओर था तम जब अविद्या का घना,
यह भव्य भारतवर्ष था दुष्कर्म का घर सा बना।
है दोष दुनियां में न कोई जो न हो इसमें रहा,
वह दुःख भी न रहा कहीं जो हाय ! ना इसने सहा ॥

(२)

मत थे अनेकों देश में जब भ्रान्ति पूर्ण मचा रहे,
पथ छोड़ सीधा थे सभी जन जब कुपथ में जा रहे।
आचार पालन हेतु कोई भी नहीं तैय्यार था,
भोगी विलासी थे सभी चहुं ओर ही व्यभिचार था ॥

(३)

प्रभु निर्विकार परेश का अवतार होना ठीक है,
है वह अजन्मा बात यह जग में अतीव अलीक है।
यज्ञादि का करना किसी भी शास्त्र में न लिखा कहीं,
पर मूर्त्ति-पूजा आदि का है लेख खूब सभी कहीं ॥

(४)

वेदादि का पढ़ना पढ़ाना छोड़ था सबने दिया,
बस पेट पालन के लिये ही जन्म था जग में लिया।
व्रत ब्रह्मचर्य विसार बचपन में गृहस्थी भार को,
सुत शीस पर रखते, न थे करते कभी सुविचार को ॥

(५)

मर जाय पत्नी तो पति का ब्याह करना ठीक है,
पर बाल-विधवा-ब्याह भी करना अतीव गुनाह है।
वेश्या नचाकर धन गंवाना शास्त्र के अनुकूल है,
पर दीन को कुछ दान देना शास्त्र के प्रतिकूल है ॥

(६)

हैं वेद पुरुषों से रचित इनमें भरा इतिहास है,
वेश्या गमन, चोरी तथा हिंसादि का आवास है।
थे भाष्य वेदों के नितान्त असत्य बातों से भरे,
भगवान् उन सब भाष्यकारों का गुनाह क्षमा करे ॥

(७)

जन्मादि से ही वर्ण की थे सब व्यवस्था मानते,
कायर पुरुष भी आपको थे क्षत्रियादि बखानते।
बल, बुद्धि, विद्या में बड़ा भी शूद्र हाय ! अछूत था,
सर्वत्र ही फैला हुआ अस्पृश्यता का भूत था ॥

(८)

देवालयों में बेहया वेश्या जाते थे सभी,
पर शूद्र, दर्शन हेतु भी, जाने न पाते थे कभी।
पानी तलक वे हा! कुओं से हाय? भर सकते न थे,
वे देव होकर भी स्वयं को मनुज कह सकते न थे॥

(९)

थे शूद्र जब तक धेनुरक्षक शीश पै चोटी धरे,
अपवित्र थे उस काल में, पशु जाति से भी थे परे।
छाया पड़े इनकी अगर तो भी नहाना धर्म है,
यह वैश्य, क्षत्रिय, विप्र आदिक का परम कर्त्तव्य है॥

(१०)

चोटी कटाकर हिन्दुओं से जब यवन वे होगये,
सब छूत छात मिटी तथा वे पूत तनु भी होगये।
है दूर तो रहना अलग, फिर हाथ भी मिलने लगे,
जब थे सगे तब शत्रु थे, अब शत्रु हैं तब हैं सगे॥

(११)

इस भान्ति हिन्दू जाति जब निज हाथ से निज नाश को,
थी कर रही निःशङ्क होकर हन्त! नष्ट विकाश को।
थी भूल अपने को गई, था संगठन बिलकुल नहीं,
जिस ओर देखो वैर की वन्हि भड़कती थी वहीं॥

(१२)

था जोर यवनों का, यवन निज जाति-वृद्धि के लिये,
करते उपद्रव और हिन्दू मौन थे साधे हुए।
लड़के चुरा कर यवन गण थे भाग जाते गेह से,
पाला जिन्हें था जनक-जननी ने बड़े ही नेह से॥

(१३)

पर दुःख! पाकर भी उन्हें वे पास रख सकते न थे,
सब था, मगर, रखकर यवन को धर्म तज सकते न थे।
थे भूत-प्रेत, पिशाच, देवी-देवता को मानते,
बलि थे चढ़ाते प्राणियो की, पुण्य इसमें जानते॥

(१४)

इस भांति से जब देश में फैला निरा अज्ञान था,
सत असत का जब किसी को तनक भी नहिं ध्यान था।
तब उस महर्षि ने किया अज्ञान का तम दूर था,
जो ब्रह्मचारी धर्मरक्षक और सच्चा शूर था॥

(१५)

दी खोल सारी पोल अरु मत नष्ट कर डाले सभी,
अवतार मूर्त्ती पूजनादिक का किया खण्डन सभी।
यज्ञादि का करना तथा पढ़ना पढ़ाना वेद का,
जग में परम कर्त्तव्य है हर एक प्राणी मात्र का॥

(१६)

व्रत ब्रह्मचर्य विना न जग में क्षेम है होता कहीं,
विधवा-विवाह-निषेध भी है शास्त्र में न लिखा कहीं।
हैं वेद ईश्वर-ज्ञान इन में लेश भी इतिहास का—
होना असम्भव है निरा, ज्यों नाश है आकाश का॥

(१७)

जो हैं महीधर आदि ने निज भाष्य वेदों पर लिखे,
हैं वे नितान्त असत्य, अरु अज्ञान से वे हैं लिखे।
वह शूद्र पण्डित है, उसे फिर शूद्र कहना भूल है,
जिस का विचार-प्रवाह सद्विद्यादि के अनुकूल है॥

(१८)

गुण कर्म से वर्ण-व्यवस्था है चली संसार में,
क्षत्रिय नहीं वह जो डरे दिन में स्वशयनागार में।
हैं भूत-प्रेत, पिशाच आदिक भाव मन के ही सभी,
हिंसादि से पुण्यादि का होना न सम्भव है कभी॥

(१९)

हैं शूद्र बन्धू-सम घृणा करना बड़ा ही पाप है,
अस्पृश्यता रहना जगत् में क्या नहीं सन्ताप है।
शुद्धी तथा फिर संगठन करना हमें सिखला गया,
बस अन्त में मरना हमें निज धर्म पर सिखला गया॥

(२०)

गणना हो सकती नहीं, हैं अनन्त उपकार।
दयानन्द ऋषिराज जय, क्षमा, दया आगार॥

———

दर्शन *

[ले०—श्री पं० बालकृष्णजी, गुरुकुल कांगड़ी]

एक जंगली मनुष्य को संसार की घटनाओं में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। उसकी दृष्टि में सर्वत्र विभिन्नता का राज्य है। उसके लिये सूर्य का प्राची दिशा में अपनी अरुण आभा के साथ उदय होना, झंझावातों का प्रचण्ड रूप से चलना, मूसलाधार वर्षा का होना, आदि सब आश्चर्य-जनक घटनाएं हैं। वह किसी भी घटना की गहराई में नहीं जाता। हर्ष, भय, शोक आदि जीवन के हेर फेर उस में किसी विशेष प्रकार की विचार धारा को उत्तेजित नहीं करते। उसकी विचार की प्रक्रिया बहुत सरल होती है। वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि भौतिक पदार्थों, और सर्प तथा बैल आदि पशुओं को देवता समझ कर पूजने लगता है। जब उस पर रोग या प्रिय सम्बन्धी के वियोग के रूप में कोई आपत्ति आती है तब वह यह समझता है कि मुझ से देवता रुष्ट हो गये हैं। किसी प्रकार से इनको सन्तुष्ट कर लूं तो मेरा कष्टों से छुटकारा हो जायगा और इस लिये वह नाना प्रकार के विधि विधानों का अनुष्ठान करता है और समझता है कि इस प्रकार से देवता प्रसन्न होते हैं।

कोम्ट ने इस अवस्था का नाम Theological state रखा है। परन्तु जब मनुष्य में बुद्धि विकास प्रारम्भ होता है, तब उसके लिये संसार की घटनाएं पहले जैसी सर्वथा असम्बद्ध भूतप्रेतों की मनमानी क्रियाओं के रूप में नहीं रहती। उसे सब घटनाओं में 'कार्य-कारण' का नियम व्यापक रूप में कार्य करता हुआ दिखाई पड़ने लगता है। इस अवस्था में आँधी वर्षा, रोग, मृत्यु आदि देवताओं के प्रसन्नता और अप्रसन्नता के सूचक चिह्न मात्र नहीं समझे जाते, परन्तु इनके आधारभूत किन्हीं अन्य कारणों के अन्वेषण का प्रयत्न प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकार जब मनुष्य की विवेचना शक्ति विकसित होने लगती है, वह संसार की सब वस्तुओं को समानता और असमानता के आधार पर कुछ श्रेणियों में बांटना प्रारम्भ करता है। वस्तुतः इसी अवस्था में मनुष्य विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में पदार्पण करता है। विज्ञानों का क्षेत्र सीमित होता है। सब विज्ञान कुछ सत्ताओं को स्वयंसिद्ध मान कर चलते हैं। प्रत्येक विज्ञान का कार्य अपनी मानी हुई सत्ता के क्षेत्र में कार्य करने वाले नियमों का अन्वेषण करना है।

रसायन और भौतिकी (Chemistry and Physics) प्राकृतिक पदार्थों की सत्ता को स्वीकार कर उनके अन्तरीय और बाह्य परिवर्त्तनों के नियामक कारणों की विवेचना करते हैं। Dynamics और Statics क्रमशः गतिमान् और स्थिर पदार्थों के विज्ञान हैं। अङ्कगणित, रेखागणित, और बीजगणित (Arithmetic, Geometry and Algebra) विचार में ही अङ्कों और रेखाओं की सत्ता की

* यह निबन्ध गुरुकुलीय साहित्य परिषद् में पढ़ा गया था।

कल्पना निश्चित कर उनके विशेष अवस्था में उत्पन्न होने वाले निश्चित परिणामों के नियामक विषयों का ज्ञान कराते हैं। मनोविज्ञान मानसिक जगत् में नियमों का अन्वेषण करता है। परन्तु कोई विज्ञान जिन वस्तुओं को स्वयंसिद्ध मानकर चलता है उनके विषय में सन्देह नहीं करता। दर्शन ही सब विज्ञानों के आधारभूत स्वयंसिद्ध माने जाने वाले पदार्थों की सत्ता और स्वरूप पर विचार करता है।

दृश्य संसार का स्वरूप क्या है? मनुष्य क्या है? मनुष्य का संसार में आने का प्रयोजन क्या है? क्या कोई अधिष्ठातृ-सत्ता है? है, तो उसका मनुष्य और संसार से क्या सम्बन्ध है? क्या संसार और मनुष्य की पृथक् २ सत्ता है? आदि विविध प्रश्नों का उत्तर देना दर्शन का विषय है। बहुत प्राचीन काल से विचारक लोग अपनी बुद्धि के अनुसार इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करते रहे हैं। कई विचारक कहते हैं कि इन समस्याओं पर गम्भीर विचार किये विना ही हमारा कार्य भली भांति चल जाता है तो इन समस्याओं पर गम्भीर विचार का क्या लाभ?। महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों को दार्शनिक मतवादों के जाल से बचने का उपदेश दिया करते थे। कोई शिष्य उन से किसी दार्शनिक विषय पर प्रश्न करता तो वे हमेशा उसकी उपेक्षा किया करते थे और उसे उपदेश दिया करते थे कि इस व्यर्थ के वितण्डावाद को छोड़कर उच्च जीवन बिताने का यत्न करो। 'मज्झिम निकाय' में आता है कि मलङ्कयापुत्र ने सोचा कि बुद्ध ने निम्न प्रश्नों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। यह संसार नित्य है या अनित्य? सीमित है या असीमित? शरीर और आत्मा एक ही हैं या पृथक् २? क्या मृत्यु के अनन्तर आत्मा की सत्ता रहती है और क्या इस संसार में भी आत्मा की सत्ता है या नहीं? बुद्ध ने इन प्रश्नों का कोई जवाब नहीं दिया, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। यह सोच उसने बुद्ध से जाकर कहा कि यदि आप इन प्रश्नों का उत्तर नहीं देंगे तो मैं साधु-जीवन बिताना छोड़, गृहस्थी हो जाऊंगा। साथ ही यह भी कहा कि यदि आप को इन प्रश्नों का उत्तर नहीं आता, तो सीधा कहिये।

बुद्ध ने उत्तर दिया—हे मलङ्कयापुत्र! कृपया यह बताओ कि क्या मैंने तुम से कभी यह कहा है कि तुम मेरे पास आओ और मेरे कथनानुसार साधु-जीवन बिताना प्रारम्भ करो और मैं तुम्हें आत्मा और परमात्मा की ग्रन्थियां समझाऊंगा।

मलङ्कयापुत्र ने कहा—नहीं।

तो पुनः बुद्ध ने कहना प्रारम्भ किया—यदि ऐसी बात है तो तुम वृथा क्यों नाराज होते हो। हे मलङ्कया-पुत्र! यदि किसी को विष का बुझा बाण लगे और वह कहे कि जब तक मुझे यह न पता लगे कि मारने वाला ब्राह्मण है या क्षत्रिय? उस का नाम क्या है? वह ऊंचा है या लम्बा? किस रंग का है? किस गांव का है? किस शहर का है? बाण किस चीज़ का बना हुआ है? धनुष की डोरी किस चीज़ की बनी हुई है? इत्यादि, तब तक मैं बाण नहीं निकालने दूंगा—ऐसा आदमी बाण निकालने से पहले ही मर जायगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति उक्त प्रश्नों से घिरा रहता है, वह भी इन प्रश्नों का उत्तर समझने से पूर्व ही मर जायगा। धार्मिक जीवन कट्टर सिद्धान्तों—यह संसार सादि है या अनादि? आदि पर अवलम्बित नहीं होता। इन सिद्धान्तों का ज्ञान होते हुए भी

जन्म, मृत्यु, चिन्ता. भय, शोक आदि से व्यक्ति घिरा ही रहता है, जिन को शान्त करना मेरे जीवन का उद्देश्य है, इत्यादि ।

आजकल के सन्देह वाद (Secularism) का भी यही कथन है कि हमें अपने वर्त्तमान जीवन की समस्याओं को अधिक महत्त्व देना चाहिये और इस जीवन को अधिक सुखमय बनाने का यत्न करना चाहिये । परलोक और परमात्मा आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों की सत्ता के विषय में हमें कुछ न कहना चाहिये ।

यदि इनकी सत्ता से इन्कार करें तो हम ईश्वर वादियों की तरह कट्टरपन्थी (Dogmatic) बन जाएंगे । इसलिये इनकी सत्ता नहीं है, यह भी न कहना चाहिये । चाहे दार्शनिक विवेचना का इहलोक या जीवन की दृष्टि से कोई महत्त्व न हो तब भी बुद्धि इन समस्याओं पर विचार किये विना नहीं रह सकती ।

इसी लिये हम देखते हैं कि बुद्ध के अनुयायी (दार्शनिक मतवादों में न फंसने के लिये सावधान किये जाने पर भी) बुद्ध के बाद एक ही शताब्दी में अपने नूतन दार्शनिक सिद्धान्तों की घोषणा करने लगे । बुद्ध के ईश्वर और संसार चक्र के अनादित्व आदि के विषय में जान बूझकर मौन रहने का यह अभिप्राय लिया जाने लगा कि ईश्वर है ही नहीं, और सब सांसारिक वस्तुएं क्षणिक हैं · बुद्ध जिस दलदल में फँसने से लोगों को बचाना चाहता था, उस के अनुयायी उस दलदल में स्वयमेव कूद पड़े । इस ऐतिहासिक घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक समस्याओं पर विचार करना कितना आवश्यक है । इस को अनुपयोगी कह कर टाला नहीं जा सकता ।

इस के अतिरिक्त दार्शनिक विचारों का, व्यक्ति के दैनिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है । विभिन्न धर्म, भिन्न २ प्रकार के दार्शनिक विचारों के जीवन के साथ सम्बन्ध के परिणाम ही होते हैं । प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी रूप में धर्म को स्वीकार करता है । यह धर्म परम्परागत, और वैयक्तिक, दो प्रकार का हो सकता है । परम्परागत धर्म में मनुष्य संसार तथा अन्तिम सत्ता आदि दार्शनिक विषयों में दूसरे की सम्मति को ही स्वीकार कर लेता है । वैयक्तिक धर्म, व्यक्ति के इन विषयों में अपने अनुभव के आधार पर बना हुआ होता है । परम्परागत धर्म भी, प्रारम्भ में किसी व्यक्ति की संसार के प्रति समष्टि रूप से प्रतिक्रिया का परिणाम है । जब उस व्यक्ति के इन मौलिक विचारों और उस के संसार आदि के प्रति दृष्टिकोण को अन्य बहुत से व्यक्ति स्वीकार करने लगते हैं, और आगे आगे आने वाली सन्ततियाँ भी उन विचारों को स्वीकार करने लग जाती हैं, तब यह परम्परागत धर्म बन जाता है । मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन विचारों का समाजों के जीवन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है । सामान्य सांसारिक मनुष्य ने चाहे गम्भीरता से इन प्रश्नों पर कभी विचार न भी किया हो तो भी यह दार्शनिक और धार्मिक विचार अप्रत्यक्ष रूप से उस के जीवन को सञ्चालित कर रहे होते हैं । दैनिक जीवन की दुविधाओं में ये विचार, व्यक्ति को कर्त्तव्यमार्ग का प्रदर्शन कराते हैं । एक हिन्दू मुसलमान और ईसाई के जीवन पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि

दार्शनिक और धार्मिक विचारों का जीवन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है।

जिस संसार में हम रहते हैं वह भयानक है या प्रिय? वास्तविक है या मिथ्या? इत्यादि विचार ही व्यक्ति को परीश्रमी या आलसी, आशावादी या निराशावादी, निर्भय या भीरु स्वभाव वाला बना देते हैं। दार्शनिक विचार ही बहुत कुछ व्यक्ति के स्वभाव पर भी प्रभाव डालते हैं। कई व्यक्तियों के संसार के विषय में विचार भिन्न २ प्रकार के होते हैं, इसका कारण उनका स्वभाव भेद ही है। भीरु-स्वभाव वाला व्यक्ति संसार को भयानक समझता है। महत्त्वाकांक्षी मनुष्य संसार को वास्तविक समझता है क्योंकि वास्तविक संसार में ही उसकी अभिलाषाएं पूर्ण हो सकती हैं। अगर संसार मिथ्या हो तो उसमें उसकी महत्त्वाकाङ्क्षाओं का कोई स्थान नहीं रहेगा। इस प्रकार व्यक्ति का स्वभाव दार्शनिक विचारों को प्रभावित करता है और दार्शनिक विचार व्यक्ति के स्वभाव को निश्चित करते हैं। बुद्ध ने चाहे दार्शनिक मतवादों में न फंसने का ही उपदेश दिया हो, परन्तु उसका संसार के प्रति दुःखमय विचार भी एक प्रकार का दार्शनिक विचार ही था। दार्शनिकता केवल ईश्वर, जीव, प्रकृति या ब्रह्म की स्वीकृति और अस्वीकृति में निहित नहीं है। इनकी ओर निर्देश न करके केवल सांसारिक दुःख के कारणों की विवेचना करके उन से छूटने के मार्ग का पता लगाना भी एक प्रकार की दृष्टि (Vision) या दर्शन है। बुद्ध के अप्रत्यक्ष सत्ताओं के बारे में मौन (Pragmatic agnosticism) का, जितना आचार की दृष्टि से महत्त्व है, उससे कम महत्त्व ईश्वर और आत्मा आदि के विचार का नहीं। अगर भौतिक पदार्थों से भिन्न रूप में आत्मा की सत्ता है और वह नित्य भी है, और अगर संसार चक्र को चलाने वाला कोई अधिष्ठातृ रूप में परमात्मा है जो आत्माओं को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है तो हमारा कर्त्तव्य ईश्वर के आदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करना होगा, क्योंकि इस अवस्था में हमारा सम्बन्ध केवल इस जीवन के साथ नहीं रहता, अपितु हमारा सम्बन्ध एक विस्तृत जीवन के साथ हो जाता है, जो कभी नष्ट नहीं होता। यदि हमारे अन्तिम सत्ताओं के स्वरूप के बारे में किसी अन्य प्रकार के विचार हों तो उन के अनुसार हमारे कर्त्तव्य कर्म कुछ और ही प्रकार के हो जाएंगे। यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है, आत्माएं अविद्यावश ब्रह्म से अपनी सत्ता को पृथक् समझती हैं, दृश्य जगत्-प्रपञ्च स्वप्न-जगत् की तरह मिथ्या या शुक्ति में रजत के समान अध्यासमात्र है, तो हमारी स्वभावतः संसार से विरक्त होने की प्रवृत्ति होगी। हमारे लिये भलाई भी बुराई की तरह हेय होगी। और इस अवस्था में हमारा आचार और तरह का होगा। इसी प्रकार ऐसा कोई दार्शनिक विचार नहीं जो हमारे जीवन पर किसी प्रकार का भी प्रभाव न डाले। हर एक दार्शनिक विचार संसार के प्रवाह को अनुभव करने का विशेष प्रकार मात्र है, और यह व्यक्ति के अन्तरीय आचार का आविष्कार होते हुए उस के आचार को प्रभावित करता है। इसलिये दार्शनिक विचार सर्वथा अनुपयोगी हैं और व्यक्ति के जीवन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालते आदि बातें अविचारपूर्ण हैं। जो व्यक्ति इन विषयों पर विचार करता है, वह अपने विचारों द्वारा प्रत्यक्ष और

अप्रत्यक्ष तौर पर जातीय जीवन पर भी प्रभाव डालता है। वास्तव में कोई दार्शनिक विचार, सच्चे अर्थों में दार्शनिक विचार ही नहीं, जो किसी प्रकार से भी व्यक्ति और समाज के जीवन को न छूए।

जब कोई मनुष्य अन्तिम तत्त्व और वास्तविकता की जिज्ञासा से, भिन्न २ दार्शनिकों के द्वार खटखटाता है और प्रत्येक से एक ही प्रश्न का भिन्न २ उत्तर पाता है तो उसका हृदय टूट जाता है, वह निराश हो जाता है और अनुभव करता है कि जिस सत्य को पाने की अभिलाषा से मैं इधर उधर भटका, वह प्राप्त नहीं हुआ। उसे सब दार्शनिक मतवाद उथले और शब्दाडम्बर मात्र प्रतीत होते हैं। सब दार्शनिक विचारों के पढ़जाने पर भी उसे यह प्रतीत होता है कि वास्तविक समस्या अब तक वैसी ही अस्पष्ट बनी हुई है। दार्शनिक अपने दिमाग़ी घोड़ों को बड़ी तेज़ी से दौड़ाते हैं, परन्तु अन्त में देखो तो यही पता चलेगा कि अपने केन्द्र पर बड़े वेग से चक्कर काटते हुए लट्टू के समान एक ही जगह पर खड़े हैं। सब विचारक वास्तविक समस्या के चारों ओर मण्डरा रहे हैं। समस्या को अब तक किसी ने छूआ तक नहीं। जिस व्यक्ति ने दार्शनिक समस्याओं पर कभी विचार नहीं किया और जो केवल परम्परागत विश्वासों को ही सत्य समझता रहा है, वह जब दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करता है तब उस के सब विश्वासों की जड़ें हिल जाती है। जब वह सब दार्शनिकों को परस्पर विवाद और एक दूसरे के विरोधी सिद्धान्तों की स्थापना करते हुए पाता है तब वह इस परिणाम पर पहुंचता है कि किसी दार्शनिक विचार को विश्वास का रूप न देना चाहिये, सब विचार दिमाग़ी घुड़दौड़ के समान हैं। किसी भी विचार को पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस को हम एक युक्ति से सत्य समझ रहे होते हैं वही दूसरी युक्ति से असत्य सिद्ध हो जाता है।[1]

---

१. (१) तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैक ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ विदुरनीति ॥

(२) तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ॥ व्यास २ । १ । ११ ॥

शङ्कर—पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षायाः निरंकुशत्वात्। तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्ते इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित् प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत। एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थंकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अयं हि तर्कस्यालंकारो यद प्रतिष्ठितत्वं नाम। एवं हि सावद्यतर्कपरित्यागेन निरवद्यस्तर्कः प्रतिपत्तव्यो भवति।

यद्धि केनचित्तार्किकेणेदमेव सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपादितं तदपरेण व्युत्थाप्यते, तेनापि प्रतिष्ठापितं ततोऽपरेण व्युत्थाप्यत इति प्रसिद्धं लोके। कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत्। न च प्रधानवादी तर्कविदामुत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतो येन तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्येमहि। न च शक्यन्ते अतीतानागतवर्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले च समाहर्तुम्, येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात् ॥

इस अविश्वास और अस्थिरता की अवस्था का सामान्य जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस अवस्था में ईश्वरवादी सुख दुःख के जीवन में अपने एक-मात्र सहायक को खो बैठता है। एक अद्वैतवादी, जो इस विश्वास पर जीवन व्यतीत करता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है, वह सब अच्छा ही हो रहा है, संसार की प्रत्येक अच्छी या बुरी घटना में पर ब्रह्म (Reason) का प्रकाश और विकास हो रहा है, व्याकुल हो उठता है। उसे हाथ पसारने पर भी कोई आश्रय नहीं मिलता। एक प्रकृतिवादी की भी जो सामान्यतः भौतिक सुखों को ही जीवन का सार समझता है और उनके उपार्जन में ही दिन रात एक कर देता है आंखें खुल जाती हैं और वह इहलोक के सुखों में असन्तोष का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति के सम्मुख कोई ध्येय और आदर्श नहीं रहता। उसे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है। परन्तु यह अस्थिरता और संशय की अवस्था बहुत देर तक नहीं रहती। मनुष्य इस अवाञ्छनीय अवस्था में से निकलने की कोशिश करता है और अधिक अध्ययन, या विशेष प्रकार की अनुभूति से उसे कोई विशेष प्रकार का विचार सन्तोष देने लगता है, उस विचार में उसे कोई प्रकाश की किरण दिखाई देने लगती है जो उसे उस अन्धकार से पार कर देती है। इस के अनन्तर उस के जीवन की रूपरेखा इन नवीन विचारों के आधार पर बनने लगती है। परन्तु फिर भी हमारे सम्मुख यह एक विकट समस्या है, जिसका हल करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि सचाई या वास्तविकता एक ही है तो उस के बारे में इतने अधिक मतभेद क्यों हैं ?। इन विचारों में यदि एक विचार सत्य है, तो शेष असत्य होंगे। मतभेदों की इन कंटीली झाड़ियों में छिपी हुई सचाई को ढूंढ़ निकालने का क्या उपाय है ?।

संसार के विषय में पाये जाने वाले भिन्न २ दार्शनिक विचारों में से किसी एक को सत्य समझना और उस के अतिरिक्त सब विचारों को असत्य समझना मूर्खता है। क्योंकि सब विचारों या सिद्धान्तों के केन्द्र में कुछ गहरी सचाइयां होती हैं, जिन का साक्षात्कार या दर्शन भिन्न २ दार्शनिकों को होता है और इस लिये प्रत्येक दार्शनिक के अपने स्वभाव की उसके विचारों पर गहरी छाप होती है कोई दार्शनिक, संसार का किसी भी रूप में चित्र निर्माण करता है तो उसे उस चित्र के बनाने के लिये आवश्यक सामग्री अपने अनुभव से प्राप्त होती है। ईश्वरवादी, विश्व-प्रपञ्च के स्रष्टा अधिष्ठाता की सत्ता को मानता है, क्योंकि अनुभव में आने वाले सब घट, पट आदि पदार्थ किसी चेतन निर्माता द्वारा ही पैदा किये जाते हैं। एक अतद्वैवादी संसार में पर ब्रह्म को ऐसे विकसित होता हुआ समझता है जैसे वृक्ष स्वयमेव विकसित होते रहते हैं। एक प्रकृतिवादी संसार में घटित होने वाले घटना चक्र की आकस्मिकता से प्रभावित होकर संसार को भी एक आकस्मिक घटना समझता है। वह मानता है कि अणुओं की गतियों और उन के परस्पर टकराव से यह संसार उत्पन्न हुआ है। वह मानता है कि इस संसार से पहिले भी बहुत से अव्यवस्थित संसार पैदा हो चुके हैं। कई यह मानते हैं कि जैसे जंगल में विना किसी क्रम से उत्पन्न हुए वृक्षों में हमें कुछ क्रम दिखाई देता है और जैसे आकाश के तारों में विशेष प्रकार की शक्लें दिखाई देती हैं, इसी प्रकार

संसार में किसी प्रकार का क्रम नहीं है और प्रतीत होने वाला क्रम हमारी कल्पना का परिणाम है। हम ही संसार में इस क्रम का आरोप करते हैं। कई व्यक्ति आदर्श से प्रेम करते हैं, इसीलिये वे समझते हैं कि संसार आदर्शों की पूर्त्ति के लिये ही बना हुआ है। सब विचारक संसार के एक भाग के सादृश्य पर अपने विचारों और सिद्धान्तों की आधार शिला रखते हैं। अनुभव के भाग से विशेष प्रकार की दृष्टि को प्राप्त कर सारे संसार को उस दृष्टि से देखने का प्रयत्न करते हैं। संसार उन के लिये अब पहिले जैसा नहीं रहता। उनके लिये संसार अब नया रूप धारण कर लेता है। यह नूतन संसार उन को सत्य, शिव और सुन्दर प्रतीत होता है और इस संसार में वे सुपरिचित की तरह विचरते हैं।

हर एक विचारक अपने विचार को ही एक मात्र युक्ति से सिद्ध हो सकने वाला समझने लगता है। उसे अन्य विचार असंगत और भ्रमजन्य प्रतीत होते हैं। कई विचारकों पर उनका अपना दृष्टिबिन्दु इतने तीव्ररूप से सवार हो जाता है कि वे किसी अन्य प्रकार के दृष्टि बिन्दु को सह ही नहीं सकते। दर्शनों में परस्पर भेद का प्रधान कारण उनके दृष्टि बिन्दुओं का भिन्न २ होना है। दृष्टिबिन्दु शुद्धरूप में भिन्न होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं हैं। सामान्यतः दर्शन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं—इसका एक मात्र कारण यह है कि हम उनके दृष्टिबिन्दुओं को न देखकर केवल परिणामों को देखते हैं और परिणामों में भी भिन्न २ अंश को अलग करके देखते हैं जिससे उनमें भेद और विरोध ही दिखाई देता है। यदि दर्शनों को उनके परिणामों द्वारा न देखकर उनके दृष्टिबिन्दु द्वारा देखें तो सामान्यतया प्रतीत होने वाला विरोध नष्ट हो जायगा और यह ज्ञात होने लगेगा कि सब दर्शन एक ही सत्य का भिन्न २ रूपों में वर्णन कर रहे हैं। उनमें परस्पर विरोध किसी विशेष दृष्टिबिन्दु को ही बुद्धि का अनिवार्य परिणाम और इससे अतिरिक्त दृष्टि बिन्दुओं को अयौक्तिक समझने से ही उत्पन्न हुआ है। न्यायदर्शन का विषय पञ्चावयव वाक्य, अनुमान के स्वरूप और विचार के सामान्य नियमों (Laws of Thought) का वर्णन करता है। न्याय का कथन है कि कोई स्थिर दार्शनिक सिद्धान्त युक्ति पर ही आश्रित होता है। वैशेषिक का कथन है कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण करते हुए भौतिक जगत् की उपेक्षा न करनी चाहिये। सांख्य का कथन है कि भौतिक जगत् और चेतनता परस्पर भिन्न २ हैं, इनमें से किसी को दूसरे में परिवर्त्तित नहीं किया जा सकता। योग का कथन है कि वास्तविकता, भौतिक विज्ञान या मनोविज्ञान में निहित नहीं, अपितु धार्मिक अनुभव में निहित है। मीमांसा और वेदान्त आचार और धर्म पर बल देते हैं। इन सब विचारों में सचाई बिखरी हुई पाई जाती है। किसी एक सिद्धान्त को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। स्वामी दयानन्दजी सत्यार्थ प्रकाश के ८ वें समुल्लास में लिखते हैं:—

"विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है मीमांसा में—"ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनने में कर्म, चेष्टा न की जाये"। वैशेषिक में "समय न लगे बिना बने ही नहीं," न्याय में "उपादान कारण न होने से कुछ

भी नहीं बन सकता" योग में "विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाये तो नहीं बन सकता," सांख्य में "तत्त्वों का मेल न हो सकने से नहीं बन सकता," और वेदान्त में "बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके," इसलिये सृष्टि इन छः कारणों से बनती है। इन छः कारणों की व्याख्या एक २ की एक २ शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिल के एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसा ही सृष्टि रूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है। जैसे पांच अन्धे और एक मन्द दृष्टि को किसी ने हाथी का एक २ देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है ?। उनमें से एक ने कहा खम्भे, दूसरे ने कहा सूप, तीसरे ने कहा मूसल, चौथे ने कहा झाड़ू, पांचवें ने कहा चौंतरा और छठे ने कहा काला चार खम्भों के ऊपर भैंसा सा आकार वाला है।"

सब दार्शनिक इस वास्तविकता के जिस भाग को अपनी सीमित बुद्धि से जिस रूप में समझ पाये हैं केवल मात्र उसका वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं। वास्तविकता का पूर्ण विचार वह होगा, जिसमें सब विचारों का समन्वय हो। जो हमारी बौद्धिक (Intellectual), नैतिक (Moral), क्रियात्मक (Practieal) और सौन्दर्य सम्बन्धी अभिलाषाओं को सन्तुष्ट कर सके। अर्थात् जो तर्क शास्त्र, आचार शास्त्र, धर्म शास्त्र, पदार्थविज्ञान आदि के अधिक से अधिक अनुकूल हो। कोई सिद्धान्त जिसमें इनमें से किसी एक की उपेक्षा कर दी गई है, अपूर्ण है। सामान्यतया प्रचलित विचारों में इनमें से किसी एक पर अधिक बल दे दिया जाता है। उदाहरणार्थ,

बुद्धि की दृष्टि से प्रकृतिवाद सर्वथा ठीक प्रतीत होता है क्योंकि यह गणना का विषय बन सकता है। संसार में कार्य करते हुए नियम, वस्तुओं के परस्पर गणित सम्बन्धी सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ नहीं। इन नियमों को जानकर गणना के आधार पर भविष्य के गर्भ में भी हम प्रवेश कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकृतिवाद के संसार में हमारी नैतिक, धार्मिक इच्छाओं को कोई स्थान नहीं रहता। क्रियात्मक संसार एक सेनापति या नेपोलियन, सिकन्दर और सीजर जैसे महत्त्वाकांक्षियों के लिये उपयुक्त है। क्योंकि इस संसार में उन की महत्त्वाकाङ्क्षाओं को पूरा करने की सामग्री विद्यमान है। परन्तु यह संसार भी नैतिकता से शून्य है। महत्त्वाकाङ्क्षी लोग अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा की पूर्त्ति के लिये निर्बलों और शक्तिहीनों को कुचलते हुए नहीं हिचकिचाते, वे अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा के पीछे इनको सर्वथा हेय और उपेक्षणीय समझते हैं। अद्वैत का सिद्धान्त कहता है कि संसार में आने वाले बड़े २ उत्पात और विप्लव संसार सागर के ऊपरले पृष्ठ पर रहते हैं, बुराई केवल प्रतीतिमात्र है। अन्ततो गत्वा संसार में सब अच्छा ही हो रहा है। यह विचार सौन्दर्य की दृष्टि से बहुत उपयुक्त है। सन्तप्त और व्याकुल हृदयों को यह शान्ति प्रदान करता है, परन्तु इस प्रकार के विचार में नैतिक-दृष्टि से उन्नत होने के लिये कोई प्रेरक भाव विद्यमान नहीं है। इस सिद्धान्त से संसार में बुराई भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि भलाई। बुराई के बिना संसार अपूर्ण है। स्पाइनोजा (Spionza) कहा करता था कि जो बुरे स्वभाव वाला है उसे अच्छे होने का प्रयत्न ही न करना चाहिये क्योंकि वह अच्छा बन ही नहीं सकता। इस प्रकार

से संसार में बुरा आदमी बुरा ही रहेगा और अच्छा आदमी अच्छा। बुरे को अच्छा बनने का अवसर ही नहीं। ईश्वरवाद का सिद्धान्त नैतिक तथा अन्य बहुत सी दृष्टियों के अनुकूल है। परन्तु बुद्धि से विचारने पर इसमें कई बातें समझ में नहीं आतीं।

यदि कोई दयालु परमात्मा है तो उसके संसार में दुःख और पीड़ा क्यों हैं? यदि इसके द्वारा वह अपने पुत्रों को कुछ शिक्षा देना चाहता है या उनको सन्मार्ग दिखलाना चाहता है तो क्या इन कार्यों के लिये उसे कोई और अच्छा उपाय नहीं सूझा था?।

इस प्रकार कोई भी सिद्धान्त इन चारों कसौटियों पर पूरा नहीं उतरता। तो क्या वास्तव में सत्य का पूर्ण विचार सम्भव ही नहीं है? मनुष्य अपनी अपूर्ण और सीमित शक्तियों से वास्तविकता तक पहुंचने में असमर्थ है। किन्तु जो सिद्धान्त इन चार दृष्टियों से अधिकाधिक संगत है वह अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा, वास्तविकता के अधिक निकट है।

वेद में दन्त-चिकित्सा

[ले०—श्री ब्र० लक्ष्मणजी, द्वादश श्रेणी, गुरुकुल कांगड़ी]

आज चिकित्सा शास्त्र का क्षेत्र बहुत बढ़ रहा है। डाक्टरों और वैद्यों की भरमार है। इसी अधिकता को दिखाने के लिये एक उक्ति प्रसिद्ध है कि प्रत्येक डाक्टर अपने साथ एक नवीन बीमारी लेकर आता है। इसी कारण आज केवल चिकित्सा शास्त्र में ही अनेक लोग किचित्सा के एक २ विषय में अपने को पूर्ण विद्वान् बनाना चाहते हैं। एक मनुष्य केवल दांतों का विज्ञान प्राप्त करने के लिये अपनी जिन्दगी समाप्त कर देता है और दूसरा केवल त्वक्-रोगों का अध्ययन करता है। तात्पर्य यह है कि आज प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी प्रकार से लोगों को यह दिखाना चाहता है कि अमुक रोग का सब से अच्छा चिकित्सक मैं ही हूं। परन्तु वास्तव में वे कितने गहरे पानी तक होते हैं यह अनुभव से ही पता लगता है। उन्हीं विशेषज्ञों में से दन्त-चिकित्सक (Dentist) के सम्बन्ध में इस लेख में कुछ लिखा जाता है।

यदि आज, जब कि दांतों का विज्ञान पर्याप्त उन्नति को पहुंच गया है, कोई दांतों के भयंकर रोगों (पायोरिया इत्यादि) से पीड़ित व्यक्ति, किसी दन्त चिकित्सक (Dentist) के पास जाए, तो दन्त चिकित्सक के पास केवल एक ही उपाय है और वह यह है कि रोग से खराब हुए दांतों को निकाल कर उनके स्थान पर वह दूसरे कृत्रिम दांत लगा दे। उसके पास ऐसी कोई चिकित्सा नहीं जिससे कि वह इन रोगों को शरीर से निकाल कर फैंक सके।

यह हाल केवल इसी क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत सब क्षेत्रों में है। यह बात नहीं कि इन रोगों की चिकित्सा ही नहीं है। चिकित्सा अवश्य है, पर पता लगाने की आवश्यकता है। इन की चिकित्सा केवल एक पुस्तक में है, जो कि पाश्चात्यों के मत में गड़रियों ने बनाई है, परन्तु हमारे मत में उस के द्रष्टा ऋषि हैं, और वह है 'वेद-संहिता'। जो कि सब विद्याओं की

खान है, कभी समाप्त न होने वाली है, आदि से ही जो पूर्ण है और सदा पूर्ण ही रहती है।

यह तो स्पष्ट ही है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में सुवर्ण की कितनी महिमा है। रस तरंगिणी के पञ्चदश तरंग में सुवर्ण का बहुत सुन्दर वर्णन है। यथाः—

विशुद्धं कनकं घृष्टं विषबाधाविनाशनम्।
मधुरं शीतलं नेत्र्यं गर्भस्थापनमुत्तमम्॥
पित्तामयप्रशमनं हृद्दौर्बल्यहरं परम्।
अन्यभेषजसाहाय्यात् करोति विविधान् गुणान्॥
१५.२५। २९॥

सुवर्णचूर्णं परिशीलयन्तो धात्रीस्थिराविश्वपुनर्नवाभिः।
अदृश्य देहाःवलिभिर्भवन्ति तारुण्यलावण्यविलासपूर्णाः॥१०२॥
इत्यादि।

इसी सुवर्ण को, वेद ने दांतों की सब से अच्छी चिकित्सा बताया है। आज भी बहुत से हिन्दू अपने दांतों में सुवर्ण की मेखें गड़वाते हैं या दांतों के ऊपर सुवर्ण का पत्र मंढ़वा लेते हैं। यह प्रथा यद्यपि आज कल केवल शौक के लिये ही हो गई है, परन्तु है हितकर। प्राचीन काल में जब यह प्रथा प्रारम्भ हुई थी तब चिकित्सा की दृष्टि से ही प्रारम्भ हुई थी।

ऋग्वेद के ५ वें मण्डल के दूसरे सूक्त में निम्न लिखित दो मन्त्र आते हैं। यथाः—

हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात्क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत्किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः॥
ऋ० ५। २। ३॥

क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद्यूथं न पुरु शोभमानम्।
न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति॥
ऋ० ५। २। ४॥

इन दोनों मन्त्रों में उन दांतों का वर्णन किया गया है जिन दांतों में कि सुवर्ण लगा हुआ है। वेद कहता है कि (हिरण्यदन्तं) सुवर्ण जटित दांत, (शुचिवर्णं) श्वेत तथा शुद्ध वर्ण के होते हैं (आरात् क्षेत्राद् अपश्यम्) उन दांतों को मैंने बहुत दूर क्षेत्र से देखा है (आयुधा मिमानं) वे इतने तेज़ हैं कि मानों अपने को अस्त्र बना रहे हैं (विपृक्वत् अस्मा अमृतं ददानः) वे व्यायाम की तरह हमें भोजन को चबाकर, पीसकर अमृत देने वाले हैं।

इस प्रकार प्रथम मन्त्र के प्रथम तीन चरणों में यह बताया गया है कि यदि सोने को दांतों में जड़वा लिया जाय तो दांत शुद्ध तथा मज़बूत हो जाते हैं और उन को कोई रोग विकृत नहीं कर सकता।

जिस मनुष्य के मसूड़े, दांत आदि ठीक नहीं होते, वे सब अक्षरों का ठीक उच्चारण नहीं कर सकते। जो एक भी वर्ण का ठीक उच्चारण नहीं कर सकता वह मन्त्रों के उच्चारण का अधिकारी नहीं। इसी दृष्टि को सन्मुख रखकर वेद चतुर्थ चरण में कहता है कि (किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः) क्या अब भी मुझे इन्द्र अनुक्थ अर्थात् मन्त्रों के उच्चारण का अनधिकारी करेंगे? नहीं।

इससे पता लगता है कि जिनके दांत खराब हैं या जो अनुक्थ अर्थात् मन्त्रों के उच्चारण के अनधिकारी हैं उन्हीं के सम्बन्ध में यह वर्णन किया गया है। जिन के दांत अच्छे हैं, यदि वे भी अपने दांतों में सुवर्ण जड़वा लें तो उनके दांत भी शुद्ध, तेज और अमृत को देने वाले होंगे। इसी से यह भी पता लगता है कि सुवर्ण वाणी के लिये भी हितकर है।

दूसरे मन्त्र में वेद कहता है कि (क्षेत्राद् अपश्यम्) मैंने क्षेत्र से देखा, (क्या?) (सनुतःचरन्तं) सब

समान कटे हुए, छोटे बड़े नहीं अथवा सब समान होकर चर रहे थे, भोजन कर रहे थे (पुरु शोभमानं) इस प्रकार वे बहुत शोभा को प्राप्त हो रहे थे (सुमद्-यूथं न) जिस प्रकार खूब चतुर अच्छी बुद्धि से सम्पन्न व्यूह के समान होकर काम करता हुआ शोभित होता है, उसी प्रकार दांतों का व्यूह, जो कि शरीर रक्षा के लिये मुख में बनाया गया है, शोभा को प्राप्त हो रहा था।

इस प्रकार दांतों की व्यूह से उपमा देकर यह बताया गया है कि दांतों का व्यूह (समूह) शरीर का बहुत बड़ा रक्षक है। इस व्यूह के बिगड़ने से शरीर पर अनेक प्रकार की आपत्तियां आ सकती हैं। इस लिये इस व्यूह को कभी बिगड़ने नहीं देना चाहिये।

इससे आगे वेद बताता है कि (ताः पलिक्नीः अगृभ्रन्) उन बूढ़ी स्त्रियों ने अमृत को लिया (जो पहिले मन्त्र में दांतों ने दिया है), (युवतयः भवन्ति) उस अमृत को लेकर वे बूढ़ी स्त्रियां जवान हो गईं। एक वार मर कर पुनः जन्म ग्रहण कर जवान नहीं हुई, किन्तु, वेद कहता है कि (सः न अजनिष्ट) उसने पैदा नहीं किया अर्थात् वे ही बूढ़ी स्त्रियां उन्होंने दांतों में सुवर्ण लगाकर उनको दृढ़ तथा स्वच्छ किया तथा उन दांतों से दिये हुए अमृत को पिया है, फिर जवान होगईं।

इस प्रकार आपने देखा कि वेद ने दांतों के विषय में कितनी उत्तम चिकित्सा बताई है। परन्तु वेदों का अध्ययन न करने वाले और वेदों को गड़रियों का गीत बताने वाले पाश्चात्यों से पूछो कि क्या वेद गड़-रियों के गीत ही हैं जो कि ऐसे २ उत्तम ज्ञानों के भण्डार हैं। आज कल के पाश्चात्य शिक्षा से प्रभा-वित चिकित्सकों ने दातों के रोगों से पीड़ितों के दांत उखाड़ कर, उन्हें कृत्रिम दांतों के आधीन कर दिया है। वेद की चिकित्सा पाश्चात्य चिकित्सकों की बुद्धि से परे है।

---

*शतपथ-ब्राह्मण व्याख्या

[ले०—श्री पं० देवराजजी विद्यावाचस्पति]

ब्राह्मण—अथ हविष्कृतमुद्वादयति। हविष्कृदेहि, हविष्कृदेहीति। वाग् वै हविष्कृद् वाचमेवैतद् विसृजते। वागु वै यज्ञस्तद्यज्ञमेवैतत् पुनरुपह्वयते ॥ ११ ॥

अर्थ—मूसल की देख भाल कर चुकने के बाद अब वह हविष्कृत् अर्थात् धान खोटने वाले को बुलाता है—हांक मारता है। हांक मारते हुए कहता है "हवि-ष्कृदेहि, हविष्कृदेहि"। इस का अर्थ है कि हवि करने वाले! आ, हवि करने वाले! आ। हविष्कृत् यह वाक् है, इस प्रकार [1] वाग्विसर्जन करता है। वाग्

* इससे पहिले शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या, वैदिक विज्ञान २य वर्ष के ५म अङ्क में प्रकाशित हुई है।

१—हविष्कृत् यह वाक् (Word = शब्द) है मन्त्र नहीं है। मन्त्र के अन्दर किसी गुप्त वा रहस्य का प्रकाश रहता है। हविष्कृत् शब्द में कुछ रहस्य का प्रकाश नहीं है केवल अभिधा है, नाममात्र है। अतः ऐसा उच्चारण जो मन्त्र नहीं है, केवल वाक् है उस का उस समय प्रयोग करना जब

यज्ञ[2] है इस कारण वहां हविष्कृत् को बुलाने से यज्ञ को ही बुलाता है ।। ११ ।।

ब्राह्मण—तानि वा एतानि चत्वारि वाचः एहीति ब्राह्मणस्य, आगह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्च आधावेति शूद्रस्य । स यदेव ब्राह्मणस्य तदाह, एतद्धि यज्ञियतमम् । एतदु ह वै वाचः शान्ततमं यदेहीति तस्मादेहीत्येव ब्रूयात् ।। १२ ।।

अर्थ—बुलाने के सम्बन्ध में जो प्रयोग हैं वे चार प्रकार के हैं । ब्राह्मण को बुलाने के लिए 'एहि' कहा जाता है । वैश्य और क्षत्रिय के लिये क्रमशः 'आगहि' और 'आद्रव' तथा शूद्र के लिये 'आधाव' होता है । इन में 'एहि' का अर्थ है 'आ', आगहि का अर्थ है आजा, 'आद्रव' का अर्थ है जल्दी आ, 'आधाव' का अर्थ है 'दौड़ आ' । ब्राह्मण के लिए जो कहा जाता है उसे ही वह कहता है, क्योंकि यह यज्ञ के लिए सब से अधिक योग्य है । बुलाने के जितने भी तरीके हैं उन में यही तरीका सब से अधिक शान्त है जो 'एहि' कहने का है । इसलिये 'एहि' यह ही कहे ।। १२ ।।

ब्राह्मण—तद्ध स्मैतत्पुरा जायैव हविष्कृदुपोत्तिष्ठति तदिदमप्येतर्हि य एव कश्चोपोत्तिष्ठति । स यत्रैष हविष्कृतमुद्वादयति तदेको दृषदुपले समाहन्ति, तद्यदेतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति ।। १३ ।।

अर्थ—इस समय से पहिले तो जाया अर्थात् गृहपत्नी ही हविष्कृत् रूप से उपस्थित हुआ करती थी, परन्तु अब तो जो कोई भी हो—जाया वा आग्नीध्र—वही उपस्थित हो जाता है । वह बुलाने वाला जिस समय हविष्कृत् को आवाज़ देता है ठीक उसी समय एक आदमी सिल बट्टे को टकराता है । उस समय इन्हें टकराकर हविष्कृत् को बुलाने का समर्थन करते हैं ।। १३ ।।

ब्राह्मण—"मनोर्ह वा ऋषभ आस । तस्मिन्नसुरघ्नी वाक् प्रविष्टाऽऽस । तस्य ह स्म श्वसथाद्रवथादसुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति । ते हासुराः समूदिरे—पापं बत नोऽयमृषभः सचते, कथन्न्विमं दभ्नुयामेति । किलाताकुली इति हासुर ब्रह्माणावासतुः ।। १४ ।।"

अर्थ—मनु[1] का एक बैल था । उसमें असुरों को नाश करने वाली—शत्रु को नाश करने वाली वाक् प्रविष्ट थी । उसके श्वास लेने और शब्द करने से असुर राक्षस मरमिट से जाते थे । वे असुर कहने लगे बड़ा खेद है, कि यह बैल हम पर बड़ा अत्याचार करता है, कैसे इसे दबावें । किलात और आकुली ये असुरों के ब्रह्मा थे ।। १४ ।।

ब्राह्मण—"तौहोचतुः—श्रद्धादेवो वै मनुरावं नु वेदावेति । तौ हागत्योचतुः मनो ! याजयाव त्वेति । केनेति ? अनेनर्षभेणेति । तथेति । तस्यालब्धस्य सा वागपचक्राम ।। १५ ।।"

अर्थ—वे दोनों असुरों के ब्रह्मा बोले—मनु श्रद्धादेव है अर्थात् दूसरों पर श्रद्धा करने वाला है, हम

कि पहिले मौन हो वाग्यमन हो अर्थात् मन्त्र के सिवाय कुछ न बोल सकता हो, वाग्विसर्जन कहलाता है । इसलिये वह 'हविष्कृदेहि' कहकर वाग्विसर्जन करता है ।।

२—इस के अतिरिक्त यह भी बात है कि पदार्थों के अवयवों में जितना भी संयोग-विभागात्मक कार्य है वह यज्ञ है और वही वाक् है । इस प्रकार हविष्कृत वाक् में संयोग विभागात्मक हविःकरण रूप यज्ञार्थ विद्यमान होने से हविष्कृत् का बुलाना एक प्रकार से यज्ञ का ही बुलाना है ।

१—यज्ञपात्रों में एक प्रकार की वाणी रहती है जिसके प्रकट करने से उस स्थान के असुर राक्षस-भाग जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं । इसी को स्पष्ट करने के लिये उपाख्यान कहते हैं मनु का एक बैल था इत्यादि ।

दोनों उसके पास चलें। वे दोनों आकर बोले—मनो! हम दोनों तुझे यज्ञ कराते हैं। उसने पूछा किससे?। वे बोले—इस बैल से। उसने कहा—बहुत अच्छा। जब उन्होंने उस बैल को पकड़ा (काबू किया) तो उसकी वाणी निकल गई ॥ १५ ॥

ब्राह्मण—"सा मनोरेव जायां मनावीं प्रविवेश। तस्यै ह स्म यत्र वदन्त्यै शृण्वन्ति ततो ह स्मैवासुररक्षसानि मृद्यमानानि यन्ति। तेहासुराः समूदिरे इतो वै नः पापीयः सचते, भूयो हि मानुषी वाग् वदतीति। किलाताकुली हैवोचतुः—श्रद्धादेवो वै मनुरावं न्वेव वेदावेति। तौ हागत्योचतुः—मनो! याजयाव त्वेति। केनेति? अनयैव जाययेति। तथेति। तस्या आलब्धायै सा वागपचक्राम ॥ १६ ॥"

अर्थ—वह वाणी निकलकर मनु की जाया मनावी में घुस गई। असुर राक्षस जहां उसको बोलते हुए सुन लेते थे वहां से वे नष्ट हो जाते थे। वे असुर मिलकर कहने लगे कि यह तो हमें इससे भी बढ़कर पाप लगा है। मानुषी वाक् अधिक बोलती है। किलाताकुली ने कहा—मनु श्रद्धादेव है, वह अवश्य हमारी बात मान लेगा। वे आकर कहने लगे—मनो! हम तुझे यज्ञ करावेंगे। मनु ने कहा—किससे?। वे बोले—इसी जाया से। उसने कहा—बहुत अच्छा। जब उसको पकड़ा तो उसकी वाणी भी निकल गई ॥ १६ ॥

ब्राह्मण—"सा यज्ञमेव यज्ञपात्राणि प्रविवेश। ततो हैनां न शेकतुर्निर्हन्तुम्। सैषाऽसुरघ्नी वागुद्वदति। स यस्य हैवं विदुष एतामत्र वाचं प्रत्युद्वादयन्ति पापीयांसो हैवास्य सपत्ना भवन्ति ॥ १७ ॥"

अर्थ—वह यज्ञ के पात्रों में घुस गई। वहां से उस को न निकाल सके। वह जो असुरों और शत्रुओं को नाश करने वाली वाणी थी उसी को प्रकट[1] करता है। यहां इस विज्ञान को जानते हुए जो विद्वान् इस प्रकार इस वाणी को निकलवाया करते हैं उनके शत्रु पराजित होते हैं[2] ॥ १७ ॥

१—दृषद् उपल के सथ शम्या को टकराकर प्रकट करता है। हिमामदस्ते में दस्ते जैसा वा मूंगरी जैसा लकड़ी का बना हुआ एक बाहुमात्र लम्बा पात्र विशेष शम्या कहलाता है। अभिप्राय इतना ही है कि हविष्कृत् को बुलाने के साथ ही कृमिरूप असुरों को दूर करने के लिये शम्या से दृषदुपल को आघात करके आवाज़ निकाली जाती है।

२—१४ कण्डिका से १७ कण्डिका तक वाग्-उपाख्यान है। इस उपाख्यान में मन, प्राण, बुद्धिगत वाक् तथा वाक् के भेद और उनका प्रभाव बतलाया है ऐसा प्रतीत होता है। मनु शब्द से मन का ग्रहण है। मनुते जानाति इति मनुः मनो वा। अर्थात् जो समझ रखता है उसका नाम मनु वा मन है। इस मनु का ऋषभ प्राण है। "ऋषेण गतिना भाति इति ऋषभः। जो श्वास प्रश्वास की गति से प्रतीत होता है। नासिका से वायु के आने जाने में गति और शब्द दोनों रहते हैं।

अव्यक्तवाणी (Inarticulate sound) जब रहती है तो मन की आवाज़ प्राण से वा ऋषभ से ही प्रकट होती है। प्राण के समता (Harmony) में आने से उसमें बल आता है। प्राण दीर्घ होता है। जो भी असुर राक्षस अर्थात् नाशकारी वृत्तियां अन्तः करण में उठती हैं वे और बलवान् प्राण में चित्त को स्थिर करने से नष्ट हो जाती हैं। परन्तु जब मन इस प्राण के साथ बंधता है तब प्राण की गति मन्द पड़ जाने से मन की अर्थात् मनु की स्त्री मनावी अर्थात् बुद्धि का विकास होती है। वाणी, बुद्धिगत ज्ञान के

मन्त्र—कुक्कुटो ऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतं रक्षः परापूता अरातयोऽपहतं रक्षो वायुर्वो विविनक्तु। देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना॥

यजु० अ० १ । मं० १६ ॥

ब्राह्मण—स समाहन्ति—कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इति। मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीद् विषजिह्वो ऽसुरेभ्यः। स यो देवेभ्यः आसीः स न एधीत्येवैतदाह। इषमूर्जमावह। त्वया वयं सङ्घातं सङ्घातं जेष्मेति। नात्र तिरोहितमिवास्ति॥ १८॥

अर्थ—वह धानों को खोटता है और मन्त्र बोलता है—"कुक्कुटो ऽसि मधुजिह्व"। इस का अर्थ है कि तू [1]'कुक्कुट है, मधुजिह्व है। शब्द देवों के लिये मधुजिह्व अर्थात प्रिय मधुर था और असुरों के लिये विषजिह्व था। वह जो तू देवों के लिये था सो तू हमारे लिये हो, यही वह कहता है। हमें [2]अन्न और [2]बल दे। तेरे द्वारा हम बड़े २ समूह को जीतें, यहां कुछ अस्पष्ट नहीं है॥ १८॥

ब्राह्मण—अथ शूर्पमादत्ते। वर्षवृद्धमसीति। वर्षवृद्धं ह्येतद् यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्षं मुह्येवैता वर्धयति॥ १९॥

अर्थ-धान कुट चुकने के बाद अब वह शूर्प (सूप =छाज) को लेता है, साथ ही मन्त्र बोलता है "वर्षवृद्धमसि"। इसका अर्थ है कि तू वर्ष वृद्ध[3] है। शूर्प चाहे नड का बना हो, चाहे बांस का और चाहे तूलिका

साथ सम्बद्ध होकर अव्यक्त (Inarticulate) से व्यक्त (Articulate) रूप में आती है। व्यक्त वाक् में ज्ञान का सम्बन्ध रहने से आसुर राक्षस वृत्तियों को चित्त से निकाल देने में अधिक बल आ जाता है। परन्तु बुद्धि की चञ्चलता के भी दूर हो जाने पर वाक् उस प्रकृति के रूप में चली जाती है जिस प्रकृति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बना है। प्रकृति रूप में वाक् के पहुंचने से यहां मन का सम्बन्ध नहीं रहता, अतः वाक् को यहां से निकालने का कोई उपाय नहीं रहता। यह वाक् आत्मस्थ होकर असुर और राक्षस वृत्तियों को हटाती है। इस उपाख्यान में रूपक के द्वारा वाक् के महत्व पूर्ण व्यापार के रहस्य का कथन किया गया है। किलात और आकुलि असुरों के दो प्रमुख व्यक्ति थे। मनोगत आसुरी भावों में प्रमुख भाव किलात और आकुलि हैं। एक भाव तो अशमा या क्षम है और दूसरा व्याकुलता वा असहनशीलता वा घबराहट है। ये दोनों भाव मन को घसीटे फिरते हैं अर्थात् भिन्न २ वृत्तियों के साथ उसका सम्बन्ध करते हैं। परन्तु साधक श्रद्धालु मनुदेव की वाक् अधिक २ सूक्ष्म रूप धारण करती चली जाती है। काम को कहीं भी एकान्त स्थान नहीं मिलता; सर्वत्र उसे वाक् उपलब्ध होती है। अतएव वे कहीं भी एकान्तता प्राप्त न कर सकने से परास्त हो जाते हैं।

१—असुरों की भीति के लिये 'कुक्कुट' के समान ध्वनि विशेष करने से उसे 'कुक्कुट' कहा है, अथवा असुर कहां २ हैं, इस प्रकार उन्हें मारने की इच्छा से जो विचरता है वह शब्द 'कुक्कुट' है, अथवा असुरों के लिये अप्रिय कुत्सित शब्द को जो फैलाता है वह 'कुक्कुट' है।

२—शरद् ऋतु में जो अन्न होता है उसे 'इष्' कहते हैं। वर्षा के बाद वायु में तरी रहने से जो शरीर में एक प्रकार का बल मालूम होता है उसे ऊर्क् कहते हैं।

३—वर्षा ऋतु में बढ़े हुए होने के कारण शूर्पको 'वर्षवृद्ध' कहा है।

का बना हो इन सब को वर्षा ही बढ़ाती है इसलिये शूर्प भी 'वर्षवृद्ध' ही है ॥ १९ ॥

ब्राह्मण—अथ हविर्निर्वपति । प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्त्विति । बर्षवृद्धा ह्येवैते यदि ब्रीह्यो यदि यवाः । वर्षमु ह्येवैतान् वर्धयति । तत्सञ्ज्ञामेवैतच्छूर्पाय च वदति, नेदन्योऽन्यं हिनसात इति ॥ २० ॥

अर्थ—अब धान कूटकर जो 'हवि' बना है उसे सूप में डालता है और मन्त्र बोलता है "प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु"। इस का अर्थ है कि तुझे वर्षवृद्ध पहिचान ले। चाहे ब्रीहि हों और चाहे यव ये वर्षा से बढ़े हुए ही हैं। क्योंकि वर्षा ही इनको बढ़ाती है। इस प्रकार हवि को वर्षवृद्ध कहकर सूप को उसका परिचय दिलाता है, कि कहीं एक दूसरे की हिंसा[४] न करें ॥ २० ॥

ब्राह्मण—अथ निष्पुनाति । परापूतं रक्षः परापूता अरातय इति । अथ तुषान् प्रहन्ति । अपहतं रक्ष इति तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति ॥ २१ ॥

अब वह [१]निष्पवन करता है और मन्त्र बोलता है "परापूतं रक्षः परापूता अरातयः"। इस का अर्थ है कि राक्षस[२] और अराति अलग हो गये। तण्डुलों से तुष अलग होने के पश्चात् अब तुषों को आगे फेंक देता है और मन्त्र बोलता है "अपहतं रक्षः"। राक्षस नाशकारी होते हैं उसलिये उन्हें अपहनन[३] करता है अर्थात् फेंक देता है ॥ २१ ॥

ब्राह्मण—अथापविनक्ति वायुर्वो विविनक्त्विति। अयं वै वायुर्योऽयं पवते । एष वा इदं सर्वं विविनक्ति यदिदं किञ्च विविच्यते । तदेनानेष एवैतद्विविनक्ति स यदेत एतत्प्राप्नुवन्ति । यत्रैनानध्यपविनक्ति ॥ २२ ॥

अर्थ—चावलों को फटक चुकने के बाद अब वह [४]अपव्यजन करता है। अपव्यजन करते हुए मन्त्र पढ़ता है "वायुर्वो विविनक्तु"। इसका अर्थ है कि वायु तुम को छांट दे। यह जो पवन है यह ही वायु है। यह वायु ही इस सब को छांट डालता है जो भी कुछ छांटा जाता है। तो इन चावलों को भी यह ही वायु छांटता है जो ये चावल इस प्रकार छांटने के लिये प्राप्त होते हैं, जिस पात्र में इन को अपव्यजन कर डाल चुकता है ॥ २२ ॥

ब्राह्मण—अथानुमन्त्रयते—देवो वः सविता हिर-

४—संकल्प के द्वारा एक दूसरे में अनुकूलता स्थापित इसलिये की जाती है कि कहीं अनुकूलता के कारण एक दूसरे का प्राण एक दूसरे का विघातक न हो। सम्पूर्ण यज्ञ परस्पर अनुकूल साधनों में फलीभूत होता है प्रतिकूल साधनों में विफल होता है इसी लिये समय २ पर अनुकूलता स्मरण करली जाती है कि यज्ञ का प्राण विच्छिन्न न हो। अतः एव वर्षवृद्ध में ही वर्षवृद्ध को रक्खा है, विपरीत रूप से नहीं रखा।

१—अब शूर्प को दोनों हाथों से दोनों पार्श्वों में पकड़ कर, दायें बायें हिलावे। इस क्रिया का नाम निष्पवन है इसी को फटकना बोलते हैं क्योंकि ऐसा करने से धान वा यव से तुष अलग हो कर आगे आ जाते हैं।

२—जो हमारे इष्ट को हमारे पास आने ही न दे उसे 'अराति' कहते हैं और जो आये हुए इष्ट को नाश कर डाले उसे 'राक्षस' कहते हैं।

३—शूर्प को उछालकर तुषों को फेंक देने की क्रिया का नाम प्रहनन वा अपहनन है।

४—चावलों को फटक लेने के बाद भी चावलों में कोई २ धान रह जाते हैं। इन धानों को गौणा कहते हैं। इन गौणों को चावलों से पृथक् करने अर्थात् चुगने की क्रिया का नाम 'अपव्यजन' है।

ण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना", सुप्रति गृहीता असन्निति । त्रिः फलीकरोति, त्रिवृद्धि यज्ञः ॥ २३ ॥

अर्थ—अब उस पात्र को लेकर सूर्य के सामने करता है और साथ ही मन्त्र बोलता है 'देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना'। इस का अर्थ है कि तेजस्वी किरण वाला सूर्य देव छिद्र रहित हाथों से तुम्हें ग्रहण करे। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सूर्य की रश्मि लगकर चावल बहुत अच्छे होने के बाद लिये जावें। अब [५]तीनवार [६]फलीकरण करता है। तीन बार इसलिये कि तीन बार करने से यज्ञभावना[७] सम्पन्न होती है ॥ २३ ॥

ब्राह्मण—तद्धैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फलीकुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यात्। आदिष्टं वा एतद्देवतायै हविर्भवति। अथैतद्वैश्वदेवं करोति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति। तत्समदं करोति। तस्मादु तूष्णीमेव फलीकुर्यात् ॥ २४ ॥

अर्थ—कई लोग फलीकरण के समय 'देवेभ्यः शुन्धध्वं, देवेभ्यः शुन्धध्वम्' इस प्रकार बोलकर फलीकरण करते हैं, परन्तु वैसा न करे। क्योंकि 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' इत्यादि मन्त्र से हविर्देवता के लिये पहिले ही आदेश किया गया होता है और अब 'देवेभ्यः शुन्धध्वम्' कहने से वह हविः वैश्वदेव हो जाता है, अर्थात् सब देवताओं के लिये एक जैसा हो जाता है। ऐसा कर देना देवताओं में एक प्रकार का झगड़ा पैदा कर देना है। इस कारण चुप चाप ही फलीकरण करे ॥ २४ ॥

इति प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्।

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

५ धानों को ऊखल में कूटने से सब धान एक ही बार में निस्तुष नहीं हो जाते, अतः सतुष धानों को फिर कूटले इस प्रकार तीन बार करे।

६—जब सब धान निस्तुष हो जावें तब उन में से छोटी २ कणी को अलग कर दे और साबत चावलों को ले लेवे। कणी को अलग कर देना ही फलीकरण कहलाता है।

७—तीन बार करने से प्रातः मध्याह्न और सायं सवन के अनुसार कोई काम यज्ञरूप होकर पक्का हो जाता है।

महाविद्यालय जयन्ती

ज्वालापुर के महाविद्यालय को स्थापित हुए लगभग २८ वर्ष होते हैं किन्तु इसकी प्रथम दो वर्ष की स्थिति बेकायदा थी अर्थात् एक ही व्यक्ति इस को अपने ढंग पर चलाता था। १९०८ में स्वर्गीय श्री १०८ स्वा० शुद्धबोधतीर्थजी महाराज कुलपति व आचार्य पधारे और उन्होंने ही महाविद्यालय सभा की रजिस्टरी कराकर यथानियम कार्य चलाया। महाविद्यालय के संस्थापक प्रसिद्ध तार्किकशिरोमणि स्वा० दर्शनानन्द सरस्वती पक्के भोगवादी आस्तिक संन्यासी थे। इस प्रकार महाविद्यालय को यथानियम कार्य करते हुए छब्बीस वर्ष हुए। इस की जयन्ती गतवर्ष ही मनाई जानी चाहिये थी किन्तु अनेक विघ्न बाधाओं के

कारण ऐसा न हो सका—महाविद्यालय सभा ने आगामी वर्ष मनाने का निश्चय किया है। गत छब्बीस वर्षों में महाविद्यालय ने सैंकड़ों निर्धन होनहार छात्रों व ब्रह्मचारियों का उद्धार किया है। प्रारम्भिक दिन से आजतक लगभग यहाँ एक सहस्र ब्रह्मचारी प्रविष्ट हुए। जिन में से डेढ़ सौ से ऊपर स्नातक विद्यासमाप्ति के पश्चात् यथाविधि चले गये। बीस पच्चीस स्नातक महाविद्यालय की सेवा में संलग्न हैं शेष भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न कार्यों में संलग्न हैं। इस महाविद्यालय के संचालकों में स्व० श्री १०८ स्वा० शुद्धबोधतीर्थ, स्व० श्री० पं० भीमसेन शर्मा साहित्याचार्य, स्व० श्री० पं० पद्मसिंह शर्मा साहित्याचार्य जैसे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् महारथी थे। गत छब्बीस वर्ष की लोकोपकार प्रवृत्ति, प्राचीन निःशुल्क शिक्षा का प्रचार, व छात्रजनों का उपकार इन तीन दृष्टियों से महाविद्यालय ने उत्तर भारत की संस्थाओं में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। आगामी वर्ष उसी की जयन्ती मनाई जायगी। निःशुल्क शिक्षा देने वाले समस्त गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का जमघट देखने योग्य होगा—सैंकड़ों विद्वानों का यह समारोह प्रेक्षणीय होगा—यह जयन्ती शास्त्रीय चर्चा की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व की होगी।

महाविद्यालय के पुराने सेवक की दृष्टि से मैं जनता से यही अनुरोध करूंगा कि वे इस महाविद्यालय रूपी महावृक्ष को प्रेमवारि से सींचते रहें जिससे इस महावृक्ष की छाया में बैठकर भारतवर्ष के आशाङ्कुर विश्राम लाभ कर सकें।

महाविद्यालय का संचालन किस प्रकार होता है यह एक यहां आकर देखने की बात है। इस समय महाविद्यालय दो सौ ब्रह्मचारियों का पालन-पोषण शिक्षण-दीक्षण कर रहा है। भोजन वस्त्र पुस्तक तथा अन्य अपेक्षित सामग्री मुफ्त दी जाती है। इस युग में ऐसी संस्था केवल ईश्वर के भरोसे पर चल रही है। भारतवर्ष के अन्नदाता किसान इस को प्रति वर्ष प्रचुर मात्रा में अन्नादि द्वारा सहायता पहुँचाते रहते हैं। इस महाविद्यालय का वार्षिक आय-व्यय चौबीस सहस्र का है। पब्लिक ही—निःशुल्क शिक्षाप्रेमी ही इस व्यय को पूरा कर देते हैं—इस संस्था की यह विचित्र बात है कि जितना व्यय होता है उतना ही आ जाता है। न कम आता है और न अधिक—

इसी पवित्र महाविद्यालय की जयन्ती आगामी वर्ष मनाई जायगी—महाविद्यालय के प्रेमी, जहाँ भी हों, जितने भी हों, यदि वर्त्तमान अधिकारियों का थोड़ा थोड़ा भी हाथ बटायें तो जयन्ती अवश्य सफल होगी।

भारतवर्ष के समस्त प्रसिद्ध विद्वान् महाविद्यालय को समय समय पर देख चुके हैं। महात्मा गांधी, स्व० श्री पं० मोतीलाल नेहरू, श्री पं० जवाहरलालजी नेहरू, श्री महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी, स्व० श्री लाला लाजपतरायजी, श्री बाबू राजेन्द्रप्रसादजी, कई वार देख चुके हैं। महाविद्यालय के पुराने तुच्छ सेवक के नाते मेरी यही प्रार्थना है कि जनता इस को अपनावे जिससे पूर्व की अपेक्षा अधिक लोकोपकारी कार्य हो सके।

निवेदक—
नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ

———

सम्पादकीय टिप्पणियां

१—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब व बिलोचिस्तान की अर्धशताब्दी

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब व बिलोचिस्तान की अर्ध-शताब्दी का उत्सव अगले वर्ष मनाया जायगा। उक्त आर्यप्रतिनिधिसभा को स्थापित हुए तब ५० वर्ष हो जायेंगे। वास्तव में उक्त आर्य-प्रतिनिधि सभा ने पंजाब में भारी जागृति का कार्य किया है। पंजाब में जिस नगर में आर्यसमाज है, प्रायः वहां कोई न कोई शिक्षासंस्था अवश्य मिलेगी। चाहे वह शिक्षा संस्था पुत्रीपाठशाला के रूप में हो या पुत्रपाठशाला के रूप में। इसके साथ ही अनाथालय और विधवा-विवाह संस्थाएं आदि भी पंजाब में पर्याप्त संख्या में दिखाई देती हैं। पंजाब में आर्यसमाज का प्रचार-कार्य भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। महर्षि के सिद्धान्तों से परिचय पंजाब के बच्चे २ को है। आर्यसमाज को भावनाओं का स्रोत, जो आज कल पंजाब बना हुआ है, उसका मूल कारण अधिकतर प्रचार का कार्य ही है, जो कि आर्य प्रतिनिधि आदि संस्थाओं द्वारा किया गया है। इसलिये प्रसन्नता का विषय है कि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब व बिलोचिस्तान अपना अर्ध शताब्दी उत्सव मानने को तैयार है। इस उत्सव के उपलक्ष्य में प्रचार विभाग को अधिक जोरदार बनाने के निमित्त आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री की ओर से २॥ लाख रुपयों की अपील की गई है, ताकि प्रचार का कार्य और तेजी से किया जा सके। यह सब कार्य उत्तम है। परन्तु हम आर्य प्रतिनिधि के कार्यकर्त्ताओं का ध्यान एक दो आवश्यक कर्त्तव्यों की ओर खींचना चाहते हैं। आर्यसमाज की नींव वेद है। आर्यसमाज वेदों को एक मात्र और स्वतः प्रमाण मानता है। वेद के विना आर्यसमाज नहीं। परन्तु वेद की ओर आर्यसमाज का बहुत कम ध्यान है। कितने आर्यसमाजी हैं, जो कि वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना-सुनाना, क्रियात्मक रूप में, अपना कर्त्तव्य समझते हैं। उपदेशक लोग कभी २ आर्यसमाजों में जाकर चाहे आर्य लोगों को वेद सुना दें और आर्य लोग सुनलें, परन्तु वे वेदों के सुनाने के काम में कहां तक सफल हुए हैं, इस प्रत्येक आर्य सभासद् से कोसों दूर है। जो आर्यसमाजी वेदों के नाम पर द्रवित हो जाते हैं, वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, वेदों को सभी ज्ञानों से श्रेष्ठ ज्ञान और वह भी निर्भ्रान्त और स्वतः प्रमाण मानते हैं—वे आर्यसमाजी वास्तव में वेदों के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने की ओर कितना आगे बढ़े हैं यह अवश्य विचार करना चाहिये। वास्तव में इस दृष्टि से आर्यसमाज बहुत पिछड़ा हुआ है। महर्षि ने वेदों का अनुवाद हिन्दी में किया, ताकि आर्य समासद् वेदों को पढ़ सकें, परन्तु आर्य सभासद् हिन्दी के परिज्ञान की दृष्टि से भी बहुत कुछ कोरे हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब व बिलोचिस्तान अपनी अर्धशताब्दी मनाये, यह बहुत हर्ष का विषय है। परन्तु इस अर्धशताब्दी के साथ २ दो कार्यों पर अधिक दृष्टि देनी चाहिये।

१—आर्य प्रचारकों के प्रचार-कार्य का यह भी एक आवश्यक अंग होना चाहिये कि वे जिस नगर

की आर्य समाज में जायें, वहां जाकर वे आर्य सभासदों की एक सूची तैयार करें कि किन सभासदों को हिन्दी लिखना पढ़ना नहीं आता, उन्हें सीखने की प्रेरणा आर्यप्रतिनिधि की ओर से होती रहनी चाहिये। इस निमित्त आर्य प्रतिनिधि सभा को चाहिये कि वह एक विज्ञप्ति आर्यसमाजों के प्रति प्रकाशित करे, जिसमें हिन्दी का जानना आर्य सभासद् का आवश्यक कर्त्तव्य दर्शाया गया हो।

दूसरा कार्य, जो कि इस अर्धशताब्दी उत्सव के साथ प्रारम्भ हो जाना चाहिये वह है वेद का अन्वेषण। आर्यसमाज में वेदों के अन्वेषण-विभाग की एक भारी कमी है। पाश्चात्य जगत से वेदों पर ऐसी पुस्तकें प्रायः प्रकाशित होती रहती हैं जिनमें वेदों पर नाना प्रकार के आक्षेप होते हैं, जो कि आर्य समाज के मन्तव्यों के विरुद्ध होते हैं। भारत में भी जैनियों तथा अन्य मतवादियों की ओर से वेदों पर नाना प्रकार के आक्षेप होते रहते हैं। परन्तु आर्य समाज में ऐसा कोई अन्वेषण विभाग नहीं जो इस आक्षेप साहित्य का उचित उत्तर देने वाला हो। हमें तो प्रतीत होता है कि आर्य समाज की वैदिक नींव, आर्यसमाज की लापरवाही के कारण, दिनोंदिन अधिक कच्ची होती चली जा रही है। आर्यसमाज के समीप ऐसा वैदिक साहित्य नहीं जिसे कि वे पश्चात्य ढंग के सन्मुख रख सकें ताकि वेदों की ईश्वरीयता तथा अनादिता का भाव उनके हृदयों में दृढ़ हो सके।

श्री पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब व बिलोचिस्तान के एक बहुमूल्य रत्न हैं। आप की विद्वत्ता, त्याग तथा अन्वेषण के कारण आर्यसमाज का सिर ऊंचा है। आप पीछे कई वर्षों से आर्य प्रतिनिधि सभा को वेदों के अन्वेषण विभाग के लिये हिला रहे हैं, परन्तु आर्य प्रतिनिधि सभा वहीं की वहीं खड़ी है। बल्कि हमें वैयक्तिक रूप से ज्ञात है कि आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकर्त्ता श्री पण्डितजी की इस प्रेरणा का कोई मूल्य नहीं समझते।

आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल स्थापित कर, वास्तव में वेदों और वैदिक साहित्य के उत्थान में बहुत सहयोग दिया है। पपन्तु आवश्यकता अब यह अनुभव की जा रही है कि चाहे गुरुकुल कांगड़ी में या गुरुदत्त-भवन लाहौर में वेदों का एक अन्वेषण विभाग भी खुल जाय। इस विभाग में कार्य करने वाले इस समय आर्य प्रतिनिधि सभा को कई विद्वान् मिल सकते हैं, जिनकी कि आर्य समाज के सिद्धान्तों और मन्तव्यों में श्रद्धा भी है और जो वास्तव में वैदिक साहित्य की खोज में अच्छे योग्य भी साबित हो सकते हैं। आर्यप्रतिनिधि सभा को चाहिये कि वह अपनी अर्धशताब्दी के महोत्सव के साथ ही इस अन्वेषण-विभाग की भी स्थापना करें, ताकि आर्यसमाज के मन्तव्यों की जड़ अधिक पक्की हो सके। वर्त्तमान समय में प्रचार-कार्य की भी बड़ी आवश्यकता है, परन्तु इस के साथ २ अन्वेषण विभाग की इस से भी बहुत अधिक आवश्यकता है। यह शोक का विषय है कि आर्यसमाज के कई विद्वान् अपने कई वर्षों के अन्वेषण के पश्चात् भी इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि वेद वास्तव में स्वतःप्रमाण नहीं ठहराये जा सकते। हमारा ख्याल है कि ऐसे विद्वानों की अन्वेषण-रेखा कुछ प्रारम्भ से ही उल्टी होती है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आर्यसमाज यदि अन्वेषण-

विभाग की स्थापना करेगा तो उसे अपने इस प्रयत्न में अवश्य सफलता मिलेगी। क्या हम विश्वास करें कि उपरोक्त दो आवश्यक निर्देशों पर आर्य प्रतिनिधि सभा के कार्यकर्त्ता कुछ ध्यान देंगे।

२—सूर्य में एक नया तत्त्व

डाक्टर चार्लट ई० मूर (Dr. Charlotte E. Moore) ने जो कि New jersey की प्रिंक्टन-विश्व विद्यालय की वेधशाला के अध्यक्ष हैं—पता लगाया है कि सूर्य में एक और तत्त्व है जिसे कि फ़ास्फ़ोरस कहते हैं। यह तत्त्व हड्डियों में बहुतायत से पाया जाता है। मरघटों में रात को कई बार प्रकाश हुआ करता है जिसे कि भ्रान्त लोग भूतों की कृति कहा करते हैं। उस प्रकाश का कारण यह फ़ास्फ़ोरस-तत्त्व होता है, जो कि मुर्दों की हड्डियां के कारण मरघटों में पाया जाता। इस फ़ास्फ़ोरस के कारण सूर्य में तत्वों की संख्या अब ६४ हो गई है। अभी तक सूर्य में ६३ तत्वों की स्थिति मानी जाती थी।

३—छापने में एक नया अन्वेषण

न्यू जेरसी (New jersey) अमरीकन राज्य की एक स्टेट है। वहां मि० स्पील वोगल ने एक नया अन्वेषण किया है जिससे छापने की विद्या में पर्याप्त उन्नति होने की सम्भावना है। आपने एक प्रकार के कागज़ का अन्वेषण किया है जो कि लचकदार है। इसकी लचक स्थिर रहती है। इस पर यदि किसी परिमाण के टाइप से कुछ छाप दिया जाय तो इस कागज़ को खींच कर उस टाइप की छाप को भिन्न २ टाईप की छापों में बदला जा सकता है, जैसे कि रबड़ पर लिखे अक्षरों को रबड़ की खींच से बदला जा सकता है।

अन्तर यह है कि खींच के कारण रबड़ के अक्षर बदले तो जा सकते हैं परन्तु अक्षरों का यह परिवर्त्तन खींच के पश्चात् फिर पूर्ववत् हो जाता है, परन्तु इस लचकदार कागज़ की छाप को खींच कर बदलने पर यह परिवर्त्तन स्थिर रूप में बना रहता है। आवश्यकता होने पर इस परिवर्त्तन में, इस प्रकार अन्य यथेच्छ परिवर्त्तन भी किये जा सकते हैं।

४—वेद-मन्त्रों के अर्थ

वेदों के अर्थों के सम्बन्ध में यह प्रायः सुनाई देता है कि भिन्न २ विद्वानों द्वारा किये गये एक ही मन्त्र के अर्थों में समानता नहीं मिलती। एक विद्वान् एक ही मन्त्र का अर्थ एक प्रकार से करता है, तो दूसरा विद्वान् उसी मन्त्र का अर्थ दूसरे प्रकार से करता है। हमारी दृष्टि में यह दोष न वैदिक-मन्त्रों का है और न वैदिक-विद्वानों का। वस्तुतः यह दोष है ही नहीं। वेदों के जानने वाले इस बात को अच्छे प्रकार जानते हैं कि वेदों की यह तो खूबी है कि वैदिक-मन्त्र भिन्न२ परिस्थिति में भिन्न २ अर्थों के सूचक हो जाते हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक दृष्टि से एक ही मन्त्र के तीन २ अर्थ तो प्राचीन मुनियों ने भी माने हैं और व्याख्याकारों ने कई २ मन्त्रों के तीन २ अर्थ स्थान २ पर दर्शाए भी हैं। इसलिये यदि एक विद्वान् किसी मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक आदि दृष्टियों में से एक दृष्टि से कर देता है और दूसरा विद्वान् इन दृष्टियों में से किसी दूसरी दृष्टि से करता है तो इन अर्थों में विरोध न समझना चाहिये,

क्योंकि इन तीनों दृष्टियों से अर्थों के भिन्न २ होने पर भी वास्तव में ये तीनों अर्थ ही अपनी २ दृष्टि से ठीक हैं ।

स्पष्ट करने के लिये हम यहाँ एक लौकिक उदाहरण पेश करते हैं। संस्कृत साहित्य में एक पुस्तक है "राघव-पाण्डवीयम्" । इस पुस्तक में श्लोक-रचना है । इस पुस्तक में समस्त श्लोकों के अर्थ दो २ हैं । एक अर्थ से "राघव" का जीवन वृत्तान्त कवि ने कहा है और दूसरे अर्थ से "पाण्डव" का। इस प्रकार जब लोक में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि एक २ श्लोक के नाना अर्थ हो सकते हैं तो यदि यह घटना वेदों में मिले तो क्या आश्चर्य है ? परमात्मा ने संक्षेप में बहुत अर्थ का परिज्ञान कराने के लिये वेदों के शब्दों की इस प्रकार रचना की है कि वेदों के मन्त्रों से तीन २ प्रकार के अर्थ प्रतीत हो सकें। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार के विषय साथ २ एक ही मन्त्र में वर्णित हो जाते हैं । इस प्रकार नाना अर्थों को दे सकना यह वैदिक-मन्त्रों का गुण है, दोष नहीं ।

अभी तक वैदिक साहित्य के क्षेत्र में कोई ऐसा विद्वान नहीं हुआ जो कि वेदों के प्रत्येक मन्त्र के तीन २ अर्थ करके दर्शा सके, परन्तु वेदों की गूढ़ परिभाषाओं को यदि जान लिया जाय तो हमारा विश्वास है कि यह कार्य बहुत सुलभ हो जायगा ।

साथ ही मन्त्रों में एक और खूबी भी है । मन्त्रों के शब्द यौगिक हैं इसलिये आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन तीन दृष्टियों में से किसी एक दृष्टि से भी एक ही मन्त्र के नाना अर्थ हो सकते हैं। इसके लिये व्यक्ति में विशेषयोग्यता की अपेक्षा होती है । इस सम्बन्ध में भगवद्दुर्गाचार्य निरुक्त की टीका में लिखते हैं कि—

"तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम् । त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः । नहि एतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति ।

तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते, क्वचिच्च अध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम् । तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति" ।

अर्थात् "एक मन्त्र का विनियोग नाना अर्थों में होता है । इसलिये प्रत्येक विनियोग की दृष्टि से मन्त्र का अर्थ बदलता चला जायगा । वक्ता के अभिप्राय के भेद से भी मन्त्रों के अर्थों में भेद आ जाया करता है । क्योंकि वैदिक मन्त्रों में अर्थ इतना ही है—यह कहना अशुद्ध है । वेद मन्त्र महार्थ हैं, और इन के अर्थों का परिज्ञान परिश्रम साध्य है । जैसे कि घुड़सवार की कुशलता के कारण घोड़ा कभी अच्छा चलता है और कभी बुरा, इसी प्रकार वैदिक मन्त्र भिन्न २ विद्वान् की योग्यता के आधार पर अपने भिन्न २ अर्थों का प्रकाश करते हैं । इसलिये प्रत्येक मन्त्र से जितने २ अर्थ उत्पन्न हों वे सभी अर्थ उस मन्त्र के ठीक हैं—यह मानना चाहिये. वैदिक मन्त्र के नाना अर्थ करना यह कोई अपराध नहीं है" ।

इस प्रकार हम ने देखा कि प्राचीन आचार्यों के अनुभव भी यही दर्शाते हैं कि वैदिक मन्त्र संसार में, एक विशेष प्रकार की रचनाएं हैं, जिन में कि एक ही संक्षिप्त मन्त्र द्वारा नाना अर्थों की प्रतीति हो सकती है ।

साहित्य-समालोचना

वेदकाल निर्णय

अर्थात्

आज से तीन लाख वर्ष पूर्व की वेद कालीन मर्यादा

वेद कालनिर्णय के लिये अर्वाचीन देशी और विदेशी सभी विद्वानों ने बहुत यत्न किये हैं जिससे अनादिकालसिद्ध वेदों को ऐतिहासिक काल की सीमा मे बद्ध कर लिया जाय। जिनमें वर्त्तमान में श्री अविनाश चन्द्र और तिलक महाराज प्रमुख हैं। परन्तु हालही में वेदार्थ तत्वशोधनाचार्य विद्याभूषण श्री दीनानाथजी शास्त्री चुलैट (एलिचपुर बरार) ने 'वेदकाल निर्णय' नामक पुस्तक प्रकाशित करके वैदिक काल को तीन लाख वर्ष पूर्व के काल का निर्धारित करने का यत्न किया है।

वैदिक साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों के कालनिर्णय करनेको जो शैली आपने निर्धारित की है वह बहुत ही उत्तम है। इस शैली से वैदिक साहित्य के तत्व खुलने की बहुत आशा है।

आपने किस शैली का अनुसरण किया है इसका दिग्दर्शन हम संक्षेप में पाठकों कराते हैं।

(१) ज्योतिष शास्त्र के द्वारा किसीके भी समय को ठीक २ जानना उसके वसन्त-आगमन (वसन्त समाप्ति जो वर्त्तमान में २३ मार्च को हुआ करता है उसके मास आदि के जानने पर निर्भर है।

(२) पूर्व और पश्चिम के सब ज्योतिषियों ने यह मान लिया है कि वसन्त-सम्पात सब नक्षत्रों पर वामगति से घूमता हुआ २५८०० वर्षों में पुनः उसी स्थान पर आ जाता है। इस हिसाब से वसन्त सम्पात ९५६ वर्षों में एक नक्षत्र पीछे सरक जाता है।

(३) सालभर में ६। ६ महीने के अन्तर में दो दिन ऐसे आते हैं जिनमें सूर्य ठीक पूर्व पश्चिम रेखा में उदय होकर अस्त होता है। इनमें से एक दिन वसन्त-सम्पात का और दूसरा शरत्-सम्पात का है।

(४) दक्षिणायन होकर सूर्य जब ठीक पूर्व पश्चिम विषुव रेखा पर उदय अस्त होता है तो यह शरत्-सम्पात का काल है और उसी प्रकार उत्तरायण होकर जब पुनः सूर्य विषुव रेखा पर आकर ठीक पूर्व पश्चिम उदय अस्त होता है तब वसन्त-सम्पात होता है।

(५) वसन्त-सम्पात जिस प्राचीन ग्रन्थ में जिस नक्षत्र में कहा गया है उसी नक्षत्र तक के सम्पात के विचलन को ऊपर लिखे (२) लेखांक में दिखाये प्रकार से गणित करने पर उस ग्रन्थ का वास्तविक काल निकल आवेगा।

(६) उदाहरण के तौर पर कर्काचार्य ने शुल्बसूत्र और कात्यायन श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों पर भाष्य किया है। कात्यायन शुल्बशूत्र के प्राची-प्रदर्शक सूत्र पर कर्काचार्य ने भाष्य करते हुए लिखा है कि—

दक्षिणायने तु चित्रां यावदादित्य उपसर्पति उदगयने स्वातिमेति विषुवतीये त्वहनि चित्रास्वात्योर्मध्य एवोदयः॥

इससे स्पष्ट हुवा कि विषुवतीय दिन में चित्रा वा स्वाति के बीच सूर्योदय होता था। वह वसन्त-सम्पात का दिन होता था इसका स्पष्ट तात्पर्य यह हुआ कि कर्का-

चार्य के समय में वसन्त सम्पात आश्विन मास में होता था क्योंकि तुलासंक्रमण सदा ही आश्विन मास हुआ करता है।

आज कल वसन्त-सम्पात उत्तरा भाद्रपद पर होने के कारण फाल्गुन मास में होता है। फलतः कर्का-चार्य्य के समय से अब तक वसन्त-सम्पात ७ महीने पीछे हट गया। दूसरे शब्दों में वसन्त-सम्पात सात राशि पीछे हट गया है। पूर्व गणना से एक राशि (२॥ नक्षत्र) पीछे हट जाने के लिये २१६६ वर्ष बीतते हैं सो इस प्रकार कर्काचार्य की हुए (२१६६×७॥ १५१६२) लगभग १५ हज़ार वर्ष बीत गये।

(७) इस प्रकार कर्क से पूर्व पारस्कर, पारस्कर से पूर्व पौलिशसिद्धान्त और इस से भी पूर्व कात्यायन और वेदाङ्ग-ज्योतिष का काल निर्णय होता है।

फिर वेदों के मन्त्रों में इसी प्रकार के योगों का वर्णन है उन से वेदों के कालकी भी ज्योतिष के आधार पर गणना करने से तीन लाख वर्ष पूर्व तक गणना पहुंचती है।

शतपथ के समय में भी वसन्त सम्पात-फाल्गुन में होता था, सुतरां आज से १२ राशि पीछे सम्पात-और उसका काल २६ सहस्र वर्ष पूर्व स्थिर होता है।

(८) वेदाङ्ग ज्योतिष के समयों में माघ में वसन्त-सम्पात होता था इस से वेदाङ्ग ज्योतिष का समय २२०९० वर्ष शकाब्द से पूर्व स्थिर होता है।

वेदों के काल के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने जो मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की सूची लिखी है वे वैदिक मन्त्रप्रयोगों के द्रष्टा लगभग १०,००० हैं। इसका कालानुक्रम लगाने के लिये परम्परागत अविच्छिन्न स्मरण के ग्रन्थों के अनु-सार सातवें वैवस्वत मनु का आरम्भ ३,२४,१५२ वर्ष पूर्व हुआ।

अयन की सूक्ष्म गणित से वसन्त-सम्पात की स्थिति बतलाने वाला एक आपने कोष्ठक तैयार किया है। उस में आप ने बतलाया है कि २२०५९९ वर्ष पूर्व वसन्त-सम्पात पीछे न होकर आगे बढ़ा करता था। अर्थात् सम्पात 'अदिति' दक्षिणावर्त्त चलता हुआ पुनर्वसु नक्षत्र से वामावर्त्त होगया है। इसलिये पुनर्वसु नक्षत्र तक बढ़ने का काल दक्षिणावर्त्तकाल (६० हज़ार वर्ष) है।

अदिति काल के मन्त्र पाठ समय में यज्ञोपवीत का कण्ठीवत् और दक्षिणावर्त्तवाचक मन्त्रों को पढ़ते समय यज्ञोपवीत दक्षिण स्कंध पर और वामावर्त्तवाचक मन्त्रों पर यज्ञोपवीत अपसव्य करने से विदित होता है कि वेद का काल २ लाख वर्ष से १॥ लाख पूर्व हैं, अर्थात् वेद के मन्त्र तब प्रकट हुए।

उक्त विद्वान् लेखक ने अभी अपने ग्रन्थ का पूर्व भाग ही प्रकट किया है। इस में भी सूक्ष्म विवेचना से केवल वेदाङ्ग ज्योतिष का ही काल निर्णय किया है।

दूसरे खण्ड में (जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ) वेद मन्त्रों से समस्त ज्योतिष के अयनसम्पातों के दक्षिणा-वर्त्त और वामावर्त्त होने के रहस्यों को वेदमंत्रों से निकाल कर वेद के रहस्यों को खोलने का सङ्कल्प किया है।

वेदकाल की अतिप्राचीनता के पक्षपातियों के लिये यह ग्रन्थ बड़ा ही अनुपम खोज का खज़ाना है।

यद्यपि उक्त विद्वानों के वेदों के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्तों और विचारों में भेद है तथापि, गणित ज्योतिष की सत्यताओं में किसी को मतभेद नहीं हो सकता।

हम बड़े उत्सुक चित्त से द्वितीय खण्ड की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

—जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार मीमांसातीर्थ

चारों वेदों के सरल सुबोध भाषा भाष्य

१ सामवेद भाषा-भाष्य

सामवेद भाषा-भाष्य छपकर तैयार होते ही सारे का सारा बिक गया। दूसरा संस्करण तैयार है। पृष्ठ संख्या ८५० से अधिक। मूल्य ४) रु०।

भाष्य की बड़े-बड़े विद्वानों तथा समाचारपत्रों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। प्रशंसापत्रों की छपी प्रतिलिपि मँगाने पर भेजी जा सकती है।

२ अथर्ववेद भाषा-भाष्य

(चार भागों में)

अथर्ववेद के विषय में लोगों का और सायण जैसे प्रखर विद्वान् आचार्यों का भी यही आग्रह रहा है कि उसमें जादू-टोना और मारण, उच्चाटन, मोहन आदि तान्त्रिक लीला भरी पड़ी है। इस विश्वास का कारण प्रायः अथर्ववेदी कौशिक सूत्र है, परन्तु हमारा विश्वास ऐसा नहीं है। इस सरल भाषा-भाष्य को देखकर सबको विदित हो जायगा कि तन्त्र-मन्त्र की लीला केवल लोगों की मनगढ़न्त है। अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या, राजविद्या और मानव-समाज की उन्नति के लिये सभी उत्तम-उत्तम विद्याओं का बड़ी गम्भीरता और उत्तमता से उपदेश किया गया है। मूल्य चारों भागों का १६) रुपये।

३ यजुर्वेद भाषा-भाष्य

(दो भागों में)

इस भाष्य में महर्षि दयानन्द की दर्शाई दिशा को मुख्यता दी गई है। आवश्यक स्थलों पर अन्य भाष्यों और अनुवादकों के मतभेद और त्रुटियाँ दिखाते हुए विशेषताओं को भी नहीं छिपाया गया। मन्त्रों के साथ शतपथ ब्राह्मण के पते आदि भी दिये गये हैं। भूमिका में वेद का परिचय लिखा गया है। मूल्य दोनों भागों का ८) रु०

ऋग्वेद भाषा-भाष्य

(पाँच भागों में)

इसमें महर्षि दयानन्द कृत संस्कृत-भाष्य शैली को अनुसरण करते हुए भाषा-भाष्य किया गया है और जिन भागों पर महर्षि दयानन्द का भाष्य नहीं है, उन पर भी सरल भाष्य कर दिया गया है। स्थान-स्थान पर अन्य भाष्यकारों की विशेषता दर्शाई गई है। भूमिका में कल्पित इतिहासों का भी विवेचन किया गया है। प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग छप गये। आगे छप रहा है। पाँचों भागों का मू० २०) रु०।

वेद-भाष्य के स्थिर ग्राहक होने के नियम

१—जो महाशय १) पेशगी कार्यालय में जमा कराकर अपना नाम स्थिर ग्राहकों में लिखवा लेंगे, वे चारों वेदों के भाष्य के स्थिर ग्राहक होंगे, उनको प्रथम जिल्द के साथ ही १) की रसीद दी जायगी। यह १) रु० अन्तिम भाग के मूल्य में मुजरा कर दिया जायगा।

२—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की प्रत्येक जिल्द ३) रु० में ही प्राप्त हो सकेगी।

३—स्थिर ग्राहकों को वेद-भाष्य की कुल जिल्दें लेना आवश्यक होगा।

४—वेद-भाष्य में चारों वेदों का भाष्य अनुमानतः १२ जिल्दों में पूर्ण कर दिया जायगा और जो जो जिल्द प्रकाशित होती जायगी, वह वह क्रमशः स्थिर ग्राहकों को वी० पी० द्वारा भेजदी जाया करेगी। मार्ग-व्यय मूल्य से पृथक् लिया जायगा।

५—जिनकी वी० पी० लौट आयेगी उनका मार्ग-व्यय पेशगी से काट लिया जायगा और उनकी ओर से बिना दूसरी सूचना प्राप्त किये उनको पुनः वी० पी० न भेजी जायगी।

प्रबन्धकर्त्ता—"आर्य्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड," अजमेर.

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फ़ाइन आर्ट प्रिं० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ ।

वर्ष २] अगस्त सन् १९३४ ई० [अंक ११

आनासागर (अजमेर) के तट पर ऋषि दयानन्द के आश्रम का सुन्दर दृश्य। इसमें श्रीमद्दयानन्द-अर्धशताब्दी के अवसर पर ब्रह्मपारायण महायज्ञ और सवालक्ष गायत्री होम हुआ था और तब से अबतक तीन वार पारायण यज्ञ हो चुके हैं। महायज्ञ के निमित्त यज्ञशाला बीच में है जिस पर टीन की गोल छत है।

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।), नमूने की प्रति ।≈) के टिकट भेज कर मँगाइये

२—"वैदिक विज्ञान" प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।

३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।

४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।

५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।

६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।

७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।

८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।

९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो, अपने ही पोस्ट आफ़िस से उसका प्रबंध करालेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।

१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।

११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।

१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।

१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:—
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।
साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।
छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।

आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१२) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१०) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी देना होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन-प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २	श्रावण संवत्० १६६१ वि०, अगस्त सन् १६३४ ई०	सं० ११

वेदोपदेश

सत्य बुद्धि

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥ अथर्व० २०।११५।१॥

(अहम्) मैंने (पितुः परि) पिता से (ऋतस्य) सत्य की (मेधाम्) बुद्धि का (जग्रभ) ग्रहण किया है, और (अहम्) मैं (सूर्य इव) सूर्य की न्याई (अजनि) हो गया हूं ।

प्रत्येक मनुष्य में शक्ति अपरिमित है । वह अपनी शक्ति का जितना भी चाहे विकास कर ले, मनुष्य-सृष्टि में भिन्न २ प्रकार की शक्तियों वाले हमें व्यक्ति दिखाई देते हैं । कोई व्यक्ति बिल्कुल सामान्य शक्ति वाला है, कोई मध्यम शक्ति वाला है और किसी २ समय कोई २ व्यक्ति ऐसा भी प्रकट हो जाता है जो कि शक्ति का भण्डार प्रतीत होता है । ये अन्तिम प्रकार के व्यक्ति संसार के बनाने वाले होते हैं । संसार का इतिहास इन्हीं व्यक्तियों के जीवनों के आन्दोलनों से रंगा हुआ होता है । जिस प्रकार सूर्य के उदित होने पर जगत् का अन्धकार दूर हो जाता है इसी प्रकार इन महान् आत्माओं की भी चमक के कारण

मनुष्यसमाज का अन्धकार दूर होता है। व्यक्ति चाहे सामान्य हो, या मध्यम अथवा महान् इनमें तात्विक-दृष्टि से उच्चता तथा नीचता स्वाभाविक रूप से विद्यमान नहीं है। इन सब में एक सदृश ही आत्माओं का निवास है। एक आत्मा ही कभी ऊंची हो जाती है, कभी नीची और कभी मध्यमकोटि की। यह सब अपने २ कर्मों का खेल है। मनुष्य जिस और जितनी शक्ति का विकास अपने में करना चाहे कर सकता है। वेदमन्त्र में कहा है कि कई मनुष्य इस संसार में सूर्य की न्याईं चमकने वाले भी हो जाते हैं। यह सब अपने सामर्थ्य तथा प्रभु की कृपा का परिणाम होता है।

परन्तु इस प्रकार के महान् व्यक्ति किस गुण के कारण इतने महान् हो जाते हैं ?। वेदमन्त्र उत्तर देता है कि "ऋतस्य मेधाम्" अर्थात् ऋत की मेधा के कारण सत्य की बुद्धि के कारण। इन महान् आत्माओं में सत्य की मेधा कूट २ कर भरी रहती है। ये सचाई और सत्यमार्ग के प्रेमी होते हैं। परम्परा से आई प्रथाएं, सामाजिक बन्धन तथा इन बन्धनों को तोड़ते हुए भय—ये वस्तुएं इन महान् आत्माओं को दबा नहीं सकतीं। सचाई के पथ पर चलते हुए ये महान् आत्मा अपने सर्वस्व को न्यौछावर कर सकते हैं, परन्तु सत्य-मार्ग से कदम नहीं हटा सकते। सत्य-मार्ग के साथ इनका यह निष्कारण प्रेम ही इन महान् आत्माओं का स्वाभाविक और असली गुण है। इसलिये सूर्य की न्याईं वही चमक सकता है जिसने कि ऋत की मेधा को ग्रहण किया है।

परन्तु मनुष्य की शक्ति एक दृष्टि से परिमित है। वह भ्रम तथा विपरीत ज्ञान का शिकार बनता रहता है। संसार में ऐसे व्यक्ति भी देखे हैं और प्रतिदिन देखने में आते हैं जो अपने २ पक्ष और रीति-नीति को ही सत्य का मार्ग समझते हैं। हालाँ कि संसार में सत्य यदि हो सकता है तो वह एक स्वरूप का ही हो सकता है। परन्तु संसार में एक दूसरे से विरोधी विचारों को लिपटने वाले व्यक्ति भी विद्यमान हैं और वे अपने २ विचार को ही सत्य समझते हैं। ऐसे व्यक्ति संसार में मनुष्य समाज के अन्धकार को दूर करने में सूर्य नहीं बन सकते। इसलिये ऐसी सत्य की बुद्धि यदि प्राप्त करनी हो जो कि भ्रम तथा विपरीत ज्ञान से शून्य हो तो उसके लिये मनुष्य को उपासना मार्ग का अवलम्ब लेना चाहिये। इस उपासना-मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति को जब परमात्मा का दर्शन हो जाता है तब वह व्यक्ति इस परम प्रभु से ऋत की मेधा अर्थात् सत्य की बुद्धि को प्राप्त करता है। इस सत्य की बुद्धि में किसी प्रकार का कोई भ्रम नहीं होता। भक्तिनिष्ठ व्यक्ति को यह प्रभु पिता की न्याईं प्रसन्न होकर सत्य की बुद्धि प्रदान करते हैं और भक्त प्रभु की इस अपार कृपा का अनुभव स्वयं अपने अन्तःकरण में कर रहा होता है। इसलिये वेदमन्त्र में कहा है कि—

"मैंने पिता से सत्य की बुद्धि का ग्रहण किया है, और मैं सूर्य की न्याईं हो गया हूँ।"

इसलिये प्रत्येक उन्नतिशील व्यक्ति को चाहिये कि वह उपासना-मार्ग द्वारा प्रभु से सत्य-मेधा की प्राप्ति की भी प्रार्थना किया करे और इस द्वारा सूर्य की न्याईं तेजस्वी बनने की कोशिश करे। स्वार्थ के लिये नहीं, अपितु मनुष्य समाज के अन्धकार को दूर करने के लिये वह सूर्य बनना चाहे।

अस्पृश्यता निवारण

[ले०—प्र० श्रा० पं० धर्मदेवजी[1] सिद्धान्तालंकार, विद्या-वाचस्पति, बंगलौर]

वर्णाश्चत्वार एवोक्ताः, न वेदैः पञ्चमः क्वचित् ।
तमेव भावमादाय, प्रोवाच भगवान्मनुः ॥१॥

वेदों में चार ही वर्णों का प्रतिपादन है, पञ्चम वर्ण का नहीं। इसीलिये भगवान् मनु ने कहा हैः—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु, शूद्रो नास्ति तु पंचमः ॥२॥
मनु० १० । ४ ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन द्विज कहलाते हैं। चतुर्थ वर्ण शूद्र है, पंचम वर्ण कोई नहीं है।

एषां चतुर्णां वर्णानां, स्थाने ननु सहस्रशः ।
जातयः संप्रदृश्यन्ते, भेदभावविवर्धिकाः ॥३॥

इन चार वर्णों के स्थान में अब हजारों जातियां दृष्टिगोचर होती हैं जो भेदभाव को बढ़ाने वाली हैं।

तासां च कारणात्प्रीतिर्नान्योन्यं दृश्यते क्वचित् ।
सहयोगो न वा चैक्यं किन्तु वैषम्यमेव हि ॥४॥

और इनके कारण ही लोगों में प्रीति, एकता और सहयोग का सर्वथा अभाव हो गया है।

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' ।
इत्यादि वचनैर्योगी कृष्णो वर्णचतुष्टयम् ॥५॥
प्रोवाच तच्च सकलं गुणकर्मस्वभावजम् ।
अतो विरुद्धा सततं जातिभेदस्य पद्धतिः ॥६॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः' इत्यादि वचनों द्वारा गुण कर्म पर आश्रित चार वर्णों का ही प्रतिपादन किया था। अतः यह जन्म पर आश्रित जातिभेद की पद्धति शास्त्रीय वर्णव्यवस्था के विरुद्ध है।

खण्डनीया सुधीभिः सा देशोद्धारमभीप्सुभिः ।
वैषम्यं वर्धयन्ती सा, यतोऽधोगतिकारणम् ॥७॥

इसका प्रत्येक देश और समाज के हितैषी को खण्डन करना चाहिये, क्योंकि इससे विषमता बढ़ती और समाज की अवनति का यह मूल कारण है।

आश्चर्यविषयोऽयं हि, षट् कोटिभ्योऽधिका जनाः ।
पंचमा इति गण्यन्ते, अस्पृश्या अन्त्यजा इति ॥८॥

आश्चर्य की बात यह है कि अब लगभग ६ करोड़ आदमियों को अस्पृश्य (अछूत), पञ्चम आदि नामों से पुकारा जाता है और घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

दृते दृ ꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (यजुर्वेद ३६ । १८) ॥

एवं यदा मित्रदृशा जगत्यां द्रष्टुं समस्तं खलु भूतजातम् ।
आदेश एवातिशुभः श्रुतेर्हि, कथं तदाऽस्पृश्य जनादिसत्ता ॥९॥
वेदोदिता साधयितुं सुविज्ञैः सा शक्यते सत्यजिघृक्षुभिस्तु ।

यजुर्वेद के ३६।१८ मन्त्र 'दृते दृ ꣳह मा०' इत्यादि, द्वारा सब प्राणियों को मित्र दृष्टि से देखने का

(१) श्री पण्डित धर्मदेवजी आर्य-स्मृति नामक एक ग्रन्थ लिख रहे हैं। उस ग्रन्थ का एक प्रकरण लेखक ने वैदिक विज्ञान के पाठकों के परिचयार्थ इस लेख रूप में प्रकाशित किया है (सम्पादक)।

उपदेश और प्रार्थना है, तब किसी को भी अस्पृश्य (अछूत) मानना वेद की शिक्षा के अनुकूल कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

न मित्रभावो जगतीह जातु, अस्पृश्यताभावसमर्थकः स्यात् ॥१०

क्या सबको मित्र समझना और अस्पृश्य मानना ये दोनों भाव परस्पर विरुद्ध नहीं हैं ?

अवैदिकी नूनमतः प्रथेयम्, अन्याययुक्ता घृणया समेता ।
निवारणीया सकलैः समेत्य, येषां समाजाभ्युदयाभिकाङ्क्षा ॥११

अतः यह अस्पृश्यता की प्रथा—जो घृणा सूचक और अन्याय युक्त है—सर्वथा अवैदिक है, जिसे समाज की उन्नति की इच्छा रखने वाले सब सज्जनों को मिलकर सर्वथा दूर कर देना चाहिये ।

"समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति" ॥१२॥
ऋक् १० । १९० । ४ ॥

"सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या" ॥१३॥
अथर्व० ४ । ३० । १ ॥

"हे मनुष्यो ! तुम सबके संकल्प, मन और हृदय समान हों, ताकि तुम परस्पर सहयोग कर सको ।"

"मैं परमेश्वर तुम्हारे अन्दर प्रेम वा सहृदयता तथा अद्वेष के भाव को स्थापित करता हूँ । तुम आपस में ऐसे प्रेम करो जैसे कि गौ अपने नवजात बछड़े के साथ करती है ।"

इमं पवित्रमादेशं, समचित्तत्ववर्धकम् ।
ददद्वेदः कथं घोरम्, अस्पृश्यत्वं समर्थयेत् ॥१४॥
एवं सौहार्दसद्भावं सर्वेष्वप्यादिशन् कथम् ।
वेदोऽन्याय्यमिदं घोरमस्पृश्यत्वं समर्थयेत् ॥१५॥

जो वेद 'समानी व आकूतिः०' और 'सहृदयं सामनस्यम्०' इत्यादि मन्त्रों द्वारा पवित्र आदेश करता है, वह वेद इस घोर, अन्याययुक्त, अस्पृश्यता की प्रथा का समर्थन कैसे कर सकता है ?

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं, ततो न विजुगुप्सति" ॥१६॥
(यजु० ४० । ६) ॥

इति याजुष मन्त्रस्याधारेणोपनिषत्त्वपि ।
आस्तिकस्य घृणाभावं निषेधयति सर्वथा ॥१७॥

यजुर्वेद के मन्त्र "यस्तु सर्वाणि भूतानि०" के आधार पर ईशोपनिषत् प्रतिपादन करती है कि 'जो मनुष्य सब प्राणियों में एक ईश्वर को देखता है और सारे प्राणियों का आधार उस एक ईश्वर पर समझता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता ।' इस प्रकार अस्पृश्यता की मूलभूत घृणा का, आस्तिकों के लिये, सर्वथा निषेध उपनिषत् में पाया जाता है ।

"सर्वभूतेषु चात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी, स्वाराज्यमधिगच्छति ॥१८॥
(मनु० १२ । ९१) ॥

इति मानववाक्यं च, वेदाधारेण चोदितम् ।
तमेव समताभावं, संपोषयति शोभनम् ॥१९॥

इसी वेद मन्त्र के ही आधार पर मनु भगवान् ने भी 'सर्वभूतेषु चात्मानं' इस श्लोक द्वारा बताया है कि 'जो पुरुष सब प्राणियों में परमात्मा को और सब प्राणियों को परमात्मा में समरूप से देखता है वह स्वराज्य (आन्तरिक और बाह्य) प्राप्त कर लेता है ।' इसमें उसी वेदोक्त समता के भाव की पुष्टि की गई है और—

साम्यभावं समाश्रित्य, स्वराज्यस्याप्तिरत्र या ।
प्रोक्ताभ्यन्तरबाह्यस्य, सा महत्त्वयुता भृशम् ॥२०॥

समता का भाव रखने से ही सब प्रकार के स्वराज्य की प्राप्ति बताई गई है।

स्वकीयबन्धून् ये दास्ये, स्थापयन्ति नराधमाः।
न ते स्वराज्यमर्हन्ति, न्यायकर्तुः सुशासने ॥२१॥

जो नीच अपने बन्धुओं को ही अस्पृश्य समझ कर दासता में रखते हैं, वे न्यायकारी ईश्वर के शासन में कभी स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकते—यह महत्व-पूर्ण बात यहां कही गई है।

"सर्वभूतेषु चात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः" ॥२२॥

इत्युक्त्या भगवान् कृष्णस्तमेवार्थमपोषयत्।
समदर्शित्वभावं चावर्धयत्प्रेमवर्धकम् ॥२३॥

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण महाराज ने 'सर्वभूतेषु चात्मानम्' श्लोक द्वारा बताया है कि 'सच्चा योगी वही है, जो सब प्राणियों में परमात्मा को देखता हुआ प्रीतिवर्धक समभाव को रखता है।' और—

"विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः" ॥२४॥
(गीता ५। १८)

इत्यादिकं श्लोकजातं भगवत्कृष्णचोदितम्।
सुचारूपदिशत्साम्यम्, अस्पृश्यत्वनिरोधकम् ॥२५॥

"विद्याविनयसम्पन्ने०" श्लोक द्वारा बताया है कि पण्डित या विद्वान् वही होते हैं "जो विद्या-विनय से युक्त ब्राह्मण, चण्डाल, गौ, हाथी, कुत्ता—सबमें समता की दृष्टि रखते हैं। इन सब वाक्यों से स्पष्टतया अस्पृश्यता का निषेध होता है। इसलिये—

वेदादिशास्त्रनिष्णाता अपि ये साम्यवर्जिताः।
नहि ते पण्डिता नूनमिति कृष्णवचः शुभम् ॥२६॥

जो वेद शास्त्र को जानते हुए भी इस समता के भाव को नहीं रखते, वे श्रीकृष्ण के वचनानुसार पण्डित नहीं कहला सकते।

न केवलं पण्डिता न, भक्ता अपि न ते मताः।
भक्तानां लक्षणं तेषु यतो न घटते ऽमलम् ॥२७॥

इतना ही नहीं, वे भक्त भी नहीं बन सकते क्योंकि—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी" ॥२८॥
(गीता १२। १०) ॥

इस श्लोक के द्वारा भक्त का लक्षण करते हुए श्री कृष्ण ने कहा है कि 'जो किसी प्राणी के साथ द्वेष नहीं करता, जो सब पर मित्रता तथा दयादृष्टि रखता है, जो सुख-दुःख में सम रहता है, वही सच्चा भक्त है।' भक्त का यह लक्षण उनमें नहीं घटता।

इत्यादि लक्षणं यत्तु भक्तानां वेदमूलकम्।
प्रोक्तं कृष्णेन तन्नूनम् अस्पृश्यत्वं निवारयेत् ॥२९॥

भगवान् कृष्ण से किये हुए भक्त के इस लक्षण द्वारा भी अस्पृश्यता का स्पष्ट खण्डन होता है।

अतो ऽन्याय्या सुघोरेयं, सत्यधर्मविनाशिनी।
अस्पृश्यत्वप्रथा सद्भिर्वारणीया प्रयत्नतः ॥३०॥

इसलिये सच्चे धर्म का नाश करने वाली, अन्याय युक्त, इस घोर अस्पृश्यता की प्रथा को सब सज्जनों को मिलकर हटाना चाहिये।

दुरभ्यासा अशौचाद्या मद्यपानादिकास्तथा।
तेषां निवारणायापि यत्नः कार्यो महाजनैः। ३१॥

जो—सफाई न रखना और मद्यपान आदि बुरी आदतें इन दलित (हरिजन) भाइयों के अन्दर आ गई हैं, उनके हटाने का भी सबको विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

यतो हि दूरे संस्थाप्य, दयनीयान् स्वबान्धवान् ।
त एवात्र दुरभ्यासवर्गस्योत्तरदायिनः ॥३२॥

क्योंकि दया के योग्य अपने बन्धुओं को सर्वथा दूर रखकर उनकी बुराइयों के लिये हम ही वस्तुतः उत्तरदाता हैं ।

प्रायश्चित्तस्वरूपेण, तस्मान्न्यायप्रियैर्जनैः ।
दलितोद्धारकार्याय, सर्वमेवोपयुज्यताम् ॥३३॥

इसलिये, और नहीं तो कम से कम प्रायश्चित्त के ही रूप में, न्यायप्रिय सज्जनों को चाहिये कि दलितोद्धार के काम में अपना तन, मन, धन लगा देवें ।

"उत देवा अवहितं, देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवाः देवा जीवयथा पुनः" ॥३४॥
(अथर्व० ४ । १३ । १)

इत्ययं वैदिकादेशः, कर्त्तव्यं विदुषां शुभम् ।
पतितोद्धाररूपं हि समादिशति सन्ततम् ॥३५॥

"उत देवा अवहितम्." इस मन्त्र द्वारा वेद सब विद्वानों को आदेश करता है कि 'जो पतित हैं उनका तुम उद्धार करो, जो पापी हैं उनका भी तुम सुधार करके उनके अन्दर नवजीवन का संचार करो ।' पतितोद्धार रूप यह वेद का आदेश सब विद्वानों को मानना चाहिये ।

पावनः पतितानां च, भगवान् करुणाकरः ।
कथं स तु भवेद् भ्रष्टः कस्यापि स्पर्शनात्क्वचित् ? ॥३६॥

करुणासागर भगवान् पतितपावन हैं, वे किसी के स्पर्श से कैसे भ्रष्ट हो सकते हैं ?

किन्तु तद् भजनान्नूनं सर्वोद्धारः सदा भवेत् ।
मन्दिरेषु समस्तेषु, वेदविद्याप्रसारिषु ॥३७॥

गन्तव्यमित्यतः सर्वैं निरातङ्कं तु धार्मिकैः ।
सन्ध्योपासनहोमादि, तत्र कार्यं मुदायुतैः ॥३८॥

किन्तु भगवान् के भजन से ही सबका उद्धार हो सकता है, अतः वेद विद्या का प्रचार करने वाले मन्दिरों में सब धार्मिक पुरुषों को निःशङ्क होकर जाना चाहिये और वहां सन्ध्या, हवन आदि वैदिक कर्म करने चाहियें ।

ब्रह्मवर्चस्विनो विप्राः पावयन्ति जनान् सदा ।
पतितानपि चेत्सत्यं, ब्राह्मणास्ते तपोधनाः ॥३९॥

ब्रह्म तेजोयुक्त सच्चे ब्राह्मण सब पतितों को भी पवित्र करते हैं ।

ते ऽ पि भ्रष्टत्वमाशङ्क्य, अस्पृश्यत्वसमर्थनम् ।
कुर्युर्यदि न ते विप्राः किन्तु दुर्बलमानवाः ॥४०॥

यदि वे भी भ्रष्ट होने की आशंका करके अस्पृश्यता का समर्थन करें, तो वे ब्राह्मण नहीं कहला सकते क्योंकि वे ब्रह्मतेज से रहित दुर्बल मनुष्य हैं ।

ब्रह्मतेजोविहीनाश्च ब्राह्मणास्ते नहि ध्रुवम् ।
अन्यथा पतितोद्धारशक्तिस्तेष्वद्भुता भवेत् ॥४१॥

अन्यथा, यदि वे सच्चे ब्राह्मण हैं, तो उनके अन्दर पतितोद्धार की अद्भुत शक्ति होनी चाहिये ।

इति शालासु सर्वासु, मन्दिरादिषु चैव हि ।
सर्वत्रापि निरातङ्कं, प्रवेशः प्रेमसूचकः ॥४२॥
सर्वेषां जायते यत्र, समाजो देश एव च ।
स एवोन्नतिमाप्नोति, न तु वैषम्यवर्धकः ॥४३॥

इस प्रकार जिस समाज और देश में सब पाठशालाओं तथा मन्दिर आदि में सबका प्रेम सूचक निःशङ्क प्रवेश होता है, वही समाज और देश उन्नत हो सकता है न कि परस्पर भेदभाव को बढ़ाने वाला ।

आहारपानविषयेष्वपि साम्यप्रदर्शनम् ।

मद्यमांसादिकं हित्वा, कार्यं प्रीत्यन्वितैर्जनैः ॥४४॥

खान पान के विषय में भी मद्य मांसादि का परित्याग करके सबको प्रेम पूर्वक समता का भाव दिखाना चाहिये । यही उपदेश—

"समानी प्रपा सह वो अन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः" ॥४५॥

(अथर्व ४ । ३० । ६)

आदि मन्त्रों द्वारा वेद देता है ।

अयं सुमन्त्रः समताविचारम्, आहारपानादिषु संव्यनक्ति ।

असंशयं प्रेम विवृद्धये हि, सहायकं तत्सहभोजनं स्यात् ॥४६॥

निस्सन्देह सहभोज, प्रेम की वृद्धि का, एक प्रधान साधन है ।

तस्मात्समस्तैरपि मद्यमांसाद्यसेव्यजातं नितरां विहाय ।

प्रीत्या विशिष्टावसरेषु चिन्हं, सम्भूय भोजादिकमत्र कार्यम् ॥४७

अतः सबको चाहिये कि मद्य मांसादि अभक्ष्य और अपेय पदार्थों को छोड़कर, विशेष अवसरों पर प्रीतिसूचक सहभोज किया करें ।

वेद में विमान

(ले० श्री पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय एम० ए०)

प्रायः लोग कहा करते हैं कि ऋषि दयानन्द ने खींचातानी करके विमान तार आदि को वेदों के गले मढ़ दिया है । हम ऐसे लोगों के लिये अथर्व वेद के तृतीय काण्ड का १५ वें सूक्त देते हैं । इस सूक्त के १ ले मन्त्र का टुकड़ा यह है:—

'इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि'

अर्थात् मैं वणिक् इन्द्र या शक्तिशाली व्यापारी को प्रेरणा करता हूं ।

इसी मंत्र के अन्त में है:—

'धनदा अस्तु मह्यम्'

अर्थात् वह मेरे लिये धनदेने वाला हो ।

यह प्रसिद्ध है कि व्यापार में लक्ष्मी का वास है ।

इसी मंत्र की संगति अगले मंत्र से लगाइये:—

ये पन्थानो बहवो देवयाना
अन्तरा द्यावा पृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन
यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ (अथर्व ३।१५।२)

अर्थात् "जो बहुत से देवों की यात्रा के योग्य मार्ग जमीन और आसमान के बीच में हैं वे मुझको खाद्य पदार्थों से युक्त होकर प्राप्त हों जिससे 'क्रीत्वा' अर्थात् व्यापार के द्वारा मैं (धनम्) धन को (आहराणि) प्राप्त हो जाऊँ ।

ग्रिफिथ इसका अनुवाद यों करता है:—

The many paths which Gods are wont to travel, the paths which go *between the earth and heaven.*

May they rejoice with me in milk & fatness that I may make rich profit by my purchase.

यह (अन्तरा द्यावा पृथिवी) (between the earth & heaven) अर्थात् जमीन और आसमान के बीच के कौने से मार्ग हैं जिनमें 'क्रीत्वा' (by purchase) अर्थात् व्यापार करके हमको धन की प्राप्ति हो सकती है ? यहां न तो इन्द्र की परियों का वर्णन है न भूत प्रेत का । यहां तो शुद्ध 'वणिज्', 'धन', 'क्रीत्वा' और 'पन्थानः' का उल्लेख है । आजकल जिनको वायुयान कहते हैं वही तो यह देवयान थे जिनका जमीन और आसमान के बीच में चलना बताया जाता है ।

वैदिक शब्द 'कपोत' और महर्षि दयानन्दजी

[ले०—आर्यसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक श्री पं० भक्तरामजी, डिंगानिवासी]

यह 'कपोत' शब्द ऋग्वेद १० । १६५ । १ में और अथर्ववेद का० ६ । सू० २८–३० में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है और कपोत, ऋग्वेद के उपरोक्त सूक्त का ऋषि भी है ।

ऋषि होना इस बात को निश्चय करता है कि कपोत नाम का कोई विद्वान् आप्त, जितेन्द्रिय पुरुष हो गुजरा है । महर्षि दयानन्दजी वेदभाष्य भूमिका के पृष्ठ ३४७ (प्रथमवार) पर लिखते हैं कि:—

"ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेद मन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे । फिर उनमें से जिस जिस मन्त्र का अर्थ जिस जिस ऋषि ने प्रकाशित किया उस उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया ।"

उसी पृष्ठ पर वाणी का फल क्या होता है ? इस का उत्तर देते हुए महर्षि लिखते हैं कि:—

"अर्थ को ठीक २ जान के उसी के अनुसार व्यवहार में प्रवृत्त होना वाणी का फल है और जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा ऋषि कहलाते हैं । इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था वे ही ऋषि हुए थे । जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है" इत्यादि ।

विशेष मूल में देखकर पाठकों को लाभ उठाने का यत्न करना चाहिये ।

यहां पर तो इतना लेख उद्धृत करने का तात्पर्य केवल यह है कि महर्षि दयानन्द और अन्य सब पूर्वज आचार्य, ऋषि साक्षात् धर्मात्मा विद्वान् को ही मानते थे । परन्तु सायणाचार्यजी तथा उनके अनन्य भक्त श्री पं० सातवलेकरजी आदि वेद मन्त्रों में आये 'कपोत' शब्द का अर्थ—पक्षी विशेष, कबूतर—करते हैं । और इसी प्रकार का अर्थ अन्य नदी, मत्स्य, श्येन, ऋषभ, सूर्या, सरमा, लव, शबर, गोधा, सुपर्णादि ऋषिनामों का भी वे विद्वान् करते हैं । उन विद्वानों को किञ्चिन्मात्र भी कभी ध्यान नहीं आया कि मनुष्य से अतिरिक्त कौन जीवधारी ऋषि बन सकता है ? जब वाणी उनको प्राप्त नहीं होती, तब वे वाणी के फल को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

यहां पर एक और निवेदन कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूं कि वेद मन्त्रों के अर्थ को जानने जनाने के लिये किस योग्यता की आवश्यकता है । महर्षि 'वेदभाष्य भूमिका' पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं कि—

'जब तक सत्य प्रमाण सुतर्क वेदों के शब्दों का पूर्वापरप्रकरण, व्याकरणादि वेदांगों, शतपथादि ब्राह्मणों, पूर्व मीमांसादि शास्त्रों का यथावत् बोध न हो और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके संग से पक्षपात छोड़ के आत्माकी शुद्धि न हो तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता" इत्यादि ।

इसलिये वैदिकाचार्य के कथनानुसार इस परिणाम पर विद्वानों को सुतरां पहुँच जाना चाहिये कि संस्कृत भाषा का चाहे कितना ही विद्वान् क्यों न हो वेद का यथार्थ अर्थ जानने के योग्य नहीं होता। यही कारण है कि आर्य विद्वान् भी वेद के समझने में गलतियां करते हैं।

इसी रूढ़ि के अनुसार अर्थ करते हुए 'वैदिक धर्म' में पं० श्री सातवलेकरजी, ऋग्वेद के इसी (१०। १६५। ४) मन्त्र पर लिखते हैं कि "हिन्दुओं में शकुन-अपशकुन का जो रिवाज है उसका मूल वेद ही में है ऐसा कहना अनुचित न होगा।" दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि "इस मन्त्र में उल्लू के बोलने वा कबूतर के पैर से अग्नि सेकने आदि अपशकुन से उत्पन्न आपत्ति के निवारण की प्रार्थना है। अथर्व वेद का० ६ सूक्त २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा वर्णन मिलता है।"

इस लेख में मैं पाठकों को दर्शाना चाहता हूँ कि सायणाचार्य जी के आधार पर किया गया यह अर्थ हास्यप्रद है और लेखकों का वेद के न जानने का परिचय देता है। केवल उलूक तथा कपोतादि शब्दों को रूढ़िवाद पर लगाने का ही परिणाम है।

इस मन्त्र का ऋषि कपोत है। क्या कबूतर भी ऋषि हो सकते हैं? कदापि नहीं। तो फिर विद्वानों को अवश्य विचारना चाहिये कि 'कपोत' शब्द का अर्थ अवश्यमेव कुछ और ही होगा, कबूतर कदापि नहीं।

ऋषि-शैली का अनुसरण करने वाले विद्वानों को यह बात अवश्य विचार लेनी चाहिये कि क्या कबूतर पक्षिविशेष कभी वेद मन्त्रों का द्रष्टा और उपदेष्टा होना सम्भव है? कदापि नहीं। आर्य समाज के विद्वान् ऐसा मानने के लिये कदापि उद्यत न होंगे।

इसलिये "कपोतो नैर्ऋतः" जो इस ऋग्वेद के सूक्त का ऋषि है, किसी अपूर्व गूढ़ार्थ का द्योतक है।

महर्षि दयानन्दजी अपने बनाये उणादिकोष (१-६२) में लिखते हैं:—

"ओतच् प्रत्ययो वकारस्य पकारः कवतेः विचित्रवर्णो भवतीति कपोतः" (उणादि १-६२)

जिसका स्पष्टार्थ यह है कि कपोत शब्द का मूल धातु 'कव्' है। धातुपाठ के देखने से ज्ञात होता है कि कव् धातु का अर्थ है कि—to praise, to describe, to compose, to paint, to produce इसी धातु से कवि शब्द बनता है, जिसका अर्थ विद्वान् (मेधावि नाम। निघं० ३-१५) है। यास्काचार्यजी लिखते हैं कि—"मेधावी कविः, क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा" (नि० १२।१३।१)।

परन्तु दुर्गाचार्यजी 'कव्' धातु के अर्थ के सम्बन्ध मे निम्न लिखित लेख लिखते हैं। यथाः—

"कवते." धातोः गत्यर्थस्य कविः, कवतिः, कवति गच्छत्यसौ नित्यं किञ्च कवित्वादेव"

पस, धात्वर्थ को विचार करते हुए 'कपोत' शब्द का वैदिक अर्थ विद्वान्, मेधावी, क्रान्तदर्शी, क्रान्तिकारी पुरुष होता है। ऐसा ही पुरुष विशेष वेद का ऋषि बनने के योग्य होता है।

इसी प्रकार इसी मण्डल के १६६ वें सूक्त का ऋषि वृषभ है, जिसका रूढ़ अर्थ बैल है और १६८ वें सूक्त का ऋषि अनिल और १६९ वें सूक्त का ऋषि शबर है। क्या कोई विद्वान् यह मानने के लिए उद्यत होगा कि कोई हबशी (Barbarian) या राक्षस

(Savage) उस सूक्त का ऋषि बन गया ? कदापि नहीं। मीमांसा शास्त्र का व्याख्याता भी शबर एक प्रसिद्ध विद्वान् हुआ है, इत्यादि।

इससे मेरा अपना अनुमान है कि ये सब शब्द गुणवाची हैं और सूक्त में कथित विशेष शक्तियों का वर्णन करने से उस २ ऋषि का भी नाम उसी गुण से व्याख्यात हो गया। यही कारण है कि इस लेख का 'कपोत' वैदिक शब्द भी उपरोक्त सूक्त में वर्णित है।

दूसरा पद जो इस वैदिक शब्द से सम्बन्धित है वह 'नैर्ऋत' है। इस सूक्त के ऋषि का नाम "नैर्ऋत कपोत" लिखा गया है। निर्ऋति' का अर्थ श्री सायणाचार्यजी तथा उनके अनुयायी विद्वान् 'पापदेवता' करते हैं और पं० श्री सातवलेकरजी वैदिक धर्म में यही अर्थ करते हैं। क्या पाप देवता से सम्बन्ध रखने वाला कबूतर पक्षी विशेष वेद का ऋषि होना सम्भव है ? कदापि नहीं। महर्षि ने ऋषि के अर्थ का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिख दिया है कि जो पुरुष अथवा स्त्री साक्षात धर्मात्मा हो वही ऋषि हो सकता है। इसलिये 'निर्ऋति' शब्द का अर्थ कुछ और होना चाहिये।

निघंण्टु (१।१) में 'निर्ऋति' शब्द पृथिवी नाम में पढ़ा गया है जिससे ज्ञात होता है कि जो पूर्ण विद्वान् कपोत (कवि), पृथिवी सम्बन्धी सब प्रकार की विद्याओं से सम्पन्न हो, उसको "नैर्ऋत कपोत" कहा गया है और वही साक्षात् धर्मात्मा इस सूक्त का ऋषि कहलाता है।

अथर्व वेद के कां० ६ के २७, २८ और २९ सूक्तों का देवता भी 'निर्ऋति' है। ऋग्वेद के मन्त्रों और अथर्ववेद के इन्हीं मन्त्रों में बहुत थोड़ा अन्तर है। इससे अच्छे प्रकार ज्ञात हो जायगा कि इन सूक्तों में पृथिवी सम्बन्धी अथवा राज-प्रजा सम्बन्धी विद्याओं का ही वर्णन है। आशा है कि पाठक विद्वान् लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

इतना और निवेदन करदूँ कि इन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए पं० श्रीसातवलेकरजी लिखते हैं कि "इस सूक्त के निर्देश से पता लगता है कि इस कपोत विद्या में और भी अधिक बातें हैं जिनसे यह कबूतर बुरा और भला भी बन सकता है, परन्तु इसका पता अभी तक नहीं लगा है। यह सूक्त पाठभेद से ऋग्वेद के १०।१६५।१–३ में है। परन्तु वहां देखने से भी इस पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। अतः खोज करने वाले पाठकों को उचित है कि इस विषय की खोज करें और इस विद्या का आविष्कार करें।

फिर पृष्ठ २९२ पर आप लिखते हैं कि–"इस मन्त्र के पूर्वार्ध का भाव पता नहीं चलता।" मेरे अनुभव में यही बात आती है कि श्री पण्डितजी ने श्री सायणाचार्यजी का अनुसरण कर 'कपोत' और 'निर्ऋति' शब्दों को उलटा जानकर ही धोखा खाया है। यदि ऋषि की शैली से सहायता लेते तो अवश्य उत्तम परिणाम पर पहुँच जाते और भ्रम में पड़ कर ऐसा न लिखते।

मूलमन्त्र इस प्रकार है:—

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे
॥ ऋ० १०।१६५।१ ॥

हे (देवाः) विद्वानो ! (यत्) यदि (कपोतः दूतः) कोई कवि विद्वान् कार्यसाधक किसी राजा का

दूत, कार्यकर्त्ता अधिकारी, कर्मचारी (निर्ऋत्याः) भूमिसम्बन्धी अथवा अन्य राज्य-प्रजा विषयक (इषितः) किसी प्राप्तव्य जानने योग्य पदार्थ की (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (इदम्) घर में अर्थात् तुम्हारे पास या तुम्हारे राज्य में (आ जगाम) आ जावे तो तुम्हारा कर्तव्य है कि (तस्मा अर्चाम् कृणवाम) उसकी अच्छी प्रकार से तुम लोग शुश्रूषा, पूजा, सत्कार आदि सर्व प्रकार से उसकी प्रतिष्ठा करो ताकि किसी प्रकार की (निष्कृतिं) राज्य विषयक कृति, कर्तव्य में विघ्न न हो जिससे (द्विपदे) पुत्र भृत्यादि सम्पूर्ण मनुष्य प्रजा और (चतुष्पदे) गौ अश्वादि पशुओं में (शम्) कल्याण बना रहे।

इस मन्त्र में विद्वान् कर्मचारियों के प्रति उपदेश है कि यदि कोई किसी अन्य राजा का भेजा हुआ विद्वान् दूत राज्य कर्मचारी किसी राज्य कार्य के सम्पादनार्थ तुम्हारे राज्य में पधारे तो उसकी अच्छी प्रकार से आदर सत्कार पूर्वक सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। ऐसा न होने पर अनेक प्रकार के वैमनस्य उत्पन्न हो जाने से परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाने के कारण प्रजा-पशुओं में हानि होती है जैसा कि परस्पर युद्ध हो जाने से प्रतिदिन देखा जाता है।

यह इस वेद मन्त्र का भौतिक अर्थ है। यदि अध्यात्मसम्बन्धी अर्थ किया जावे तो (देवाः) सम्पूर्ण विद्वानों के प्रति वेद की आज्ञा है अथवा (देवाः) शरीर में रहने वाली सब ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का वर्णन करते हुए वेद उपदेश देता है कि (दूतः कपोतः) लोक और परलोक विषयक कार्य सम्पादनकर्त्ता जीवात्मा (इषितः) प्राप्तव्य पदार्थ ब्रह्म की प्राप्ति के लिए (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (निर्ऋत्याः) पार्थिव शरीर द्वारा (इदम्) इस लोक में (आ जगाम) आता है तो (तस्मा अर्चाम् कृणवाम) तुम सब उसको हर प्रकार से उसकी आज्ञानुसार पूजन सत्कार करो ताकि उसके कार्य सम्पादन में किसी प्रकार की (निष्कृतिं) विघ्नकारी वृत्ति उत्पन्न न होने पावे, जिससे (द्विपदे) द्वित्व गुण सम्पन्न सम्पूर्ण इन्द्रियां और (चतुष्पदे) चतुर्गुण वाली सम्पूर्ण वृत्तियां (शम्) कल्याणकारी बनी रहें।

जब कोई जीवात्मा इस शरीर में वास करता हुआ परमात्मा से मिलने का इच्छुक बनता है तो सम्पूर्ण इन्द्रियां अपने २ विषय में आसक्त और दूसरे विद्वान् पुरुष अपने २ लोभ मोह के वशीभूत हुए आत्मा के इच्छुक पदार्थ की प्राप्ति में विघ्नकारी होते हैं। इसलिये वेद उपदेश करता है कि विद्वानों तथा आत्मा के साधन इन्द्रियों को इस प्रकार सिद्ध करना चाहिये कि वे कार्य सम्पादन में रुकावट न डाल सकें भक्तजनों ने परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति में विघ्नकारी इन्द्रियों को नाश कर देना भी स्वीकार किया जैसे कि सूरदास आदि ने आंखों को निकाल दिया था।

इन्द्रियां द्विपद कैसे होती हैं और वृत्तियां चतुष्पद कैसे ? यह जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। सब विद्वान् जानते हैं कि आंखें दो हैं। कान, नासिका आदि ज्ञानेन्द्रियां दो २ हैं। रसना (जिह्वा) के भी दो ही कार्य हैं—एक बोलना, दूसरा स्वाद लेना। इसी प्रकार हाथ दो हैं, पैर दो हैं। मूत्रेन्द्रिय के भी दो ही काम हैं—मूत्र का बाहर निकालना और प्रजनन (उत्पत्ति) करना। इसी प्रकार गुदा के भी दो ही कार्य हैं—पुरीषोत्सर्ग और अपान वायु का निकालना। मुख भी दो काम ही करता है—अन्नादि

का अन्दर ले जाना और प्राण वायु को धारण करना। मनुष्य के गले में दो प्रकार के दो भिन्न २ साधन बने हुए हैं। यदि कभी अकस्मात वायु की नालिका में कोई अन्न का अंश चला जाये, जब तक वह बाहर नहीं निकल जाता, जीवन कठिन हो जाता है। इस प्रकार ये सब कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां द्विपद कहलाती हैं। आत्मा के अन्तःकरण चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चतुष्पाद हैं। और अविद्या रूपी क्षेत्र में चार ही प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं—अस्मित्त, राग, द्वेष और अभिनिवेश। और विद्या द्वारा चार प्रकार की ही वृत्तियां उत्पन्न होती हैं—शम, दम, तितिक्षा और उपरति। आत्मा के दुःखी होते ही ये सब द्विपद और चतुष्पद साधन दुःखित हो जाते हैं। जब तक ये सब देवता लोग आत्मा के सहायक नहीं बने रहते, किसी प्राप्तव्य पदार्थ को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार विचार करने से यह सारा सूक्त सुन्दर और वैज्ञानिक अर्थों का बोधक हो जाता है। शेष मन्त्र अगले लेख में दूँगा।

एकता

[विद्याभास्कर श्री पं० लक्ष्मीनारायणजी महाविद्यालय ज्वालापुर]

नीर क्षीर भिन्न भिन्न, लोक में प्रत्यक्ष,
आपस में मिल जिमि पय पद पायेंगे।
काच मणि भिन्न सिद्ध, किन्तु सूर्य-किरणों से,
मिल जाने पर भिन्न नहीं देख पाएंगे॥
गन्ध युक्त गन्ध हीन सुमन अशेष जिमि।
एक गुणनद्ध हो भेद न दिखाएंगे।
एकता के तार मांहि छूत अछूत तिमि,
एक हो न हिन्द में अछूत रह जाएंगे॥

हस्तस्वरों के नियम

सामवेद के हस्तस्वर

परिभाषा—(१) प्रत्येक अंगुली और अंगूठे में तीन पर्व या पोरू होते हैं। अग्र भाग का पोरू प्रथम पर्व, बीच का मध्य पर्व और मूल का तृतीय या मूल पर्व कहा जाता है।

(२) हाथ दो हैं दायां, बायां, दक्षिण या वाम। दक्षिण हाथ से भोजन किया जाता है और दूसरा वाम है। अथवा पूर्वदिशाभिमुख होकर दक्षिण दिशा का हाथ 'दक्षिण' और उत्तर दिशा का हाथ 'वाम' कहाता है।

(३) सब हस्तस्वर दक्षिण हाथ से संकेत किये जाते हैं। जहां वाम से करने का कार्य है वहां 'वाम' विशेष रूप से कहा गया है।

(१) सामवेद में अक्षरों पर जो स्वरसूचक अंक लगे रहते हैं उनमें १ उदात्त २ अनुदात्त, ३ स्वरित का संकेत है।

(२) १ पर अंगूठा अंगुली से पृथक्, हाथ खुला और अंगुली मिली रहती हैं।

२ पर सीधा अंगूठा तर्जनी के मध्य पर्व (बीच के पोरू) पर आ लगता है।

३ पर सीधा अंगूठा मध्य अंगुली के मध्य पर्व पर आ लगे।

(३) जिस अक्षर पर 'र' हो तो वाम हाथ की कनिष्ठिका, अनामिका, मध्यमा, तर्जनी, अंगुष्ठ क्रम से हतेली पर मोड़ लिये जाते हैं और उसी क्रम से खोले जाते हैं।

(४) 'उ' २ के साथ ही आता है उस समय 'उ' को दर्शाने के लिये मध्यमांगुली मुड़कर अंगुष्ठ मूल पर आकर सटेगी।

(५) 'क' ३ के साथ ही आवेगा। उसको दर्शाने के लिये अंगुष्ठ के प्रथम पर्व को मध्यमा के मूल से लेकर अग्र तक स्पर्श कराते जाना चाहिये।

लौगाक्षि गृह्यसूत्र-व्याख्या

[ले०—सम्पादक]

(३)

ब्रह्मचारी के व्रत

न रुच्यर्थं किंचन धारयेत् ॥ २१ ॥

रुचि के निमित्त किसी वस्तु का धारण न करे ॥ २१ ॥

रुचि का अर्थ है दीप्ति अर्थात् शोभा। शरीर की शोभा बढ़ाने के निमित्त ब्रह्मचारी किसी वस्तु का ग्रहण न करे। सुन्दर वस्त्र धारण करना, कंघी-पट्टी करना आदि कार्यों को जो कि शरीर की शोभा के निमित्त किये जाते हैं। ब्रह्मचारी न किया करे। रुचि का अर्थ प्रीति तथा रति भी होता है। अर्थात ब्रह्मचारी को किसी विशेष वस्तु के साथ अनुराग और मोह नहीं होना चाहिये। अनुराग और मोह से ब्रह्मचारी का हृदय अपने स्वाध्याय तथा तपस्या से उठा रहता है।

न स्नायात् ॥ २२ ॥

और न (रुचि के निमित्त) स्नान करे ॥ २२ ॥

ब्रह्मचारी को प्रतिदिन स्नान करना चाहिये। इस लिये ताकि शरीर स्वच्छ रह सके और शरीर के मल साफ हो सकें। परन्तु क्रीड़ा के निमित्त या आनन्द के निमित्त ब्रह्मचारी को स्नान न करना चाहिये।

उदकं वाभ्युपेयात् ॥ २३ ॥

अथवा उदक के समीप जावे ॥ २३ ॥

अर्थात् ब्रह्मचारी के लिये रुचि से प्रेरित होकर स्नान करना निषिद्ध है। नित्य स्नान तो उसे करना ही चाहिये। इसलिये मनु में लिखा है कि:—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्यात् देवर्षिपितृतर्पणम् ॥

(२ । १७६)

अर्थात् "ब्रह्मचारी नित्य स्नान कर, शुद्ध पवित्र होकर देव यज्ञादि किया करे"।

इस नित्य स्नान में विकल्प है। अर्थात् ब्रह्मचारी या तो कभी २ प्रोक्षण स्नान किया करे या दैनिक मज्जन-स्नान किया करे। जल का मन्त्रपूर्वक शरीर या शरीर के अंगोंपर छिटकना प्रोक्षण-स्नान' कहाता है। इस प्रोक्षण-स्नान का वर्णन सूत्र २३ में किया गया है।

यदि स्नायाद्दण्ड इवाप्सु परिप्लवेत ॥ २४ ॥

यदि स्नान करे तो दण्ड की न्याईं जल में तैरे ॥ २४ ॥

इस सूत्र में मज्जन-स्नान का वर्णन है ऐसे जल में स्नान करना, जिस में डुबकी लग सके 'मज्जन स्नान' कहाता है। अर्थात् ब्रह्मचारी जब मज्जन-स्नान करे तब वह जल में इस प्रकार तैरे जैसे कि दण्ड जल में तैरता है। अर्थात् जल में प्रविष्ट होकर इस उद्देश से शरीर के मलने आदि की क्रिया न करे कि शरीर कान्ति वाला तथा शोभायुक्त हो जाय।

मुण्डो जटिलः शिखी वा ॥ २५ ॥

मुण्ड रहे, जटा वाला रहे अथवा शिखा से युक्त रहे ॥ २५ ॥

इस सूत्र में मुण्ड का अभिप्राय है सिर मुंडवाना और साथ ही शिखा भी मुंडवाना।

सायं प्रातः सन्ध्यामुपासीत ॥ २६ ॥

सायंकाल और प्रातःकाल सन्ध्योपासन किया करे ॥ २६ ॥

पूर्ण आदित्य मण्डल जब तक रहे तब तक के काल को दिन और आदित्य से शून्यकाल को रात्रि कहते हैं। परन्तु जब सूर्य आधा उदित हुआ हो या आधा अस्त हुआ हो तो ऐसे आदित्य से युक्त काल को सन्धिकाल कहते हैं। इस सन्धिकाल में जो कृत्य करना होता है उसे 'सन्ध्या' कहते हैं। इन दोनों सन्ध्या कालों में प्रतिदिन ब्रह्मचारी को सन्ध्या करनी चाहिये।

तिष्ठेत्पूर्वाम् ॥ २७ ॥

पहिली सन्ध्या को खड़े हुए करे ॥ २७ ॥

प्रातः काल की सन्ध्या को खड़े होकर किया करे अर्थात् प्रातःकाल सन्धि वेला में निश्चल रीति से खड़े होकर और पूर्व की ओर मुख कर जाप किया करे। नक्षत्र जब अभी आकाश में दिखाई देते हों तब से आरम्भ कर तब तक जाप करता हुआ खड़ा रहे जब तक कि सूर्य की ज्योति का दर्शन न हो।

आसीतोत्तराम् ॥ २८ ॥

अगली सन्ध्या को बैठ कर करे ॥ २८ ॥

अर्थात् सायंकाल की सन्ध्या का जाप बैठकर करे इस समय मुख पश्चिम दिशा की ओर होना चाहिये। अभी सूर्य रहते सन्ध्या के निमित्त बैठ जाय और तब तक जप करता रहे, जब तक कि आकाश में नक्षत्र न दीख पड़ें।

ओं भूर्भुवः स्वरित्युक्त्वा तत्सवितुरिति गायत्रीं त्रिरन्वाह ॥ २९ ॥

"ओं भूर्भुवः स्वः" यह प्रथम उच्चारण कर 'तत्सवितुः०' इस सावित्री मन्त्र का तीन वार उच्चारण करे ॥ २९ ॥

इस सूत्र में सन्ध्या के स्वरूप का निर्देश मात्र किया है। ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर, शारीरिक कृत्यों से निवृत्त होकर, मुखादि का प्रक्षालन करके या स्नान करके तीन प्राणायाम करे। एक प्राणायाम का परिमाण होना चाहिये १५ मात्रा काल। आंख के निमेष (बन्द हो) पर पुनः जितने काल में स्वभाव से आंख का उन्मेष (खुलना) होता है उस काल को 'मात्रा काल' कहते हैं। एक प्राणायाम का काल १५ मात्रा-काल का होना चाहिये। ये तीन प्राणायाम सन्ध्यानुष्ठान के पहिले करने होते हैं। सन्ध्यानुष्ठान के बीच में भी प्राणायाम करने होते हैं। सन्ध्यानुष्ठान के बीच के प्राणायाम ओंकार से युक्त व्याहृतियों, सावित्री मन्त्र और 'ओं आपो ज्योतिः०–'इन मन्त्रों के पाठ के साथ २ करने होते हैं। इन तीनों मन्त्रों के पाठ के साथ एक प्राणायाम समाप्त होता है। इस प्रकार के प्राणायाम तीन करने चाहियें। तत्पश्चात् अघमर्षण से लेकर सूर्योपस्थानपर्यन्त समग्र विधि समाप्त कर अन्त में "भूर्भुवः स्वः" इन तीन महाव्याहृतियों से युक्त "तत्सवितु ०" इस सावित्री मन्त्र का जप करना चाहिये। सावित्री मन्त्र वेदों में नाना हैं इसी लिये जिस सावित्री मन्त्र का जप करना है उसे 'तत्सवितु०:' इस प्रतीक द्वारा सूत्र में दर्शा दिया है।

प्रागस्तमयान्निष्क्रम्य समिध आहरेद्धरिणी–ब्रह्मवर्चसकाम इति श्रुतेः ॥ ३० ॥

सूर्य के अस्त होने से पहिले ही ग्राम से निकल कर हरी समिधाएँ लाया करे, जिसकी कि कामना हो कि मैं ब्रह्मतेज को प्राप्त करूँ यह श्रुति में कहा है ॥३०॥

जब अभी सूर्य अस्त न हुआ हो तभी ब्रह्मचारी गुरुकुल की चार दीवारी से बाहिर निकल जाय। हर

सायंकाल ८ समिधाएँ जंगल से या ग्राम के बाहिर के वृक्ष से लाया करे। ये समिधाएं हरी होनी चाहिये, सूखी नहीं! इन्हीं समिधाओं द्वारा ब्रह्मचारी को अग्नि-समिन्धन करना होता है, अग्नि में समिदाधान करना होता है। वह ब्रह्मचारी जिसकी कि कामना ब्रह्मतेज के लिये है ऐसा अवश्य किया करे। ब्रह्मतेज का अर्थ है वेद के अध्ययन तथा उसके अर्थ के अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होने वाली समृद्धि।

सायं प्रातः सन्ध्यानि सरणं भैक्षाचरणमग्नीन्धनम् ॥३१॥

सायंकाल और प्रातःकाल सन्ध्यानुष्ठान के निमित्त ग्राम से बाहिर जाना चाहिये, भिक्षा मांगनी चाहिये और अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये ॥ ३१ ॥

हर सायंकाल तथा प्रातःकाल ब्रह्मचारी को सन्ध्या करना आवश्यक है। ब्रह्मचारी सन्ध्या का अनुष्ठान गुरुकुल के घेरे से निकल कर और ग्राम से बिल्कुल बाहिर जाकर किया करे। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय ब्रह्मचारी भिक्षा मांगा करे। ब्रह्मचारी एक ही काल में भोजन न करे अपितु दोनों कालों में भोजन किया करे। इसी लिये दोनों समय भिक्षा मांगना ब्रह्मचारी के लिये लिखा है। उसे अग्नि का प्रदीपन या अग्निहोत्र भी दोनों समय करना चाहिये। आठ लाई हुई समिधाओं में से चार समिधाओं का होम प्रातःकाल करना चाहिये और चार को सायं काल। मध्यान्ह से पूर्व का काल प्रातः काल समझना चाहिये और मध्यान्ह से पीछे का काल सायंकाल।

सायमेवाग्निमिन्धीतेत्येके ॥ ३२ ॥

कई कहते हैं कि सायं काल ही अग्नि को प्रदीप्त करे ॥ ३२ ॥

कई वेदवेत्ता यह कहते हैं कि ब्रह्मचारी को सायं काल ही अग्निहोत्र करना चाहिये। प्रातःकाल का अग्निहोत्र ब्रह्मचारी को न करना चाहिये। इस पक्ष के अनुसार केवल चार समिधाएं ही प्रति सायं काल लानी चाहियें, आठ नहीं।

भैक्षस्याचरणे दोषः पावकस्यासमिन्धने।

सप्तरात्रमकृत्वैत दवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ ३३ ॥

भिक्षा न मांगने तथा अग्नि को प्रदीप्त न करने पर दोष होता है। इन कार्यों के न करने पर ब्रह्मचारी को ७ दिन पर्यन्त अवकीर्णि-व्रत करना होता है ॥ ३३ ॥

सूत्र ३१ में ब्रह्मचारी के ३ कर्त्तव्य दर्शाये हैं और सूत्र ३३ में दो कर्त्तव्यों के न करने पर अवकीर्णि-व्रत करने का निर्देश किया है। इन दो कर्त्तव्यों में दो समयों के सन्ध्यानुष्ठान को नहीं गिना। तब क्या ब्रह्मचारी सन्ध्यानुष्ठान के करने या न करने में स्वतन्त्र है? ऐसा नहीं। इस ३३ वें सूत्र में सन्ध्यानुष्ठान कर्त्तव्य के सम्बन्ध में किया गया प्रमाद भी अवकीर्णि-व्रत के करने में हेतु है। इसलिये इस सूत्र में भिक्षाचरण न करने, अग्नि को प्रदीप्त न करने तथा सन्ध्या के लोप करने, इन तीनों प्रमादों के लिये व्रतानुष्ठान कहा गया है क्योंकि मनु ने प्रातःकाल तथा सायं काल की सन्ध्या के न करने पर भी द्विज को शूद्र कहा है। और उसे सब प्रकार के द्विज-कर्मों का अनधिकारी कहा है। यथाः—

'नोपतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।

स शूद्रवद्बहिः कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः' ॥

(मनु० २। १०३)

सन्ध्योपासन के न करने पर, भिक्षा के लिये भ्रमण न करने पर तथा अग्नि को प्रदीप्त न करने पर

पाप होता है। इस पाप के विनाश के लिये ही ब्रह्मचारी को अवकीर्णि व्रत, प्रायश्चित्त के रूप में अनुष्ठान करना चाहिये। जो ब्रह्मचारी काम से प्रेरित हो कर अपने ब्रह्मचर्य के नियम के विरुद्ध वीर्य का पात करता है उसे अवकीर्णी कहते हैं। उसे जो व्रत करना होता है वही व्रत इन तीन कर्त्तव्यों के न करने पर करना होता है। अवकीर्णि-व्रत यह है कि "ब्रह्मचारी सात घरों से अपनी भिक्षा मांगे, और भिक्षा मांगते हुए अपने अपराध का भी कथन साथ २ करे, इस प्रकार प्राप्त भिक्षा द्वारा केवल एक काल ही भोजन करे, प्रतिदिन तीन वार स्नान किया करे, इस प्रकार एक वर्ष तक लगातार करने पर ब्रह्मचारी शुद्ध होता है।

इस प्रकार सन्ध्योपासन आदि कार्यों में प्रमाद होने पर ब्रह्मचारी को अवकीर्णि-व्रत करना होता है। क्या ब्रह्मचारी इस व्रत को पूरे वर्ष तक करे, जैसे कि यह व्रत उस ब्रह्मचारी को करना होता है जो कि वास्तव में अवकीर्णी होने का दोष करता है? सूत्रकार कहता है कि सन्ध्यानुष्ठान आदि सम्बन्धी अपराधों में ब्रह्मचारी केवल सात दिन तक अवकीर्णि-व्रत का आचरण करे, वर्षपर्यन्त नहीं। अन्य आचार्य यह कहते हैं कि सन्ध्योपासनादि कर्म यदि ब्रह्मचारी ने तीन दिन तक नहीं किये तो उसे अवकीर्णि-व्रत करना होता है और यह अवकीर्णि-व्रत उसे वर्ष पर्यन्त ही लगातार करना होता है। अपराध यदि सात दिनों से न्यून का हो तो अवकीर्णि-व्रत एक वर्ष से कम समय तक करना होता है और यह अपराध यदि सात दिनों से अधिक का हो तो यह व्रत एक वर्ष से भी अधिक समय के लिये करना होगा।

(यथाक्रम)

धर्म के तत्त्व और सोशल-इज़्म

[ले०—श्री महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज]

जब युरोप में रोमन जाति की तूती बोल रही थी और युरोप में सब कुछ वही थे, उस वक्त उस जाति में दो प्रकार के आदमी पाये जाते थे। या यूं कहो कि रोमन जाति दो भागों में विभाजित थी। एक अमीर और कुलीन (Patrician) और दूसरे साधारण स्थिति के ग़रीब आदमी (Plebian) कहलाते थे। उस समय उन में मेल जोल था और सभी एक दूसरे के आनन्दोत्सवों में सम्मिलित होते थे परन्तु संसार चक्र ने जहाँ पहली श्रेणी को प्रभुता की चोटी पर पहुँचाया वहाँ दूसरे विभाग को निर्धनता की गहरी खाई में फेंका। इस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् दोनों श्रेणियां 'स्वामी' और 'दास' कहलाने लगीं और उनमें अब किसी प्रकार का सामाजिक सम्पर्क (Social Intercourse) शेष नहीं रहा और अब वह समय आया जिसमें मालिक गुलामों पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे। उन में से कुछेक यहाँ उद्धृत किए जाते हैं:—

(१) अमीर लोग मनोरञ्जन के लिये इन गुलामों

को शेरों से लड़ाते थे और जब शेर उन्हें फाड़ डालते थे तब वे प्रसन्न होकर तालियाँ बजाते थे।

(२) जब कोई अमीर शिकार खेलकर थक चुकता और इस थकावट की दशा ही में घर वापस आता तो कुछ गुलाम मार डाले जाते थे और उनके रक्त से थकावट दूर करने के लिए उस अमीर के पाँव धोए जाते थे।

(३) शार लवार (Shar Lewar) एक अमीर अपना मकान बनवा रहा था और राज मजदूर छत का काम कर रहे थे। अमीर ने एक राज को गोली मार दी और जब वह मकान से नीचे गिरा तो उसे गिरते देखकर वह बहुत खुश हुआ।

(४) नीरो रोम के एक बादशाह ने केवल तमाशा देखने के लिए शहर में आग लगवादी थी। और जब ग़रीब लोगों के मकान जल रहे थे और वे इधर-उधर परेशान हुए मारे २ फिर रहे थे तो उन्हें देख कर वह बहुत खुश हो रहा था। इत्यादि इत्यादि—

अपनी रक्षा करने और बदला लेने का विचार प्रकृति ने मनुष्य के स्वभाव में प्रविष्ट कर रखा है। इसलिये जब रोमन जाति के अमीर यह अत्याचार कर रहे थे तो युरोप के पूर्वी भागों में इन अत्याचारों से बचने के लिये ग़रीब और मजदूर लोगों ने एक भ्रातृ-संघ (Brotherhood) स्थापित किया। यह संघ अलैकजैन्ड्रिया (मिश्र) और यरुशलम (-असीरिया) इत्यादि नगरों में खोले गये। संघ के उद्देश्य यह थे:—

(१) भिन्न भिन्न प्रकार की मजदूरी करने वाले सभी उस संघ में सम्मिलित होते थे।

(२) वे सब एक जगह एक ही प्रकार का खाना खाते थे और एक ही प्रकार का कपड़ा पहनते थे।

(३) प्रत्येक मजदूर जो मजदूरी कमाकर लाता था वह उसी संघ के सम्मिलित कोष में (Common Treasury) जमा कर देता था।

(४) हरेक बच्चे की शिक्षा संघ की ओर से होती थी।

(५) सब मिलकर प्रार्थना किया करते थे।

ईसाई धर्म्म के प्रवर्त्तक ईसा भी इसी प्रकार के एक संघ के सदस्य थे जो यरुशलम में स्थापित था। इस संघ के लोगों का विश्वास महात्मा गांधी की नांई अहिंसा (Non-Violence) पर था। ईसामसीह ने भी किसी को कष्ट न देने की शिक्षा इसी संघ से प्राप्त की थी। जब उन्हें यरुसलम के रोमन गवर्नर पीलियट (Piliot) ने अपनी कौंसिल के यहूदी सदस्यों के परामर्श से सूली पर चढ़ाने की आज्ञा दी थी और वे सूली पर चढ़ा दिये गये थे तो पूर्व इसके कि सूली से उतार कर लाठियों से उनकी हड्डियाँ तोड़ी जातीं जैसा कि उस समय प्रायः दस्तूर था निकोडेमिस (Nicodemis) की सलाह से जो उस समय अच्छे डाक्टरों में समझा जाता था युसुफ (Joseph) ने, जो प्रशंसित गवर्नर की कौंसिल का सदस्य था, गर्वनर से ईसा को मरा हुआ बतला कर उसकी लाश दफ़न करने के लिये प्राप्त कर ली, परन्तु ईसामसीह मरे नहीं थे। इसलिये निकोडेमिस ने उसी संघ में यरुशलम ले जाकर उन्हें तन्दुरुस्त कर लिया और वे छः सात महीने तक सूली से उतारे जाने के बाद और जीवित रहे। फिर उनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई और वे समुद्र के किनारे उस संघ के द्वारा ही

कहलाये गये। निकोडेमस और युसुफ भी उसी संघ (Crucifixion by an Eye-witness, Published by the Sarvdeshik Sabha, Delhi) यरूशलम के संघ के प्रेजीडेन्ट ने जिन्हें प्रशंसित संघ के शब्दों में यसीर (Esseer) कहते थे ईसा के सूली लगने के सात वर्ष पश्चात् एक पत्र अलैकजैन्ड्रिया के यसीर (Esseer) को लिखा था उसी से प्रशंसित संघ का अस्तित्व प्रगट हुआ। यही संघ कुछ समय के पश्चात् बहुत से उलट फेर हो जाने पर फ्रीमैसनरी सोसाइटी के रूप में परिवर्तित हो गया। यह संघ था जिसको सोशलइज्म की नींव कह सकते हैं लेकिन उक्त संघ अहिंसा का पोषक था इसलिये उस वक्त के अमीरों पर उसका कुछ प्रभाव न हुआ और उनके अत्याचार की नदी बहती ही रही। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसा ही पहली सदी के सोशलइज्म की भूमि में जिसमें कि अहिंसा का बोलबाला था बदला लेने के ख़याल के बराबर तरक्की करते रहने से वर्तमान सोशलइज्म की नींव पड़ी, जिसमें अहिंसा के लिये कोई स्थान न था और जिसका सब कुछ मार काट ही पर निर्भर था। इसी सोशल-इज्म ने एक समय निहिलिष्ट पैदा किये, दूसरे वक्त में अनारकिस्टों को पैदा किया और अब यह दो रसूतों में मौजूद है।

(१) एक तो सोशलइज्म ही के नाम से, जिस का उद्देश्य है कि पैदावार के साधनों की मालिक सोसाइटी हो। (Ownership of the means of production by Society).

(२) दूसरी सूरत का नाम (communism) कम्यूनिज्म है जिसका उद्देश्य यह है कि संसार से जायदाद की प्राइवेट मिलकियत नष्ट कर दी जाय। (Abolition of all private-property)

इस प्राइवेट मिलकियत को दूर करने में यदि हिंसा की आवश्यकता हो तो वह काम में लाई जाय। और यदि बिना हिंसात्मक उपायों के काम निकल सकता हो तो इसी प्रकार काम निकाल लिया जाय।

रूस के बोलशेविकों का सिद्धान्त इन्हीं दोनों सूरतों की खिचड़ी है।

सोशिलइज्म की बुनियाद पर और किस प्रकार यह सूरतें बदलता और उन्नति करता हुआ वर्तमान अवस्था तक पहुंचा है। इस पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ज्ञात हो जाता है कि इसके भीतर दो विचार प्रारम्भ से अबतक बराबर काम करते रहे हैं। एक बदला लेने का विचार और दूसरा अपनी रक्षा और उन्नति का भाव। इनमें से पहला, बदला लेने का विचार स्थिर नहीं रह सकता, वह जब भी और जहां भी उत्पन्न होगा उसका सदैव ह्रास होगा। दूसरा अपनी उन्नति और रक्षा का भाव है इसे अवश्य स्थिरता प्राप्त रहेगी। दोनों विचारों की गति मालूम हो जाय कि वह किस चाल से चल रहे हैं और किस भविष्य पर पहुँचने वाले हैं। इसके नीचे दोनों के सम्बन्ध में उदाहरण दिये जाते हैं:-

(१) निजी मिलकियत को दूर करके आय का विभाजन सेवा के उपलक्ष में न करके आवश्यकता के विचार से किया जाय जिससे गरीबी और सम्पत्ति के विचार से जो असमानता इस समय पाई जाती है, जाती रहे। यह विचार चूँकि बदला लेने के ही अन्तर्गत है इसलिए यह अधिक समय तक नहीं रह सकता और इसलिए इसके ह्रास के लक्षण दीख

पड़ने लगे हैं। इसमें निम्न घटनाएँ प्रमाण हैं। (१) रूस में किसानों को दर्जे और दौलत के विचार से बोलशेविक एक नहीं कर सके। विवश होकर उनकी असमानता उनको स्वीकार करनी पड़ी है। इस समय रूस के किसान चार श्रेणियों में विभक्त हैं।

(i) ग़रीब जिनके पास अपनी भूमि खेती के लिए नहीं है और जिन्हें बेतराकी (Batrakie) कहते हैं।

(ii) थोड़ी थोड़ी भूमि वाले किसान जिनके पास निर्धनता के कारण जो थोड़ी जमीन ले रखते हैं उनमें भी खेती के साधन–हल–बैल के न होने से५ खेती नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें अपनी जमीन अन्य किसानों को खेती के लिए निस्विदाले पर दे देनी पड़ती है और जिन्हें बेदनजाकी (Bednjaki) कहते हैं।

(iii) मध्यम श्रेणी के किसान जिनके पास भूमि और कृषि के साधन दोनों मौजूद हैं और जिन्हें सरेदंजाकी (Sarednjaki) कहते हैं।

(iv) सम्पन्न किसान जो पहिले दो प्रकार के किसानों को मजदूरी देकर अपनी जमीन की खेती कराते हैं, जिन्हें मोटर तक रखने की आज्ञा प्राप्त है और जिन्हें कुलाकी (Kulaki) कहते हैं। सोवियट सरकार के १९२८–२९ के बजट के अवसर पर सरकार की ओर से कहा गया था कि सरकार को १९२५ ई० से अपने पञ्चवर्षीय प्रोग्राम (New Economic Policy) की सफलता के लिए, खेती के लिए विवश होकर मजदूर रखने और जमीन को लगान पर देने की आज्ञा देनी पड़ी। यह आज्ञा बराबरी के विचार को दूर करके नाबराबरी क़ायम करने वाली है।

(VI) इसी पंचवर्षीय प्रोग्राम के अनुसार कार्य्य करते हुए लैनिन के स्थानापन्न मिस्टर स्टेलिन (Stalin) को जो अनुभव प्राप्त हुआ उसके आधार पर उसने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए थेः—....

In each industry and each factory there are advanced groups of skilled workers who can be refained in employment only by promoting them and their wages. × × × The persecution of speciality has always been considered by us as a harmfull and disgraceful phenomenon. *Therefore let us change our attitude* towards the engineering and technical forces of the *old school*. Let us offer them more care and attention, let us encourage them to work for us × × × a number of comrades think that only communists should be appointed in leading positions in our factories. This is why they often remove capable and efficient non-party workers putting in their place members of the communist party, although these are less capable and less efficient. I need not say that there is nothing more stupid or more reactionary than such a policy,

(Leader 5-8-31.)

स्पष्ट है कि मजदूरी की बराबरी के विचार को स्टेलिन ने रद्द किया है और मजदूरी के नाबराबरी के सिद्धान्त को उसने आवश्यक समझकर स्वीकार

किया है, और कहा है कि जो मजदूर योग्य और चतुर हैं। उन्हें अयोग्य मजदूरों से अधिक मजदूरी देनी चाहिये और उनका उत्साह बढ़ाना चाहिये जिस से वे हमारे लिए काम कर सकें।

यह दो घटनाएं इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि रूस की बोलशेविक सरकार ने, बदला लेने के प्रकार में जो सबको बराबर करने का सिद्धान्त स्थिर कर रक्खा था, दूर कर दिया है। और सदैव के लिये असमानता के सिद्धान्त को उसके स्थान पर अपना कार्य्य-क्रम बना लिया है।

पाठकों को इस सम्बन्ध में यह जानकर आश्चर्य होगा कि फ्रान्स के एक शेखचिल्ली जोजफ पराडहन ने—जो पूंजी को चोरी का माल कहा करता था— यहाँ तक कहने का साहस किया था कि न केवल सम्पत्ति और पद के विचार से सब बराबर होने चाहिये, बल्कि एक समय आने वाला है जब कि बुद्धि, योग्यता और गुणों में भी सब व्यक्ति बराबर ही हुआ करेंगे।

२—अपनी उन्नति और अपनी कला के लिए रूस की सोवियट सरकार जो काम कर रही है उसमें से शिक्षा की उन्नति या कला कौशल के प्रचार के लिए जो काम किये जा रहे हैं। या इसी प्रकार के और काम जो भविष्य में किए जावेंगे वे सब के सब ऐसे काम हैं जिनको अब भी स्थिरता प्राप्त है और आगे भी प्राप्त रहेगी। यह चूंकि निश्चित बात है इसलिए इसके सम्बन्ध में किसी लम्बे चौड़े विवाद की आवश्यकता नहीं है।

जो कुछ ऊपर लिखा गया है उससे बिना किसी आक्षेप के भय के यही परिणाम निकाला जा सकता है कि जो दो विचार बदला लेने और अपनी उन्नति के वर्तमान सोशलइज्मि में मौजूद हैं उनमें से बदला लेने का विचार चाहे, नाबराबरी दूर करने के रूप में हो, चाहे धर्म्म को नष्ट करने की शक्ल में, या अन्य किसी तीसरे वेष में क्यों न हो सोशलइज्मि को इस से निकट भविष्य में ही हाथ धोना पड़ेगा और इसका प्रारम्भ जैसा कि ऊपर प्रकट किया जा चुका है हो भी गया है। लैनिन का क्यों इतना संमान हुआ है, क्यों इसका सिक्का लोगों के हृदय में जम गया उसका, कारण और विशेष कारण यह था कि धर्म्म की जो रूह है उससे उसका हृदय परिपूर्ण था। अर्थात् 'त्याग और तपस्या' इन्हीं दो बातों ने उसके जीवन को चार चाँद लगा रक्खे थे। पाठकों में से कई ऐसे महानुभाव हों जिन्हें लैनिन के जीवन की उस घटना का कई बार स्मरण होता होगा। जब उसके यहाँ एक साथ कई अनिथि आ गये और लैनिन ने अपनी स्त्री को चाय बनाने के लिये कहा। चाय तो तैय्यार हो गई लेकिन घर में शक्कर न थी। स्त्री के संकेत करने पर लैनिन ने अपने अतिथियों के सामने कह दिया कि कुछ परवाह नहीं बिना शक्कर के ही चाय ले आओ। फीकी चाय आ गई और सब ने पीली, अतिथियों में से एक ने घर जाकर शक्कर की एक बोरी लेनिन के यहाँ भेज दी। लैनिन ने उसमें से अपने घर में कुछ न रखकर सब की सब शक्कर भंडार (Common-store) में जमा करा दी। उसके जीवन की इस प्रकार की घटनाएं जो लैनिन को आज भी चमका रही है—सोशलइज्म में भी धर्म के ऐसे तत्वों (Essence of religion) का प्रवेश कराये बिना नहीं रह सकती। इनका

नाम चाहे मजहब हो या न हो, यह भी याद न रखा चाहिए कि जब ये तत्व सोशलिइज्म में बाक़ी न रहेंगे तब सोशलइज्मि का बेड़ा डूब जायगा। यह आवश्यक है कि धर्म के नाम से जो बेहूदा बातें इस समय मजहबों में प्रचलित हैं वे अवश्य नष्ट होंगी और उनका शीघ्र से शीघ्र नष्ट हो जाना संसार के लिए और स्वयं उन मजहबों के लिए भी अच्छा है।

———

वर्ण-व्यवस्था

[ले०—देशभक्त श्री पं० नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ]

आर्य समाज में वर्ण व्यवस्था के तत्त्व को लोग नहीं समझे अथवा न जानें क्या बात है ऐसे ढंग से उपदेश हो रहा है, उपदेशक आदि ऐसे ढंग से प्रचार कर रहे हैं, अखबारों में ऐसे ढंग से लिखा जा रहा है कि उनको सुनकर यह प्रतीत होने लगता है कि आर्य समाजिक लोग ऊपर ऊपर से तो वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं किन्तु भीतर भीतर से उसकी जड़ को खोखली कर रहे हैं। सबको एकाकार करने की चिन्ता में हैं। किसी व्यवस्था को स्थिर नहीं रखना चाहते। साक्षात् स्वामी दयानन्द की बात को ही नहीं मानते। प्रमाणों को तरोड़ मरोड़ डालते हैं। इत्यादि खयाल होने लगता है। अस्तु, इस समय लेखक इस बात पर विचार करने के लिए तैयार नहीं है कि कौन क्या कहता है किन्तु उसने स्वामी दयानन्द के अभिप्राय को जिस प्रकार समझा है उसी के स्पष्टीकरणार्थ यह लेख लिखा है आशा है पाठक ज़रा ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे—

स्वामी दयानन्द ने वर्ण-व्यवस्था को माना है और स्पष्ट रूप में माना है और वेदों के आधार पर माना है इस बात में सब समान रूप से सहमत हैं। इस विषय में ननु-नच करने का किसी को अवसर नहीं। अब रही यह बात कि किस रूप में किस प्रकार माना है ? । इस का उत्तर स्वामीजी के ग्रन्थ ही स्पष्ट रूप में दे रहे हैं अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मानी है। स्थान स्थान पर "गुण, कर्म, स्वभाव" "गुण, कर्म, स्वभाव" कहा गया है। पर आज कल की प्रवृत्ति, उपदेश, व्याख्यान, लेख देखे जाँय तो कहना पड़ेगा कि "गुण, कर्म, स्वभाव" इस त्रिकुटी में से लोगों ने "स्वभाव" को सर्वथा छोड़ दिया है, केवल "गुण, कर्म" ही कहते, सुनते, लिखते चिल्लाते रहते हैं। यह नहीं समझते कि 'स्वभाव' को छोड़ देने से और केवल ऊपर की 'गुण, कर्म' की बात मान लेने से वर्ण-व्यवस्था एक निकम्मी, दिन भर में बीस वार बदल डालने की निकृष्ट पद्धति बन जायगी। अभी ब्राह्मण, अभी क्षत्रिय, अभी वैश्य, अभी शूद्र, अभी चाण्डाल बनने की बात रह जायगी। कोई स्थिरता नहीं रहेगी, इस के विपरीत 'वर्ण-व्यवस्था' अधिकतर स्थिर रहने की वस्तु है। जब हम कहते हैं कि ब्राह्मण शूद्र हो सकता है अथवा शूद्र ब्राह्मण, अथवा कोई भी जाति अपने स्वाभाविक कर्मों को छोड़ने से, ऊपर के कर्म करने से ऊपर उठ सकती है

और नीचे के कर्म करने से नीचे खिसक सकती है तो उसका अर्थ यह है कि:—

"स्वभाव नाम है संस्कार का। संस्कार का सम्बन्ध पूर्वजन्म से अवश्य रहेगा। माता पिता के संस्कारों का भी प्रभाव रहेगा ही। श्री स्वा० जी ने इस बात को स्पष्ट माना है। शास्त्रकार स्पष्ट रूप में संस्कार की बात को मानते हैं। चरक, सुश्रुत भी संस्कारों की बात मानता है। वर्त्तमान विज्ञान भी संस्कारों की महत्ता को स्वीकार कर चुका है—इन सब बातों को ध्यान में रखकर लेखक इस सिद्धान्त पर पहुँचा है कि पूर्ण रूप से अज्ञेय कर्म-मीमांसा व संस्कार मीमांसा के अनुसार कभी कभी,

ब्राह्मणों के यहां ब्राह्मण संस्कार के, क्षत्रियोंके यहाँ ब्राह्मण संस्कार के, वैश्यों के यहाँ ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय संस्कार के, शूद्रों के यहाँ अन्य जाति के संस्कार के बालक उत्पन्न होते हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि उस उस जाति में प्राय: उस उस संस्कार के बालक उत्पन्न होते हैं और कभी कभी विपरीत संस्कार के भी उत्पन्न होते हैं—

(१)

जन्म	संस्कार
ब्राह्मण	ब्राह्मण
ब्राह्मण	क्षत्रिय
ब्राह्मण	वैश्य
ब्राह्मण	शूद्र
ब्राह्मण	चाण्डाल

(२)

जन्म	संस्कार
क्षत्रिय	क्षत्रिय
क्षत्रिय	ब्राह्मण
क्षत्रिय	वैश्य
क्षत्रिय	शूद्र
क्षत्रिय	चाण्डाल

(३)

वैश्य	वैश्य
वैश्य	ब्राह्मण
वैश्य	क्षत्रिय
वैश्य	शूद्र
वैश्य	चाण्डाल

(४)

शूद्र	शूद्र
शूद्र	ब्राह्मण
शूद्र	क्षत्रिय
शूद्र	वैश्य
शूद्र	चाण्डाल

(५)

चाण्डाल	चाण्डाल
चाण्डाल	ब्राह्मण
चाण्डाल	क्षत्रिय
चाण्डाल	वैश्य
चाण्डाल	शूद्र

यह अनुभव सिद्ध बात है इसलिए दूसरी जाति में दूसरी जाति के संस्कारों के जो बालक उत्पन्न होते हैं उनके लिए ही ऊपर जाने अथवा नीचे खिसकने के मार्ग खुले रक्खे गये हैं। जो जन्म का ब्राह्मण है,

और ब्राह्मण के संस्कार लेकर जन्मा है उसके केवल ब्राह्मणों के कर्म करने की आवश्यकता है और वह सोलह आने बना बनाया ब्राह्मण है। यही बात क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों की है, ब्राह्मण कुल को छोड़कर अन्य जाति में जो ब्राह्मण संस्कार के बालक उत्पन्न होते हैं उनके लिए यदि वे उठ सकें तो उनको उठने का मौक़ा अवश्य मिलना चाहिये। यही बात जघन्य वर्णों में उत्पन्न क्षत्रिय, वैश्य के संस्कार युक्त बालकों के लिए है—

प्राचीन समय में इस प्रकार सदैव मुक्त द्वार रहता था। क्योंकि संस्कारों की महत्ता को वे अनुभव करते रहते थे, इसलिए जघन्य वर्णों में उत्पन्न हुए कतिपय जन इतने ऊँचे उठे कि ऋषि मुनि महर्षि बन गये।

जिस समय आर्य्य राजाओं का साम्राज्य अथवा अधिराज्य था, आर्य्य संस्कृति उच्च शिखर पर थी सब कार्य्य व्यवस्थित रूप में चलता था और वर्ण-व्यवस्था ठीक ठीक चलती थी, प्रायः ब्राह्मणों के यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रियों के यहाँ क्षत्रिय, वैश्यों के यहाँ वैश्य संस्कार के बालक ही होते थे यदि कोई अन्य जाति में अन्य संस्कार के बालक होते थे। तो गुरुजन उस की विद्या आदि की प्रवृत्ति देखकर उस को चढ़ा अथवा उतार देते थे। पर यह सारी बात बालक के संस्कारों पर निर्भर रहती थी जब आर्य्य साम्राज्य नष्ट हो गया, परचक्र सिर पर घूमने लगा, कोई साम्राज्य अथवा अधिराज्य सिर पर रक्षक नहीं रहा, तब कौर्मी वृत्ति (कछुए की अङ्गसंकोच वृत्ति) का आश्रय लेकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिकों ने अपनी रक्षा की और वही वंशपरम्परा का बन्धन अब तक किसी न किसी रूप में भारतवर्ष में चला आ रहा है। अब इस विदेशी पद्धति के राज्य में, विदेशी शिक्षा के प्रभाव से वर्ण व्यवस्था के दृढ़ दुर्ग की दीवारें खुरची जाने लगी हैं, पर इसको अभी कोई ऐसा धक्का नहीं लगा है कि कोई चिन्ता का विषय हो। अभी यह सहस्रों लक्षों वर्ष चलेगी चाहे जो हो, यदि आर्यसमाज को जीवित रहना है तो वह वर्ण-व्यवस्था को छोड़कर जीवित नहीं रह सकता। उसमें अभी ऐसी शक्ति नहीं आई है कि वह नयी वर्ण-व्यवस्था बना कर नया रुख पलटे। लोग हाथ पैर तो बहुत मार रहे हैं पर अभी कुछ बना-बिगड़ा नहीं—वह इसलिए कि व्यवस्थापक ऐसे तपस्वी, बलवान्, विद्यावान् नहीं कि जिनकी व्यवस्थाएँ मानी जा सकें कोई ऐसी बलवती विद्यासभा, राजसभा, धर्मसभा नहीं है जिसकी सत्ता को कोई 'ननु नच' किये बिना ही स्वीकार कर सके। अब आर्यसमाज में मुट्ठी भर ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं जो कि चाहते हैं कि सब एक हो जावें, कोई भेदभाव न रहे। उनकी समझ में यह तभी हो सकेगा जब विवाहबन्धन जाति व्यवस्था की परवाह न करके तोड़ डाले जायेंगे। प्राचीन समय के उदार धर्मशास्त्रकारों ने जहां वर्णानुसार विवाहबन्धन रक्खे थे वहां उन्होंने संस्कारों की महत्ता को समझ कर अनुलोम-प्रतिलोम पद्धति भी प्रचलित रक्खी थी। उस समय धर्मसभा, राजसभा, विद्यासभा तीनों का संगठन था। अब तो कोई व्यवस्था नहीं। मेरी समझ में आया किसी लड़के को ब्राह्मण कहा, किसी की लड़की को कुछ कहा और दिया सम्बन्ध जोड़। इसमें अधिकतर अनाचार अधिक हो जाता है। यदि इस प्रकार के विवाह करने

कराने हों तो उस उस जाति के उपविभागों में होने चाहिये जिससे सबसे पूर्व इन विभागों की तो समाप्ति हो। अस्तु।

मैं वर्णव्यवस्था की बात लिख रहा था। इनमें मुख्य है स्वभाव संस्कार की बात। केवल गुण कर्म चिल्लाने से कुछ नहीं होता। केवल कर्म ही हुआ और स्वभाव ने साथ नहीं दिया तो वह वर्णव्यवस्था कौड़ी काम की न होगी। केवल स्वभाव हुआ और साथ गुण कर्म न हुए तो वह भी काष्ठमय हस्ती, चर्ममय मृग ही समझिये। चाहे उच्च जाति में उच्च संस्कार के बालक हों, चाहे उच्च जाति में नीच संस्कार के बालक हों, चाहे नीच अर्थात् निचली जाति में उच्च संस्कार के बालक हों, वे यदि ऊपर जायँगे तो संस्कारों के बल पर, यदि नीचे घिसटेंगे तो संस्कारों के कारण, इसलिए मार्ग तो खुला रखना ही पड़ेगा। इसलिए वर्णव्यवस्था में यदि संस्कारों का महत्व है तो उसका सम्बन्ध जन्म* से जोड़ना ही पड़ेगा अर्थात् यह कहना पड़ेगा कि वर्ण व्यवस्था में जन्म ही कारण नहीं, अपितु जन्म भी कारण है क्योंकि स्वभाव (संस्कार) का ऐसा ही सम्बन्ध है। पूर्वजन्म के संस्कारों का विपाक ही स्वभाव है। इस जन्म में जैसे कर्म करेंगे उसका विपाक भविष्य जन्मों पर पड़ेगा।

इस समय इन संस्कारों को संभाल कर उससे व्यवस्थित वर्ण व्यवस्था को सम्हाल रखने के लिए न तो किसी मर्यादापालक अथवा मर्यादा-संस्थापक साम्राज्य का हाथ सिर पर है न कुछ। अनन्तकाल की वंशपरम्परा से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चले आ रहे हैं और कहे जा रहे हैं। यदि प्राचीन वर्ण व्यवस्था के नियमों से जांच पड़ताल की जाय तो मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जाति में उस उस जाति के संस्कार तो विद्यमान हैं पर, उस उस जाति में थोड़े ही हैं जिनको सच्चे अर्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहा जाय। वैश्य व शूद्र तो प्रायः हैं हीं। धन्य है उन ब्राह्मणों को जिनके कुल में परम्परा के कारण अब भी वेद शास्त्रों का अध्ययन हो रहा है और जिन्होंने अबतक वंशपरम्परा से वेदशास्त्र सम्हाले वा अब तक सुरक्षित रक्खे। इन ब्राह्मणों ने किसी प्रकार ब्राह्मणत्व को सम्हाला भी, पर क्षत्रिय तो ऐसे नपुंसक हो गये कि ऐसी दुर्दशा कभी नहीं देखी गई। यह अन्यों की तो क्या रक्षा करते, स्वयं ही दासानुदास बन गये हैं। वैश्यों ने प्रायः अपना काम सम्हाल रक्खा है। दासों की अर्थात् शूद्रों की कोई कमी नहीं।

आश्चर्य यह है कि इस दुरावस्था में भी लोगों का यह यत्न बराबर चल रहा है कि अपना सम्बन्ध ठेठ प्राचीनतम ऋषि मुनि महर्षियों के साथ जोड़ें और केवल रक्त सम्बन्ध जोड़ कर किसी प्रकार श्वास प्रश्वास लेते रहें—अब यह भी चल पड़ा है कि अपने नाम के साथ चाहे जो कुछ लिखे। 'दास' शब्द

* यदि ऋषि दयानन्द के ग्रंथों तथा लेखों के आधार पर लेखक यह दर्शाते कि ऋषि भी स्वभाव का सम्बन्ध "जन्म" के साथ जोड़ते थे तो अधिक उत्तम होता। जन्म भी कहीं कहीं स्वभाव का कारण होता है। परन्तु सत्संग तथा असंकल्पों के कारण जन्म से प्राप्त स्वभाव को बदला भी जा सकता है। ऐसी अवस्था में स्वभाव और जन्म का परस्पर कार्य कारणभाव किसी स्थान में है भी और किसी स्थान में नहीं भी। पाठकों को कहीं भ्रम पैदा न हो जाय इसलिये यह भेद दर्शाना आवश्यक हुआ। सम्पादक—

तो कोई लिखने को तैयार नहीं। वैश्य बनकर 'गुप्त' शब्द लिखने को भी तैयार नहीं। हां 'वर्मा' बनने को तैयार हैं, 'शर्मा' लिखने को तैयार हैं। इस प्रकार बहुत अव्यवस्था है। पर अभी इस अव्यवस्था को रोकने की किसी में न शक्ति है, न कोई ऐसी विद्या-सभाएँ हैं, न राजसभाएँ हैं, न धर्मसभाएँ हैं। आश्चर्य यह है कि लोग वर्त्तमान विस्खलित हिन्दूसमाज की दशा को देख कर उस प्राचीन समय की सर्वाङ्ग-परिपूर्ण वर्णव्यवस्था रूपी संस्था की बुराई करने लगते हैं। सब दोष उसी के सिर मढ़ते रहते हैं—

दूसरी आश्चर्य की बात यह है कि वर्णव्यवस्था को हिन्दू समाज की दुर्गति का प्रमुख कारण मानने वा बतलाने वाली सरकार भी हृदय से चाहती है कि हिन्दुओं में जात-पांत का बन्धन बना रहे। इस समय भारतवर्ष में जिस प्रकार की राज्यप्रणाली का चंचुप्रवेश हो रहा है और जिस प्रकार की मतदान-प्रणाली पर राजसभाओं का संघटन निर्द्धारित किया जा रहा है वह प्रणाली तो जातपांत को और ही पक्का करती जा रही है।

घरों में चौके-चूल्हे के बन्धन टूट रहे हैं तो मस्तिष्क में अपनी अपनी जाति के बन्धन और दृढ़ हो रहे हैं। उस उस जाति वाला यही चाहेगा कि उसी की जाति का व्यक्ति धारासभा अथवा राजसभा में प्रतिनिधि रूप में जावे और उसी को वोट दे। प्रतिदिन के म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, कौन्सिल व असेम्बली के चुनावों के दृश्य और उनमें की जाने वाली ऐंचातानी अथवा खेंचातानी को कौन भुला सकता है—इन समस्त पाश्चात्य ढंगों व पाश्चात्य स्वतन्त्र देशों में प्रतिदिन उग्र रूप धारण करने वाली समस्याओं को देखकर कहना पड़ेगा कि सच्ची वर्ण-व्यवस्था ही समस्त संसार के जीवन-कलहों को शान्त करके उसको स्वर्गधाम बनाने में समर्थ होगी। आर्य समाज उसी वर्ण व्यवस्था का उद्धार यदि कर सकेगा तो वह अपनी राज्यपद्धति से ही कर सकेगा। पर अभी आर्य साम्राज्य के सुखस्वप्न देखना मूर्खता है। हां इस समय में उग्र तपस्या द्वारा शक्ति सम्पादन करते रहना उसका परम कर्तव्य है जब वह अत्यधिक तेजस्वी हो जायगा, इतना अधिक तेजस्वी हो जायगा कि संसार की कोई शक्ति उसको दबा न सके, तब वह जिस कार्य को चाहेगा, पूर्ण होगा। वह जो व्यवस्था चलायेगा संसार सादर सिर झुका कर "ॐ" कह कर स्वीकार करेगा। जिस वर्णव्यवस्था में जाति की जाति वंशपरम्परा से। आनुवंशिक संस्कारों के कारण एक कार्य को संभाल कर सैकड़ों, सहस्रों वर्षों को चलाती जाती हो सब कार्य विद्या, बुद्धि, बल, धन, श्रम का कार्य बांटकर किया जाता हो, जिसमें चारों आश्रम हों, वही वर्णव्यवस्था संसार को सुख दे सकेगी। पर ऐसी वर्णव्यवस्था का पुनर्जन्म कब होगा, ईश्वर ही जाने इस समय भारतवासी इतनी बात को तो अनुभव कर रहे हैं कि वे हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर से नीचे फिसल कर एक बड़े गहरे खड्ड में पड़े हुए हैं।

वेद उपदेश में ईश्वर का प्रयोजन—जैसे पिता अपनी सन्तति के प्रति सदा ही करुणा करता है ऐसे ही ईश्वर भी परम कृपा से सब मनुष्यों के हितार्थ वेद का उपदेश करता है। नहीं तो अन्ध परम्परा से मनुष्यों का धर्म अर्थ काम मोक्ष इनका ज्ञान हुए बिना परम आनन्द की प्राप्ति ही न हो।

यज्ञ का महत्त्व

(श्री ब्र० शिवदत्तजी, महाविद्यालय ज्वालापुर)

(१)

हैं कार्य जितने भी जगत् में सिद्ध फलदायक हुए,
करके उन्हें, कर्मिष्ठ मानव ही फलाकांक्षी हुए।
उपकार उनसे अन्य पुरुषों का कभी होता नहीं,
रवि ज्यों उलूकों के लिये दर्शक कभी होता नहीं ॥

(२)

पर यज्ञ-कर्त्ता जन जहां यश प्राप्त करते आप हैं,
पुण्य कर्मा वे मिटाते अन्य-जन-सन्ताप हैं।
होती निरन्तर वायु-शुद्धि यज्ञ करने से सदा,
कृति यज्ञ की इस हेतु है सबको समस्त फलप्रदा ॥

(३)

नित यज्ञ करने से सभी दुःख, रोग होते शान्त हैं,
होते पुरुष वे शान्त जो उद्विग्न हैं, उद्भ्रान्त हैं।
मोक्षादि सुख भी यज्ञ से ही प्राप्त होते हैं सभी,
उत्तम जनों ने इसलिये नहीं यज्ञ को छोड़ा कभी ॥

(४)

जब यज्ञ होते थे यहां सुखयुक्त भारतवर्ष था,
धन-धान्य होने से नहीं होता कभी संघर्ष था।
विद्या, कला-कौशल सभी में प्रेम था उत्साह था,
हर एक बातों में भरा सबके अनन्त उछाह था ॥

(५)

होती समय पर वृष्टि थी, यज्ञादि करने से यहां,
तब धान्य था पर्याप्त होता अल्प वसुधा में यहां।
जंगल पड़े थे धेनु आदिक के लिये खाली सभी,
घृत, दूध की इस हेतु पड़ती थी कमी न यहां कभी ॥

(६)

इस भांति जब थे यज्ञकारक शौर्य-सुख-सम्पन्न थे,
सम्पूर्ण वसुधा के सुधारक धीरता-प्रतिपन्न थे।
जब से छोड़ा यज्ञ करना दीनता आई यहां,
होती जहां है दीनता, क्या २ नहीं होता वहां ? ॥

(७)

इस भांति भारतवर्ष जो आदर्श था जग का रहा,
वह आज इतना हीन है, आश्चर्य है कितना अहा !
यदि चाहते हो आप उन्नति यज्ञ करना सीखलो,
दो कार्य सारे छोड़, पर यह सीख वैदिक सीखलो ॥

(८)

धन धान्य से यह वृद्ध भारत पूर्ण फिर होवे सभी,
हो प्रेम का साम्राज्य, फिर वैरादि हों न कहीं कभी।
फिर उच्च हो यह देश, संस्कृति उच्च हो इस देश की,
नीरोगता हो, शुद्धता हो यज्ञ से इस देश की ॥

वैदिकधर्म और विज्ञान

(ले० संपादक)

वैदिक मोटर

(३) इन विमानों तथा नौकाओं के वर्णन के पश्चात् अब हम वैदिक-मोटरों की सैर करते हैं। वैदिक-मोटर आजकल की फ़ोर्ड मोटर से बढ़िया प्रतीत होती है। ऋग्वेद में मन्त्र आया है कि:—

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्।
कण्वा अभि प्र गायत॥ ॥ ऋग्वेद १।३२।१ ॥

अर्थात् "हे मेधावी लोगो! तुम मरुत अर्थात् वायु सम्बन्धी बल के गुणों और धर्मों का वर्णन करो, गान करो। जिस वायु सम्बन्धी बल के होने पर घोड़े की आवश्यकता नहीं रहती, जिस बल का प्रयोग कई प्रकार की क्रीड़ाओं के निमित्त किया जा सकता है। तथा जो वायु-सम्बन्धी बल रथों में लगा कर शोभा देने वाला होता है।"

इस मन्त्र में मोटर को 'क्रीड़ारथ' कहा है अर्थात् वह रथ जिसके द्वारा क्रीड़ा की जाय, विहार किया जाय, या सैर की जाय। इस क्रीड़ारथ के आगे कोई घोड़ा नहीं जुता हुआ, यह क्रीड़ारथ अनर्व है, अर्वा से रहित है, घोड़े से विहीन है। यह क्रीड़ारथ मारुत शर्ध अर्थात् वायु के बल से चलता है। मोटर में पैदा हुई तेल आदि की वायु को यहां मारुत शर्ध कहा है। इस वायु को मारुत इसलिये कहा है चूँकि इस द्वारा मोटर के चलने से रुन्×मा अर्थात् आवाज़ और शोर नहीं होता। मोटर भागती चली जाय और शोर बिलकुल न हो, यही वैदिक-मोटर में फ़ोर्ड की मोटर की अपेक्षा विशेषता है।

* (कण्वाः) हे मेधावी लोगो! (वः) तुम (मारुतं शर्धः) मरुत् अर्थात् वायु सम्बन्धी बल के गुणों, धर्मों का (अभि प्रगायत) वर्णन करो, गान करो। (अनर्वाणम्) जिस वायु सम्बन्धी बल के होने पर, घोड़ी की आवश्यकता नहीं रहती, (क्रीडम्) जिस बल का प्रयोग कई प्रकार की क्रीडाओं के निमित्त किया जा सकता है। (रथे शुभम्) तथा जो वायु सम्बन्धी बल रथों में लगा कर शोभा देने वाला होता है।

ज्योतिष विद्या

(४) वेद के वैज्ञानिक-युद्ध-साधनों, हवाई-जहाज़ों तथा मोटरों के निरीक्षण के पश्चात् अब हम वेदों की ज्योतिष-विद्या का कुछ निरीक्षण करते हैं।

सौर-परिवार में मुख्य रूप से चार प्रकार की रचनाएं हैं। ये चार प्रकार स्थूल-दृष्टि से किये गये हैं। एक सूर्य, दूसरा ग्रह था Planets, तीसरा उप-ग्रह (Settalites) और चौथा धूमकेतु, पुच्छल तारे (Comets)। इनके अलावा उल्का (Meteors) तथा नभः (Nebula) आदि का भी ज्योतिष विद्या में वर्णन होता है।

हमने देखा है कि वेद ने विशेष रूप से, प्रथम चार रचनाओं के सम्बन्ध में क्या कहा है।

मिश्रदेश निवासी एक बड़ा ज्योतिषी हुआ है जिसका नाम था टोलिमी (Ptolemy)। यह ज्योतिषी ईस्वी सन् १०० में उत्पन्न हुआ। इसके नाम पर ज्योतिष का एक सिद्धान्त प्रसिद्ध है जिसे

Ptolemaic system कहते हैं। यह सिद्धान्त कहता है कि—

पृथ्वी तो बीच में स्थिर है और चन्द्रमा, बुध, शुक्र, मङ्गल, बृहस्पति, शनि, सूर्य तथा आकाश के सभी तारागण पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं अर्थात् पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। परन्तु इस प्रकार मानने से ग्रहों की गति ठीक २ समझ नहीं पड़ती थी। इस उलझन को सुलझाने के लिए पीछे बड़ी २ पेचीदी कल्पनाएं करनी पड़ीं। इन पेचीदी कल्पनाओं के कारण एक बार स्पेन के बादशाह आल्फोंसो ने, जिसकी ज्योतिष में बड़ी रुचि थी, घबरा कर कहा कि "यदि ईश्वर ने सृष्टि के समय मुझसे पूछा होता तो मैं उसे कई उपयोगी बातें बता देता।" Ptolemy के इस सिद्धान्त को भूकेन्द्रक सिद्धान्त (Geo-centric) सिद्धान्त कहते हैं।

सन् १४७३ में थार्न नगर में एक महाज्योतिषी ने जन्म लिया, जिसका नाम कोपर्निकस था। इसने विचार करके देखा कि प्रकृति के सब ही कार्य अत्यन्त सरल नियमों के अनुसार होते हैं। इसलिए कोपर्निकस को टोलिमी के दुर्बोध और पेचीदे सिद्धान्त की सत्यता पर सन्देह हो गया। इसने परिक्रमा के सम्बन्ध में रविकेन्द्रक (Heleo-centric) सिद्धान्त प्रकट किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य तो केन्द्र में है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं।

सन् १५६४ में ईसानगर में गैलिलियो (Galileo de Galilei) का जन्म हुआ। इसने सन् १६६२ में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें कोपर्निकस के सिद्धान्त का सप्रमाण वर्णन किया गया। सन् १६३३ में जब यह रोम नगर में आया तो पोप के इन्क्विजिशन के फंदे में इसे फंसना पड़ा। वह गैलिलियो इस समय ७० वर्ष के लगभग थे। इन्होंने पोप के सामने घुटने टेक कर शपथ खाई कि "मैं भविष्य में इस झूठे कथन को घृणा के साथ देखूँगा कि सूर्य मध्यम में है और पृथ्वी घूमती है।" शपथ खाने के बाद भी गैलिलिओ से रहा न गया। उठते ही इन्होंने पास के एक मनुष्य से चुपके से कहा कि "यह सब हुआ पर पृथ्वी घूमती तो है।"

इस सबे इतिहास से भी यह ज्ञात होता है कि पश्चिम का संसार सन् १६३३ में भी यह सिद्धान्त मानने को तैयार न था कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी घूमती है।

परन्तु अब वेद का सिद्धान्त सुनिये।

अथर्व वेद ७।१४।४ के मन्त्र में चतुर्थ पाद है "परि ज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि।"*

इस मन्त्र के पहिले तीन पादों में सविता का वर्णन है। मन्त्र का चतुर्थ पाद कहता है कि "अस्य धर्मणि ज्मा परिक्रमते" अर्थात् इस (सविता), सूर्य की धारण-शक्ति के आश्रय में (ज्मा) पृथ्वी (परिक्रमते) परिक्रमा करती है।

अथर्व वेद के स्कम्भ सूक्त में एक और मन्त्र पढ़ा गया है जो कि इस सम्बन्ध में बहुत महत्व का है। वह मन्त्र निम्न लिखित है। यथा:—

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्यन्या अर्कमभितो विशन्त।

* (अस्य) इस सूर्य की (धर्मणि) धारण-शक्ति के आश्रय में (ज्मा) पृथ्वी (परिक्रमते) परिक्रमा करती है।

बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीराविवेश ॥*

अथर्व० १०।८।१२ ॥

इसका अर्थ यह है कि "परमात्मा ने तीन प्रकार के लोक उत्पन्न किये हैं । ये तीनों लोक बहुत गति वाले हैं । इनमें से दो तो अर्क अर्थात् सूर्य के चारों ओर घूमते हैं । सूर्य इन सब में से बड़ा है जो कि 'तस्थौ' अर्थात् स्थिर खड़ा है, वह हरितः अर्थात् वृक्षों को हरा रंग देता है और इस प्रकार हरी भरी दिशाओं में वह प्रविष्ट है ।"

इस मन्त्र में तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये । (१) परमात्मा ने तीन लोक बनाये । (२) ये तीनों बहुत गति वाले हैं । (३) इन तीनों में दो घूमते हैं और तीसरा अर्क अर्थात् सूर्य है जो कि स्थिर है ।

ये तीन लोक हैं, सूर्य, ग्रह और उपग्रह । इन तीनों में दो अर्थात् ग्रह और उपग्रह तो घूमते हैं परन्तु सूर्य स्थिर है ।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि अथर्ववेद में सूर्य को स्थिर माना गया है और पृथ्वी जो कि ग्रह है उसे सूर्य के चारों ओर घूमने वाला माना है ।

परन्तु इस मन्त्र में एक बात हैरानी की है । वह यह कि जब तीनों लोक गतिमान् हैं तब सूर्य भी गतिमान् हुआ और साथ ही सूर्य को कहा कि 'तस्थौ' वह स्थिर है—यह परस्पर विरोध कैसा ?

इसके समाधान के सम्बन्ध में अथर्व० ११।४।२१ का निम्न लिखित मन्त्र है । यथाः—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥‡

इसका अर्थ यह है कि "हंस आकाश अर्थात् क्षितिज से ऊपर आता हुआ अपना एक पैर नहीं उठाता क्योंकि हे प्रिय ! यदि वह उस पैर को भी उठा ले तो न आज की सत्ता हो, न कल की, न रात की सत्ता हो, न दिन की और न कभी उषाकाल ही चमके ।"

इस मन्त्र में सूर्य को हंस मान कर कहा है कि इसके दो पैर हैं । इनमें से सूर्य चलने के लिये एक पैर को तो उठाता है परन्तु दूसरे पैर को नहीं उठाता प्रत्येक मनुष्य इस कथन का परीक्षण अपने पर कर सकता है । मनुष्य खड़ा हो, वह अपने एक पैर को

---

* परमात्मा ने (तिस्रः प्रजाः) तीन प्रकार के लोक उत्पन्न किये हैं, ये तीनों लोक (अत्यायम् आयन्) बहुत गति वाले हैं । (अन्या) इनमें से दो (अर्कम्) सूर्य के (अभितः न्यह विशन्त) चारों ओर घूमते हैं । सूर्य सब में से (बृहत्) बड़ा है, जो कि (तस्थौ) स्थिर खड़ा है, वह (हरितः) वृक्षों को हरा रंग देता है और इस प्रकार वह (हरिणीः) हरी भरी दिशाओं में (आविवेश) प्रविष्ट है ।

‡ (हंसः) हंस (सलिलात्) आकाश अर्थात् क्षितिज से (उच्चरन्) ऊपर को आता हुआ (एकं पादं) अपना एक पैर (न उत्खिदति) नहीं उठाता, क्योंकि (अङ्ग) हे प्रिय ! (यत् स तम उत्खिदेत्) यदि वह अपने उस पैर को भी उठाले, तो (नैव अद्य) न आज की सत्ता हो, (न श्वः) न कल की, (न रात्री स्यात्) न रात की सत्ता हो (न अहः स्यात्) न दिन की सत्ता हो और (न कदाचन व्युच्छेत्) न कभी उषाकाल चमके ।

तो गति देने के लिए उठाए और दूसरे को जमा रहने दे, तो मनुष्य की गति अपने केन्द्र पर या धुरी पर ही हो सकेगी। इसलिये मन्त्र ने सूचित किया कि सूर्य अपने केन्द्र पर या अपनी धुरी पर गति कर रहा है। इस प्रकार हमें ज्ञात हुआ कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार (१) सूर्य स्थिर है और अपने ग्रह-मण्डल का केन्द्र है। (२) सूर्य अपनी धुरी पर घूमता भी है। (३) ग्रह-मण्डल, जिनमें पृथ्वी भी है—सूर्य की परिक्रमा करता है, न सूर्य पृथ्वी की। सूर्य अपनी धुरी पर घूमता है—इस सिद्धान्त का ज्ञान पाश्चात्य संसार में सन् १६११ के लगभग हुआ था।

ग्रह और सूर्य के परस्पर सम्बन्ध के व्यापी सिद्धान्त का वर्णन हो चुका अब उपग्रह के सम्बन्धों में वैदिक-सिद्धान्त देखना है।

उपग्रहों अर्थात् Sattelites का सम्बन्ध ग्रहों अर्थात् Planets के साथ होता है। सभी उपग्रह चान्द रूप हैं। चान्दों के सम्बन्ध का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त यह है कि चान्द अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं होते, बल्कि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं पृथ्वी का एक चान्द है, मंगल के दो, बृहस्पति के लगभग ८ और शनैश्चर के लगभग १० चान्द हैं। ये सभी चान्द सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

यास्काचार्य ने निरुक्त में इस सम्बन्ध में दो प्रमाण दिये हैं। एक यजुर्वेद १८।४० का मन्त्र और दूसरा ऋग्वेद का १।८४।१५ का मन्त्र। निरुक्तकार यजुर्वेद के मन्त्र पर टिप्पणी देते हुए लिखते हैं कि:—

"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, तदनेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति" (२।६)।

अर्थात् सूर्य की रश्मियों का एक पुञ्ज चन्द्रमा को चमका रहा है - यह बात वेदज्ञों को ध्यान में रखनी चाहिये। इस चन्द्रमा की दीप्ति अर्थात् प्रकाश आदित्य के कारण है।

ऋग्वेद के उपरोक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रोफेसर विल्सन् Wilson टिप्पणी में लिखते हैं कि:—

"The purport of the stanza is, apparently the obseure expression of an astronomical fact, known to the authors of the Vedas, that the moon shone only through the light of the sun".

'इस मन्त्र का आशय एक ज्योतिषिक सत्यसिद्धान्त प्रतीत होता है जो वेदों के कर्त्ताओं को भी ज्ञात था अर्थात् चन्द्र केवल सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।'

इसलिये यह स्पष्ट है कि वेदों के विज्ञान में चन्द्र को सूर्य से प्रकाशित होना माना है।

(iii) सौर परिवार की चौथी रचना है Comets या केतु। इन्हें पुच्छल तारा भी कहते हैं। वेद में इन तारों का नाम धूमकेतु आया है। केतु अपने घूमने में बहुत स्वतन्त्र से होते हैं। केतुओं के घटक तीन भाग होते हैं। एक भाग तारा-बिन्दु होता है, दूसरा भाग इस तारा-बिन्दु के चारों ओर चमकता हुआ एक घेर, इसे तारा-बिन्दु का घेर कह सकते हैं। और तीसरा भाग है पूंछ। यह पूंछ भी चमकते पदार्थों का पुञ्ज होता है।

देखना है कि इन धूमकेतुओं के सम्बन्ध में, वेदों में, क्या वर्णन मिलता है। अथर्ववेद १८।१।३० में इसे 'भा—ऋजीक' कहा है। इसका अर्थ निरुक्तकार

ने किया है—"प्रसिद्ध-भाः" अर्थात् जिसकी चमक प्रसिद्ध है। इससे प्रतीत हुआ कि वेद धूमकेतु को चमक वाला मानता है।

अथर्ववेद १९।९।१० में धूमकेतु को 'मृत्यु' कहा है। क्योंकि ये घूमते २, कभी २, पृथिवी या सूर्य आदि के इतने समीप आ जाते हैं कि ये प्रलय के भय को उत्पन्न कर देते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः॥
अथर्व० १९।९।१०॥

ऋग्वेद ८।४३।४ में "धूमकेतवः" शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। यथाः—

हरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि।
यतन्ते वृथगग्नयः ऋ० ८।४३।४॥

इससे ज्ञात हुआ कि वैदिक सिद्धान्त में नाना धूमकेतुओं की सत्ता मानी गई है। इसी मन्त्र में 'उप द्यवि। यतन्ते वृथगग्नयः' ऐसा वर्णन भी आया है। इसका अर्थ यह है कि "धूमकेतु, जो कि अग्नि पुंज हैं, द्युलोक में पृथक् २ अर्थात् व्यक्ति रूप में घूमते हैं"।

चूँकि इस मन्त्र में धूमकेतु का घूमना द्युलोक में दर्शाया है, इसलिये जो भाष्यकार धूमकेतु का अर्थ करते हैं—"पृथिवी की आग", वे भ्रम में हैं। धूम केतुओं का यह संक्षिप्त परिचय वेदों के आधार पर हुआ।

ज्योतिष विद्या के सम्बन्ध का एक और प्रसिद्ध तत्त्व है, वह है "पृथिवी का आकार"। पाश्चात्य जगत में प्लेटो के समय पृथिवी का गोल होना सिद्धान्तरूप में निश्चित् हो चुका था। परन्तु वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी पृथिवी के गोल होने का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद मण्डल १० में पृथिवी को 'चतुर्भृष्टि' कहा है, अर्थात पृथिवी, जिसमें कि पतन चारों ओर दिखाई देता है। कोई भी गोल पदार्थ लो, इस की परिधि के साथ २ चारों ओर दृष्टि घुमाओ, तो ज्ञात होगा कि इस परिधि के प्रत्येक बिन्दु के पास के स्थान, प्रत्येक बिन्दु की अपेक्षया, नीचे २, घेरे में लगे हुए हैं। पृथिवी का चारों ओर पतन यही है।

शतपथ-ब्राह्मण में तो स्पष्ट ही पृथिवी को गोल कहा है। वर्तमान समय की ज्योतिष सम्बन्धी खोजों के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि शतपथ-ब्राह्मण ईसा से, लगभग ३००० वर्ष पूर्व का है इस शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है:—

"परिमण्डला भवति, परिमण्डला हि योनिः।
अथो अयं वै लोको गार्हपत्यः।
परिमण्डल उ वा अयं लोकः" (श० ब्रा० ७।१।१।३७)।

Juleus Eggeling शतपथ के अपने अंग्रेजी अनुवाद में इस स्थान पर लिखते हैं किः—

"It is circular, for the womb is circular, and moreover the गार्हपत्य is this (terrestrial) world, and this world doubtless is circular."

इससे ज्ञात हुआ कि शतपथ ब्राह्मण में भी पृथिवी का गोल होना लिखा है। इस लेख में वेदों के नाना विज्ञानों का थोड़ा २ निर्देश कर सकना भी दुष्कर हैं। नमूने के तौर पर कतिपय वैज्ञानिक घटनाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। मेरा विश्वास ही नहीं, बल्कि बुद्धिपूर्वक निश्चय है कि वेदों में नाना विद्याएं विद्यमान हैं, कई बीज रूप में और कई कुछ विस्तार

रूप में। आर्यसमाज विशेष रूप से इस ओर कुछ भी यत्न करे तो वेदों के नाना विज्ञानों की खोज हो सकती है।

अन्त में मैं उस महर्षि का अपार धन्यवाद करता हूं जिसकी कृपा से कि आर्यसमाज को और आर्य समाज से अतिरिक्त समग्र संसार को वेदों के गम्भीर तत्त्वों की खोज कर सकने वाली एक दिव्य-दृष्टि प्राप्त हुई है।

ऋग्वेद में पशुबलि पर विचार

(१)

'गंगा' मासिकपत्र के वेदांक में एक लेखक ने ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के आधार पर यह प्रकट करने का साहस किया है कि ऋग्वेद काल में मांस-भक्षण और मांस की अग्नि में आहुति होती थी। इसके लिये उन्होंने कई उद्धरणों के प्रतीक दिये हैं जिनकी आलोचना करनी आवश्यक है।

प्रथम प्रतीक है ऋग्वेद ६।१६।४७ इसमें लेखक के कथनानुसार गाय बैलों की आहुति करना लिखा है। यदि मन्त्र पर विचारें तो इसका सत्यार्थ खुल जाता है। मन्त्र इस प्रकार है।

> आ ते अग्ने ऋचाहविर्हृदा तष्टं भरामसि।
> ते ते भवन्तु उक्षण ऋषभासो वशा उत ॥
>
> ऋ० ६।१६।४७ ॥

इस पर सायण भाष्य इस प्रकार है:—

अनया अध्ययनं प्रशस्यते। इत्याश्वलायनो मन्यते। हे अग्ने तुभ्यं हृदा हृदयेन तष्टंसस्कृतं ऋचा ऋग्रूपेण वर्त्तमानं हविः ऋचमेव हविः कृत्वा आभरामसि आहरामः। ते इति तच्छब्देन ऋग्रूपं हविः परामृश्यते। प्रतिनिर्दिश्यमानापेक्षया-पुंस्त्वबहुत्वे। ऋग्रूपं तव हविः ते तुभ्यम् उक्षणः उक्षाणः सेचनसमर्था ऋषभासः ऋषभाः उतापि च वशाश्च भवन्तु ऋषभवशारूपेण परिणतं सत् त्वद्भक्षणाय भवत्विति शेषः॥

सायणभाष्य का अर्थ—इस ऋचा से अध्ययन की प्रशंसा की जाती है ऐसा आश्वलायन आचार्य मानते हैं। अर्थ—हे अग्ने! (तुभ्यं) तेरे लिये (हृदा) हृदय से (तष्टं) संस्कार किया (ऋचा हविः) ऋचा रूप में विद्यमान 'हविष्य' अर्थात् ऋचा को ही हवि बनाकर (आभरामसि) हम लाते हैं। 'ते' इस पद में ऋचारूप 'हवि' का ग्रहण है। आगे जो कहना है उसकी अपेक्षा करके यह पुलिंग और बहुवचन हैं। अर्थात् मन्त्ररूप वह हवि (ते) तेरे लिये (उक्षणः) वीर्य सेचन में समर्थ सांढ़ और (ऋषभासः) बैल और (वशाः च) वशा ये भी (भवन्तु) हों। अर्थात् बैल और वशा या गौ रूप में बदल कर वह ऋचाएं तेरे खाने के लिये हों।

आश्वलायन ने जो इस ऋचा में अध्ययन की प्रशंसा की है उसकी आलोचना तो मैं बाद में बतलाऊँगा। कि कैसे? परन्तु सायण के शब्दों में भी कहीं बैल, सांढ या गौओं के मारने का जिक्र नहीं है। स्पष्ट भाष्य पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि अग्नि

के प्रति जो ऋचा या मन्त्र पढ़े जाते हैं वह मन्त्र ही बदल कर बैल, गाय बनते और अग्नि को खाने के मिलते हैं। वस्तुतः हाड़ मांस के ये बैल, गाय नहीं, प्रत्युत ऋचारूप बैल, गाय हैं। स्पष्ट तो यह है कि अग्नि को मन्त्र द्वारा स्तुति करने से ही उसको इतनी प्रसन्नता और तृप्ति होती है जितनी कि मनुष्य को बैल, गाय आदि सम्पदा प्राप्ति तथा उसके उपभोग करने से होती है। खाने और आहुति करने का तो इस मन्त्र में किसी ने विधान ही नहीं किया। हमें तो आश्चर्य है कि अललटप्पू समझने वाले मनमाना मतलब धर घसीटते हैं। कम से कम इन मन्त्रों में सायण पर तो मांस बलि का दोष नहीं आता। अब रहा आश्वलायनाचार्य के अभिप्राय की कैसे संगति है? सो देखिये।

हे (अग्ने) अंग २ में संनममान अर्थात् झुकने वाले विनयशील! अग्ने! विद्याभिलाषी शिष्य! हम गुरुजन (ते) तुझे (ऋचा) वेद मन्त्र द्वारा (हृदा) चित्त से (तष्टं) सुसंस्कृत, अर्थात् सुविचारित (हविः) ग्रहण योग्य करने ज्ञान (भराभसि) धारण कराते हैं। अथवा (ऋचा) मन्त्रोपदेश के साथ २ मन से सुविचारित उत्तम सुसंस्कृत (हविः) अन्न प्रदान करते हैं क्यों? क्योंकि इस प्रकार से दिये उत्तम ज्ञान और उत्तम अन्न से ही (ते) तेरे अधीन (ते) वे नाना शिष्यजन भी (उक्षणः) ज्ञान को धारण करने में समर्थ या गृहस्थ वा राष्ट्रसेवादि के कार्य उठाने में समर्थ, वा मेघ के समान अन्यों को ज्ञान द्वारा सेचने, बढ़ाने एवं वीर्यसंचन में समर्थ, पूर्ण ब्रह्मचारी युवा, (ऋषभासः) सत्यज्ञान से प्रकाशित होने वाले, (उत वशाः) और इन्द्रियों पर वश करने में समर्थ विद्वान् (भवन्तु) हों। भावार्थ यह है कि विद्वान् गुरुओं को चाहिये कि वे शिष्यों को सुविचारित ज्ञान, वेदमन्त्रों द्वारा उपदेश करें जिससे उनकी ज्ञान की वृद्धि हो, वे उत्तम सात्विक अन्न खावें। इससे विद्यार्थी हृष्ट-पुष्ट, ज्ञानी और संयमी हों। ज्ञान का उपदेश और अभ्यास और मनन ही एक साधन है जिससे प्रजाजन उत्तम बलवान्, ज्ञानवान् और संयमी हो सकते हैं। अन्यथा ज्ञान से शून्य हुड़दंगों, लण्ठ लोगों में कभी संयम और उत्तम सन्तान के माता पिता बनने का सौभाग्य नहीं पाया जा सकता। वे गँवार, बुरी आदतों वाले और लफंगे होंगे। इस आशय से ही आश्वलायन ने इस ऋचा में अध्ययन अर्थात् विद्याभ्यास की प्रशंसा को स्वीकार किया है। फलतः यहां 'अग्नि' शब्द विनीत शिष्य और ज्ञानवान् पुरुष के लिये प्रयुक्त है, भौतिक अग्नि तो गौण अर्थ है, जो उपमान वाक्य में संगत हो सकता है। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में वेदमन्त्र से हवि देते हैं और उस की वृद्धि होती है और अग्निहोत्र से (वृषभ) जल सेचक मेघ, (वशा) तेज से चमकनेवाले वायुगण और (वशा) कान्तिमती विद्युतें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार 'अग्नि' अर्थात् योग्य ज्ञानी शिष्य में वेदमन्त्रों से मन से सुविचरित ग्राह्य ज्ञान को उपदेश करें जिससे राष्ट्र में बलवान, ज्ञानवान्, युवा और जितेन्द्रिय तेजस्वी पुरुष पैदा हों।

इस प्रकार अग्निहोत्र यज्ञ और अध्ययनाध्यापन, ज्ञान यज्ञ का रहस्य एक ही वेद वाक्य से निकलता है। इस मन्त्र में से अग्नि में सैकड़ों बैलों, सांडों

और गौवों की मांसाहुति निकालने वाले पंडित सचमुच भोली बुद्धि के नहीं तो क्या हैं ?

अध्यात्म में—हे (अग्ने) आत्मन् ! हम वेदमन्त्र और हृदय से सुसंस्कृत ज्ञान का उपभोग अवश्य प्राप्त करें। जिससे वे प्राणगण (उक्षणः) देह को वहन करने में समर्थ, (ऋषभासः) रथ में लगे बैलों के समान, उत्तम, (वशाः) वश में रहने वाले शरीर को अपने वश में करने में समर्थ हों।

परमात्मा पक्ष में—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! वेदमन्त्रों से विचारपूर्वक तेरा ज्ञान हम धारण करें। वे सूर्य, मेघ और पृथिवी आदि सभी (ते अग्रे) वे तेरे ही (भवन्तु) बनाये हुए हैं। तेरी ही महिमा को बढ़ाने के लिये हैं।

कहिये पाठक इन उत्तम २ अर्थों पर न ले जाकर बुद्धि को मांसाहुति निकालने और अन्यों को भ्रम में डालने में लेखशूर होने से क्या फल है ? सत्य बात तो यह है कि पाश्चात्यों ने और कुछ वाममार्ग के जमाने ने बहुतों की मति में भ्रम पैदा कर रखा है।

—जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ

वैदिक काल में ज्योतिष का अपूर्व चमत्कार

[ले०—श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार मीमांसातीर्थ]

वैदिक पञ्चांग और ज्योतिष की कुछ परिभाषाएं

ज्योतिष की दृष्टि से वेद को अभी तक किसी विद्वान् ने देखने को यत्न नहीं किया। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि एलिचपुर बरार के सुयोग्य विद्वान् ज्योतिर्भूषण श्री गोपीनाथ शास्त्री (चुलैट) ने वेदों के मन्त्रों पर अपनी ज्योतिष सम्बन्धी दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ किया है। अपने अनेक गम्भीर सत्यों का वेद मन्त्रों में साक्षात किया है जो हम संक्षेप में दर्शाते हैं।

आप का मन्तव्य है कि—(१) वैदिक काल में ऋषियों को ज्योतिर्विद्या के अनेक तत्त्वों का पता लग गया था। नक्षत्रों का ज्ञान भली भांति हो गया था, उन्होंने नाक्षत्र मान निश्चित कर लिये थे। क्रान्ति वृत्त के २७ विभाग करके उन्हें 'धिष्ण्य' (नक्षत्र) नाम से कहते थे। उन्हीं को वैदिक मन्त्रकाल में 'विजामन्' नाम से कहते थे क्योंकि उनसे सूर्य आदि ग्रहों का गतिमापन किया जाता था। उनको 'समङ्क' कहा जाता था क्योंकि उनको एक समान मानों पर अंकित कर के अंशों द्वारा निश्चित कर लिया गया था * (३)

---

* (१) "विजामानो है वास्य धिष्ण्याः इमे समङ्काः ये वै समङ्कास्ते विजामानः एते ऽ है वास्यैते आत्मानः"।

(शतपथ ३।५।१।१)।

(२) पङ्क्त्य विष्ठाः त्रिंशतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ॥ यजु० सं० २३।५८ ॥

(३) द्वादश प्रधयः चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवो ऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥ (ऋ० २।३।२२ ॥)

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य। आ पु-

क्रान्तिवृत्त के तीन सौ साठ अंशों को 'अंक' वा 'शंकु' और 'अक्षर' कहा जाता था। क्रान्ति वृत्त के बराबर १९ विभागों को 'प्रधि', 'अर' कहते थे। इनको वर्त्तमान में 'राशि' कहते हैं १२०, २४०, ३६० अंशों के तीन विभागों को 'नाभि' कहते थे आजकल उसे ग्रीष्म काल, वर्षा काल, शीत काल (Summer Rain & Winter Seasons) कहते हैं।

(२) वर्त्तमान में पञ्चांगों के समान वैदिक काल में ऋत्विक्, ऋतु अर्थात् काल की संगति लगाने वाले ज्योतिर्वित् विद्वानों ने यज्ञों से सुपर्णचिति याग को ऐसे ढंग से रचा था कि वह पूर्ण वेधशाला और स्पष्ट पंञ्चाग का काम देता था।

इस सुपर्णचिति की रचना इस कुशलता से की जाती थी कि इसके द्वारा नक्षत्र, मास, पक्ष, सौर नाक्षत्र दिन और साम्पातिक मान, वसन्त आदि ऋतु उत्तर दक्षिण अयन, सौम्य और पर्जन्य, दिन रात्रि मास, संवत्सर युग, उसके काल और वर्षों की संख्या आदि सब व्यवहारोपयोगी कालज्ञान स्पष्ट रीति से हो जाता था।

सुपर्णचिति का एक युग पांच वर्षों का होता था। इन पांचों का प्रस्तार बना लेने पर वह पंञ्चाग हजारों लाखों, वर्षों के काल को ठीक २ बतला सकता था। आजकल के पञ्चांगों से एक ही वर्ष का हाल जाना जाता है, पर सुपर्णचिति-पंञ्चाग से लाखों वर्षों का ज्ञान भी हो सकता था। आज कल भी वह ठीक २ काल ज्ञान करा सकता है। आज कल इसे पंञ्चाग कहते हैं उस समय 'चिति' या 'सुपर्णचिति' कहते थे।

वह एक प्रकार से आकाशमण्डल का विशेष मानचित्र या वेधशाला का विशाल मौडल होता था। जिसमें अंकों आदि का चिन्ह काली, श्वेत इष्टिकाओं से किया जाता था।

इस सुपर्णचिति का आकार गरुड़ के समान होने से 'सुपर्णचिति कहते थे। इस में १, ३, ५, ७ आदि विषम अंकों के स्थान में लाल या श्वेत इष्टका रखते थे वे 'प्रातःसवन' कहाते थे। २,४,६,८ आदि सम अंको के स्थान में काली इष्टका रखते थे वे 'सायं सवन' कहाते थे।

वे वसन्तसम्पात से आरम्भ करके ३६० अंश एकचिति में पूर्ण होते थे। ये अंक कहाते थे। ३६० वें अंक पर अश्विनी नक्षत्र को प्रथम देवता माना जाता था। यजुर्वेद संहिता के अनुसार यह वसन्त सम्पात अश्विनी नक्षत्र पर रेवती के अन्त में था।

काली इष्टकाएं चिति में दायीं ओर (दक्षिण में) और श्वेत रंग की बायीं ओर रहती थीं। दिन में 'दिनरात्रि' के समान, पक्ष में शुक्ल कृष्ण पक्षों के समान दक्षिणायन उत्तरायण सूचक होती थीं। इसी प्रकार इन इष्टकाओं को ठीक २ अंशों पर माप कर लगाया जाता था इससे उनही इष्टकाओं से दिनमान और रात्रिमान भी निश्चित होता था।*

दर्शपौर्णमासेष्टि में केवल, मास का मानचित्र रहता था। इन इष्टकाओं से तिथिगणना होती थी। गण के मुख पर १२ तिथि और ११ नक्षत्र के विभाग

---

† अ अक्षे निधुमासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः। (ऋ० १।३।१६॥)

* यानि शुक्लानि तानि दिवोरूपं यानि कृष्णानि तानि अस्यै। यदि वा इतरथा यान्येव कृष्णानि तानि दिवो रूपं यानि शुक्लानि तान्यस्यै॥ श० ब्रा० ६।१।५।२॥

को 'चषाल' कहते थे। उसपर अधिक मास की इष्टका रखी जाती थी।

इस प्रकार वैदिक सुपर्णचिति के पञ्चांग या वेधशाला से लाखों वर्षों तक ऋतु, अयन, मास, पक्ष तिथि आदि का मान जाना जा सकता था। सूर्य आकाश में किस नक्षत्र पर, किस विभाग में, उसकी कितनी क्रान्ति, वह दक्षिणोत्तर में कितना झुका इत्यादि सबका स्पष्ट ज्ञान होता था।

इस चिति में सुपर्ण के नासिका भाग पर सूर्य का उदयास्त वेध लेने के लिये एक इष्टका रखते थे वह 'नाकसदन' कहाता था। उस रेखा के पूर्व में एक 'यूप' (शंकु) खड़ा करते थे। उसके ऊपर गोलवृत्त के चार भाग करके उसके द्वारा तारों का याम्योत्तर लंघन का काल विदित होता था। उक्त रेखाओं के पश्चिम की तरफ़ एक प्रस्तर पर यजमान प्रतिदिन सूर्य चन्द्र का उदयास्त देखता था। उसको 'विमान' कहते थे। जब ठीक यूप की सीध में सूर्यबिम्ब उदय होता था उसी दिन वे यज्ञ आरम्भ करते थे। वही वसन्तसम्पात का प्रथम और अन्तिम दिन होता था, यह 'संवत्सरसत्र' कहाता था। इसको सामवेदी 'प्राजापत्य महाव्रत', ऋग्वेदी 'महदुक्थ' कहते थे। इसी यज्ञ को 'गवाम्-अयन' कहते थे।

सुपर्णचिति के मानचित्र पर तिथि, नक्षत्र, मास, ऋतु सूचक भिन्न २ इष्टका रखते थे। इस क्रिया को 'इष्टकोपधान' कहते हैं।

नक्षत्रों के नाम वैदिक काल में देवता नाम से थे। ऋषि लोग कालमापन स्पष्ट सूर्योदय से करते थे। वे वेध लेने के समय को 'रेतःसिक्-वेला' कहते थे। गोल वृत्त को 'वृत्र' कहते थे। वेध से नक्षत्रों के प्रमाण निश्चित करने की क्रिया को 'सोमाभिषवन' कहते थे।

अमावास्या के दिन सूर्य चन्द्र दोनों के क्रान्तिवृत्त जहां काटते थे वहाँ ही सूर्य चन्द्र दोनों का बिम्ब' होता है। इसलिये उस दिन को वैदिक ऋषि 'वृत्रहत्य' कहते थे। और पौर्णिमान्त पर्वकाल को 'वार्त्रघ्न' कहते थे।

बभ्रुपिङ्गाक्षा तारा (ज्येष्ठा) और रोहिणी दोनों तारों से वेध लिया करते थे इससे ये वार्त्रघ्नी ताराएं कहती थीं। इनसे चन्द्र का वेध (घात) लेते थे। और पौर्णिमा को 'उपप्लवकाल' कहते थे।

लौकिक संस्कृत में गुणाकार को घात (×) चिह्न से से प्रकट करते हैं यह लड़ती तलवारों का चित्र ही सूर्य चन्द्र के क्रान्तिवृत्ति के काटने पर होता था, मानों अमावस को सूर्य इन्द्र और चन्द्र वृत्र जिसकी कृष्ण या आवरणकारी या आगामी दिनों में बढ़ने वाले बिम्ब को सूर्य घात (ह्रास) करता है। इससे गुणाकार का चिह्न भी 'घात' ही कहाता है। यह गणित शास्त्र पर अत्यन्त प्राचीन वैदिक छाप[२] है।

वैदिककाल में क्रान्तिवृत्त पर ०,९०,१८० और २७० इन अंशों पर स्थित ताराओं से घात या वेध लेते थे जैसे लिखा है (यः पितृभ्यो घ्नन्ति) अर्थात् जो पितृ नक्षत्रों (मघा) से वेध लेता है।

वह योग तारा १३६ अंश पर है जिसका स्वल्पान्तर से ९० अंश का बिन्दु आता है।

ऋषिजन पूर्वकाल में सूक्ष्मकाल का विवेचन

---

१ यदामावास्ये वृत्रो च चन्द्रमाः स्वयमेव एतां रात्रिं न पुरस्तात् न पश्चाद् ददृशे (श० ब्रा० १।५।३।१२)

२ वृत्रहत्यं यदमावस्यं यत्पौर्णमास्यं वितूरमिवोदितोऽथैतां रात्रि मुपैवप्याप्लवते। (श० ब्रा० १।५।३।१२)

सूर्यग्रहण से ही किया करते थे। इस ग्रहण को धीत, (धयन) और ग्रसन कहते* थे। इसीको इन्द्र द्वारा सोमपान, भी कहते थे। और इसी प्रकार ग्रास-मोक्ष या ग्रहण के छूटने को पुनराप्यायन, पश्चाद्दर्शन आदि शब्दों से कहते थे।

सुपर्णचिति पर वैदिक ऋषि अमावास्या वा पौर्णमासी से मास प्रारम्भ करते थे। और यदि दिनानुसार इष्टकाओं में अन्तर पड़ता तो इष्टका छोड़कर पुनः पर्वान्तकाल का मेल मिलाते थे। इसी यज्ञादि की गणना का अनुसरण अभी अमावस से अमावस, पूनम से पूनम का मास लेने का व्यवहार होता है और क्योंकि क्रान्तिवृत्त को माप २ कर उनको बनाया जाता है इसलिये प्रत्येक तिथि 'मिति' कहाती थी।

इसी प्रकार समिधाओं में भी सूक्ष्म गणना के रहस्य छिपे हैं। जिनमें तीसरे वर्ष अधिक मास की गणना भी स्पष्ट होती है।

प्रत्येक नक्षत्र अपने देवता नाम से और प्रत्येक देवता अपनी भिन्न २ समिधा से संकेतित होता था।

सुपर्णचिति पर तो दैवत या नक्षत्र क्रम से समिधा मात्र रखते थे, पर सप्तहोत्रा वेदी पर उन समिधाओं की आहुति करते थे। सप्तहोत्रा वेदि में वैदिक ऋषि ७ वारों का निर्णय भी करते थे। इसको 'ग्रह-मख' में पीछे से ले लिया गया है। अथर्व ज्योतिष में वर्तमान के सातों नाम भी आते हैं।

ग्रहों के गति ज्ञान को पूर्वकाल में 'शूलगव' कहा जाता था। जिसका भ्रष्ट विकृतरूप अतिहिंसामय बना लिया है।

उत्तरगोल को देवलोक या स्वर्ग कहते थे। अयन-रेखाओं पर सूर्य की ठीक २ गति को यूप की छायाओं से माप लेते थे।

वेदार्थ ज्ञाताओं को 'ब्रह्मवादी' कहते थे। शतपथादि ब्राह्मणों में ब्रह्मवादियों के बहुत प्रश्न हैं। और इस प्रकार कालज्ञान, ज्योतिष, गणितादि से यथार्थ समाधान करने वाले ग्रंथ ही ब्राह्मण थे।

'यज्ञ' सब इसी प्रकार से वैज्ञानिक प्रयोग होते थे।

वेद में अनेक तारा-मण्डलों (Constelation) का वर्णन है जैसे कालकञ्ज. ऊर्णनाभि, दिव्य श्वान, कन्या आदि इनको लक्ष्य कर 'शुनासीरीय यज्ञ' का विधान है। मन्त्र देखो (ऋ० सं० ३।८।९)

क्रान्तिवृत्त के अंशों को 'शार' मण्डलपूर्ण होने को 'क्रय' और ९०°।१८०°।२७०°।३००° अंश स्थानों को क्रम से द्यौः, अन्तरिक्ष, पृथिवी और स्वर्ग कहते थे। अंशों के 'परिश्रित' कहते थे।

वसन्तादि तीन ऋतु को 'देवदिन' और शरदादि तीन ऋतुओं को 'देवरात्रि' कहते थे। संवत्सर को 'देवों का अहो रात्र' कहते थे। (तै० ब्रा० ३।५।२२)

इत्यादि अनेक ज्योतिष विज्ञानों का रहस्य पूर्व ऋषियों ने जानकर वेद में से देख २ कर यज्ञों का महान् उद्योग-प्रयास किया जिसमें त्रैलोक्य भर के प्रत्यक्ष ज्योतिष को गणित सिद्धान्तों की सूक्ष्म गणनाओं सहित प्रत्यक्ष दिखा दिया था।

यह संक्षेप से उक्त विद्वानों के विस्तृत ग्रन्थ का आशय खोल कर रख दिया है। विस्तार चाहने वाले सज्जन मूल ग्रन्थ का अवश्य अनुशीलन करें।

---

* तं निर्धीय निरस्यति, स एव धीतः पश्चाद् ददृशे (श० ब्रा० १।५।३।२०) तं ग्रसित्वा अदितिः सन्पुरस्ताद् ददृशे न पश्चात्ददृशे ग्रसते ह वै। (श० ब्रा० १।५ ३।१९)

आत्मा की १४ भूमियें या अवस्थाएं

[ले० श्री 'अनुशीलक']

अपने आत्मा का अध्ययन करो

मनुष्य शास्त्रों और उपनिषदों के रहस्यों को समझने की बड़ी उत्सुकता दिखाता है परन्तु उचित सरल और अनुभव पूर्वक लिखे हुए न तो उत्तम ग्रन्थ ही मिलते हैं और न उत्तम अनुभवी गुरु ही मिलते हैं।

अध्यात्मक्षेत्र के अनेक रहस्यों को श्री स्वामी नरहरि ने अपने* आत्मबोध नामक ग्रन्थ में बड़ी विनोदपूर्ण, सरल और सुबोध विधि से समझाया है। तदनुसार हम पाठकों को संक्षेप से अज्ञान और ज्ञान की सात सात भूमिकाओं को स्पष्ट दर्शाते हैं।

"अज्ञान की सात भूमिका हैं जैसे (१) बीज जाग्रत्, (२) जाग्रत् (३) महाजाग्रत (४) जाग्रस्वप्न, (५) स्वप्न (६) स्वप्न जाग्रत् (७) सुषुप्ति यह सात प्रकार की मोहकृत भूमिकाएं हैं।

१. बीज जाग्रत्—जैसे कुठले में रखे बीज में सारा वृक्ष अव्यक्त रूप से रहता है। इसी प्रकार ब्रह्मबीज में जिस दशा में विश्वरूप वृक्ष व्यक्त न हुआ हो वह दशा 'बीज-जाग्रत्' की है। वही संसार की प्रथमावस्था है। वही महामोह अध्यात्म में 'अज्ञान' है।

२. जाग्रत्—वह बीज जब खेत में डाल दिया, अंकुर निकलने को हुआ, वह 'जाग्रत्' अवस्था है। यह प्रकृति की महत्-तत्व की दशा सांख्यों ने कही है। वेदान्त ने इसको 'ईक्षण' कहा है। अध्यात्म में सामान्य 'अहंकार' है। आनन्दमय कोश की जागृति है। आत्मा ही इसका साक्षी है।

३. महाजाग्रत्—जब छोटे २ अंकुर दिखाई देने लग गये। विशेष रूप से अहंकार प्रकट हुआ, वह महाजाग्रत् अवस्था है। यही अध्यात्म में जीव की 'पूर्ण जाग्रत' दशा है।

४. जाग्रत्स्वप्न—जब जीव जागता २ ही केवल मनोरथ किया करता है जागता भी सोतासा रहता है। वह उसकी जाग्रत्-स्वप्न-दशा है।

५. 'स्वप्न'—लोक में जिसे स्वप्न दशा कहते हैं वही स्वप्न दशा है।

६. स्वप्नजाग्रत्—जब जागने पर भी स्वप्न के देखे संस्कार चित्त पर प्रबलता रखते हैं वह 'स्वप्न जाग्रत्' है।

७. सुषुप्ति—छहों अवस्थाओं के छूट जाने पर सातवीं भूमिका 'सुषुप्ति' है। यह सात अज्ञान की अवस्थाएं हैं।

अब क्रम से ७ ज्ञान की भूमिकाएं होती हैं।

१. जिज्ञासा अथवा मुमुक्षा—यह प्रथम अधिकार दशा कहाती है। इस दशा में जीव ब्रह्मविद्या का प्रार्थी होता है।

२. विचार या समक्षा अथवा श्रवणदशा है। इसमें मुमुक्षु पदार्थ का ज्ञान करने लगता है।

---

*यह ग्रन्थ बड़े ही सारयुक्त और अध्यात्म अनुभवों से भरा हुआ है। जो पाठक इस ग्रन्थ को चाहें 'मण्डल' को लिखें। उनको यह अलभ्य ग्रन्थ अनायास ही मिल सकेगा। पृष्ठ संख्या ६२५ दाम २।) इस ग्रन्थ में मूल कारिकाएं संस्कृत में और सरल हिन्दी अनुवाद भी साथ ही है।

३. तनुमानसा या परीक्षा दशा है। इस दशा में जीव मनन करता है। उसके संशय टूट जाते हैं।

४. सत्त्वापत्ति का परोक्ष दशा है। उस समय निदिध्यासन काल होता है। उसमें जीवात्मा पण्डित हो जाता है।

५. असंसक्ति दशा। यह अपरोक्षावस्था है। इसमें ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, इस पांचवीं दशा में प्राप्त आत्मा का साक्षात् अनुभव होता है।

६. पदार्थभावनी दशा यह महादीक्षा है। यह परिणति काल है। इसमें जीव आनन्द से उन्मत्त होता है। आखों में आनन्द की तरंगे लहराती हैं और उन्मादसा रहता है।

७. तुर्य उसमें पराकक्षा दशा रहती है। उसी को पराकाष्ठा वा 'तुरीय दशा' कहते हैं, इसमें सहज, स्वाभाविक आत्मा की स्वरूप में स्थिति रहती है।

इससे परे की दशा को तुरीयातीत कहा जाता है। वही ब्रह्मसमता है।

ज्ञान भूमिकाओं में भी जिज्ञासा विचारा, तनुमानसी ये पहली तीन, 'जाग्रत' हैं। इनमें जिज्ञासु को जगत् में दृश्य, द्रष्टा, दर्शन का भान रहता है।

चतुर्थ अवस्था सत्वापत्ति दशा स्वप्न के समान है। उस दशा में जगत् की सब स्थिति स्वप्नवत् प्रतीत होती है।

पांचवी दशा 'असंसक्ति' है, वह शिथिल सुषुप्ति की दशा है। और छठी 'पदार्थभावनी' दशा गाढ़ सुषुप्ती की दशा है। सातवीं तुरीय दशा है।

इन अवस्थाओं की तुलना माण्डूक्य उपनिषत् से करें तो बड़े ही रहस्य का उद्घाटन होता है।

इसी का विचार और समीलन बृहदारण्यक उप० में जनक के प्रति याज्ञवल्क्य के प्रति स्वप्नान्त बुद्धान्त आदि दशाओं में किया है। इससे जीवात्मा की वर्त्तमान दशा तथा लोक-परलोक और परिवर्तन की दशाओं तथा संसार की विराट् आत्मा की दशाओं का भी ज्ञान होता है।

असुर आत्मा की कई दशाओं में एक समान स्थिति रहती है। जैसे—

मूढ़-समाधि, मूर्छा, मृत्यु और सुषुप्ति तथा तुरीय इन सब में बाह्यज्ञान शून्य हो जाता है। इन में क्या भेद है ?

१ जो असुर गण सिद्धि के लोभ में पड़कर उग्र तप करते हैं, देह को भी भूल जाते हैं उह उनकी मूढ़-समाधि है।

२ रोग पीड़ा में क्लेशित होकर देह को भूल जाना मूर्छा है जैसे हिष्टीरिया, मृगी, या आघात, रक्तप्रवाह भय, शोक आदि से हो जाती है।

३. प्राण आदि के निकल जाने से देह का भूल जाना 'मृत्यु' है।

४. देहस्थिति काल में ही सुख भी रहे अज्ञान भी रहे तो वह दशा 'सुषुप्ति' की है।

५. स्वयंप्रकाश आत्मा का साक्षात् हो और अज्ञान मोह भी नष्ट हो वह दशा 'तुरीया' या समाधि दशा है।

सम्पादकीय टिप्पणियां

१—मन्दिर-प्रवेश-बिल

गत दो वर्षों से—जब से कि महात्मा गान्धी जी ने हरिजन आन्दोलन में अधिक दिलचस्पी ली है। मन्दिर प्रवेश बिल के सम्बन्ध में पर्याप्त आन्दोलन हो रहा है। सुधारक लोग चाहते हैं कि इस समय ऐसा कानून बन जाना चाहिये जिससे कि किसी भी स्थान के मन्दिर के सम्बन्ध में यदि वहां के सनातनी निवासियों की अधिक राय हरिजन भाइयों को भी उस मन्दिर में प्रवेश देने के हक में हो जाय तो कतिपय गिने-चुने हठधर्मी सनातनी हरिजन भाई मन्दिर प्रवेश के सम्बन्ध में कोई बाधा खड़ी न कर सकें, बल्कि ऐसी अवस्था में कानून बहु पक्ष की सहायता करे। भारतीय सर्कार ने इस सम्बन्ध में प्रजा मत लेने की कोशिश की है। प्रजा मत की जो गणनाएं प्रकट हुई हैं उनसे ज्ञात होता है कि सनातनी भाइयों की अधिकतर सम्मति मन्दिर-प्रवेश बिल के विरोध में है और मन्दिर-प्रवेश-बिल के पक्ष में सम्मतियां बहुत ही थोड़ी हैं। इससे यह तो स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि सनातनी भाई अभी तक हरिजन भाइयों को मन्दिर में प्रवेश करने का बराबरी का हक देने को तैय्यार नहीं। महामना मालवीयजी भी कानून द्वारा हरिजनों को मन्दिर प्रवेश के हक देने के विरोध में हैं, चाहे उनकी निज सम्मति यही है कि हरिजनों को मन्दिरप्रवेश का हक दे देना चाहिये और इस सम्बन्ध में उन्होंने पर्याप्त आन्दोलन भी किया है। भारत सर्कार भी मन्दिर-प्रवेश-बिल के सम्बन्ध में अपनी उपेक्षा वृत्ति प्रदर्शन कर रही है और इसमें इस युक्ति का आश्रय ले रही है कि धर्म के क्षेत्र में सर्कार किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहती। वस्तुतः बात तो यह है कि सर्कार उस समय को देखना अपनी नीति के अनुकूल नहीं समझती जब कि सवर्णी हिन्दु और अवर्णी हिन्दु परस्पर मिल जाँय और मिलकर भारत में एक प्रबल शक्ति का रूप धारण कर लें। परन्तु हमें उनकी समझ पर हैरानी होती है जो कि अपने पैरों पर आप ही कुठारपात कर रहे हैं। वर्त्तमान समय में हिन्दुओं की शक्ति बहुत कमज़ोर हो रही है। सर्कारी श्वेत-पत्र (White paper) और जातीय झगड़े का निर्णय (Communal Award) हिन्दू जाति की इस कमज़ोरी का ही परिणाम है। ७ करोड़ हरिजन यदि एक स्वतन्त्र संगठित शक्ति बन जायँ तो हिन्दू कहीं के भी नहीं रहेंगे। उस समय क्या हिन्दू धर्म बल्कि हिन्दू जनता का भी कोई नाम लेवा न होगा। उस समय हिन्दू जाति को यथेच्छ पद दलित किया जा सकेगा। इसलिये चाहिये तो यह कि सनातनी भाई वर्त्तमान समय की आवश्यकता को समझें। यदि सनातनी भाई अपनी इस आवश्यकता को नहीं समझते तो सर्कार को चाहिये कि वह, कानून द्वारा, सनातनी-भाइयों को अपनी स्वतन्त्रेच्छा से अपनी प्रथाओं और परम्पराओं को बदलने का अधिकार दे। यह हक़ देना किसी प्रकार से भी धर्म में हस्तक्षेप करना नहीं है। मन्दिर-प्रवेश-बिल यह नहीं चाहता

कि सर्कार कानून द्वारा सभी मन्दिर हरिजन-भाइयों के लिए खोल दे, अपितु यह चाहता है कि किसी भी स्थान के वे सनातनी-भाई जो कि अपनी बहुसम्मति के अनुसार अपनी ही इच्छा से हरिजन भाइयों के लिये कोई मन्दिर खोल देना चाहते हैं, कानून उनके इस काम में कोई बाधा उपस्थित न कर सके। हमारी सम्मति तो यह है कि मन्दिर-प्रवेश-बिल के पास करने में यदि सर्कार सहायता नहीं देती तो सर्कार एक दूसरे रूप में धर्ममें हस्ताक्षेप कर रही है। अर्थात् जो लोग अपने रूढ़ि तथा परम्परा से प्राप्त धर्म की कई रीतियों में कुछ परिवर्त्तन भी करना चाहते हैं, और इस निमित्त कानून की सहायता चाहते हैं, सर्कार उन्हें अपनी पुरानी रीतियों के ही जारी रखने में एक प्रकार से बाधित कर रही है और साथ ही इस सिद्धान्त को मूक रूप में स्वीकार कर रही है कि अल्प पक्ष के लोग बहु पक्ष को अपनी सम्मति मनवाने को बाधित कर सकते हैं। साथ ही मद्रास की ओर मन्दिरों के ट्रस्टीज़ कानून द्वारा बने हुए हैं। ये ट्रस्टीज़ अपने आप को मन्दिरों के स्वामी समझते हैं। स्थानिक समग्र सनातनी-जनता भी यदि इन मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश के लिए उतारू हो जाय और ये ट्रस्टीज़ अगर मन्दिरों में हरिजनों का प्रवेश न चाहें तो मन्दिरों में प्रवेश का हक़ हरिजनों को नहीं मिल सकता। क्या धर्म में सर्कार का यह हस्ताक्षेप नहीं है ?। अपनी धार्मिक प्रथा में परिवर्त्तन चाहने वाली जनता को यह कानून द्वारा दबाना नहीं है ?। सर्कारी कानून द्वारा ही ट्रस्टीज़ को इस प्रकार का—सवर्णी हिन्दुओं की सामूहिक इच्छा को पद दलित करने का—हक़ प्राप्त है। इस प्राप्त हक़ को अब कानून द्वारा ही दूर किया जा सकता है। ट्रस्टीज़ को यह हक़ कानून द्वारा ही मिला हुआ है और कानून द्वारा ही उनका यह हक़ उनसे छीना जा सकता है। और किसी उपाय से नहीं। इसलिए हम समझते हैं कि सर्कार को मन्दिर-प्रवेश-बिल के पास कराने में सहयोग अवश्य देना चाहिये। सर्कार का इस प्रकार का सहयोग धर्म में हस्ताक्षेप न करने की नीति के सर्वथा अनुकूल है। बल्कि इस सम्बन्ध में सहयोग न देना धर्म में सर्कार का हस्ताक्षेप करने के बराबर होगा। क्योंकि इस बिल को पास न कराने से सर्कार, उन सनातनी भाइयों को जो कि वास्तव में बहु-सम्मति रखते हैं—अपनी इच्छानुसार अपनी धार्मिक-नीति में परिवर्त्तन करने से एक प्रकार से रोक रही होगी जो कि अपनी बहुसम्मति से किसी स्थानीय मन्दिर में हरिजनों का प्रवेश चाहते हैं। परन्तु कतिपय अल्प-पक्ष सनातनी-भाइयों के विरोध के कारण और इस विरोध को एक प्रकार से सहायता देने वाली सर्कारी नीति के कारण, हरिजनों को स्थानिक मन्दिर में प्रवेश नहीं करा सकते।

मन्दिर-प्रवेश-बिल के पास कराने में सर्कारी सहायता को हम धर्म में हस्ताक्षेप नहीं समझते—इसे पर्याप्त स्पष्ट रूप में हम ने लिख दिया है। परन्तु धर्म में हस्ताक्षेप न करने की सर्कारी पुकार वास्तव में सदा से एक समान नहीं रही। शारदा एक्ट के विरोध में सनातनियों तथा मुसलमानों ने पर्याप्त आन्दोलन किया, और धर्म के नाम पर आन्दोलन किया, परन्तु सर्कार ने इस आन्दोलन की कोई परवाह न की। और शारदा-एक्ट को कानून का रूप दे दिया गया। प्राचीन समय में हिन्दुओं में सती-प्रथा

प्रचलित थी और इस सती-प्रथा का आधार भी धार्मिक-भावना ही थी, परन्तु अंग्रेजी सर्कार ने इस अनुचित धार्मिक-भावना की कोई परवाह न की और भारत से सती-प्रथा की जड़ कानूनन उखाड़ दी, जिसके लिए वर्त्तमान समय की हिन्दू जनता बहुत आभारी है। इसी प्रकार सर्कार यदि चाहे तो मन्दिर-प्रवेश-बिल को पास करवा कर हिन्दू जाति पर पर्याप्त उपकार कर सकती है। परन्तु सर्कार चूँकि हिन्दू जाति को अधिक प्रबल और संगठित रूप में देखना नहीं चाहती। इसी लिये सर्कार इस बिल के सम्बन्ध में धर्म में हस्ताक्षेप न करने की नीति का आश्रय लिये बैठी है।

२—वेद ! मेरा प्राणप्यारा वेद !!

आर्य पुरुष कहते हैं 'वेद' हमारा धर्म है। वेद हमें प्यारा मालूम होता है। सनातनी जितना गंगा-जली, गीता और शालिग्राम की बटिया को नहीं मानता होगा, एक मुसलमान जितना कुरानशरीफ़ को और ईसाई जितना इन्जील या बाइबल को नहीं मानता होगा उससे कहीं बढ़कर हम 'वेद' को मानते हैं। क्यों? क्योंकि वेद हमारा धर्म है। वेद हमारा कर्म है। वेद हमारा जातीय धर्मपुस्तक है। 'वेद' सचाई का स्रोत है। वेद ईश्वरीय प्रभुवाणी है। वेद परम पवित्र है।

परन्तु मित्रो! कभी आपने वेद को अपनी छाती से लिपटा कर दिल से भी प्रेम किया है? कभी उससे लिपट कर 'मेरा वेद', 'मेरा प्यारा वेद', 'मेरे प्राणों से भी प्यारा वेद' कह करे अपने आत्मा मे धर्म-प्रेम की तरग का अनुभव किया है। कदाचित् कभी नहीं। हा! कितने थोथेपन की बात है। वेद पर अभिमान है, पर वेद पर प्राण, मान और सन्मान का दान नहीं।

मित्रो! आओ एकबार वेद को गले लगाकर उसके साथ प्रेम करो तीन बार छाती से चिपका कर कहो "वेद ! मेरा प्यारा वेद !! प्राणों से भी प्यारा वेद !!! परलोक में भी मेरा साथ देने वाला 'वेद'! मैं इसको कभी नहीं त्यागूंगा। कभी नहीं।"

क्या यह मैं जड़ की उपासना बतला रहा हूं? नहीं। यह मानव स्वभाव की सत्य ज्ञान के प्रति कर्तव्य की शिक्षा है।

गुरुकुल में एक महाराष्ट्र नवयुवक १९ वर्ष की वयस् में निमोनिया के जटिल रोग में मृत्युशय्या पर पड़ा था। पिता सिरहाने बैठा था। नवयुवक ने कहा—"पिताजी मैं जा रहा हूं। मेरा धर्म-पुस्तक, मेरा प्राणों से प्यारा पुस्तक गीता रहस्य, लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य मेरी छाती पर धर दो। मैं उसे एक मिनट के लिये भी नहीं छोड़ सकता।"

उक्त पुस्तक उसकी गोद में रख दी गई। नवयुवक की चक्षुओं में तेज, प्रेम, सान्त्वना, धार्मिक शान्ति, समाश्वासन की झलकें दीख रही थीं। उसने अपनी अर्ध स्पष्ट निर्बल वाणी से गीता के श्लोक कहने शुरू किये और कुछ घड़ी में प्राणों की गति के साथ श्लोको का मन्द स्वर भी समाप्त हो गया। यह एक सत्य घटना है धर्म-पुस्तक के प्रति वास्तविक प्रेमप्रदर्शन की। आर्यसमाजी इस कथा को पढ़कर अवश्य कहेंगे कि वह गीता-रहस्य के स्थान में वेद की पुस्तक मांगता तो अधिक कल्याण होता।

हां, ठीक है। आपका कथन सर्वथा सत्य है।

परन्तु मैं यह प्रश्न करता हूँ कि क्या आपने अपने हृदय में वेदों के लिये इतना प्रेम का वातावरण उत्पन्न कर लिया है। कभी अपने जीवनकाल में दिन के २४ घण्टों में दो मिनट के लिये भी वेदों को दिल से लगा कर 'मेरा प्राणप्यारा वेद' कहने का सौभाग्य प्राप्त किया है? नहीं, तो फिर दूसरों को आपका यह उपदेश कैसा?

सच बात तो यह है कि आप जानते हैं कि अमृत का घूँट सर्वोत्तम पदार्थ है। परन्तु जबतक आपने अमृत का रसास्वाद नहीं किया आप क्या जानते हैं कि अमृत कडुआ है या मीठा, तीता है या खट्टा, आपने लाख अमृत के गुण सुने हों परन्तु प्यास भूख से पीड़ित होकर भी आपने रोटी पानी की चिल्लाहट तो की होगी, पर अमृत की मांग कभी पेश नहीं की होगी, क्योंकि आपने अमृत को कभी चाखा नहीं।

यही दशा आपने वेदों की कर रखी है। आपने वेदों की सहस्रों वार प्रशंसा की और सुनी परन्तु स्वयं उसका रसास्वादन नहीं किया। न करने का यत्न किया। हां, श्रद्धा के लिये उसको आपने एक लक्ष्य अवश्य बना रखा है।

परन्तु यह है कितने शोक की बात? "वेदों का पढ़ना पढ़ाना, सुनना और सुनाना आर्यों का परम धर्म है।" परन्तु यहां हम उस पुस्तक को अपने घर में भी स्थान देने को तैयार नहीं हैं। हृदय तो अभी दूर है। उसकी एक पंक्ति भी नित्य नियम से बाँच लेने का हम स्थायी उद्योग नहीं करते। फिर वह परमधर्म रूप वेद के साथ प्राणों से बढ़कर प्रेम क्योंकर हो सकेगा।

आप यदि सच्चे वेदों के प्रेमी हैं तो आज ही व्रत लें कि वेदों को मैं अपने पुत्र, मित्र, बन्धु, भाई, पिता, माता सबसे अधिक प्रिय मानकर उसे हृदय से चिपटा कर रखूँगा। उसका नित्य पाठ अवश्य किया करूँगा। और मेरे लिये वही वेद ज्ञान रूप शुद्ध जल की भरी गंगा-जली है, वही मेरी ज्ञानमयी गीता है, वही मेरी शालिग्राम की बटिया है, वही मेरी बायबिल, वही मेरी कुरान और अंजील है। वेद से परे कोई ईश्वरीय ज्ञान नहीं। वही मेरे कंठ की कण्ठी और गले का यज्ञोपवीत है। वही मेरे कान का कुण्डल और हाथ का कंगन है। वेद है तो सब कुछ है, वेद नहीं तो कुछ नहीं। ऐसा वेद से प्रेम बांध लें, इसी की मनमें साध लें तभी उन्नति होना सम्भव है।

३—पूना काण्ड

महात्मा गांधी जैसे अहिंसावादी महापुरुष के हरिजन आन्दोलन को कुचलने के लिए एक सनातनी के हाथ से उन पर बम फेंका गया यह विश्वास नहीं होता था कि ऐसे निरपराध, पवित्र हृदय, दयालु पुरुष पर ऐसा कृत्य-प्रयोग किया जावेगा।

परन्तु नहीं। इतिहास में ऐसी अनेकों घटनाएं हैं। संसार में कौनसा महात्मा बचा जिसने ऐसे क्रूर प्रहारों का आघात नहीं सहा। शंकराचार्य सा योगी निःस्पृह, त्यागी, महापुरुष विष के प्रयोग से जीवन त्यागने को बाधित हुआ। बौद्धकाल में महात्मा पद्म-रक्षित को अशोक ने तपे तेल और जलते भट्टों में डाला, महात्मा ईसा को पश्वोंने फांसी पर चढ़ा दिया। महात्मा सौक्रेटीज़ को विशुद्ध ज्ञानोपदेश करने के अप-राध में न्याय की नंगी निर्लज्जता की आड़ में विष पिला दिया। ऋषि दयानन्दको कई बार विष दिया, संखिया का विष देकर असाध्य पीड़ा से जीवन हर लिया।

क्या महापुरुषों के जीवन में यह दिव्य परीक्षाएं नहीं हैं। वास्तव में विषपान, अग्निदाह आदि जीवन-नाशक घोर परीक्षाएं ही महात्माओं की सच्ची परीक्षा हैं। इनमें नश्वर देह के नष्ट हो जाने पर भी महात्माओं का यशःशरीर कभी नष्ट नहीं होता। वह सदा स्थायी हो जाता है। वे अमर मृत्युञ्जय हो जाते हैं और उन महात्माओं पर आघात करने वाले भीरु आक्रामक की ही लोक में नैतिक मृत्यु हो जाती है। हमें तो स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ता है कि महात्मा गान्धी द्वारा मानवीय अधिकारों की न्यायानुमोदित मांग को बम से कुचला नहीं जा सकता। जो भीरुधर्म हरिजनों के स्पर्शमात्र से नष्ट हो सकता है वह कभी किसी जनसमाज की रक्षा भी नहीं कर सकता।

वह भीरुधर्म कभी वीरता का रस युवकों में प्रवाहित नहीं कर सकता। यही कारण हुआ कि भीरुधर्म के मानने वालों में से एक अत्यन्त भीरु, चोर के समान कायर हृदय ने जो एक क्षणभर के लिये भी, एक छोटी बालिका के सामने भी आने का साहस नहीं कर सकता, ऐसा नृशंस कार्य किया है। किसी सम्प्रदाय, समाज या मानवसमूह में जब ऐसी निर्बलता, भीरुता और कायरता का प्रवेश हो जाता है वह सम्प्रदाय या मानव समाज कभी भी जीवित नहीं रह सकता। वह अपनी भीरुता और निर्बलता से मर जाता है। जनता भी कायर के पीछे नहीं चलती, प्रत्युत उसके पीछे चला करती है जो मैदान में तोप के गोलों की भी परवाह न करे। हिन्दू जनता में से एक का ऐसा कायरता का काम सनातनी लोगों को सदा के लिये जनता की आंखों से उतार देगा। और जनता अनायास वीर के ही गुण गावेगी।

वस्तुतः देखा जाय तो हरिजनोद्धार या दलितोद्धार का कार्य हिन्दु जाति के लिये कोई नया नहीं है प्राचीनकाल से ही इस आन्दोलन ने समय २ पर अपना रूप प्रकट किया है। श्री शंकराचार्य के ब्रह्मवाद ने जगत् भर की मनुष्य जाति को एक तख्ते पर ला खड़ा किया।

रामानुज के उदार उपदेशो ने यवनों तक को वैष्णव धर्म में दीक्षित किया। ऋषि दयानन्द के गुण-कर्म-स्वाभानुसार वर्ण-व्यवस्था के उपदेशों ने आर्यसमाज के अन्दर एक प्रबल भाव ऐसा उत्पन्न कर दिया कि उसने सबसे प्रथम दलितों को उठाकर गले लगाने का कार्य आज से, पचासों वर्ष पूर्व से प्रारम्भ कर रखा है। अब यह महात्मा गांधी का हरिजन आन्दोलन। यह तो एक राजनैतिक दृष्टि से भी भारत को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त करने का आवश्यक अंग हो जाने से अब इसी रूप में प्रकट हुआ है जैसे म० गांधी के अन्य आन्दोलन पूर्व प्रकट हुए थे। परन्तु क्योंकि स्वतन्त्रता और स्वायत्त शासन भी जाति के विराट् जीवन में एक अनुपेक्षणीय आवश्यक धर्म उसी प्रकार है जैसे व्यक्ति के जीवन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता। इसलिये पारस्परिक घृणा के रूप में जो जातीय दुराव है और जिसके कारण लाखों नरनारी एक घृणित और दलित जीवन बिता रहे हैं जिस जाति की लाखों आत्मा जीवन की उज्ज्वल अग्नि से वञ्चित हैं उस दुराव, द्वेष वा हिन्दू जाति के अभिशापरूप अस्पृश्यता को दूर करने के लिये महात्मा गांधी का यह पवित्र आन्दोलन हिन्दू

जाति के पराधीनता को दूर करने का एक मुख्य कारण होगा। इसमें सन्देह नहीं। इस साधन से जो स्वतन्त्रता प्राप्त होगी वह जाति के किसी एक अंश में प्राप्त न होकर सर्वाङ्गी स्वतन्त्रता होगी।

क्या पर्दा इज़्ज़त बचा सकता है?

और कब तक?

भाई परमानन्दजी—देश के नेताओं में से एक हैं। आपने भाषणों में यह सलाह दी है कि—"जबतक हम में गुंडों से अपनी स्त्रियों को बचाने की शक्ति न आ जाय और जबतक हम अपनी शान को कायम रखने के योग्य न हो जायँ तब तक हमें हिन्दू स्त्रियों को पर्दे और घर की चाहरदीवारी में रखने की जरूरत है। अपनी सभ्यता की रक्षा के लिये हमें कुछ अनुदार बनने की भी आवश्यकता है।"

यह सलाह बढ़ते और उन्नत होते राष्ट्र के लिये कितनी घातक है। नेता के मुख से इस प्रकार की बात निकलना दूसरों के लिये एक युक्ति हो जाती है। जिस पर्दे ने भारत की स्त्री जाति को पुरुष वर्ग से एक दम भिन्न कर दिया है, उनको मूर्ख, भीरु और कायर बना दिया है उस पर्दे को बनाये रखने के लिये ऐसा एक बहाना जनता को देना कितना भयंकर है यह विचारणीय है। जब तक हम में शक्ति न हो या हम अपनी शान कायम रखने योग्य न हों, यह ऐसी शर्तें हैं जो कभी युक्ति नहीं बन सकतीं। क्योंकि निर्बल चाहे कितने ही तहखानों में क्यों न छिप जाय शहज़ोर उसका नाश किये बिना नहीं रहता। इतिहास बतलाता है कि वैलासिक मराठा पेशवों और अन्य नवाबों आदि ने भी जब २ भीरु होकर स्त्रियों के लहंगों में शरण ली तो भी शत्रु ने उन्हें नहीं छोड़ा।

इसी प्रकार हिन्दुओं में लाख परदा रहने पर भी गुण्डे लोग उनकी घरों की इज़्ज़त नहीं बचने देते। पर्दे की आड़ में कैसे भयंकर, अनाचारी शहतानों का आक्रमण हिन्दु महिला-जगत् पर हो रहा है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक पर्दे से निकाल कर दूसरे पर्दे की आड़ में ही गुण्डे स्त्रियों को अपहरण करते हैं। ऐसी दशा में उस पर्दे को रक्षा का साधन समझना कितनी बालकबुद्धि जान पड़ती है। रहा स्त्रियों की रक्षा और लज्जा का प्रश्न। वह शर्म लिहाज़ तो उन जातियों में भी वैसा की वैसी ही है जो स्वतन्त्र हैं, जो जातियां प्रबल हैं और जो स्त्रियों की इज़्ज़त के लिये जान कटाना धर्म समझती हैं।

जिस देश में बालविवाह और वृद्धविवाह जैसी कुरीतियों ने स्त्रियों को मूर्ख और भोग-विलास मात्र की सामग्री बना दिया है वहां पर्दे की शरण लेना एक हास्यास्पद बात है। उन कुरीतियों का दाव-घात भी पर्दे की आड़ में ही हुआ है।

अब यदि कोई भी उपाय जाति के उद्धार का है तो वह स्त्री जाति का वास्तविक कार्यक्षेत्र में आने का है। यदि केवल पुरुषवर्ग अकेला आगे बढ़ना चाहे, तो नहीं बढ़ सकेगा। मार्ग में गाड़ी के दोनों पहियों को समानान्तर चलना चाहिये।

वेद ने स्त्री पुरुष दोनों को रथ के चक्रों के समान ही बतलाया है। वेद कहता है—

'विवृह्वेव रथ्येव चक्रा'

वे दोनों मिल कर रथ के चक्र के समान सब कार्य भार उठावें।

पूना की दुर्घटना पर—

"नाम लेने योग्य कोई भी सुधार सुधारक के अपनी जान को अपने उद्देश्य के लिये खतरे में डाले बग़ैर कभी नहीं हुआ। सदियों की बुराई, जो अच्छाई के नाम पर छाई हुई है। काफ़ी बलिदान के बिना दूर नहीं हो सकती, मैं सर्व शक्तिमान् परमेश्वर में विश्वास रखने वाला हूं।"

"जब तक कि इस शरीर में वह मुझे रखना चाहता है, वह मेरी सब खतरों से रक्षा करेगा; और जब उसके लिये इसका कोई उपयोग नहीं होगा, तो दुनियावी शक्तियों से प्राप्त सारा संरक्षण भी कुछ काम न आयेगा।" —महात्मा गांधी

'बम् फेंकने वालों ने अपनी निन्दा आप ही करली।' —सरोजिनी नाइडू

साहित्य-समालोचना

युग परिवर्त्तन अर्थात् कलियुग का अन्त और सतयुग का आरम्भः— ग्रन्थकार श्री गोपीनाथजी शास्त्री चुलैट। प्रकाशक सावंत रामप्रसाद फ़र्म के मालिक आकोला निवासी बाबू कृष्णलाल गोयनका। तत्व ज्ञान संचारक मण्डल एलिचपुर बरार।

पुस्तक बड़े उदात्त और उदार भाव से लिखी गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में २७ पृष्ठ की प्रस्तावना है। प्रस्तावना में आपने लिखा है कि कलियुग का भारी भूत अपने समय के ग्रन्थकारों द्वारा मुसलमानी काल के राजाओं ने हमारे गले चिपटा दिया है। तभी से अच्छे२ शास्त्र सिद्ध व्यवहारों को भी 'कलिवर्ज्य' कह कर हम से छुड़ा दिया गया है। कलिवर्ज्य आदि प्रकरण सब अधुनिक लोगों की लीला है। ऐसी लीलाएं आप ने २६ गिनाई हैं।

कलियुग समाप्त होकर सतयुग प्रारम्भ हो जाने में आपने प्रधानतया नीचे लिखे कारण दर्शाये हैं—

(१) वर्त्तमान पञ्चांगों में सर्वत्र वैवस्वतमनु २८ वें चतुर्युग के कृत, त्रेता, द्वापर बीतकर कलि के ५०३४ वर्ष भुक्त हुए और ४२६९६६ अभी और भुक्त होने हैं ऐसा लिखा जाता है। इनके पोषक ग्रन्थ प्रायः ग्रहसाधन के करण ग्रन्थ हैं। इसका मूलाधार भास्कराचार्य का यह लेख है।

नन्दाद्रीन्दुगुणास्तथाशकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः॥

अर्थात् शकारम्भ से ३१७९ वर्ष हुए हैं। बाद के ग्रन्थों ने कलि का यह वर्ष सब ने ले लिया है। वहीं से बाद के कर्मकाण्ड ग्रन्थों में भी संकल्पों में वही कलिकाल आघुसा है। भास्कराचार्य का कथन विश्वासनीय नहीं है।

(२) यह भ्रम आर्यभट्ट के 'तीन युगपाद' वाले लेख से फैला है। जिसका अर्थ ठीक २ नहीं समझा। उस का श्लोक यह है।

काह्नो मनवो ढ (१४) मनुयुगश्ख ७२ गतास्ते त

६ मनुगेच्छताच । कल्पादेयु गपादाग ३ य गुरुदिव-साश्च भारतात् पूर्वम् ।

अर्थ—ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु एक मनु में ७२ युग होते हैं उनमें से ६ मनु २७ युग और तीन पाद भारत के गुरु दिवस के पहले बीत गये। यहां 'भारत' शब्द से लोगों ने महाभारत ले लिया। जो असंगत है। ग्रन्थकार ने इस श्लोक में अपना काल बतलाया है न कि महाभारत का।

इस लेख से आर्यभट्ट ने केवल ४२१ शक में चैत्र शुद्ध १ शुक्रवार अपना काल बतलाया है। यहां तक कि वस्तुतः पाठ 'भारटात पूर्वम्' को 'भारतात्-पूर्व, कर लिया गया है। यहां केवल इतना ज्ञात होता है २८ वें युग के तीन पाद भुक्त हुए हैं पर कलियुग के ३६०० वर्षों के भोगों का ही आधार नहीं है। उसी के समकाल वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका में कहीं भी उस समय के पाचों सिद्धान्तों में कृत युगादि की गणना का उल्लेख नहीं किया। उसके समय तक भी युगों की इतनी लम्बी चौड़ी कल्पना का उदय नहीं हुआ था।

(३) सूर्य सिद्धान्त में भी ४३ लाख २० हजार वर्षा का कहीं युगमान नहीं कहा है। इनमें केवल दिव्य वर्षों की कल्पना अप्रमाणित है।

महाभारत का युद्ध भी कलियुग के आदि द्वापरान्त में नहीं हुआ, प्रत्युत कृतयुग में हुआ। उस समय के अनेक वर्णन कृतयुग से मिलते हैं। और धूर्तों ने कृतयुग के स्थान पर कलियुग कर दिया और कहीं २ जबरदस्ती से कलि सम्बन्धी श्लोक अनावश्यक रूप में डाल दिये हैं।

ऐसा ही प्रक्षेप स्मृतियों में किया है। यह लीला पुराणों में खूब हुई है।

(४) ग्रन्थ लेखक के मत से अब १९८२ संवत् से कलियुग समाप्त हो गया है। उसके अनेक लक्षण शास्त्रानुसार प्रकट हो चुके हैं।

बृहत्संहिता में 'बृहस्पतिचार' प्रकरण में १२ हजार वर्षों में आनेवाला योग लिखा है सो वह योग ठीक उक्त वर्ष में ही आया है इससे भी प्रतीत होता है उसके पूर्व चतुर्युगी समाप्त होकर पुनः कृतयुग प्रारम्भ हुआ है। अब सबको चाहिये कि अपने संकल्पों में ठीक २ परिवर्तन कर लें। कलियुग की रट न लगाया करें।

ग्रन्थ का मुख्य सार हमने पाठकों के समक्ष रख दिया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अन्य भी बहुतसे विषयों का समावेश किया है जिनमें "वैदिक पञ्चाङ्ग का प्रकरण" बहुत ही अनुसंधान से पूर्ण है। जिसका आशय हम एक लेखरूप में वैदिक विज्ञान के इसी अंक में दे रहे हैं।

लेखक बड़े ही परिष्कृत मस्तिष्क के हैं। उनके भाव ओजस्वी और क्रान्तिकारी हैं तो भी ऋषि दयानन्द से उनके मन्तव्यों में बहुत स्थानों पर भेद है। विशेष रूप से युगों की गणना और वर्षादि सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ने सूर्यसिद्धान्त और मनु के आधार पर ऋ० वेदादिभाष्य भूमिका में जो सिद्धान्त लिखा है उसके बहुत विपरीत है।

विद्वान् अनुसंधाताओं को चाहिये कि वे उक्त पुस्तक के मन्तव्यों की भी आलोचन करें। सत्यासत्य का निर्णय करें। महाभारत के सम्बन्ध में तथा युगों के परिमाणों के सम्बन्ध में ग्रंथलेखक की युक्तियां भी पर्याप्त विचारणीय हैं।—जयदेव शर्मा वि० अ०

———

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की अर्द्ध शताब्दी

आर्य संसार में यह समाचार बड़े हर्ष से सुनो जायगा कि श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने आगामी वर्ष १९३५ में नवम्बर वा दिसम्बर मास में सभा की अर्द्ध शताब्दी मनाने का निश्चय किया है सभा की स्थापना सितम्बर १८८५ में हुई थी। अग्रिम वर्ष इसको स्थापित हुए पूरे पचास वर्ष हो जायँगे। आज सभा के प्रताप से ही हम देखते हैं कि पंजाब के नगरों, कस्बों तथा ग्रामों में प्रत्येक स्थान पर वैदिक धर्म की ध्वजा लहराती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रान्तभर में कोई भी ऐसा छोटे से छोटा ग्राम नहीं है जहाँ कि लोग आर्य समाज के नाम से अनभिज्ञ हों। आज सभा के अधीन कई विभाग तथा संस्थाएं कार्य कर रही हैं। कहीं पर तो आर्य समाज अपने प्रचार के कार्य से अपने उद्देश्य की पूर्ति कर रहा है कहीं पर वैदिक तथा प्राचीन संस्कृति के उत्थान के लिये गुरुकुलों तथा विद्यालयों द्वारा अपने नाम को समुज्ज्वल कर रहा है, किसी स्थान पर शुद्धि कार्य द्वारा ही मनुष्य मात्र को एक संगठन में ला रहा है, किसी जगह कन्या पाठशालाओं द्वारा ही स्त्री जाति का उद्धार कर रहा है, कहीं कुरीतियों के निवारण करने में ही अग्रसर है, तात्पर्य यह है कि आज आर्य-समाज अपने अनेक प्रकार के कार्यों से लोगों को प्रभावित कर रहा है। सभा ने जहां पंजाब प्रान्त में इतना कार्य किया है वहां इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों तथा विदेश में भी प्रचार कार्य किया है। देश में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब अपना एक विशेष स्थान रखती है।

सभा ने जो इन पचास वर्षों में उन्नति की है वह पाठकों को उसी बात से स्पष्ट हो जायगा कि १९०१ में सभा के अधीन केवल दो सौ आर्य समाजें थी परन्तु अब पांच सौ से ऊपर आर्य समाजें सफलता पूर्वक कार्य कर रही हैं। उस समय जहां आर्यपुरुषों के प्रान्त में केवल सत्तावन सहस्र संख्या थी वहां आज यह संख्या सवा छः लाख के करीब पहुँच गई है इस समय सभा के आधीन केवल सोलह उपदेशक तथा भजनीक थे परन्तु अब पचास प्रचारक कार्य कर रहे हैं इनके अतिरिक्त ३४ के करीब अवैतनिक उपदेशक तथा व्याख्याता सभा के आदेशानुसार प्रचार कार्य में सहायता दे रहे हैं। इस प्रकार की उन्नति को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक आर्य सज्जन सभा की अर्द्ध शताब्दी के मनाने के समाचार को सुनकर हर्षोत्फुल्ल होगा और यह संकल्प करेगा कि इस महोत्सव को सफलता से मनाने के लिये उसके क्या २ कर्त्तव्य हैं।

अध्यक्ष प्रकाशन विभाग
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन लाहौर।

चारों वेद सरल भाषा-भाष्य

१ सामवेद भाषा-भाष्य

सामवेद भाषा-भाष्य छपकर तैयार होते ही सारे का सारा बिक गया। दूसरा संस्करण तैयार है। पृष्ठ संख्या ८५० से अधिक। मूल्य ४) रु०।

२ अथर्ववेद भाषा-भाष्य

(चार भागों में)

इस सरल भाषा-भाष्य को देखकर सबको विदित हो जायगा कि तन्त्र-मन्त्र की लीला केवल लोगों की मनगढ़न्त है। अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या, राजविद्या और मानव-समाज की उन्नति के लिये सभी उत्तम-उत्तम विद्याओं का बड़ी गम्भीरता और उत्तमता से उपदेश किया गया है। मूल्य चारों भागों का १६) रुपये।

३ यजुर्वेद भाषा-भाष्य

(दो भागों में)

इस भाष्य में महर्षि दयानन्द की दर्शाई दिशा को मुख्यता दी गई है। मन्त्रों के साथ शतपथ ब्राह्मण के पते आदि भी दिये गये हैं। भूमिका में वेद का परिचय लिखा गया है। मूल्य दोनों भागों का ८) रु०

ऋग्वेद भाषा-भाष्य

(पाँच भागों में)

इसमें महर्षि दयानन्द कृत संस्कृत-भाष्य शैली को अनुसरण करते हुए भाषा-भाष्य किया गया है और जिन भागों पर महर्षि दयानन्द का भाष्य नहीं है, उन पर भी सरल भाष्य किया गया है। प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग छप गये। आगे छप रहा है। पाँचों भागों का मू० २०) रु०।

नोट—१) रु० पेशगी देकर बने स्थायी ग्राहकों को वेदभाष्य का प्रत्येक खण्ड ३) में दिया जाता है।

आर्य्य-साहित्य मण्डल लि०, अजमेर.

वेदों के रखने के लिये केस
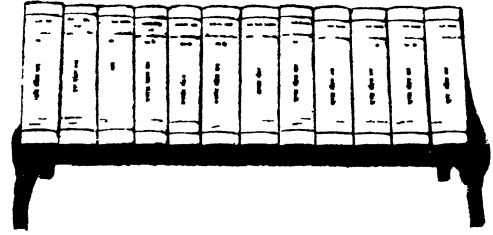
नं० १ मू० २॥)
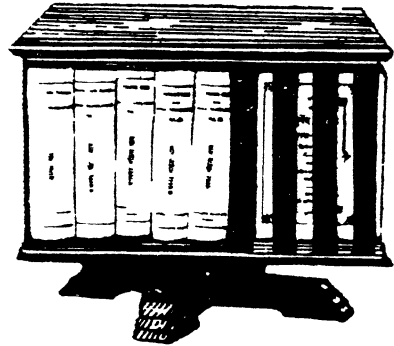
नं० २ घूमती अलमारी मू० ६)

नं० ३ बन्द अलमारी मू० ६)

बा० मथुराप्रसाद शिवहरे के प्रबन्ध से आर्य्य-साहित्य मं० लि० के लिये फाइन आर्ट प्रिं० प्रेस, अजमेर में छपकर प्रकाशित हुआ।

वर्ष २] सितम्बर सन् १९३४ ई० [अंक १२

ओ३म्

वैदिक विज्ञान

आर्य्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर का मुख्यपत्र

दण्डी श्री विरजानन्दजी की संस्कृत पाठशाला, मथुरा (भग्न दशा में)

इस में ही महर्षि दयानन्द सरस्वती ने दण्डी श्री विरजानन्दजी (प्रज्ञाचक्षु) से वेद वेदाङ्ग दर्शनों और उपनिषदों की शिक्षा पाई थी।

अवैतनिक सम्पादक—श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी

वार्षिक मूल्य ४) रु० प्रति अङ्क ।=)

वैदिक विज्ञान के नियम

१—वैदिक विज्ञान का वार्षिक मूल्य ४) है। छः मास का २।।),नमूने की प्रति।=) के टिकट भेज कर मँगाइये
२—"वैदिक विज्ञा ." प्रत्येक मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों की सेवा में पहुँच जाया करता है।
३—"वैदिक विज्ञान" में वेद और उसपर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर, अनुसन्धान खोज प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों पर ही लेख छापे जाते हैं।
४—लेख की भाषा परिष्कृत और सुबोध होनी चाहिये। प्रत्येक लेख काग़ज़ के एक तरफ़ लिखा होना चाहिए।
५—लेखों को स्थान देने या न देने का तथा उन्हें घटाने-बढ़ाने का सम्पूर्ण अधिकार सम्पादक को होगा।
६—न छपनेवाले लेख की सूचना सम्पादक न देगा। यदि लेखक महाशय वापस चाहें, तो -) का टिकट भेजकर अपना लेख मँगा सकते हैं।
७—लेख हर महीने की ५ तारीख़ तक सम्पादक के पास पहुँच जाना चाहिए।
८—यदि किसी महीने की संख्या ग्राहक को समय पर न मिले, तो उन्हें पहले अपने पोस्ट आफ़िस में तलाश करना चाहिए, पश्चात् पोस्ट आफ़िस की सूचना के साथ प्रबंधकर्त्ता के पास पत्र भेजना चाहिए।
९—यदि ग्राहकों को २-३ मास का पता बदलवाना हो तो,अपने ही पोस्ट आफिस से उसका प्रबंध करा लेना चाहिए। अधिक दिनों के लिए या स्थायी रूप से बदलवाना चाहें तो, उसके लिए हमें लिखना चाहिए।
१०—ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिखना चाहिए, नहीं तो पत्र पहुँचने का उत्तरदायित्व हम पर न होगा।
११—प्रत्येक विषय के पत्र व्यवहार के लिये जवाबी कार्ड या -)। का टिकट भेजना चाहिए।
१२—समस्त लेख तथा सम्पादन सम्बन्धी बातों के लिये श्री प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी हरद्वार, जि० सहारनपुर के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये।
१३—प्रबन्ध सम्बन्धी बातों के लिये तथा मनीआर्डर आदि भेजने के लिये निम्न लिखित पता पर्याप्त है:-
प्रबन्धकर्ता "वैदिक विज्ञान" अजमेर

'वैदिक विज्ञान' में विज्ञापन छपाई की दर

अश्लील विज्ञापन किसी भी रेट में नहीं छापे जायँगे।
साल भर की छपाई पेशगी देने पर १०) सैकड़ा कमीशन दिया जायगा।
छपाई पेशगी लेने व न लेने का अधिकार 'व्यवस्थापक' को होगा।

पूरा पृष्ठ व दो कालम—१०) प्रति मास।
आधा पृष्ठ व एक कालम ६) प्रति मास। चौथाई पृष्ठ व आधा कालम ३) प्रति मास।

नोट—कम से कम आधे पृष्ठ का विज्ञापन तीन मास तक लगातार देने वालों को 'वैदिक विज्ञान' साल भर तक मुफ़्त दिया जायगा, परन्तु रुपया पेशगी आना चाहिये।

विशेष स्थानों के लिये

कवर के दूसरे पृष्ठ के लिये	१२) प्रति मास।
कवर के तीसरे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
कवर के चौथे पृष्ठ के लिये	१०) प्रति मास।
पाठ्य विषय में	१०) प्रति मास।
विषय सूची के नीचे	७) ,, ,,

वैदिक विज्ञान के आकार के क्रोड़-पत्र ८ पेजी फ़ार्म प्रति फ़ार्म ३०) रुपये और ४ पेजी के १८) रुपये देने पर सीये जायंगे। रुपया कुल पेशगी देना होगा। भारी क्रोड़-पत्रों का अधिक डाक खर्च भी देना होगा।

मैनेजर

विषय-सूची

ओ३म्

वैदिक विज्ञान

वेद और उस पर आश्रित आर्ष ग्रन्थों के तत्वों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन-प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक सभ्यता का प्रकाशक, रक्षक और प्रचारक

मासिक-पत्र

वर्ष २	भाद्रपद संवत्० १९९१ वि०, सितम्बर सन् १९३४ ई०	सं० १२

वेदोपदेश

धन का सद्-व्यय

मत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम् ।

मा नो द्यूतेऽवगान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥

अथर्व० १२ । ३ । ४६ ॥

"(सत्याय) सत्य (च) और (तपसे) तपश्चर्या की वृद्धि तथा प्रचार के लिये, (देवताभ्यः) देवता-पुरुषों को, (निधिं शेवधिं) धन-सम्पत (परि दद्मः) हम देते हैं । (नः) हमारी धन-सम्पत (द्यूते) जूए आदि के काम में (मा) न (अवगात्) प्राप्त हो, (मा) और न (समित्याम्) युद्ध के काम में । (मत्) मुझ से धन लेकर हे देवता पुरुषो ! तुम (मा) न (अन्यस्मै) ऐसे ही और किसी निकम्मे कार्य के लिये भी (उत्सृजत) इस धन का उत्सर्ग करो, त्याग करो" ।

इस मन्त्रद्वारा वेद उपदेश देता है कि जिस किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के पास धन-सम्पत् हो वह उस धन-सम्पत् का व्यय किस प्रकार करे ।

मन्त्र कहता है कि वह धनी व्यक्ति, समाज या

राष्ट्र सत्य और तपश्चर्या की वृद्धि के निमित्त अपने धन का सदुपयोग करे। किसी सबल ने यदि निर्बल पर अत्याचार किया है तो इस का उचित न्याय होना यह भी सत्य की वृद्धि तथा प्रचार है। प्राकृतिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्व की खोज करना यह भी सत्य की वृद्धि तथा प्रचार करना है। इस सत्य के प्रचार के लिये धनिकों के धन का उपयोग होना चाहिये।

व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के पास चाहे कितनी भी धन सम्पत् हो, उस धन-सम्पत् को इन्हें अपने अनुचित उपयोग में न लगाना चाहिये अपितु यत्न करना चाहिये कि इस धन का व्यय ये तप की वृद्धि के लिये करें। अपने वैयक्तिक तप को बढ़ावें, समाज को तपस्वी बनावें तथा राष्ट्र भर तप का जीवन व्यतीत करे। धनिकों के धन का व्यय इस तपोवृद्धि के निमित्त होना चाहिये। धन के अनुचित भोग से आत्मिक-शक्ति का ह्रास हो जाता है। मनुष्य-जीवन केवल भोग के लिये नहीं मिला। भोग तो कीट-पतंग तथा पशु-पक्षी भी करते हैं। मनुष्य इनसे ऊंचा प्राणी है, बुद्धिमान् तथा विवेकी है। मनुष्य का चोला किसी विशेष उद्देश से मिलता है। वह उद्देश है आत्मिक-उन्नति। इसलिये धनी हो या निर्धन प्रत्येक को यत्न करना चाहिये कि वह सदा तपोमय जीवन की ओर अपने पग बढ़ाता चला जाय ताकि उसकी आत्मिक शक्तियों का विकास हो सके।

लोग प्रायः दान देते हैं। भारत में तो दान की बड़ी महिमा है। दानियों की सदैव इच्छा रहती है कि उनके दान का कोई अच्छा फल निकले उनके दान का सदुपयोग तथा सद्व्यय हो। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि धन पात्र तथा कुपात्र का विचार करके दिया जाय। कुपात्र को दिया धन कभी अच्छा फल नहीं लाता। इसी लिये मन्त्र में कहा है कि "मैं सत्य और तप की वृद्धि के लिये देवता-पुरुषों को धन सम्पत् देता हूँ"। देव सदृश पुरुष ही दान के पात्र हैं। क्योंकि ऐसे पुरुष कभी धन का दुरुपयोग नहीं करते। महात्मा गान्धी वर्त्तमान समय के देवता पुरुष हैं। ये जहाँ जाते हैं, लोग बढ़ २ कर इन्हें थैली भेंट करते हैं। इसी विश्वास से कि इन्हें दिया धन अवश्य सुफल होगा।

मन्त्र कहता है कि धन का उपयोग द्यूत कर्म के लिये न होना चाहिये। द्यूत कर्म अर्थात् जूए के लिये धन लगाना मानो धन की अधोगति करना है। जूआ केवल दृष्टान्त मात्र है। जूआ सदृश अन्य बुरे कर्मों के निमित्त भी धन का दान तथा व्यय नहीं होना चाहिये।

समिति का अर्थ युद्ध भी होता है। आज कल परस्पर कलह में धन का पर्याप्त अपव्यय होता है। राष्ट्र युद्ध के निमित्त न जाने कितना धन फूँक देते हैं। मन्त्र कहता है कि युक्त के निमित्त धन का अपव्यय न करना चाहिये।

अन्त में मन्त्र में दानी के मुख से पात्र के प्रति ये शब्द निकलवाए हैं कि हे देवता-पुरुषो ! आप मुझ से धन लेकर न तो जूए और युद्ध आदि कर्मों में लगाओ और न इन कर्मों के सदृश अन्य बुरे कर्मों में भी इस धन का अपव्यय करो।

गुरु मन्त्र

[ले० श्री पं० नित्यानन्दजी वेदालंकार]

गुरु मन्त्र की महिमा

वैदिक साहित्य में इस मन्त्र का बड़ा महत्त्व है। गुरु मन्त्र, गायत्री, सावित्री इत्यादि अनेक इस मन्त्र के नाम हैं। प्राचीन ऋषियों ने मुक्तकण्ठ से गुरु-मन्त्र के गौरव का गान किया है। कोई गायत्री को पापनाशिनी कहता है, कोई परमपावनी बताता है, कोई भयविनाशिनी समझता है और कोई गायत्री को स्वर्ग और मुक्तिप्रदायिनी मानता है। इस प्रकार भिन्न २ रूप से ऋषियों ने गायत्री की महिमा का वर्णन किया है। मनु महाराज ने तो अपनी स्मृति में कह दिया है— "सावित्र्यास्तु परं नास्ति" अर्थात् सावित्री (गुरुमंत्र) से श्रेष्ठ अन्य कोई मन्त्र नहीं है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में गुरुमन्त्र को सम्पूर्ण वेद के मन्त्रों से उत्कृष्ट समझा गया है। दूसरे शब्दों में गुरुमन्त्र वेदों का सार है।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात् ॥

मन्त्रार्थ—(ओ३म्) संसार के उत्पादक, रक्षक और संहारक परमात्मा का यह सब से श्रेष्ठ नाम है। (भूः) सत् (भुवः) चित्, और (स्वः) आनन्द स्वरूप, (भू भुवः स्वः = सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा) (सवितुः) सकल संसार के उत्पादक अथवा उत्तम धर्म में प्रेरक, (देवस्य) दिव्य गुण युक्त और सब की आत्माओं में प्रकाश करने वाले परमात्म-देव के (तत्) उस (वरेण्यं) वरने योग्य, श्रेष्ठ (भर्गः) तेज का (धीमहि) हम ध्यान करें और अपनी आत्मा में धारण करें (यः) जो, धारण किया हुआ तेज (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) सन्मार्ग में विशेष रूप से प्रेरणा करे।

भाव—परमात्मा सत्-चित्-आनन्द है, परमात्मा की सत्ता है, वह निश्चय से है। वह चेतन है और नित्य आनन्द स्वरूप है। वही सच्चिदानन्द परमात्मा इस सम्पूर्ण संसार का उत्पादक और रक्षक है। परमात्मा स्वयं दिव्य गुणों से युक्त है। वह सन्मार्ग पर चलने के लिये मनुष्य की अन्तरात्मा में प्रेरणा करता है। परमात्मा स्वयं प्रकाशमय है। वह मनुष्य के अन्तःकरण को अपने दिव्य प्रकाश से प्रकाशित करता है। उस वरणीय प्रकाश का हम ध्यान करें और अपनी आत्मा में धारण करने का प्रयत्न करें। क्योंकि इस संसार में वरणीय, ग्रहण करने योग्य परमात्मा का प्रकाश ही है। इस प्रकाश से ही हम अन्धकार पूर्ण संसार में अपने जीवन के पथ को खोज सकते हैं। हमारी बुद्धियों को कठिन और उलझनों के समय परमात्मा का दिव्य तेज ही उत्तम प्रेरणा देता है जिस प्रेरणा से हम कर्त्तव्य के कठिन पथ पर अपना क़दम उठा सकते हैं, और सन्मार्ग से च्युत न होते हुए अपने उद्देश्य के निकट पहुंच सकते हैं। इसलिये परमात्मा के उस दिव्य तेज का हम निरन्तर ध्यान करें और अपनी अन्तरात्मा में उसे धारण करने का प्रयत्न करें।

व्याख्या

मनुष्य का जीवन बड़ा अमूल्य है। बड़ी तपस्या, साधना और आराधना से मनुष्य जीवन मिला करता है। भगवान् ने मनुष्य में बुद्धि का दीपक जलाया है। इस बुद्धि रूपी दीपक के प्रकाश की सहायता से मनुष्य अपने जीवन के मार्ग को खोज सकता है। अन्धकार से अन्धकार के समय, जिस समय दुनियां के सब प्रकाश मन्द पड़ जाते हैं और समाप्त हो जाते हैं, टिमटिमाते हुए सितारे भी जिस समय कोई रास्ता नहीं दिखाते, उस समय भी मनुष्य अपने इस छोटे से दीपक के प्रकाश में अपने जीवन-पथ को देख सकता है। संसार के दूसरे प्राणियों में इस प्रकार की बुद्धि का कोई प्रकाश नहीं है। उन के सामने न कोई जीवन पथ है, न कोई उद्देश्य है और न कोई आदर्श है। उन में वासना (Instinct) है। उस वासना के वश में हुए २ वे इधर से उधर चल रहे हैं, परन्तु उन्हें कुछ ज्ञान नहीं कि उन्हें किधर जाना है। पशु योनि में पड़कर अपने पापमय कर्मों का वे केवल फल भोग रहे हैं।

इसके विपरीत मनुष्य केवल अपने कर्मों का फल ही नहीं भोग रहा, परन्तु स्वेच्छा से कर्मों के ताने बाने बुनता हुआ, अपने लिये नवीन वस्त्र को तैयार कर रहा है। उस के सब कर्मों में और सब संकल्पों में छिपा हुआ कुछ उद्देश्य है। सम्पूर्ण मानव-जीवन का कुछ ऊंचा आदर्श है। परन्तु संसार-चक्र के भूल भुलैयों में पड़कर मनुष्य अपने उद्देश्य को भूल जाता है संसार के चमकीले पदार्थों की चमक से चुंधिया जाता है और उसका आदर्श आंखों से ओझल हो जाता है। परिणामतः भटकता है, कष्ट पाता है और संकट उठाता है।

गुरुमन्त्र मनुष्य को इस संसार के संकटों और झंझटों से ऊपर उठाने के लिये मानव जीवन के उसी आदर्श को स्मरण करा रहा है। "तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि" इस सम्पूर्ण संसार के ऐश्वर्य के मालिक परमात्म-देव की विशुद्ध ज्योति का हम ध्यान करें और उसे धारण करें। इस संसार में परमात्म-देव की पवित्र ज्योति का ध्यान करना और धारण करना, यही मानव-जीवन का ऊंचे से ऊंचा आदर्श है। अन्य कुछ वरणीय—स्वीकार करने योग्य इस संसार के अन्दर नहीं है। यदि प्रतिक्षण परमात्म-ज्योति का ध्यान करता हुआ मनुष्य अपने जीवन पथ पर क़दम उठाएगा तो वह अपने जीवन के लक्ष्य के समीप पहुंचता जाएगा।

हमारे मन के प्रत्येक संकल्प में, एक २ श्वास प्रश्वास में, हृदय की हर एक धड़कन में और नाड़ियों के प्रत्येक स्पन्दन में, परमात्म-देव के नाम का श्रवण हो, जपन हो और मनन हो। इस प्रकार परमात्मा के निरन्तर श्रवण से, मनन से और निदिध्यासन से आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ अज्ञान का पर्दा उठ जायगा। उस समय पवित्र आत्मा में परमात्मा की ज्योति का दर्शन और धारण हो सकेगा। यही आत्मा और परमात्मा का मिलन मानव-जीवन का अन्तिम उद्देश्य है।

इस आत्मा और परमात्मा के मिलन (आत्मा में परमात्म-ज्योति के धारण) के पश्चात् कोई कष्ट, क्लेश या कामना नहीं रह जाती। मनुष्य पूर्णकाम हो जाता है, जिस सन्तोष, सुख और शान्ति की प्राप्ति

सांसारिक सम्पत्ति, शक्ति और यश से नहीं होती, मनुष्य वह सन्तोष और शान्ति अनुभव करता है। संसार की ये पार्थिव और विनश्वर चीज़ें मनुष्य की आत्मा को क्षणिक सुख और शान्ति दे सकती हैं परन्तु शाश्वत और परम शान्ति प्रदान करने की इन पार्थिव चीज़ों में शक्ति नहीं है। संसार की सम्पूर्ण चीज़ें अपने सौन्दर्य और माधुर्य से मनुष्य के मन को मोहित कर सकती हैं, परन्तु तरसते हुए मन को तृप्त करने की शक्ति इन में कहां है? जिस प्रकार चातक की प्यास इस पृथ्वी के मधुर से मधुर तथा शीतल से शीतल जल से भी बुझ नहीं सकती। चातक अपने सूखे कण्ठ को लेकर स्वर्गीय आकाश से गिरने वाले दो बूंद जल की प्रतीक्षा करता है, उसी जल से तरसते हुए चातक के सूखे कण्ठ को तृप्ति मिलती है। ठीक इसी प्रकार पार्थिव पदार्थों के पीछे दौड़ने से नहीं, परन्तु परमात्मा की तरफ़ मुंह उठाने से मनुष्य को शान्ति प्राप्त हो सकती है। इस लिये चित्त को चंचल बनाने वाली सांसारिक कामनाओं और वासनाओं को छोड़कर परमात्म-देव की पवित्र ज्योति का ध्यान और धारण करने के लिये गुरुमन्त्र मनुष्य को जगा रहा है और उठा रहा है। इसलिये जगो, उस ज्योति के दर्शन के लिये। उस ज्योति का दर्शन ही इस जीवन का सार है, उद्देश्य और आदर्श है। जिस समय ज्योति का दर्शन हो जायगा, परमात्मा का प्रकाश मिल जायगा उस समय जीवन सफल हो जायगा।

यह बीहड़ संसार है। घना अन्धेरा इस संसार में है। मनुष्य में भगवान् ने बुद्धि का दीपक रखा है, परन्तु जीवन के घोर अन्धकार के समय यह दीपक टिमटिमाने लगता है। प्रकाश मन्द पड़ जाता है उस समय अपने कर्त्तव्य पथ को निश्चित करना कठिन हो जाता है। धार्मिक उलझनों का सुलझाव समझ नहीं आता, परन्तु आशा छोड़ने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा ने मनुष्य के हाथ में छोटा सा दीपक देकर इस बीहड़ संसार में अपना मार्ग खोजने के लिये उसे अकेला नहीं छोड़ा है। परमात्म-देव स्वयं सदा हमारे साथ है। घने से घने बादलों को फाड़ देने वाला और घोर से घोर अन्धकार को चीर देने वाला एक उज्ज्वल प्रकाश हमारे चारों ओर सदा विद्यमान है। यदि हम इससे अपनी आंखें मूंद लें तब तो जीवन में अन्धेरा है और घना अन्धेरा है। यदि चाहें तो आंखें खोल कर प्रकाश को देख सकते हैं। परमात्म-देव के दिव्य तेज का ध्यान करते हुए उसे अपनी अन्तरात्मा में धारण कर सकते हैं। जिस समय भगवान् का विशुद्ध तेज मिल गया, परमात्म-देव का उज्ज्वल प्रकाश पा लिया तब कोई संशय अथवा अन्धकार कैसे रह सकता है? जिस प्रकार टिमटिमाते हुए दीपक में तेल डालने पर वह पूर्ण प्रकाश के साथ जल उठता है, उसी प्रकार बुद्धि के मन्द दीपक में परमात्मा के तेज के मिल जाने पर अत्यन्त प्रकाश पैदा हो जाता है। उस समय अन्धकार कैसा? उलझन कैसी? जिस समय परमात्मा ही हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे रहा हो उस समय संशय कैसा? उस समय धर्म और अधर्म की सब उलझनें स्वयं सुलझ जाती हैं। स्वयं भगवान् कृष्ण के रथ हांकने पर, रथ पर बैठे हुए अर्जुन के मन में सन्देह कैसे रह सकता है?। परमात्मा की प्रेरणा मिलने पर क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये यह जानना कुछ कठिन नहीं रह जायगा।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः"

(प्रश्नोपनिषत् २ । २ । ८)

हृदय की सब ग्रन्थियां दूर हो जाएंगी, संशय सब मिट जाएंगे । जिस समय हृदय में विराजमान परमात्मा ही हमारा सविता—प्रेरक—संचालक बन जायगा उस समय धर्म के कठिन से कठिन मार्ग पर चलना कठिन न रह जायगा । लुभावने प्रेम मार्ग को छोड़कर, नीरव एवं नीरस श्रेय मार्ग पर हम चल सकेंगे । भोग विलास के प्रलोभन में न फंसकर त्याग और तपस्या के कठिन मार्ग पर क़दम उठा सकेंगे । परमात्मा की प्रेरणा से इस प्रकार श्रेय के मार्ग पर क़दम उठाते हुए हम अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाएंगे और अपने अमूल्य मानव जीवन को सफल बना सकेंगे ।

इसलिये सन्मार्ग में प्रेरक परमात्मा के प्रकाश को पाने के लिये प्रयत्न करो, निरन्तर परमात्मा के विशुद्ध तेज का ध्यान करो । इस संसार मे वरणीय यही है, पाने योग्य यही परमात्मा का प्रकाश है । यही परमात्मा का प्रकाश हमारे जीवन-पथ को प्रकाशित कर सकेगा और सत्पथ पर उत्साह के साथ चलने के लिये प्रेरणा दे सकेगा । इसलिये जागो, जागो, ज्योतिर्मय भगवान् की ज्योति को पाने के लिये जागो ।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय"

ईसाईयत में मातृ देवता का अभाव खटकता है

[ले०—चतुर्वेद भाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ]

श्रीयुत जे० एस० एम० वार्ड एम० ए० महाशय ने दि आकल्ट रिव्यू (The Ocult Review) नामक मासिक पत्र में एक लेख इस आशय का प्रकाशित किया है कि ईसाई मत में परमेश्वर को माता रूप से याद नहीं किया गया । तो भी कई प्रकार से इस न्यूनता को पूरा किया गया है । वेद में परमेश्वर को अनेक स्थलों पर माता, अम्बितमा, सरस्वती, भारती, इडा, आपः, देवीः, मातृतमाः, आदि नामों से स्मरण करके पुत्रवत् जीवों की भक्ति, प्रेम श्रद्धा और विनय का अनुपम भाव प्रकट किया है । उक्त वार्ड महाशय के लेख का संक्षिप्त आशय हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"ईसाईमत की शिक्षा में भ्रातृता के भाव का बहुत से स्थानों में उपदेश किया है परन्तु चर्चों में उसकी उपेक्षा होती है । सहभ्रातृता के विचार से ही हम सब जीव कहाँ से आये, मृत्यु के बाद हमारा क्या होगा, पाप की सत्ता और ईश्वर के आत्मिक सर्गमें मनुष्य का स्थान आदि प्रश्नों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । परन्तु आश्चर्य यह है कि ईसायत में प्रायः ईश्वर को 'वह' (He) कहा गया है ।

ईसाई चर्च 'पवित्रप्रेत' (Holy Ghost) को पिता पुत्र (Father and Son) के समान ही प्रधान पदार्थ जानते हैं । परन्तु शिक्षा या व्यवहार में वे पवित्र प्रेत के सम्बन्ध में एक अस्पष्ट सा सिद्धान्त बतलाया करते हैं ।

परमेश्वर को पिता रूप से तो प्रायः सभी ईसाई जानते हैं ईसा की प्रार्थना में भी ईश्वर को पिता कहा है। यह भाव पुराने यहूदियों के भावों से मिलता गया है। वे 'जिहोवा' को 'वह' या प्रथम पुरुष से ही कहते और उसको एक कड़े दिल का स्वेच्छाचारी शासक के समान मानते थे। बहुत से स्थलों में ईसाईयत में ईश्वर को 'तू' भी कहा है।

प्रथम पुरुष में परमेश्वर की कोई स्पष्ट भावना हृदय पर नहीं जमती। उसमें परमेश्वर को सर्वत्र पुरुष रूप से ही याद किया है। प्रायः स्त्री रूप की सर्वत्र उपेक्षा की है। 'ईश्वर को देवी या माता' मानने का भाव धर्म में बड़ा ही आवश्यक है। परमात्मा जो 'सर्व' है (Who is All in, All) और सबमें हैं उसका देवी या स्त्री का रूप भी होना चाहिये। तो भी ईसाइयत में इस प्रकार के केवल पुलिंग के प्रयोग की अधिकता केवल पुरुषप्रधान सभ्यता से ही आई है। यहूदियों और रोमनों में पिता ही सब कुछ था। माता कुछ भी न समझी जाती थी। लड़के बड़े अच्छे समझे जाते थे, कन्याओं की कुछ पूछ न थी। यही बात ईसाइयत को एशियाई अन्य धर्मों से अलग करदेती है। यहूदियों के अलावा मिश्र की सभ्यता और एेशिया के अन्य धर्मों में भी परमात्मा को 'स्त्री' का रूप दिया गया। सर्वत्र प्रायः 'देवी' ने ही समस्त अन्य देवों के बराबर मुख्य स्थान प्राप्त किया है। चाहे उसका रूप कितना ही विकृत हुआ है, तो भी इसमें मानवीय हृदय की आवश्यक भावना की बड़ी भारी पूर्त्ति होती है।

'ईसाई पन्थ' को अपनी यह त्रुटि बहुत जल्दी मालूम हुई। उसकी क्षतिपूर्त्ति के लिये कुमारी मरियम को भी स्थान दिया गया और उसको भी ईश्वरीय पुत्र के बराबर सा ही आदर दिया। कुमारी मरियम को को लक्ष्य कर की गयी कई प्रार्थनाएं और कई दन्त कथाएं जो मध्यकाल में बनी हैं सूचित करती हैं कि इसका होना ईश्वर के पुत्र से भी अधिक गौरवपूर्ण हैं।

इस सब के होते हुए भी—हरेक ईसाई यह स्वीकार किये विना न रह सकेगा कि 'मरियम' दिव्य स्त्री न थी। क्योंकि मरियम की स्थिति को बहुत ऊंचा कर देने का विपरीत परिणाम यह हुआ कि उसके सुधार होने की प्रतिक्रिया हुई। आश्चर्य की बात तो यह हुई कि जिन्होंने कुमारी मरियम की प्रतिष्ठा का विरोध भी किया उन्होंने भी मानुष हृदय के अन्तर्निहित स्वाभाविक अभिलाषा को पूर्ण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। तो भी हमारे पास सदा ही यह स्वीकार करने के लिये पर्याप्त कारण हैं कि पवित्र प्रेत या दिव्य आश्वासक ने ईश्वर के उस लुप्त रूप को वास्तव में सच्चे रूप में प्रस्तुत किया है।

पवित्र आत्मा या पवित्रचेतना को कलाविज्ञान में एक घूघी (dove) नामक पक्षिणी के रूप में दिखाया जाता है। वह पक्षिणी का चिन्ह स्त्री का चिन्ह है। ईसाईयत के प्रादुर्भाव के पूर्व इस चिन्ह का सदा 'अस्तार्ती' या 'अशोदिती' या किसी भी स्नेह की प्रतिनिधि देवी के साथ सम्बन्ध था। केवल एक जन्तु को किसी देवता का प्रतिनिधि मानना बड़ा ही असन्तोषजनक है। हमारे विश्वभ्रातृत्व के सदस्यों की दृष्टि में दिव्य अभयदायी आत्मा को बतलाने के लिये एक ऐसी स्त्रीमूर्त्ति का चिन्ह है, जो अपनी गोद में विश्व का गोला लिये है जिसको चर्चों में मुख्य वेदि के पीछे की ओर

स्थापित किया जाता है। संक्षेप में हमारे लिये पवित्र प्रेतात्मा को स्वयं एक माता की प्रतिनिधि माना है। सबसे अधिक यह कि परमेश्वर का मातृरूप ही भूमि पर अपने पथिक रूप बच्चों पर छाया करता, बचाता, आश्वासन देता और उनको मार्ग दिखाता है।

पहले तो यह विचार कुछ विस्मयजनक और नया सा प्रतीत हो, जिसे बुद्धि मानने से भी इन्कार सा करे, सम्भव है यह उतना मौलिक भी न हो जैसा कि प्रतीत होता है, जब सब से पहले यह भाव रहस्य भरी कल्पनाओं के अनन्तर हम तक पहुंचा है हमें यह भाव एक दम नया और अद्भुत प्रतीत हुआ हो, परन्तु इन कल्पनाओं में भी हमें 'अपोसल' के धर्म के प्रति इशारा किया जाता रहा। उसमें हम ये शब्द पाते हैं जिनको हमने सैंकड़ों बार सुना और उनका रहस्य मर्म न जान सके।

"Conceived by the Holy Ghost, born of the virgin Mary"

"पवित्र प्रेत ने गर्भित किया जिसे कुमारी मरियम ने पैदा किया।" गर्भ धारण करना यह गुण स्त्री का है। पिता तो पुत्र को (begets) पैदा करता है वह उसको (Conceive) गर्भमें नहीं धरता। नाइसीन के उपदेश में हमें पिता के भाव को दर्शाने वाला शब्द प्राप्त होता है।

'Begotten of His Father before all worlds'

वह अपने पिता से समस्त लोकों के समक्ष उत्पन्न हुआ।

इन शब्दों से प्रतीत होता है कि इसाईमत-संमत-त्रिदेवता में दूसरा पवित्र प्रेत (Holy Ghost) अपने भौतिक जन्म के पूर्व भी विद्यमान था।

यदि बाइबिल के (जनेसिस) 'उत्पत्ति' नामक अध्याय के प्रथम खण्ड को देखें तो उसमें पढ़ते हैं-

"God created man in his own image male and female created He them."

तो यदि उसने स्त्री को भी अपना ही रूप उत्पन्न किया है तो उस महाप्रभु (Godhead) का कहीं स्त्री या मातृरूप, भी होना आवश्यक है और अपोसल का उपदेश बताता है कि वह अवश्य पवित्रात्मा है।

जब हम यहूदियों के धर्मोपदेश को पढ़ते हैं, विशेष रूप से 'कब्बला' को पढ़ते हैं तो उसमें बराबर पवित्र 'शेकिनाह' की ओर संकेत है। 'शेकिनाह' सदा एक देवी ही कही जाती है। बहुत देर तक ईसाई आचार्य भी पुराने अंजील (Old Testament) में (Shekinah) 'शेकिनाह' को पवित्रात्मा ही मानते रहे। यह पवित्र शेकिनाह या पवित्रात्मा ही थी जिसकी छाया प्रभु ईसा पर बप्तिस्मा के अवसर में थी। जो उस पर उस समय पक्षिणी के समान फड़फड़ाती हुई उतरी। यह 'पक्षिणी' के रूप में जो अनुवाद किया गया है वह वस्तुतः ग़लत अनुवाद किया गया है। वहां वास्तव में पक्षिणी का अभिप्राय नहीं है। न वह पक्षिणी पवित्रात्मा की प्रतिनिधि है।

बहुत से आस्तिक विचारकों के विचारों में हम पवित्र आत्मा के रूप में ईश्वर के मातृरूप की सत्ता का भाव पाते हैं। 'हर्मीज के गोपाल जन' नामक पुस्तक में प्रभु ईसू को हम कहता पाते हैं कि—My mother the holy spirit 'मेरी माता पवित्र आत्मा'। जब मैंने कुछ मित्रों का ध्यान इस विषय पर खेंचा और चर्च के चित्र भी दिखाये, उन्होंने उसे कटाक्ष से लिया। परन्तु एक ने कहा—यह भाव

वस्तुतः ऐसा मौलिक नहीं है जैसा तुम सोचते हो, क्योंकि लिंकोलन के धर्ममन्दिर में एक मूर्त्तिमय प्रस्तर है जिसे त्रिदेवता का स्वरूप कहते हैं। उस पत्थर में तीन सिर हैं। एक सिर एक दाढ़ी वाले बूढ़े का है, वह सनातन पिता का प्रतिनिधि है, एक सिर नौजवान का है, वह प्रभु ईसा का प्रतिनिधि है, तीसरा सिर एक स्त्री का है, जो आभूषण पहिने है। वह पवित्रात्मा का प्रतिनिधि है। मैंने तुरन्त उसका फ़ोटो ले लिया और अब मित्रों को यह कहकर चुप करा देता हूं कि मध्यकाल में भी हम कुछ न कुछ परमेश्वर के मातृरूप को मानते थे। बहुतसों पर हमने अपना यह विचार प्रकट किया परन्तु स्त्रियों को यह विचार स्वभावतः अधिक रुचा। उन्होंने अनुभव किया कि पवित्रात्मा के सम्बन्ध में यह वास्तविक ही नहीं, प्रत्युत यह एक और मार्ग परमात्मा के वास्तविक तत्त्व तक पहुंचने का है, जो अद्भुत रूप से उनके आत्मा को प्रबलता से प्रवण कर देता है, पवित्रात्मा के प्रति भक्ति बढ़ाने के लिये यह भाव बहुत ही उत्तम है। बहुत से स्त्री पुरुषों को अपनी माता की स्मृति बहुमूल्य प्रतीत होती है, वे अपने प्रारम्भिक शिक्षण और चरित्र शिक्षा का श्रेय भी माता को ही देते हैं, वे अपने यौवन काल में भी माता को सर्वोपरि मानते हैं, उन को अपने जीवन में मार्गदर्शी रूप से पवित्रात्मा का आदर्श बताते हैं, परन्तु जब तक पवित्रात्मामें यह मातृता का भाव नहीं था तब तक यह सब कथन निरर्थक सा था, परन्तु अब हम इस रहस्य को पुनः प्राप्त कर सके, पवित्र आत्मा के विषय में प्रयोग किये हुए सैकड़ों वाक्यांश अभी तक निरर्थक ही कहे जाते रहे, अब उनमें एक नयी चेतना और स्फूर्त्ति सी आ गई है। सत्यान्वेषी के हाथ में एक बार ताले की ताली हाथ लगने पर बहुत से रहस्यमय पट आप से आप खुल जाते हैं, स्वयं ही शान्ति और आन्तरिक प्रतिभा का विकास घोर अन्धकार में प्रकाश हो जाता है।"

समीक्षा—उक्त क्रिश्चियन महाशय का लेख पढ़ने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि सारे ईसाई धर्म के उपदेशकों और पुराने धर्मगुरुओं में भी ईश्वर के प्रति मातृबुद्धि का अभाव रहा। चाहे वे बाईबल के अर्थों को नहीं समझ सके, यह किसी व्याज से मूर्त्तिरूप में बनाकर रख देने पर भी समस्त ईसाई संसार के दिमाग़ में ईश्वर का मातृरूप ध्यान में नहीं आया। और संस्थापकों और प्रचारकों ने भी ईश्वर को माता रूप से प्रचारित नहीं किया और अब कहीं जाकर जे० एस० एम० वार्ड एम० ए० को भारतीय देवी पूजा, माता गंगा या माता जगदम्बा आदि की पूजा में देखकर परस्पर सम्प्रदायों के उत्तम गुणों के संघ में यह त्रुटि नज़र आई कि ईसाई धर्म में मातृरूप प्रभु को स्थान नहीं मिला। तब वे पुरानी खोजें करते २ (Dove) पक्षिणी या कबूतर और अन्यान्य रहस्यों की कल्पना करने लगे और आख़िर वे इस बात को मानने के लिये बाधित हुए कि बाईबल के अभी तक भी टीका अनुवाद आदि ठीक २ नहीं हुए, वास्तविक बात यह है कि ईसाई धर्म तो प्राचीन बहुत से परम्परा से चले आये धर्मों का विकृत रूप है। इसमें ईसा के प्रचार ने उसका बहुत संस्कार कर दिया, परन्तु चर्च आदि बनाते समय उसमें बहुत सी पुरानी रूढ़ियों के द्वारा कई बातें चलती रहीं। तीन सिरों वाला देवता वा भूगोल को गोद में रखने वाली देवी आदि की मूर्त्तियां भी इसी प्रकार लोगों को आकर्षण करने

के लिये कर दी गई। उनका अभिप्राय ईश्वर को मातृ रूप देने का इतना प्रबल न था जितना कि शोभा का था। फलतः वर्त्तमान ईसाई धर्म के लिये तो ईश्वर का मातृरूप एक सर्वथा अद्भुत है उसका न होना अवश्य ईसाई मत में त्रुटि ही है। वेद में ईश्वर को स्थान २ पर 'माता' कहकर पुकारा गया है—स्थान २ पर गाय और बछड़े से उपमा दी है। जैसे—

"त्वं पिता वसो त्वं हि मात बभूविथ।"

हे इन्द्र! परमेश्वर! तू सर्वान्तर्यामी सब का पिता सब की माता सदा बना रहता है।

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वतेपयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिवर्हाः।

अपने भक्तों के लिये प्रभु परमेश्वर माता होकर आकाश वा सूर्य के रूप में मेघों द्वारा जल के तुल्य अमृत, और अन्न के तुल्य मधुर मोक्ष सुख प्रदान करता है, इसी प्रकार वेद में परमेश्वर को 'मातृतम', सब माताओं में सब से उत्तम बतलाया है।

यदि यह वेद का प्राचीन उपदेश लुप्त न हो गया होता तो ईसाई, मूसाई धर्म में भी कभी इतनी भारी त्रुटि न आती। वैदिक सम्प्रदायों की अन्य सभी शाखाओं में आप ईश्वर के प्रति मातृबुद्धि पावेंगे, क्योंकि उनमें वह भाव सीधे वेद से लिये गये हैं।

ईसा की दीक्षा के समय पवित्रात्मा पक्षिणी के रूप में उस पर छाया करती थी और वह मातृरूप थी—यह भाव भी एक प्रकार से वैदिक संस्कृति का ही रूपान्तर है। गुरु दीक्षा के अवसर पर तो गुरु और गायत्री की छाया रहती है। और गुरु माता और पिता दोनों ही होता है। आचार्य को माता और शिष्य को विद्या गर्भ से उत्पन्न नवीन बालक मानना और युवावस्था में भी दीक्षित पुरुष को जलों के छीटें वा 'अपः प्रणयन' द्वारा दीक्षित होकर नया जन्म ग्रहण करने का भाव प्रायः सर्वत्र ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है। मनुष्य का वह दीक्षा ग्रहण भी तीसरा जन्म ही कहा है। वहां 'यज्ञदीक्षा' ही माता है। ईसा के समय तक भी बहुत सी बातें उन देशों में वैदिक संस्कृति की चली आती रहीं, परन्तु पीछे से ईसा के उपासकों ने पुरुष पूजा या मूर्त्तिपूजा चलाकर बहुत सी प्राचीन उत्तम प्रथाओं का भी लोप कर दिया, ऐसा प्रतीत होता है।

लौगाक्षि गृह्यसूत्र-व्याख्या

[ले० सम्पादक]

(कण्डिका २)

ब्रह्मचारी का अग्निहोत्र

विभूरसीत्यनुवाकेनाग्निमुपस्थाय एधोऽसीति समिधमादधाति, समिदिति द्वितीयाम्, इदमहमिति तृतीयाम्। इदमहमग्नौ समिधमभ्यादधाम्यग्ने सर्वव्रतो भवामि, इदमहमग्नौ समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे स मे श्रद्धां च मेधां च दीर्घं चायुर्जातवेदाः प्रयच्छत्विति चतुर्थीम् ॥ १ ॥

"विभूरसि"—इस अनुवाद द्वारा अग्नि की उपासना कर, "एधोऽसि"—इस मन्त्र द्वारा एक समिधा का आधान (ब्रह्मचारी) करता है, "समित्"—इस मन्त्र द्वारा द्वितीय समिधा का, "इदमहम्"—इस मंत्र द्वारा तृतीय समिधा का, तथा "इदमहमग्नौ समिध-

मम्यादधाम्यग्ने सर्वव्रतो भवामि, इदमहमग्नौ समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे स मे श्रद्धां च मेधां च दीर्घं चायुर्जातवेदाः प्रयच्छतु"—इस मन्त्र द्वारा चौथी समिधा का आधान करता है ॥ १ ॥

(क) "विभूरसि"—अनुवाक निम्नलिखित हैं:—

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदा उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्युरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽस्यास्तव्यो नभोऽसि प्रतक्वासंमृष्टोऽसि हव्यसूदन ऋत धामासि स्वर्ज्योतिः समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यः कव्योऽसि कव्यवाहनो रौद्रेणानीकेन पाहि माग्ने पिप्रीहि माग्ने नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥

"हे अग्नि ! (विभूः) तू सामर्थ्यवान् है, (प्रवाहणः) कर्मों के फलों का पहुंचाने वाला है, (वह्निः) संसार भार का तू वहन करने वाला है, (हव्य-वाहनः) भोजनाच्छादन की सामग्री का पहुंचाने वाला है, (श्वात्रः) शीघ्र रक्षा करने वाला है, (प्रचेताः) चेतन तथा ज्ञानवान् है, (तुथः) स्तुति का पात्र है, गति या वृद्धि का तू ही एक मात्र कारण है, (विश्ववेदाः) विश्व का जानने वाला या विश्व-सम्पत् का तू स्वामी है, (उशिक्) इच्छावान् है, (कविः) वेद काव्य का तू रचयिता है। (अंघारिः) "अंहः" अर्थात् पाप का तू "अरि" अर्थात् दुश्मन है, पाप नाशक है, (बम्भारिः) जगत् का तू धारक और पोषक है, (अवस्यूः) तू रक्षक, सब की सेवा करने वाला और अन्यों की सेवा का तू पात्र है। (शुन्ध्युः) सूर्य आदि द्वारा संसार की तथा हृदय की शुद्धि करने वाला है (मार्जालीयः) हृदय को मांज देने वाला है, (सम्राट्) संसार का तू सम्राट् है, (कृशानुः) प्रकाश स्वरूप है, (परिषद्यः) तारागण आदि की देव-परिषद् का तू स्वामी है, (आस्तव्यः) तू अवश्य स्तुति के योग्य है, (नभः) आकाश की न्याईं व्यापक है, (प्रतक्वा) जीवन के कष्ट को तू दूर करने वाला है अथवा संसार के दैवीकर्मों का तू ही विस्तार करने वाला है, (असंमृष्टः) तू कभी मांजा नहीं गया, तू स्वभाव से शुद्ध है, (हव्यसूदनः) भोजनाच्छादन की सामग्री का प्रलय में नाश करने वाला तू ही है, (ऋत-धाम) संसार के नियमों का तू आश्रय है, (स्वर्ज्योतिः) तू ही द्युलोक की ज्योति है, (समुद्रः) समुद्र की न्याईं तू अगाध है, (विश्व-व्यचाः) विश्व में तेरा विस्तार है, (अजः) अजन्मा है, (एकपात्) एक ही तू संसार में विचर रहा है, (अहिः) दुष्टों का तू नाशक है, (बुध्न्यः) संसार के मूल की तू भूमि है, (कव्यवाहनः) कवियों को तू ही ज्ञान देता है, (रौद्रेण अनीकेन) अपनी रौद्र-शक्तियों से (मा मा हिंसीः) मेरी तू हिंसा न कर, (अग्ने) हे अग्नि ! (मा पाहि) अपितु, तू मेरी रक्षा कर, (पिप्रीहि) मुझे तू तृप्त कर, (नमस्ते अस्तु) तुझे नमस्कार हो।"

इस मन्त्र द्वारा ब्रह्मचारी अग्नि-उपस्थान करता है, अग्नि की उपासना करता है। इस मन्त्र के भाव पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में वर्णित गुण धर्म प्राकृतिक अग्नि में इतने अच्छे प्रकार से नहीं घटते, जितने कि परमात्माग्नि के सम्बन्ध में घटते हैं। इसलिये ब्रह्मचारी प्राकृतिक अग्नि के सन्मुख होकर इस अग्नि के चमकाने वाले परमात्माग्नि का ध्यान करता है और इसी परमात्माग्नि की स्तुति इस मन्त्र द्वारा करता है।

(ख) "एधो ऽसि" मन्त्र निम्नलिखित है:—

"एधो ऽस्येधिषीमहि"

"हे अग्नि ! तू (एधः) प्रकाशमान् (असि) है, (एधिषीमहि) हम तुझे प्रकाशित या प्रदीप्त करते हैं'।

इस मन्त्र को पढ़कर ब्रह्मचारी अग्नि में पहली समिधा का आधान करता है और इस समिधा के आधान द्वारा वह अग्नि को प्रदीप्त करता है। समिदाधान द्वारा प्राकृतिक अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ ब्रह्मचारी, आध्यात्मिक दृष्टि से, वास्तव में, समिदाधान द्वारा परमात्माग्नि को ही प्रदीप्त करता है। जैसे गुरु या माता पिता के शरीर की पूजा तथा सत्कार के द्वारा व्यक्ति वास्तव में गुरु या माता-पिता की आत्मा की पूजा तथा सत्कार कर रहा होता है,—क्योंकि मृत अथवा सोए हुए गुरु या माता-पिता के शरीर की पूजा या सत्कार का कार्य एक व्यर्थ सा कार्य होता है, इसी प्रकार अग्नि (और वायु आदि सभी दिव्य पदार्थ) भी परमात्मा के शरीर हैं। इन शरीरों की पूजा द्वारा इन शरीरों में बसने वाले परमात्मा की ही पूजा की जा रही होती है। परमात्मा के भाव से रहित इन मृत शरीरों की नहीं। इसलिये ब्रह्मचारी समिधा द्वारा प्रदीप्त तो करता है प्राकृतिक अग्नि को, परन्तु इस क्रिया को करता हुआ भी ब्रह्मचारी वास्तव में अपने जीवन में परमात्माग्नि को ही—जो कि प्राकृतिक अग्नि की आत्मा है—समिदाधान द्वारा प्रदीप्त करता है। परमात्मा की ज्योति को अपनी आत्मा में चमकाना, यम-नियम आदि योगांगों द्वारा उसका स्पष्ट अनुभव करना ही परमात्माग्नि को प्रदीप्त करना है और इस परमात्माग्नि को प्रदीप्त करने के लिये अपनी शक्तियों को इस के प्रति समर्पित कर देना ही मानो इस में समिधा का आधान करना है। अपनी शारीरिक—शक्तियों को परमात्मा के प्रति समर्पित करना मानो परमात्माग्नि में पहली समिधा का आधान करना है।

(ग) "समित्"—मन्त्र निम्नलिखित है:—

"समिदसि समेधिषीमहि"।

"(समित्) हे अग्नि ! तू समिधा के आधान के योग्य (असि) है, (समेधिषी महि) हम तुझ में समिधा का आधान करते हैं।"

इस मन्त्र को पढ़कर ब्रह्मचारी प्रदीप्त हुई अग्नि में दूसरी समिधा का आधान करता है। पहली समिधा के आधान द्वारा तो ब्रह्मचारी ने अग्नि को प्रदीप्त किया था, अब प्रदीप्त हुई अग्नि में इस मन्त्र द्वारा ब्रह्मचारी दूसरी समिधा का आधान करता है और आधान करता हुआ वह कहता है कि "तू समिधा के आधान के योग्य है, हम तुझ में समिधा का आधान करते हैं"।

अपनी शारीरिक शक्तियों को परमात्मा के प्रति समर्पित कर ब्रह्मचारी ने पहले अपनी आत्मा में परमात्माग्नि को प्रदीप्त कर लिया अब इस प्रदीप्त हुई परमात्माग्नि में वह अपनी दूसरी समिधा का आधान करता है, अर्थात् अपने शारीरिक सुख दुःखों तथा शक्तियों को समर्पित करने के पश्चात् वह अपनी मानसिक शक्तियों को भी इस परमात्माग्नि के प्रति समर्पित कर देता है। अर्थात् मन द्वारा होने वाली चिन्तन तथा संकल्प-विकल्प की सब क्रियाओं को भी वह, द्वितीय समिधा के रूप में, परमात्मा के प्रति समर्पित करता है।

(घ) इदमहमग्नौ समिधमभ्यादधाम्यग्ने सर्वंव्रतो भवामि।

"(इदम्) यह (अहम्) मैं (अग्नौ) अग्नि में (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) स्थापित करता हूँ, (अग्ने) हे अग्नि ! इस द्वारा मैं (सर्वव्रतः) सर्वव्रती (भवामि) होता हूँ।"

इस मन्त्र द्वारा ब्रह्मचारी अग्नि में तीसरी समिधा का आधान करता है। प्राकृतिक अग्नि में इस तीसरी समिधा के आधान द्वारा ब्रह्मचारी साथ २ परमात्माग्नि में भी मानसिक-तीसरी समिधा का आधान करता है। अपने हृदय में प्रदीप्त हुई परमात्माग्नि में ब्रह्मचारी अपने मानसिक संकल्प-विकल्पों की आहुति देकर अपने मन को पवित्र करता है। मन को पवित्र करने का परिणाम यह होता है कि वह ब्रह्मचारी अब से "सर्वव्रती" होने का यत्न करता है। अग्नि सर्वव्रती है। अग्नि में जो कुछ डाला जाय, अग्नि उसे अपने पास न रख कर संसार के सब पदार्थों के प्रति सौंप देती है। परमात्माग्नि के भी यही गुण हैं परमात्मा सब जगत् का प्रकाश करता, सब जगत् को प्राण देता, सब जगत् पर कृपा दृष्टि रखता और सब जगत् की उन्नति चाहता है। परमात्मा में पक्षपात का लेश भी नहीं है। परमात्माग्नि में तीसरी आहुति देता हुआ ब्रह्मचारी अपने मन को आहुति रूप में देकर अपने मन को पवित्र तथा उदार बनाता हुआ सर्वव्रती होता है। मन में जब तक राग-द्वेष और तू मैं के असत्संकल्प रहते हैं तब तक मनुष्य कभी सर्वव्रती नहीं बन सकता। ब्रह्मचारी इस तीसरी समिधा की स्थापना द्वारा सर्वव्रती बनता है। जीवन का यह कितना पवित्र लक्ष्य है।

(ङ) इदमहमग्नौ समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे स मे श्रद्धां च मेधां च दीर्घं चायुर्जातवेदाः प्रयच्छतु।

"(इदम्) यह (अहम्) मैं (अग्नौ) अग्नि में (समिधम्) समिधा को (आहार्षम्) लाया हूँ। (बृहते जातवेदसे) महा जातवेदा की प्राप्ति के निमित्त; (सः) वह जातवेदा (मे) मुझे (श्रद्धां, मेधां, दीर्घमायुः) श्रद्धा, मेधा और दीर्घ आयु (प्रयच्छ) देवे।"

ब्रह्मचारी इस मन्त्र द्वारा चौथी समिधा का आधान करता है। इस मन्त्र में ब्रह्मचारी स्पष्ट कहता है कि मैं अग्नि में जो समिदाधान कर रहा हूँ, मेरी इस क्रिया का वास्तविक प्रयोजन "महा-जातवेदा" की प्राप्ति ही है, इसी के निमित्त मैं इस अग्नि में समिधा का स्थापन करता हूँ। "महाजातवेदाः"—परमात्मा है। वह सब से महान् है और उसी से वेद अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है। इसलिये परमात्मा "महाजातवेदाः" है और इसी 'महाजातवेदाः' को प्रसन्न कर ब्रह्मचारी इस 'महाजातवेदा' से श्रद्धा, बुद्धि, तथा दीर्घ आयु की प्रार्थना करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी को श्रद्धा चाहिये ताकि ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के पालन में उसकी अभिरुचि हो सके। इस आश्रम में उसे मेधा चाहिये, बुद्धि-शक्ति चाहिये ताकि स्वाध्याय में वह चतुर और उन्नतिशील हो सके। साथ ही उसे दीर्घ आयु चाहिये ताकि वह ब्रह्मचर्याश्रम को सफलता पूर्वक समाप्त कर अगले आश्रमों में भी पग रख सके।

इस चौथी समिधा के आधान के साथ २ ब्रह्मचारी अपने आत्मा की आहुति परमात्मा में देता है, अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन करता है और इस लय का परिणाम है श्रद्धा, मेधा और दीर्घ आयु।

तेजोऽसीत्यग्निं, तेजो मयि धेहीत्यात्मानम् ॥ २ ॥

"तेजोऽसि" तू तेज है—इस मन्त्र वाक्य द्वारा ब्रह्मचारी अग्नि का ध्यान करता है, और "तेजोमयि धेहि" तेज मुझ में स्थापित कर इस मन्त्र-वाक्य द्वारा ब्रह्मचारी आत्मा का ध्यान करता है ॥ २ ॥

शेषेणोपतिष्ठते ॥ ३ ॥

और शेष बचे मन्त्र द्वारा अग्नि का उपस्थान करता है, उपासना करता है ॥ ३ ॥

इन दोनों सूत्रों का आधार मन्त्र निम्न-लिखित है:—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। अपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगन्महि। पयस्वानग्न आगमं तं मा संसृज वर्चसा ॥ सं माग्ने वर्चसा सृज प्रजया च धनेन च। विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यान्महर्षिभिः ॥

इस मन्त्र में से "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" इतना मन्त्रांश दूसरे सूत्र का विषय है और "अपो अद्य" से लेकर शेष बचा मन्त्र तीसरे सूत्र का विषय है।

(क) ब्रह्मचारी "तेजो ऽसि" "तू तेज है"—इस मन्त्रांश को पढ़कर अग्नि का ध्यान करता है, प्राकृतिक अग्नि का भी ध्यान करता है और परमात्माग्नि का भी। इन दोनों के प्राकृतिक और पारमार्थिक तेजों का ध्यान करता हुआ ब्रह्मचारी, "तेजो मयि धेहि" "तेज मुझ में स्थापित कर"—इस मन्त्रांश द्वारा अपने आत्मा का ध्यान करता है और अपने आत्मा में इस प्राकृतिक और पारमार्थिक तेज की स्थापना करता है। शरीर में प्राकृतिक तेज की स्थापना करता है और आत्मा में पारमार्थिक तेज का, दिव्य तेज की।

इस प्रकार ब्रह्मचारी अपने आप को शारीरिक और आत्मिक इन दोनों तेजों से सम्पन्न करने का प्रयत्न करता है।

(ख) मन्त्र का शेषांश "अपो अद्य०" से प्रारम्भ होता है। यह शेषांश तीसरे सूत्र का विषय है। इस शेषांश द्वारा ब्रह्मचारी अग्नि का उपस्थान करता है। मन्त्र के इस शेषांश का अर्थ निम्न लिखित है:—

"(अपः) अप् का (अद्य) आज (अन्वचारिषम्) मैं अनुचर बना हूँ, (रसेन) रस के साथ (समगन्महि) हम सब का संगम हुआ है, (अग्ने) हे अग्नि ! (पयस्वान्) सार वाला होकर अथवा अभी दूध पीने की उम्र वाला मैं बालक (आगमम्) तेरी शरण आया हूँ, (तं मा) उस मुझको (वर्चसा) तेज से (संसृज) तू सम्बद्ध कर। (अग्ने) हे अग्नि ! (वर्चसा प्रजया धनेन च) तेज, वीर्य और आत्मिक धन से (मा) मुझे (संसृज) सम्बद्ध कर, (मे) मेरे (अस्य) इस व्रत को (देवाः) देव लोग, विद्वान् लोग जानें, (इन्द्रः) इन्द्र अर्थात् मेरा आचार्य (महर्षिभिः) अन्य महर्षियों अर्थात मेरे गुरुओं समेत (विद्यात्) मेरे इस व्रत को जानें"।

इन भावों से ब्रह्मचारी अग्नि का उपस्थान करता है। इन भावों में पहिले तो वह अग्नि को "आपः" कहता है। परमात्मा के लिये तो "आपः" शब्द का प्रयोग होता है, जोकि सर्व व्यापक है (आप्लृ व्याप्तौ)। परन्तु प्राकृतिक अग्नि के लिये "आपः" शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं होता। इस "आपः" का, परमात्मा का ब्रह्मचारी अनुचर बना है, इसका पीछे चलने वाला बना है। ब्रह्मचारी अनुचर बनकर, परमात्मा जिस प्रकार संसार में व्यवहार कर रहा है उसी प्रकार के व्यवहारों के करने का संकल्प करता है।

ब्रह्मचारीकी इच्छा है कि उसके गुरुकुल में रहने वाले सभी ब्रह्मचारी इस रस से सम्बद्ध हो जायें। परमात्मा के अनुचर बनने का रस बड़ा दिव्य है, इस रस में आनन्द लेना इन्हीं अनुचरों का काम है। ब्रह्मचारी आगे कहता है कि हे अग्नि ! हे परमात्माग्नि ! मैं बालक इस रस से, जीवन की इस सारमयी भावना से सम्बद्ध होकर तेरी शरण आया हूँ, तू मुझे वर्चस् से, तेज से, उस तेज से जो कि विद्याध्ययन द्वारा प्राप्त होता है, ब्रह्मचर्याश्रम द्वारा प्राप्त होता है, सम्बद्ध कर। न केवल इस वर्चस् से ही सम्बद्ध कर, अपितु मुझे वीर्य शक्ति से भी तू सम्बद्ध कर और आत्मिक धन से भी सम्बद्ध कर। ब्रह्मचारी इन सद्धनों की प्राप्ति के लिये व्रत धारण करता है और चाहता है कि मैं जहां रहूँ उसके आस पास रहने वाले सभी विद्वान् तथा श्रेष्ठ पुरुष मेरे इस व्रत को जान जायें, ताकि मुझे पता रहे कि इन देवों के सम्मुख मैंने यह व्रत किया है। साथ ही ब्रह्मचारी यह भी चाहता है कि मेरा आचार्य और आचार्य के साथी मेरे गुरु जो कि महर्षियों के गुण कर्मों वाले हैं—वे भी मेरे इस व्रत को जानें। व्रत के जनाने से इन देवों तथा महर्षियों द्वारा ब्रह्मचारी को अपने व्रत के पालन में सहायता मिलने की आशा है, साथ ही इन लोगों का यह जानना ब्रह्मचारी को अपने व्रत में अटल रहनेमें सहायक भी हो सकता है।

ततः प्रातः प्रागुदयात् ॥ ४ ॥

"उस के पश्चात् प्रातःकाल उदय से पूर्व (अग्नि समिन्धन करे) ॥ ४ ॥

"ब्रह्मचारी के व्रत" इस प्रथम कण्डिका के ३१ वें सूत्र में सायम् और प्रातः दोनों कालों में ब्रह्मचारी को "अग्नीन्धन" की आज्ञा सूत्रकार ने दी है। इस सूत्र में "ततः" का अर्थ है "तब, फिर, उस के बाद" —इत्यादि। अर्थात् "सायंकाल के अग्निसमिन्धन के पश्चात् प्रातःकाल का अग्नि-समिन्धन सूर्य के उदय से पहले करना चाहिये"। सायंकाल का अग्नि-समिन्धन सूर्य के अस्त से पूर्व होना चाहिये, यह भी यहां जान लेना चाहिये।

द्वादश चतुर्विंशतिं षट्त्रिंशतमष्टाचत्वारिंशतं वा वर्षाणि यो ब्रह्मचर्यं चरति मलज्जुरबलः कृशः सर्वं स विन्दते स्नात्वा यत्किंचिन्मनसेच्छत्येतेनैव धर्मेण साध्वधीते ॥ ५ ॥

"१२, २४, ३६ या ४८ वर्षों तक जो ब्रह्मचर्य करता है,—जो कि शौकीन नहीं, बलहीन तथा कृश है—वह स्नातक होकर जो कुछ मन से चाहता है उस सब को प्राप्त कर लेता है और ब्रह्मचर्यावस्था में ब्रह्मचर्याश्रम के इस धर्म के पालन द्वारा साधु प्रकार से विद्याध्ययन करता है। ५ ॥

ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक है कि वह कम से कम एक वेद अवश्य पढ़े। प्राचीन सूत्रकारों ने १२ वर्षों में एक वेद के पढ़ने की मर्यादा बान्धी है। जिस ने एक वेद पढ़ना हो वह १२ वर्षों तक का ब्रह्मचर्य करे। इसी प्रकार दो वेदों के पढ़ने के लिये २४ वर्ष, तीन वेदों के पढ़ने के लिये ३६ वर्ष और चार वेदों के पढ़ने के लिये ४८ वर्ष चाहियें। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर शौकीनी नहीं करनी चाहिये। ब्रह्मचारी चूँकि भिक्षा के अन्न से अपनी गुज़र करता है और इस पर भी उसे तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करना होता है इसलिये वह अपने ब्रह्मचर्य के जीवन में शरीर से निर्बल तथा कृश रहता है। ऐसे सच्चे ब्रह्मचारी में मानसिक और आत्मिक बल की बहुत

मात्रा होती है। इस मानसिक और आत्मिक बल से सम्पन्न हुआ ब्रह्मचारी जब स्नातक बन जाता है तब वह अपने मन में जिन परोपकार आदि के कार्यों की इच्छा और संकल्प करता है तब उसके वे सब कार्य अवश्य पूर्ण होते हैं और ब्रह्मचारी के ऊपर दर्शाए गए धर्मों के अनुसार जो ब्रह्मचारी चलता है वह अपने पठन-पाठन में भी उत्तम रहता है।

सूत्र में "एतेनैव धर्मेण साध्वधीते"—इस का अभिप्राय भाष्यकार देवपालाचार्य यह कहते हैं कि "जो ब्रह्मचारी स्नातक नहीं बनना चाहता वह ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता हुआ सदा ब्रह्मचर्याश्रम में ही रहकर उत्तम प्रकार से पढ़ता रहता है"। स्नातक न होने वाले ऐसे ब्रह्मचारी को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते है। नितरां स्थानं निष्ठा, तामाचरतीति नैष्ठिकः, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम मे ही सदा काल के लिये अपनी स्थिति करने को निष्ठा कहते हैं, इस निष्ठा वाला ब्रह्मचारी नैष्ठिक ब्रह्मचारी होता है। यह कभी स्नातक नहीं बनता।

द्वितीय कण्डिका समाप्त।

(यथाक्रम)

कक्षीवान् की कथा

[ले०—श्री पं० प्रियरत्नजी, आर्ष, गवेषणनिधि]

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः॥ (ऋ० १।१८।१)

सोमानं सोतारं प्रकाशवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः। कक्षीवान् कक्ष्यावान् औशिज उशिजः पुत्रः। उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः। अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानां सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते॥ (निरुक्त ६।१०)

इस स्थल पर "कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्रः" इस निरुक्त वचन को देखकर इतिहासवादी कहते हैं कि मन्त्र में दिये कक्षीवान् को निरुक्तकार ने जब कि उशिक् का पुत्र कहा है तब तो यही समझा जा सकता है कि वेद में इतिहास है और निरुक्तकार भी उसको मानता है।

यहां निरुक्त प्रदर्शित व्याख्या में वेद में इतिहास सिद्ध करने वाला कोई वचन नहीं है केवल 'उशिजः पुत्रः' को देखकर वेद में इतिहास मान लेना उचित नहीं है। कारण यह कि उशिक् मेधावी को कहते हैं ("उशिग्मेधाविनाम" नि० ३।१५) और यह कान्ति अर्थात् दीप्ति अर्थ वाले वश धातु से बना है। सायण ने भी ऋ० १।१३१।५ में "उशिजो धर्मकामयमाना जनाः" अर्थ किया है। पुत्र आदि सम्बन्ध मात्र से इतिहास सिद्ध नहीं किया जा सकता। वेद में अग्नि को 'सहसः सूनुः' कहा है। यहां सहस् शब्द से किसी मनुष्य का ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु संघर्षणबल या रगड़ बल का नाम सहस् है, उससे अग्नि उत्पन्न होती है। अतएव अग्नि 'सहसः सूनुः' है। ऐसा ही

सम्बन्ध यहाँ पर भी है। निरुक्त के अनुसार मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है:—

"(कक्षीवन्तं य औशिजः) मेधावी तथा तेजस्वी और प्रतापी पिता का पुत्र राजा हाथी पर या घोड़े पर सवार हुआ, जैसे प्रकाशमान होता है, इसी प्रकार (ब्रह्मणस्पते सोमानं स्वरणं कृणुहि) हे ब्रह्म ! अर्थात् वेदवाणी के मालिक ! मुझे सौम्य वस्तुओं का सम्पादन करने वाला तथा प्रकाशमान बना दे।"

भाष्यकार स्कन्द स्वामी ने भी कहा है:—

"अथवा हस्त्यश्वश्च कक्ष्यास्तिद्वान् ईश्वरः इत्यर्थः"(स्कन्दः)

(ख) निरुक्तकार के दूसरे दिये अर्थ में तो इतिहास के सन्देह का अवसर ही नहीं रहता।

"अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानां सोतारं मा प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते"।

अथवा मनुष्य कक्ष ही लेना चाहिये। इसके अनुसार मन्त्रार्थ यह होगा कि—'(कक्षीवन्तं य औशिजः) उत्तम गर्भ से उत्पन्न मेधावी तेजस्वी पिता के मुझ पुत्र को (ब्रह्मणस्पते सोमानं स्वरणं कृणुहि) हे विद्वान् ! सौम्य पदार्थों का सम्पादन करने वाला तथा प्रकाशमान् तेजस्वी बना दे"।

उपर्युक्त अभिप्राय दुर्गाचार्य का भी है—

अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्। स हि कक्षे उत्पन्नः, तदुत्पत्तिसंयोगात्तु कक्षीवान् ...... योहं सोमानां सोता, कक्षीवान्, औशिजः, तमेवङ्गुणविशिष्टं मां प्रकाशवन्तं कुरु हे ब्रह्मणस्पते" ॥ (दुर्गाचार्यः)

(ग) ऋषियों के "आर्षवाद" से ऋषि भी विश्व के भौतिक आदि पदार्थ हैं, यह पीछे बताया जा चुका है। उसके अनुसार कक्षीवान् ऋषि क्या है ? इस पर भी विचार करते हैं।

कक्षीवान् के साथ दो सम्बन्ध विशेषण लगते हैं—एक "दैर्घतमसः" दूसरा "औशिजः"।

"नासत्याभ्यां पञ्चाधिका कक्षीवान् दैर्घतमस उशिक् प्रसूत आश्विनं वै" ॥ (ऋग्वेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणी)

इस प्रकार 'दीर्घतमाः' और 'उशिक्' इन दोनों से उत्पन्न हुआ २ पदार्थ कक्षीवान् है। कक्षीवान् का शब्दार्थ भी यही है। कक्षा शब्द सामान्य रूप से सन्धि (मेल, जोड़) का अर्थ देता है, एवं कक्षीवान् भी 'दीर्घतमः' और 'उशिक्' की सन्धि से उत्पन्न होता है। दीर्घतमाः और उशिक् क्या हैं, प्रथम इस पर विचार करते हैं।

आधिदैविक दृष्टि से—

दीर्घतमाः—दीर्घतमाः उस अन्धकार का नाम है जो आकाश में सर्वत्र फैला हुआ है और जो सूर्योदय से पहिले ही नहीं किन्तु सूर्य के प्रादुर्भूत होने से पहले भी था।

उशिक्—उशिक् सौर प्रकाश और 'उशिजः' (बहुवचन) सूर्य रश्मियों को कहते हैं।

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योति र्बृहते रणाय ॥

ऋ० ३। ३४। ४ ॥

अर्थ—(इन्द्रः स्वर्षा अहानि जनयन् उशिग्भिः पृतना जिगाय) आदित्य ने 'स्वः-सा' अर्थात् द्युस्थान में युक्त हो अहर्गणों को उत्पन्न करने के हेतु ("लक्षण हेत्वोः क्रियायाः" अष्टा० ३। २। १२६) प्रकाशमय किरणों से विधर्मी पदार्थों के साथ वर्त्तमान संग्रामों को जीता पुनः (अभिष्टिरह्नां केतुं मनवे प्रारोचयत्) उस अभिभावुक आदित्य ने अहर्गणों के प्रकाश संग्रह को मनु

अर्थात् मन्वन्तर बनाने के लिये चमकाया। और (बृहते रणाय ज्योतिरविन्दत्) बड़े रमणकाल अर्थात् कल्पान्त के लिये ज्योति को प्राप्त किया।

इस प्रकार उशिजः (उशिक्) सूर्य रश्मियों का नाम है तथा वह समूह रूप में सौर प्रकाश बनकर उशिक् नाम से कहा जा सकता है।

कक्षीवान्—इस प्रकार "दीर्घतमाः" अर्थात् पूर्व से प्राप्त लम्बे अन्धकार में 'उशिक् उशिज' अथात सूर्यप्रकाश के सम्बन्ध से दोनों की कक्षा अर्थात सन्धि में उत्पन्न हुआ उनका भेदक और संयोजक सूत्रवृत्त (पृथिवी पर प्राप्त प्रकाश और अन्धकार की सन्धि का सूत्र गोल) कक्षीवान् है। स्पष्ट समझने के लिये इसका प्रदर्शक चित्र नीचे दिया जाता है:—

यही कक्षीवान् पृथिवी पर नानाविध ओषधियों तथा प्राणिसृष्टि की उत्पत्ति का निमित्त है। यह एक पदार्थ-विद्या दर्शाई गई है।

आध्यात्मिक दृष्टि से—

दीर्घतमाः—दीर्घतमा के सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखिये:—

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥ ऋ० १।१५८।६॥

अर्थ—(मामतेयो दीर्घतमा दशमे जुजुर्वान्) ममता से उत्पन्न हुआ दीर्घतमाः दसवें युग में जीर्ण हो जाता है। 'ममेदम्—अहमिदम्' यह मेरा है वह मेरा है मैं ऐसा हूं मैं वैसा हूँ इस ममता वृत्ति से शरीर में अहङ्कार रूप अन्तःकरण उत्पन्न होता है।

कक्षीवान् के स्पष्टीकरण के अनन्तर निरुक्त में दिये "सोमानं स्वरणं......." मन्त्र का अर्थ यह होगा कि 'हे आदित्य ! तू इस स्वप्रकाश और लम्बा अन्धकार की सन्धि में या पृथिवी पर दिन और रात की सन्धि में उत्पन्न हुए सूत्रवृत्त रूप (सूत्र गोल) कक्षीवान् को प्रकाश वाला तथा ओषधियों का उत्पन्न करनेवाला बनादे।' यह सूत्रवृत रूप कक्षीवान् पृथिवी पर अहोरात्र के साथ २ परिक्रमण करता रहता है

यह दीर्घकाल तक जीव के चैतन्यस्वरूप को अन्धकार में डाले रखता है अतएव 'दीर्घतमाः' है। दसवें युग, दस युग अर्थात् दस युगल संख्या सौ वर्षों का नाम है। १ से लेकर ९ तक अयुग (इकाई) संख्या है और १० युग (दहाई) संख्या है। पुनः यह दश गुणित होकर या दस वार आवृत्ति में आकर दशम युग की संख्या १०० बन सकेगी। इस प्रकार सौ वर्षों में जाकर यह शरीराभिमानी अहङ्कार अथवा अहंकार

युक्त शरीर जीर्ण हो जाता है (ब्रह्मा यतीनामपामर्थं सारथि र्भवति) यह अहङ्कार रूप दीर्घतमाः शरीर में गमन करने वाले प्राणों के अर्थ सारथि बनता है। "प्राणा वा आपः" (तै० ३।२।५।२)। ब्रह्मा अहङ्कार को कहते हैं, इसके लिये सूर्य सिद्धान्त का प्रमाण है कि—

"सो ऽहंकारं जगत्सृष्ट्यै ब्रह्माणमसृजत्प्रभुः"।

(सूर्य सिद्धान्त १२।२०)।

यह मन्त्र में वर्णित अहङ्कार रूप दीर्घतमाः प्राकृतिक जड़ वस्तु है।

उशिक् के सम्बन्ध में निम्न मन्त्र देखियेः—

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि।
इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्॥

ऋ० १०।४५।७॥

अर्थ—(उशिक्पावको ऽरतिः सुमेधा अमृतो ऽग्निर्मर्तेषु नि धायि) उशिक् अग्नि चेतन, पवित्र, गतिशील, मेधायुक्त न मरने वाली है और जो मरण-धर्मा शरीरों में निहित है, विराजमान है। वह (शोचिषा शुक्रेण द्यामुदिनक्षन् भरिभ्रदरुषं धूममियर्ति) दीप्यमान शुक्र द्वारा द्युरूप मस्तक में व्याप्त हो शरीर को धारण करती हुई आरोचमान धूम अर्थात् अपने चैतन्य व्यापार को प्रकट करती है।

कक्षीवान्—इस प्रकार दीर्घतमाः अर्थात् अनात्म जड़रूप शरीराभिमानी अहंकार या अन्तःकरण रूप कारण शरीर के साथ उशिक् अर्थात् आत्मरूप चेतनाग्नि के सम्बन्ध से जीव या जीवधारी उत्पन्न होकर बन्धन में आ कक्षीवान् कहलाता है। कक्षीवान् के सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखियेः—

अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तं कार्ष्मन्ना वाज्यक्रमीत्ससवान्।
आ हिन्विरे मनसा देवयन्तः कक्षीवते शतहिमाय गोनाम्॥

ऋ० १।७४।८॥

अर्थ—(कार्ष्मन् गोभिरक्तं श्वेतं कलशं ससवान् वाज्यक्रमीन्) सर्वत्र विलिखित शरीर में नाड़ियों से व्यक्त हुए श्वेत शुभ्र रंग के कलश अर्थात् रक्त प्रवेश निकास से कलकल करने वाले या शरीर कलाओं के आश्रय स्थान हृदय पर शमन करने वाला वाजी अर्थात् जीव आक्रमित हुआ "इन्द्रो वै वाजी" (ऐ० ३।१८) "स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व" (यजु० २३।१५), (शतहिमाय कक्षीवते मनसा गोनां देवयन्त आ हिन्विरे) उस शतहिम अर्थात् सौ हेमन्त सौ वर्ष जीवित रहने वाले कक्षीवान् अर्थात् जीवधारी के लिये उसके मन से संगत हुई 'गोनां गावः' नाड़ियां दिव्य धर्म से विद्यमान् होकर शरीर को आगे ले चलें। "शतहिमाय शतशारदाय" इत्यादि शब्द सौ वर्ष के वाचक वेद में आते है।

इस प्रकार जीवधारी शरीर कक्षीवान् है एवं इसके परिचय के अनन्तर निरुक्त में दिये हुए "सोमानं स्वरणं ..." मन्त्र का अर्थ यह हुआ कि 'ओ ब्रह्माण्ड के स्वामिन् परमेश्वर! यह जो प्राकृतिक अहंकार और चेतनात्मा के योग से उत्पन्न हुआ जीव शरीर है उस को बुद्धि आदि से प्रकाशमान तथा अन्नादि ओषधियों के रस ग्रहण करने में समर्थ बना।

वेद तथा श्रावणी

[ले०—श्री पं० सूर्यदेव शर्मा साहित्यालंकार एम० ए० एल० टी०]

वेद ही जग में हमारा, ज्योति-जीवन सार है ।
वेद ही सर्वस्व प्यारा, पूज्य प्राणाधार है ॥१॥
सत्य विद्या का विधाता, ज्ञान का गुरु गेय है ।
मानवों का मुक्ति दाता, धर्मधी का ध्येय है ॥
वेद ही परमेश प्रभु का प्रेम पारावार है ॥ २ ॥
ब्रह्म कुल का देवता है, राजकुल रक्षक रहा ।
वैश्य वंग विभूषिता है, शूद्र कुल स्वामी महा ॥
वेद ही वर्णाश्रमों का आदि है, आधार है ॥३॥
श्रावणी का श्रेष्ठ उत्सव, पुण्य पावन पर्व है ।
वेद व्रत स्वाध्याय वैभव, आज ही सुख सर्व है ॥
वेद पाठी विप्रवर का, दिव्य दिन दातार है ॥४॥
वेद का पाठन पठन हो, वेद-वाद विवाद हो ।
वेद हित जीवन मरण हो, वेद ही आह्लाद हो ॥
आर्यजन का आज से व्रत, विश्व वेद-प्रचार है ॥५॥
विश्वभर को आर्य करना वेद का संदेश है ।
मृत्यु से किंचित् न डरना ईश का आदेश है ॥
सृष्टि सागर में हमारा, वेद ही पतवार है ॥ ६ ॥
रोज़ रोज सरोज सम श्रुति "सूर्य" से खिलते रहें ।
वेद चन्द्र, चकोर हम द्युति, मोद से मिलते रहें ॥
वेद ही स्वामी सखा सब, वेद ही परिवार है ॥७॥

स्वाध्याय-रत्नमाला

[ले०—श्री पं० विद्याधरजी विद्यालंकार आयुर्वेदाचार्य]

१. मनुष्य का प्राण मरने पर भी रहता है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में २य ब्राह्मण में लिखा है:—

"याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो ऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते" ॥११॥

प्रश्न—जब इस पुरुष की मृत्यु होती है तब इसमें से प्राण निकल जाते या नहीं ?

याज्ञवल्क्य बोले–नहीं, सी उस्थान में लीन होकर शरीर को सुजा देते हैं और अफ़ारा करदे ते हैं और अफ़ारे के बाद मनुष्य मर कर सो जाता है ॥

२. मरने पर 'नाम' शेष रहता है ।

फिर लिखा है, याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहाति इति नामे यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति" ॥१२॥

प्रश्न—मनुष्य के मरने पर इसे क्या वस्तु नहीं छोड़ती है ?

याज्ञवल्क्य बोले—मरने पर नाम नहीं छोड़ता । नाम अन्तवाला नहीं है । सब देव अनन्त है, नाम भी अनन्त है । इस नाम के द्वारा ही अनन्त लोक को वह जीतता है । अर्थात् नाम से लोक में प्रतिष्ठा पाता है ।

३. मरने के बाद शरीर के तत्त्व कहां जाते हैं ?

"याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणाश्चक्षुरादित्यं मन श्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते ।"

इसमें याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि मृत पुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाते हैं, आंखें सूर्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, आत्मा अकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में तथा रज (रक्त) और वीर्य जल में लीन हो जाते हैं ॥

ठीक इसी प्रकार यजुर्वेद के मंत्र में भी अन्त्येष्टि क्रिया करने के समय निम्नामंत्र पढ़ा जाता है ।
सूर्य चक्षुषागच्छतु वातमात्मना द्यां च गच्छ पृथिवीञ्च धर्मणा ।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठाः शरीरैः ।

अर्थात् शरीर के चक्षु आदि अंगों द्वारा सूर्य में आत्मा (प्राण + आत्मा) वात (वायु + आकाश) द्वारा तथा द्युलोक में वा पृथिवी लोक में तेरी और धर्मानुसार उत्पत्ति या लय हो । यदि तेरा हित हो तो जल में जा, ओषधियों में ही वा चला जा ॥

अन्यत्र भी वेद में कहा है—

"चन्द्रमा मनसो जातः मुखादग्निरजायत" इत्यादि । अर्थात् जैसे २ जिस २ तत्त्व की उत्पत्ति विराट पुरुष के जिस २ स्थानविशेष से हुई है उसी २ में वह २ शरीर का अंग लीन भी हो जाता है ।

एक नई बात

हितोपदेश और पंचतंत्र में एक श्लोक आता है जहां पर कई पदार्थों की उत्पत्ति का अद्भुतरूप से वर्णन किया है । वहां पर लिखा है:—

"दूर्वाऽपि गोलोमतः"

अर्थात् हरीदूब घास, गौओं के गिरे हुए रोमों से उत्पन्न होती है, यही बात उपनिषदों ने भी कही है, "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा" ॥ अर्थात् लोम औषधों में लीन होते हैं, केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं । बात एक ही है लीन होना या प्रकट होना एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से तभी सम्भव है जब उन दोनों के तत्त्व परस्पर एक से हों । वैज्ञानिकों को चाहिये कि विशुद्ध मिट्टी जिसमें हरी घास की एक भी जड़ न हो कहीं बिछावें । और उस भूमि पर लगातार गौओं को चरने दें । उनका गोबर आदि तुरन्त उठाकर पृथक् करते रहें । इस प्रकार परीक्षण करके देखें कि कुछ मास में गौओं के रोम वहां गिरने से दुर्वा घास उत्पन्न होती है या नहीं ? उपनिषत्कार और प्राचीन श्लोक इस बात को सत्य बतला रहे हैं । हमें आशा है कि वर्त्तमान वैज्ञानिक भी इसे परीक्षण के बाद सत्य पावेंगे ।

मानसिक रोगों का इलाज—

वेद में 'चन्द्रमा मनसो जातः' कहा है । बृहदारण्यक के ५वें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में भी लिखा है:—"तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः" । इससे चन्द्रमा और मन एक ही तत्त्व के बने हैं । इसीलिये मनः सम्बन्धि रोगों का इलाज चन्द्र की किरणों के विधिपूर्वक उपयोग से करना आयुर्वेद के पण्डितों का प्राचीन मत था । अब भी यदि वैज्ञानिक प्रयत्न करें तो मन की अनेक व्याधियां चन्द्रमा के कम-अधिक उपयोग से अच्छी हो सकती हैं । इसी प्रकार से

आंख के अनेक रोग सूर्य के विधिपूर्वक उपयोग से अच्छे हो सकते हैं। इस विषय पर कभी स्वतन्त्र लेख लिखने की इच्छा है ॥

नाना लोकों का वर्णन

षष्ठ ब्राह्मण में गार्गी याज्ञवल्क्य से प्रश्न करती है कि जल में ही सब ओतप्रोत (व्याप्त) है तो जल किसमें ओतप्रोत है ? याज्ञवल्क्य बोले, जल वायु में ओतप्रोत है। वायु किसमें ओतप्रोत है ? अन्तरिक्ष लोक में। अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोक में है। गन्धर्वलोक आदित्यलोक में पिरोये हैं। आदित्यलोक चन्द्रलोक में ओतप्रोत हैं। चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में। नक्षत्रलोक देवलोक में। देवलोक इन्द्रलोक में। इन्द्रलोक प्रजापतिलोक में। प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में ओतप्रोत है। ब्रह्मलोक किसमें है ? जब यह प्रश्न पूछा गया तो याज्ञवल्क्य ने गार्गी को डांटा और कहा जिसके विषय में प्रश्न नहीं हो सकता उस देवता (ब्रह्म) के विषय में भी प्रश्न करती जाती है। बस अधिक न पूछ वर्ना तेरे सिर का पतन हो जावेगा ॥

महिलाओं का विद्वानों को 'नमस्ते' कहना

बृहदारण्यक के ८म ब्राह्मण में गार्गी ने पहला प्रश्न याज्ञवल्क्य से किया कि द्युलोक से ऊपर और पृथिवी से नीचे, इन दोनों के मध्य में तथा भूत भविष्यत् और वर्त्तमान ये सब किस में ओतप्रोत हैं ? इसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिया कि ये सब 'आकाश' में ओतप्रोत हैं। इतना उत्तर सुनकर गार्गी प्रसन्न होकर बोली—

"सा होवाच नमस्ते ऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचः"।

हे याज्ञवल्क्य ! तुमने जो मुझे यह उचित उत्तर दिया इसके लिये मेरी आपको 'नमस्ते है' अर्थात् नमस्कार है।

'अक्षर का वर्णन'

गार्गी ने दूसरा प्रश्न भी पूछा कि यह आकाश किसमें स्थित है ? याज्ञवल्क्य बोले 'अक्षर' में। यह 'अक्षर' ही है जिसे ब्राह्मण नमस्कार करते हैं वह अस्थूल अणु भी नहीं है, न ह्रस्व है तथा न दीर्घ है, रक्तरहित, स्नेहरहित, छायारहित, तथा तमोरहित है, वायु भी नहीं, आकाश भी नहीं, संग भी किसी के नहीं, अरस, अगन्ध अचक्षु, श्रोत्ररहित, वागरहित, मनरहित, नेत्ररहित, प्राणरहित, मुखरहित, मात्रारहित, अन्त-रहित, और वह बाह्य भी नहीं, वह कुछ भी खाता नहीं। इसी भावको गीता में—

'कूटस्थोऽक्षर उच्यते ?'

कहा है। अर्थात् सब भूत क्षर हैं, नाशवान् हैं परन्तु अक्षर कूटस्थ अनाशवान है। इसी अक्षर के शासन में सूर्य, चाँद, द्यावा पृथिवी, निमेष, मुहूर्त्त, दिन रात, मास, ऋतु, वर्ष, नदियें आदि अपने २ कर्म करते हुए स्थिर हैं।

'ब्राह्मण कौन है ?'

ऊपर लिखे 'अक्षर' को बिना जाने इस लोक में हवन करता है, यज्ञ करता है, तप करता है वह चाहे कितने वर्ष तपआदि करे परन्तु वे सब अन्तवान हैं। इस अक्षर को न जानकर जो इस लोक से जाता है (मर जाता है) वह कृपण रह जाता है। और जो इस अक्षर को खूब जानकर इस लोक से विदा होता है, हे गार्गी ! वही 'ब्राह्मण' है।

यह सुनकर गार्गी ने सब ब्राह्मणों सहित भगवान् याज्ञवल्क्य को प्रणाम किया।

चेतना, रुचि, अवधान तथा थकान*

[लेखिका—श्रीमती प्रोफ़ेसर, चन्द्रावती लखनपाल एम्० ए०, बी० टी०]

१. केन्द्रवर्त्ती तथा प्रान्तवर्त्ती चेतनाः—

'रुचि' तथा 'अवधान' समझने के लिये आवश्यक है कि इन दोनों का मनोवैज्ञानिक रूप समझ लिया जाय और इन के मनोवैज्ञानिक रूप को समझने के लिये 'चेतना' के विषय में दो-एक बातें समझ लेना जरूरी है। लॉयड मार्गन ने 'चेतना' की व्याख्या करते हुए दो शब्दों का प्रयोग किया है। 'केन्द्रवर्त्ती' (Central) तथा 'प्रान्तवर्त्ती' (Marginal) चेतना की एक वृत्त से उपमा दी जा सकती है। कुछ विचार चेतना रूपी वृत्त के केन्द्र में रहते हैं, इन्हें 'केन्द्रवर्त्ती' कहना चाहिये। कुछ इस वृत्त के केन्द्र में तो नहीं परन्तु प्रान्त भाग में रहते हैं, इन्हें 'प्रान्तवर्त्ती' कहना चाहिये। हम बैठे लिख रहे हैं, हमारे सामने बिजली का पंखा चल रहा है, परन्तु हमारा ध्यान उस की आवाज की तरफ नहीं जाता। क्या पंखे की आवाज हमारी चेतना में नहीं है? है, परन्तु वह आवाज हमारी चेतना के वृत्त के प्रान्त भाग में है। हम जिस विषय पर लिख रहे हैं, वह हमारी चेतना के केन्द्र में है। इतने में पंखा किसी खराबी के कारण बन्द हो जाता है। पंखे का हमारी 'प्रान्तवर्त्ती' चेतना में जो विचार था वह एक दम चेतना के केन्द्र में चला आता है और हम लिखना छोड़कर, यह क्यों बन्द हो गया, इस पर विचार करने लगते हैं। जेम्स ने चेतना को एक नदी की धारा से उपमा दी है। उस का कथन है कि चेतना की धारा में कई विचार ठीक बीच में तैरते रहते हैं, कई किनारे-किनारे। बीच वालों को मध्यवर्त्ती या केन्द्रवर्त्ती कह सकते हैं, किनारे वालों को तटवर्त्ती या प्रान्तवर्त्ती।

उक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट ही है कि जब कोई विचार केन्द्रवर्त्ती हो जाता है तभी हमारा ध्यान उस की तरफ़ जाता है, जब तक वह प्रान्तवर्त्ती रहता है, तब तक हमारा ध्यान उस तरफ़ नहीं जाता। किसी विचार के चेतना के प्रान्त में से निकल कर केन्द्र में आ जाने को ही 'अवधान' (Attention) कहते हैं। केन्द्र में सब विचार नहीं आ जाते, चेतना में जितने भी विचार होते हैं, उन में से कुछ प्रान्त भाग में ही रहते हैं और कुछ केन्द्र भाग में आ जाते हैं। इस प्रकार प्रान्तवर्त्ती भाग में से केन्द्रवर्त्ती भाग में कुछ विचारों का हमारी चेतना 'चुनाव' कर लेती है और जिन विचारों का चुनाव होता है वे ही 'अवधान' के विषय बनते हैं।

अब, अगला विचारणीय प्रश्न यह है कि विचार चेतना के प्रान्तवर्त्ती भाग में से केन्द्रवर्त्ती भाग में किस नियम से चुना जाता है? क्या यूं ही कोई विचार कभी प्रान्तवर्त्ती भाग में और कभी केन्द्रवर्त्ती

* लेखिका के "शिक्षा-मनोविज्ञान" नामक अप्रकाशित ग्रन्थ से।

भाग में आता जाता है, या इस का कोई नियम है ?

हमारा पंखा चल रहा था, हम लिख रहे थे, हमारा पंखे की तरफ ध्यान नहीं था, लिखने की तरफ़ था। पंखे के बन्द हो जाने पर हमारा ध्यान एकाएक पंखे की तरफ़ गया। पंखा 'प्रान्तवर्त्ती' चेतना से 'केन्द्रवर्त्ती' चेतना में किस नियम से आगया ? प्रान्तवर्त्ती चेतना में और भी तो कई विचार थे, वे न आये, उन सब में से केवल पंखे का ही चुनाव क्यों हुआ ? इस का कारण यह है कि पंखा हमने खोल रखा था, हवा बन्द हो जायगी तो इस गर्मी में हम कैसे लिख सकेंगे। पंखा हमारे 'प्रयोजन' को सिद्ध करता है, पंखे के बन्द हो जाने पर हमारा 'प्रयोजन' (Purpose) असिद्ध हो जाता है। अर्थात्, जिस बात से हमारा 'प्रयोजन' सिद्ध होता है उस तरफ़ झट से हमारा ध्यान चला जाता है, और वही बात चेतना के केन्द्र में आ पहुंचती है। अर्थात्, 'प्रयोजन' के कारण ही कोई वस्तु केन्द्रवर्त्ती चेतना में आती है। बालकों के 'प्रयोजन' (Purposes) निचले दर्जे के होते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, उन में प्राकृतिक शक्तियां (Instincts) ही अपने यौवन रूप में काम कर रही होती हैं। वे किसी चीज़ को देखकर उसे मुंह में डालना चाहते हैं, किसी क्रिया को देखकर उस का अनुकरण करना चाहते हैं। उन के 'प्रयोजन' इसी तरह के होते हैं। बालक के पांव में कांटा चुभ गया है, वह चिल्ला रहा है, इतने में एक मोटर की आवाज़ आयी, वह उछलता कूदता मोटर की तरफ लपकता है। नई चीज़ को वह जानना चाहता है, यह उसका प्रयोजन है, इसलिये कांटे का दर्द उस की चेतना के प्रान्तवर्त्ती भाग में चला जाता है, मोटर केन्द्रवर्त्ती भाग में आजाती है।

'प्रयोजन' वाली बात चेतना के केन्द्र में चुन ली जाती है। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि जिस चीज़ में हमारी रुचि (Interest) होती है वही चेतना के केन्द्र में आती है। 'प्रयोजन', 'रुचि' को उत्पन्न करने में सब से बड़ा कारण है। इसी लिये बालकों में किसी चीज़ के प्रति 'रुचि' उत्पन्न करना हो तो उन के हृदय में उस विषय के प्रति कोई न कोई 'प्रयोजन' उत्पन्न कर देना सर्वोत्तम साधन है। बच्चों के लिये हिसाब सीखना कितनी नीरस बात है, परन्तु अगर उन से कहा जाय कि तुम्हें दो पैसे रोज़ मिलेंगे और हफ्ते भर में जितने जोड़ लोगे उस से दुगने और दिये जायंगे तो वह खुद-बखुद हिसाब करने लगता है। बार-बार पूछता है कि हफ्ते में कुल मिलाकर कितने पैसे मिलेंगे। उसके सामने एक प्रयोजन रख दिया गया, उस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये उस की हिसाब में 'रुचि' उत्पन्न हो जाती है। 'प्रयोजन' (Purpose), 'रुचि' (Interest) को पैदा करता है, 'रुचि', 'अवधान' (Attention) को उत्पन्न करती है। इस प्रकार कोई विचार प्रान्तवर्त्ती चेतना से केन्द्रवर्त्ती चेतना में आ जाता है।

२. रुचि (Interest)

'रुचि' दो तरह की होती है। 'प्राकृतिक रुचि' (Instinctive interest) तथा 'अर्जित रुचि' (Acquired interest)। प्राकृतिक रुचि उस को कहते हैं जिस में विषय देखकर अपने आप रुचि उत्पन्न हो। इस का आधार मनुष्य की 'प्राकृतिक शक्ति' (Instinct), उसका स्वभाव है। जब तक

कोई विशेष ही कारण न हो स्वादिष्ट भोजन खाने में प्रत्येक की रुचि होती है। बालकों की रुचि खाने, पीने, खेलने, कूदने, नई बात जानने, लड़ने, भिड़ने आदि में होती है। उन में यह सब स्वभाव से आता है। जिस बात में रुचि हो उस में अवधान स्वयं हो जाता है, इसलिये बालकों का ध्यान खाने, पीने, खेलने, कूदने में अधिक रहता है। 'अर्जित' उसे कहते हैं जो प्राकृतिक नहीं होते, किन्तु उत्पन्न की जाती हैं। उदाहरणार्थ, बच्चे को तरह तरह के रंग देखने का शौक है। यह 'प्राकृतिक रुचि' है। परन्तु अगर उस के सामने भिन्न-भिन्न रंगों के अक्षर उपस्थित कर दिये जांय, तो वह रंगों को देखने के शौक के साथ साथ अक्षर पढ़ना सीख जाता है। अब अगर उसे इस प्रकार पढ़ने का शौक पैदा हो गया तो यह 'अर्जित रुचि' कहलायगी। इसी प्रकार तसवीरें देखने के शौक से कई बच्चे पढ़ना सीख जाते हैं, पैसा जमा करने के शौक से कई बच्चे हिसाब सीख जाते हैं, गुड़िया को कपड़े पहनाने के शौक से कई लड़कियां सीना-पिरोना सीख जाती हैं।

'प्राकृतिक रुचि' तो जन्म सिद्ध होती है, क्योंकि उस का आधार उन बातों पर होता है जो हमें जन्म से प्राप्त हैं, परन्तु 'अर्जित रुचि' का आधार क्या है? अर्जित रुचि का आधार 'प्राकृतिक रुचि' ही है! जिन बातों में हमारी रुचि नहीं होती उन्हें प्राकृतिक रुचि की बातों के साथ जोड़ने से उन में भी रुचि उत्पन्न हो जाती है, और जो विषय पहले अरुचिकर था अब वह रुचिकर हो जाता है। सब से अधिक रुचि मनुष्य को अपने आप में, अपनी चीजों में, अपने सम्बन्धियों में होती है, इसलिये जिस बात का उस के 'स्व' या 'आत्मा' के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है वह कितनी ही अरुचिकर क्यों न हो उस के लिये रुचिकर हो जाती है। सब से अधिक नीरस चीज़ रेलवे का टाइम टेबल होता है, परन्तु अगर हमें अपने घर जाना हो तो हम सारे टाइम-टेबल को छान-बीन कर डालते हैं, 'लीडर' में रोज़ आधा सफ़ा भर भिन्न-भिन्न कम्पनियों के हिस्सों की दरें निकलती रहती हैं, जब तक हम ने किसी कम्पनी का हिस्सा नहीं खरीदा तब तक हमारी उस सफ़े पर नज़र भी नहीं जाती, अब हिस्से खरीदने के बाद सब से पहले वही सफ़ा खुलता है। बच्चों में जिस विषय के प्रति आत्मभावना उत्पन्न कर दी जाय उस में एक दम उनकी रुचि भी बढ़ जाती है। काग़ज़, कलम, दवात यदि उन्हें कह दिया जाय, ये तुम्हारी हैं तो वे उन की देखभाल में, उन्हें सम्भालने में अपूर्व सावधानता, तत्परता तथा रुचि दिखाते हैं। रुचि का यह नियम है कि एक रुचिकर विषय के साथ जो दूसरा विषय जुड़ता है, भले ही वह अरुचिकर हो, रुचि के साथ जुड़ते ही वह भी रुचिकर हो जाता है। रुचि की आग से उपमा दी जा सकती है। उस में जो ईंधन पड़ेगा वह प्रज्वलित हो उठेगा। 'अर्जित रुचि' इसी प्रकार 'प्राकृतिक रुचि' से अपना जीवन प्राप्त करती है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि जो भी अरुचिकर विषय हों उन्हें बालकों के सन्मुख इस प्रकार रखे कि वे बच्चे की किसी-न-किसी प्राकृतिक शक्ति को सन्तुष्ट करें। योग्य शिक्षक इतिहास, भूगोल आदि विषयों को 'संग्रहशीलता' तथा 'विधायकता' की प्राकृतिक शक्तियों की सहायता से बहुत रुचिकर बना सकते हैं।

'अर्जित रुचि' के विकास में हमें मानसिक

विकास की उन्हीं सीढ़ियों में से गुजरना पड़ता है जिन में से 'संवेदन' गुजरता है। 'संवेदन' के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि बालक को पहले 'इन्द्रिय संवेदन' होता है, फिर 'भाव संवेदन', अन्त में उसमें 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उत्पन्न हो जाता है। 'रुचि' 'संवेदन' (Feeling) का ही एक रूप है, इसलिये 'अर्जित रुचि' इसी प्रक्रिया में से गुजरना होता है। पहले बालक की 'रुचि' उन पदार्थों के प्रति होती है जो 'इन्द्रिय संवेदन' के अन्तर्गत हैं। 'इन्द्रिय संवेदन' इन्द्रिय ग्राह्य तथा स्थूल पदार्थों के प्रति होता है, उनके प्रति जिन्हें देखा, सूंघा, जा सकता है। बालक की शुरू शुरू में 'रुचि' (Interest) भी ऐसे ही पदार्थों में होती है। तब तक उस में 'भाव संवेदन' नहीं उत्पन्न हुआ होता, इसलिये भावात्मक बातों में उस की रुचि भी उत्पन्न नहीं होती। उस के सामने आम रख दिया जाय, तो उस की झट से उस के प्रति 'रुचि' उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि 'आम' का 'खाने' के साथ सम्बन्ध है, रंग बिरंगे खिलौने को देखकर वह उसे पकड़ने को दौड़ेगा, क्योंकि यह भी उस की किसी-न किसी प्राकृतिक रुचि (Instinctive interest) को सन्तुष्ट करती है। बालक की 'इन्द्रिय संवेदन' के पदार्थों में 'रुचि' को शिक्षा के काम में लाया जा सकता है। उसे एक और एक (दो) होते हैं, सिखाने के बजाय, पहले एक आम देकर फिर एक और दे दिया जाय, और कह दिया जाय, ये दो हो गये, तो वह तुरन्त सीख जाता है। कुछ बड़ा हो जाने पर बालक में 'भाव संवेदन' सम्बन्धी पदार्थों में 'रुचि' उत्पन्न होने लगती है। जहां बालकों में अपनी 'अम्मा' का जिक्र चलता है, तो सब बड़ी रुचि से उसकी चर्चा करते हैं। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि स्थूल पदार्थों के बाद उन सूक्ष्म पदार्थों में बालक की रुचि उत्पन्न करे जो शिक्षा में सहायक हैं। अन्त में, जब बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी भाव' उत्पन्न हो जाय तब उस में सत्य, न्याय आदि भावों के प्रति 'रुचि' उत्पन्न कराना आसान हो जाता है।

अर्जित रुचि (Acquired interest) बढ़ते २ 'स्वाभाविक रुचि' (Native interest) जैसी ही बन जाती है। एक आदमी आजीविका के लिये हिसाब का काम सीखता है। पहले उसकी यह रुचि स्वाभाविक न थी परन्तु काम करते-करते उसकी हिसाब में 'स्वाभाविक रुचि' हो जाती है। उससे जब बात करें वह हिसाब की ही बात करता है, और किसी चीज में उसकी 'रुचि' ही नहीं होती। शिक्षक को चाहिये कि सत्य, न्याय, दया आदि जीवनोपयोगी भावों के लिये बालक में इसी प्रकार की रुचि उत्पन्न कर दे, विना प्रयत्न के उसकी इन बातों में रुचि हो। 'आत्म सम्मान का स्थायी भाव' जब किसी बालक में उत्पन्न हो जाता है तब इस प्रकार की अवस्था स्वयं आ जाती है। 'रुचि' के क्रमिक विकास को हमने देखा। परन्तु रुचि किन बातों पर आश्रित है, किन बातों के होने पर रुचि होगी, और किन के न होने पर होगी ? इस विषय में तीन नियम हैं।

(क) 'रुचि' उसी विषय में होगी जिस विषय में हमारा पूर्ववर्त्ती ज्ञान (Apperceptive mass) कुछ न कुछ बन चुका होगा। जिस बात से बालक बिल्कुल अनभिज्ञ है उसके विषय में उसकी 'रुचि' उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये कहा जाता है कि शिक्षा 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ जानी चाहिये।

(ख) इसी प्रकार जिस चीज़ को बालक कई बार देख चुका है, सुन चुका है, उसमें उसकी कोई रुचि नहीं होगी। वह नई चीज़ देखना चाहता है, उसमें 'जिज्ञासा (Curiosity) काम कर रही है। वह 'अज्ञात' की तरफ़ जाना चाहता है, परन्तु वह 'अज्ञात' को 'ज्ञात' से ही समझ सकता है। जो शिक्षक एक ही बात को दोहराते रहते हैं वे अपने विषय के प्रति 'रुचि' उत्पन्न नहीं कर सकते। एक ही बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये दोहराने की जरूरत हो तो शिक्षक को चाहिये कि वह उसे भिन्न २ तौर से, नये २ ढंग से कहे, तभी बालकों की उसमें 'रुचि' उत्पन्न होगी।

(ग) जिस मात्रा में किसी बात का सुख-दुःख के अनुभव के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकेगा, अपने 'स्व' के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकेगा, उतनी मात्रा में वह वस्तु 'रुचिकर' अथवा 'अरुचिकर' हो जायगी। इसके कई दृष्टान्त पहले दिये जा चुके हैं।

३. अवधान (Attention).

जैसा कहा जा चुका है 'अवधान' का आधार 'रुचि' है 'रुचि' के हमने दो भेद किये थे, 'प्राकृतिक' तथा 'अर्जित'। 'प्राकृतिक रुचि' वह होती है जिसमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता, 'अर्जित' में प्रयत्न करना पड़ता है, उसे सीखना पड़ता है। क्योंकि 'अवधान' का आधार है 'रुचि' इसलिये अवधान के भी दो भेद हैं, 'प्राकृतिक रुचि' पर आश्रित अवधान, जिसे 'प्रयत्नरहित' अथवा अनैच्छिक (Involuntary) भी कहा जा सकता है, तथा 'अर्जित रुचि' पर आश्रित 'अवधान', जिसे 'सप्रयत्न' अथवा ऐच्छिक, (Voluntary) भी कहा जा सकता है।

'अनैच्छिक अवधान' में 'प्राकृतिक रुचि' काम करती है इसलिये उसमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता, बालक का ध्यान अपने आप उधर जाता है। 'अनैच्छिक अवधान' का नियन्त्रण निम्नलिखित तीन नियमों से होता है:—

(क) किसी हद तक जिस अनुपात में 'विषय' (Stimulus) की मात्रा बढ़ती जायगी उसी अनुपात में बालक का ध्यान भी बढ़ता जायगा। धीमे प्रकाश की अपेक्षा तेज़ प्रकाश, मध्यम आवाज़ की अपेक्षा तेज ऊँची आवाज, फीके रंग की अपेक्षा गाढ़ा रंग बालक का ध्यान जल्दी खींच लेता है।

(ख) 'विषय' (Stimulus) में परिर्तवन भी बालक का ध्यान अपने आप खींच लेता है। बालक रो रहा है, अगर उसके सामने गुलाब का फूल कर दिया जाता है वह चुप हो जाता है। बड़े होने पर भी मनुष्य नवीनता की तरफ़ भागता है। पाठ्यक्रम में विविध विषयों का समावेश इसी दृष्टि से किया जाता है।

(ग) 'विषय' के साथ हमारे सुख दुःख के सम्बन्ध पर भी ध्यान आश्रित रहता है। बालक बीसियों को देखता है, परन्तु उसका ध्यान किसी की तरफ़ नहीं खिंचता, इतने में वह अपनी मां को देखता है, झट से उसका ध्यान मां की तरफ़ खिंच जाता है। इसका कारण यही है कि माता के साथ उसकी अनेक सुख की स्मृतियां जुड़ी हुई हैं।

इन तीनों प्रकार के 'अनैच्छिक अवधान' (Involuntary attention) में 'प्राकृतिक रुचि' काम करती है। 'ऐच्छिक अवधान' (Voluntary attention) में ध्यान अपने आप नहीं हो जाता,

उसे 'प्रयत्न' से उत्पन्न करना पड़ता है। 'अनैच्छिक अवधान' का आधार 'रुचि (Interest) है, ऐच्छिक अवधान' का आधार 'प्रयत्न' (Effort) है, 'व्यवसाय' (Will) है। इसमें हमारा ध्यान अपने आप किसी विषय को तरफ़ नहीं जाता, परन्तु प्रयत्न के द्वारा, व्यवसाय करके, हम ध्यान को उधर खींचते हैं।

'अनैच्छिक अवधान' 'प्राकृतिक रुचि' (Instinct interest) की वस्तुओं की तरफ जाता है पहले पहल बालक का ध्यान स्थूल चीजों की तरफ खिंचता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि स्थूल चीजों के साथ सूक्ष्म चीजों का सम्बन्ध जोड़ कर बालक के ध्यान को भावात्मक पदार्थों की तरफ़ ले आये, उसकी रुचि स्थूल में ही सीमित न रहे, सूक्ष्म में भी उत्पन्न हो जाय। सूक्ष्म वस्तुओं में जब बालक की रुचि उत्पन्न होने लगती है तब उसके अवधान को 'ऐच्छिक अवधान' कहा जाता है। शिक्षक को चाहिये कि 'ऐच्छिक अवधान' को बढ़ाते बढ़ाते ऐसा बना दे कि बालकों के लिये वह स्वाभाविक हो जाय, प्राकृतिक हो जाय, अनैच्छिक हो जाय।

'ऐच्छिक अवधान' का नियन्त्रण निम्न चार नियमों से होता है:—

(क) मन का प्रतिपाद्य विषय के लिये तैय्यार होना या न होना, ध्यान का पहला नियम है। अगर हम किसी बात के लिये तैय्यार हैं तो वह एक दम ध्यान को खींच लेती है, अगर तैय्यार नहीं है, तो उस तरफ़ ध्यान नहीं खिंचता। हम अपने किसी मित्र के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कमरे में जरा सी आहट होती है, हम तुरन्त उठकर देखने लगते हैं। हम उसके आने के लिये तैय्यार थे, इसलिये हल्की सी आहट से भी हमारा ध्यान उस तरफ़ खिंच जाता है। अब कल्पना कीजिये कि हम उसके आने की प्रतीक्षा नहीं कर रहे, वह आ जाता है, और जोर २ से पुकारता है। हम उसकी आवाज से भली प्रकार परिचित हैं। परन्तु कुछ देर तक आवाज सुनकर भी नहीं पहचान पाते। जब उसे देखते हैं तब कह उठते हैं, अरे तुम यहां कहां? अगर हम उसकी प्रतीक्षा कर रहे होते, उसके लिये तैय्यार होते तब ऐसा न होता, शिक्षक के लिये यह नियम बड़ा आवश्यक है। अगर कोई बात पढ़ाने से पूर्व बालकों का मन उस विषय के लिये तैय्यार कर दिया जाय तो उनका ध्यान बड़ी आसानी से उस विषय की तरफ़ खिंच जाता है। 'रुचि' के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि जिस विषय में बालक का 'पूर्ववर्ती ज्ञान' बन चुका हो उसी में उसे 'रुचि' उत्पन्न होती है। इसी नियम को 'अवधान' के प्रकरण में हमने उक्त प्रकार से कहा है।

(ख) ध्यान का दूसरा नियम 'नवीनता' है। जो चीज नई होगी वह ध्यान को शीघ्र ही खींच लेगी। शिक्षक को चाहिये कि बालक को नई-नई बातें बतलाये। परन्तु क्योंकि शिक्षक को कई बार एक ही बात को बालकों के दिमाग़ में गाड़ने के लिये दोहराना पड़ता है इस लिये उसे ऐसे समय में एक ही बात के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालना चाहिये। इस प्रकार पुरानी बात भी नये रूप में आकर बच्चे का ध्यान आकर्षित कर लेती है। 'रुचि' के प्रकरण में भी इस नियम का प्रतिपादन करते हुए कहा गया था कि बालक में 'जिज्ञासा' का भाव जन्म से है। उस 'जिज्ञासा' का शिक्षक को लाभ उठाना चाहिये।

(ग) जो 'विषय' (Stimulus) ध्यान को खींचता है उसके सबल अथवा निर्बल होने पर भी ध्यान का सबल होना अथवा निर्बल होना आश्रित रहता है। 'विषय' बाहर भी हो सकता है, अन्दर भी। गाढ़े गाढ़े रंग की तस्वीरें बालकों का ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। ये सबल 'बाह्य विषय' (External stimulus) है। एक बालक परीक्षा में प्रथम आने के उद्देश्य से खूब ध्यान से पढ़ता है। ये सबल 'आन्तर विषय' (Internal stimulus) है। बालक दण्ड के भय से, परितोषिक के लोभ से, माता पिता को प्रसन्न करने की इच्छा से, और ऊँची अवस्था में पहुंच कर, अपने 'आत्म सम्मान के स्थायी भाव' की प्रेरणा से अनेक कार्य करते हैं। ये सब प्रेरणाएँ 'आन्तर विषय' (Internal stimulus) हैं, और 'ऐच्छिक अवधान' में सहायक हैं। 'रुचि' के प्रकरण में हमने लिखा था कि जिस बात का 'स्व' से सम्बन्ध होता है, उसमें 'रुचि' उत्पन्न हो जाती है। 'अवधान' का उक्त नियम 'रुचि' के ही तीसरे नियम से निकला है।

(घ) जिस समय ध्यान देना हो उस समय शरीर तथा मन में ध्यान देने की कितनी शक्ति है, इस बात पर 'ऐच्छिक अवधान' आश्रित रहता है। शारीरिक अथवा मानसिक थकावट के समय ध्यान नहीं जाता। बीमार बच्चे किसी गूढ़ विषय की तरफ ध्यान नहीं दे सकते। प्रातःकाल शरीर तथा दिमाग़ ताजा होता है, इसलिये उस समय दोपहर की अपेक्षा अधिक ध्यान लगता है। एक ही स्थिति में बैठे बैठे बालक थक जाते हैं, इस लिये उनका ध्यान उचट जाता है। शिक्षक को चाहिये कि उन्हें खड़े होने, चलने, फिरने का मौका दे। कभी किसी बालक को श्यामपट पर बुलाले, कभी किसी और तरह से उन के बैठने, उठने में परिवर्त्तन करता रहे। इससे 'ऐच्छिक अवधान' में सहायता मिलती है।

हमने 'अनैच्छिक' तथा 'ऐच्छिक' अवधान के भेद को बतलाते हुए कहा था कि 'अनैच्छिक' में 'रुचि' (Interest) काम कर रही होती है, 'ऐच्छिक' में 'प्रयत्न' (Effort) अथवा व्यवसाय (Will), परन्तु यहां पर यह समझ लेना ज़रूरी है कि 'प्रयत्न' द्वारा 'अवधान' उत्पन्न करना कृत्रिम साधन है। 'प्रयत्न' से यह तो हो सकता है कि हम किसी चीज़ में लगे रहें, परन्तु उस लगने में क्रियाशीलता, वेग, तेज़ी तब तक नहीं उत्पन्न हो सकती जब तक 'रुचि' की सहायता न ली जाय। हम जर्मन पढ़ रहे हैं, बड़ी कोशिश करते हैं, 'प्रयत्न' तथा व्यवसाय के सारे स्रोत बहा देते हैं, परन्तु अन्त में पुस्तक उठाकर अलग रख देते हैं। असल में 'ऐच्छिक अवधान' में भी प्रयत्न की जगह 'रुचि' का समावेश करने का उद्योग करना चाहिये। दूसरे शब्दों में ऐच्छिक अवधान' को भी 'अनैच्छिक' ही बनाने की कोशिश करनी चाहिये, तभी असली अर्थों में किसी विषय में हमारा ध्यान लग सकता है। 'रुचि' प्राकृतिक बातों में, स्थूल बातों में, खाने पीने की बातों में होती है, अतः 'ऐच्छिक अवधान' का प्रारम्भ स्थूल बातों से ही होगा, परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि शिक्षक अन्त तक बालक की प्राकृतिक इच्छाओं को सामने रखकर ही अपना एक-एक कदम उठाये। यह तो शिक्षा शुरू करने का तरीका होना चाहिये। आगे चलकर 'रुचि' को 'आत्म सम्मान के स्थायीभाव' में

बदल देना चाहिये, और बालक के अवधान का स्रोत यही स्थायीभाव हो जाना चाहिये।

हमने देख लिया कि 'अवधान' क्या है ? 'अवधान' के विषय में मनोवैज्ञानिकों ने कई परीक्षण किये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि एक समय में मन में कितनी बातें रखी जा सकती हैं, एक चीज़ पर कितनी देर तक ध्यान टिक सकता है, एक ही समय में कितने काम हो सकते हैं, इत्यादि। हम इन परीक्षणों का संक्षिप्त परिचय देकर 'अवधान' के प्रकरण को समाप्त करेंगे।

(१) अवधान का विस्तार (Span of attention) मन एक ही समय में एक ही वस्तु का ग्रहण कर सकता है या कई का इकट्ठा, इस सम्बन्ध में जो परीक्षण हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि हम पांच वस्तुओं तक को एक ही समय में अवधान में ला सकते हैं। अगर पांच बिन्दु, पांच गोलियां, पांच अक्षर या पांच रेखायें सेकण्ड के $\frac{1}{100}$वें भाग से लेकर $\frac{1}{5}$वें भाग तक सामने रखी जायं तो मन उनका एकदम ग्रहण कर लेता है, इनसे अधिक वस्तुओं का नहीं। इसी प्रकार अगर पांच शब्द, पांच त्रिभुजें या पांच अन्य बड़ी वस्तुएं सामने लाई जायं तो उन का भी मन युगपद् ग्रहण कर सकता है। 'जेस्टाल्ट वाद' के अनुसार हमें 'अवयवी' का एक साथ ज्ञान होता है, यह पहले कहा जा चुका है। शब्द, त्रिभुज आदि 'अवयवी हैं, अक्षरों तथा रेखाओं से बने हैं, इनका युगपद् ग्रहण 'जेस्टाल्ट वाद' की पुष्टि करता है।

(२) अवधान का विचलन (Fluctuation of attention) एक वस्तु पर हम कितनी देर तक ध्यान दे सकते हैं ? कभी कभी हमारा ध्यान एक ही वस्तु पर घंटों जमा रहता है। क्या वास्तव में उस समय हमारा ध्यान उसी वस्तु पर जमा होता है ? परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि ऐसी बात नहीं है। अगर हम अपने सामने एक सुई रख कर उस पर ध्यान केन्द्रित करने लगें, और अपने एक मित्र को पास बैठालें और जब-जब ध्यान उचटे तब-तब उंगली उठादें, तो पता लगेगा कि एक मिनट में हमारा ध्यान कितनी ही बार उचट जाता है। साधारणतया ५ या ६ सेकण्ड तक ही ध्यान केन्द्रित रहता है। कम-से-कम ३ तथा अधिक से अधिक २५ सेकण्ड तक ध्यान केन्द्रित रह सकता है। जो लोग समझते हैं कि वे इस से अधिक समय तक ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं वे अगर विचार करेंगे तो उन्हें पता लग जायगा कि अधिक देर तक का ध्यान तब होता है जब हम विषय के भिन्न भिन्न पहलुओं पर विचार करने लगते हैं। हम सुई पर देर तक सोचना चाहते हैं तो कभी उस की लम्बाई पर सोचने लगते हैं, कभी उसके पतलेपन पर, कभी उस के सम्बन्ध में किसी और विषय पर। शिक्षक के लिये विद्यार्थियों का एक ही विषय पर ध्यान केन्द्रित करने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

(३) अवधान का विभाग (Division of attention) हम एक ही समय में कितने काम कर सकते हैं ? जिन बातों में ऐच्छिक ध्यान की जरूरत नहीं होती, वे तो कई इकट्ठे किये जा सकते हैं, चलते हुए बात करना भी हो सकता है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'ऐच्छिक अवधान' में हम कितने काम इकट्ठे कर सकते हैं। इस बात का पता लगाने के लिये निम्न परीक्षण किया जा सकता है। पहले एक मिनट तक

अयुग्म संख्या गिनो और देखो कि १, ३, ५, ७, ९ के क्रम से एक मिनट में तुम कितने अङ्क बोल सकते हो। यह संख्या नोट करलो। इस के बाद वर्णमाला के अक्षर क, ख, ग आदि लिखो। एक मिनट तक जितने अक्षर लिखे जायं उनकी संख्या नोट करलो। अब दोनों काम एक साथ एक मिनट तक करके देखो अक्षर लिखते जाओ, और अयुग्म संख्या बोलते जाओ। इस परीक्षण का परिणाम यह होगा कि पहले की अपेक्षा कम अक्षर लिखें जायंगे, और कम संख्या बोली जायगी। अगर इस समय ध्यान देकर देखा जाय तो पता लगेगा कि मन दोनों में से कभी एक तरफ़ ध्यान देता है, कभी दूसरी तरफ़। वह दोनों विषयों को करना चाहता है, अतः 'प्रयत्न' की सहायता लेता है। परन्तु 'प्रयत्न' कभी अक्षर लिखने की सहायता करने लगता है, कभी संख्या बोलने की, दोनों की एक समान सहायता नहीं कर सकता, और इसलिये पहले की अपेक्षा कम तथा निचले दर्जे का काम होता है।

(४) ध्यान में बाधा (Distraction) बाधा से ध्यान में विक्षेप पड़ता है, यह सर्व साधारण का अनुभव है। परन्तु कभी-कभी बाधा से 'अवधान' साधारण की अपेक्षा अधिक काम कर बैठता है। जब बाधा उपस्थित होती है तब मन उस बाधा का मुकाबिला करने के लिये साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक 'व्यवसाय शक्ति' (Will-power) को उत्पन्न कर देता है, और मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा काम कर देता है। शिक्षक को चाहिये कि बालक के सामने कोई प्रश्न (Problem) रख दे, यह प्रश्न उसके सम्मुख बाधा के रूप में उपस्थित होगा, और वह इसे हल करने के लिये साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक व्यवसाय शक्ति को उत्पन्न करेगा। इस दृष्टि से 'बाधा' भी कभी-कभी अवधान का कारण बन जाती है।

(५) ध्यान का केन्द्रीकरण (Concentration of attention) ध्यान का केन्द्रीकरण तब होता है जब हम अवधान के क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। हम पुस्तक को पढ़ना चाहते हैं। जब तक एक-एक अध्याय पर अपना ध्यान नहीं केन्द्रित कर देते तब तक ध्यान उथला रहता है, गहराई तक नहीं जाता, और उस विषय का बोध भी यथार्थ बोध तक नहीं पहुंचता। ध्यान के केन्द्रीकरण के लिये किसी 'प्रयोजन' (Purpose) का मन में होना जरूरी है। 'प्रयोजन' वह केन्द्र है जिसके इर्द-गिर्द अवधान बड़ी आसानी से चक्कर काटने लगता है। अगर हमें किसी चीज़ पर ध्यान लगाना है, तो उसके सम्बन्ध में मन में कोई न कोई 'प्रयोजन' अवश्य उत्पन्न कर लेना चाहिये। जो शिक्षक बालकों के हृदय में 'प्रयोजन' (Purpose) उत्पन्न कर देता है, वह उनके ध्यान को केन्द्रित करने में अवश्य सफल होता है।

४. थकान

ध्यान के केन्द्रित न होने का मुख्य कारण 'रुचि' न होना है। जब पाठ रोचक न हो तब बालक इधर-उधर देखने लगते हैं, अध्यापक की बात सुनने में ध्यान नहीं देते। इस अवस्था में शिक्षक का दोष होता है, उसे अपने पाठ को रुचिकर बनाना चाहिये। परन्तु कभी कभी थकान भी अवधान का कारण होती है। काम करते करते थक जाना स्वाभाविक है। शिक्षक को इन दोनों में भेद करना चाहिये। ऐसा न

हो कि बालक पाठ के अरोचक होने से ध्यान न दे रहे हों, और वह समझने लगे कि वे थकान के कारण पाठ में ध्यान नहीं दे रहे।

थकान दो तरह की होती है, शारीरिक तथा मानसिक। शारीरिक थकान शरीर से अधिक काम लेने पर होती है। काम करते समय शरीर की मांस-पेशियों में गति होती है। इस गति से मांसपेशी में कुछ रसायनिक परिवर्तन हो जाते हैं। पहले मांसपेशी की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) थी, गति करने के बाद उसकी प्रतिक्रिया अम्लीय (Acid) हो जाती है। शरीर में गति करने से मांसपेशियों में लग-भग ऐसे रासायनिक परिवर्तन होते हैं जैसे बन्दूक में गोली चलने से होते हैं। गोली चलने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उससे गोली तेज चली जाती है, और बन्दूक की नाली गर्म हो जाती है। इसी प्रकार मांस-पेशी की गति से जो रासायनिक परिवर्तन होते हैं उन से शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है, और साथ ही गर्मी भी उत्पन्न होती है। यह शक्ति ही काम के रूप में दिखाई देती है। परन्तु इस शक्ति को उत्पन्न करने में 'अम्ल' भी उत्पन्न हो जाता है, इस अम्ल का नाम 'कार्बनिक अम्ल' (Carbonic acid) है। यह अम्ल रुधिर में मिलता जाता है, और यही थकावट का कारण है। जिस प्रकार की रसायनिक क्रिया शारीरिक थकावट में होती है इसी प्रकार की मानसिक थकावट में होती है। मन की प्रत्येक गति का आधार दिमाग़ है। दिमाग़ में वह भाग जहां चेतना रहती है, जिसे हमनें भूरे रंग का पदार्थ या 'कौर टेक्स' कहा था, वहां पर वे ही परिवर्तन होने लगते है जो शारीरिक परिवर्तन में मांसपेशी में होते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क में कार्बनिक अम्ल तथा अन्य विष युक्त पदार्थों का बढ़ जाना मानसिक थकावट को उत्पन्न कर देता है।

'कार्बनिक अम्ल' को शरीर में से निकालने का साधन फेफड़े हैं। फेफड़ों में अम्ल मिश्रित रुधिर की शिरायें पहुंचती हैं, उस में शुद्ध वायु भी पहुंचती है। शुद्ध वायु का 'ओषजन' रुधिर में चला आता है, और शिराओं का 'कोर्बनिक अम्ल' गैस के रूप में फेफड़े की वायु के द्वारा सांस के ज़रिये बाहिर निकल जाता है। इसीलिये शारीरिक अथवा मानसिक थकावट के बाद कुछ व्यायाम कर लेना, गहरे-गहरे सांस ले लेना थकावट को दूर कर देता है।

थकावट शरीर के किसी एक हिस्से में या सम्पूर्ण शरीर में हो सकती है। इसी प्रकार मानसिक थका-वट किसी एक विषय में या सम्पूर्ण मानसिक कार्य में हो सकती है। एक देशीय थकावट को दूर करने के लिये काम को बदल लेना सर्वोत्तम उपाय है, सम्पूर्ण शरीर तथा मन की थकावट को तो आराम से और नींद से ही दूर किया जा सकता है।

थकान 'अरुचि' तथा 'अनवधान' का मुख्य कारण है, इसलिये शिक्षक को इस विषय पर सदा सचेत रहना चाहिये। बालकों के बैठने, उठने के ढंग बदलते रहना चाहिये, लगातार लिखने या लगातार देखने का ही काम नहीं देना चाहिये, भिन्न-भिन्न कार्यों का ऐसा सम्मिश्रण करना चाहिये जिससे एक विषय के बाद दूसरा ऐसा विषय पढ़ाया जाय जिस में उन अंगों को खुद-ब-खुद आराम मिल जाय जिन से पहले विषय के अध्ययन के समय काम लिया गया था। इस दृष्टि से समय विभाग के बनाने में बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लेना चाहिये। बीच बीच में बालकों को आराम भी देना चाहिये, उन्हें लगातार पढ़ाई में जोते नहीं रखना चाहिये।

ऋषि दयानन्द

[ले०—विद्याभास्कर श्री ओ३म्प्रकाश शास्त्री 'मधुप']

ओ गुजरात केहरी ! हरी पीर तूने ॥
वैदिक-उपवन हरा भरा था,
भय किसी का नहीं ज़रा था।
अपना अन्यायी परमाद,
लूट ले गया बन सैय्याद ॥ उपवन सदन पड़े सब सूने ॥ ओ गुजरात० ॥

खेत उजाड़े, वृक्ष उखाड़े,
पुष्प-लताओं के सब बाड़े।
नोच नोच कर धूर किये सब,
माली मालिन दूर किये सब ॥ बुलबुल पकड़ धरी तब तूने ॥ ओ गुजरात ० ॥

यों वैदिक दीप बुझाकर,
कर उपवन में तिमिर निकर।
कर दी उलटी सारी मत,
भूले झूठा है या सत ॥ नुक़सान उठाये दूने ॥ ओ गुजरात० ॥

शिवरात्री के शिवतम-तम में,
बैठ पिता के बन्धनपन में।
अपने शिव का लख अपमान,
आया सच्चे शिव का ध्यान ॥ चला छोड़ प्रमाद, घर कर सूने ॥ ओ गुजरात० ॥

विरक्त-वसन कर धारन,
काम-क्रोध का कर मारन।
सच्चे शिव की खोज करन को,
परास्त करने प्राणि-मरन को ॥ सहीं अनेक यातना तूने ॥ ओ गुजरात० ॥

सच्चे सन्त गुरु को पाकर,
किया प्रणाम ढिग उसके जाकर।
प्रकट करी निज आत्म-भावना,
चूक जाय ये कहीं दाव ना ॥ दिन रात बढ़ै दिन दूने ॥ ओ गुजरात ० ॥

———

श्री स्वामी दयानन्दजी का पत्र महाराजा जोधपुर के नाम

ओम्

॥ प्रसिद्ध समा(चा)र ॥

श्री मद्राजराजेश्वर महाराजाधिराज श्री जोधपुरेश आनन्दित रहो—अब मैं यहां बीस पच्चीस दिन रहना चाहता हूँ यदि कोई नैमित्तिक प्रतिबन्ध न होगा। मैंने यह समझा है कि यहां आकर आपका धन व्यय व्यर्थ कराया क्योंकि मुझ से आप का उपकार कुछ भी नहीं हुआ और आपकी ओर से मेरी सेवा यथोचित होती रही। जब श्रीमान गुण ज्ञाता हैं इसी लिये जब जब मुझको अवकाश मिलता है तब २ पत्र द्वारा कुछ निवेदन कर देता हूं उस मेरे निवेदन को देख सुनकर आप प्रसन्न होते हैं इसी लिये तीसरी वार लेख करने के लिये मुझ को समय मिला।

१–जैसा राजकार्य आज कल आप कर रहे हैं वैसा ही यावत् शरीर रहे तावत् करते रहियेगा इसको जहां तक हो सके वहां तक अधिक २ करते जावें कभी न छोड़ें क्योंकि न्याय से राज्य का पालन करना ही आप लोगों का परम धर्म है।

२–आप अपने पुत्र जो कि महा(रा)ज कुमार हैं उनको खाने पीने आदि से संकोचित मन रखियेगा सदा पाव भर गाय के दूध में मासा भर सोंठ को मिला छान थोड़ा सा गरम कर ठंढा करके ब्राह्मी औषधी के साथ मिलवाते रहियें जिससे महाराज कुमार के बुद्धि बल पराक्रम आयु और विद्या बढ़ती रहे॥

३–जो एक रत्न आप के बन्धु महाराजे प्रतापसिंह जी हैं उनको कभी राज्य कार्य से पृथक् मत कीजियेगा क्योंकि ऐसा पुरुष आप और राज्य का हितैषी दूसरा कोई नहीं दीखता॥

४–इस देश में वर्षा प्रायः न्यून होती है इसके लिये यदि मेरे कहे अनुसार एक २ वर्ष में १००००) दश हजार रुपयों का घृतादि का नित्य प्रति और वर्षा काल में चार महीने तक अधिक होम करावेंगे वैसे प्रति वर्ष होता रहे तो सम्भव है कि देश में रोग न्यून और वर्षा अधिक हुआ करे।

५–आप में औदार्यादि प्रशंसनीय बहुत गुण हैं इनको यदि राजनीति में प्रवर्त (न) रक्खें तो देश का सौभाग्य और श्री महाशयों की पृथिवी भर में उत्तम कीर्ति फैल जावे॥

गुप्त समाचार

१–जो २ श्रीमानों के प्रशं (स) नीय गुण कर्म स्वभाव हैं उनके कलंक नीचे लिखे हुए काम हैं॥

२–एक वेश्या से जो कि नन्ही कहाती है उससे प्रेम, उसका अधिक संग और अनेक पत्नियों से न्यून प्रेम रखना आप जैसे महाराजों को सर्वथा अयोग्य है।

३–जैसे हड़के कुत्ते के दांत वाला ठ लगने से उसका दोष छूटना अति कठिन है वैसे ही वेश्या मद्यपान चौपड़ कनकौवे आदि में व्यर्थ काल खोना और खुशामदो लोगों का संग राजाओं के लिये महाविघ्न कारक धन आयु कीर्ति और राज्य के नाश करने

वाले होते हैं। मुझको बड़ा आश्चर्य है कि आप बड़े बुद्धिमान और शौर्यादि गुण युक्त होकर इनसे पृथक् क्यों नहीं होते ॥

४-जैसे आप इस नन्ही रंडी के घर को जाते उसकी माता आदि रोगिणी को देखते हैं और जैसे एक किसी अपने नौकर मुसलमान के लड़के के विवाह में घोड़े की लगाम पकड़ के पैदल चले थे वैसा निन्दाकारक काम करना आप को शोभा कभी नहीं देते किन्तु इनके बदले जैसे महता विजयसिंहजी बिमार थे जाकर देखते और जो अपने मारवाड़ के सरदार और भाई बेटे हैं जो कि राजा और राज्य की उन्नती चाहने वाले हों उनके पुत्रों के विवाह में पैदल चलना आदि करते रहें तो सर्वदा प्रशंसा लाभ और उन्नती रहै ॥

५-जब २ मैं किसी के मुख से अथवा समाचार पत्रों में आप लोगों की निन्दा सुनता वा देखता हूं तब २ मुझको बड़ा शोक होता है यदि आप लोग ऐसे निन्दा के काम न करें तो क्यों निन्दा होवे हम लोगों को अंगरेज् आदि के सामने शरमिन्दा क्यों होना पडे बड़े महाराज जो कि श्रीमानों के पिताजी थे यदि वे बहुविवाह पासवान् और वेश्या आदि को न रखते तो आप लोग भी कभी ऐसा काम न करते ऐसे ही जैसे आप लोगों का व्यवहार महाराज कुमार आदि देखेंगे इन ही में झुकेंगे क्योंकि मनुष्य को दूसरे का गुण लेना कठिन और दोष लेना सहज है।

६-आप महाराज कुमार की शिक्षा के लिये किसी मुसलमान वा ईसाई को मत रखियेगा नहीं तो महाराज कुमार भी इनके दोष सीख लेंगे और आप के सनातन राजनीति को न सीखेंगे न वेदोक्त धर्म की ओर उनकी निष्ठा होगी क्योंकि बाल्यावस्था में जैसा उपदेश होता है वही दृढ़ हो जाता है उसका छूटना दुर्घट है।

७-महाराज कुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइयेगा २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत विद्या जो कि सनातन आर्ष ग्रन्थ हैं जिन के पढ़ने में परिश्रम और समय कम होवे और महालाभ प्राप्त हो इन दोनों को पढ़े पश्चात् यदि समय हो तो अंगरेजी भी जो कि ग्रामर और फिलासफी के ग्रन्थ हैं पढाने चाहिये।

८-जैसे आपने गणेशपुरी आदि जो कि केवल बुरी चाल चलन सिखलाने हारे हैं उनका दुराचार देख के उनका सदा त्याग रक्खा है वैसे वेश्या आदि मीठे ठगों से भी पृथक आप क्यों नहीं रहते जैसे मुसलमान और ईसाई आदि के टोपी पैजामा मुंडे जूते कोट पतलून् टोपि आदि के धारण से आप अपने उत्तम विचार से पृथक रहे हैं वैसे ही हजारह गुणों में वेश्या संग आदि में आप अपने अमूल्य समय को मत खोवें आपका शरीर ऐसे क्षुद्र काम और विषयासक्ति और आराम के लिये नहीं है किन्तु बड़े परिश्रम न्याय पुरुषार्थ से लाखह मनुष्यों के हितार्थ आप लोगों का शरीर है देखिये आप मनुस्मृति के सप्तम अष्टम और नवम अध्यायों में कि राजाओं के लिये क्या २ कर्तव्य और अकर्तव्य लिखा है। मुझको निश्चय है कि आप इन कड़ी और कल्याण कारक बातों को सुनकर प्रसन्न होंगे ॥ अलमविस्तरेण महामान्यवर्येषु ॥

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

१—भविष्यद्दर्शन

मनुष्य-जीवन में कई वार भविष्यद्दर्शन की घटनाओं का परिचय मिलता है। यह भविष्यद्दर्शन बाल, युवा, वृद्ध अथवा स्त्री या पुरुष के साथ सीमित नहीं। न ये किसी जाति या देश विशेष के साथ ही सीमित होते हैं। हर एक अवस्था तथा परिस्थिति वाले व्यक्तियों में ये भविष्यद्दर्शन हो सकते हैं। "७ अगस्त १९३४ का बंगलोर (Banglore) का समाचार है कि बंगलोर से ३० मील की दूरी पर एक ग्राम दोद बलपुर में एक बालक को भविष्यद्दर्शन हुआ। घटना इस प्रकार है कि स्थानीय एक प्रसिद्ध ठेकेदार की धर्मपत्नी पिछले बुधवार को रात्रि के समय जब अपने तीन बच्चों को चारपाई पर सुलाने लगी तो उस समय उसके एक चार वर्ष के पुत्र ने कहा कि यहां रात को एक सांप आएगा। माता ने बच्चे की भविष्यद्वाणी को सत्य न माना और हंसी में सामने की दीवार पर पड़े काले निशानों की ओर निर्देश करके उस ने कहा कि देखो क्या यही सांप है जिस के सम्बन्ध में कि तुम कथन कर रहे हो ?। बच्चे जब सो गये तो ठेकेदार और उस की धर्मपत्नी की दृष्टि अचानक बच्चों पर पड़ी और वे यह देखकर निस्तब्ध हो गये कि एक ६ फ़ीट लम्बा फ़नियर-सांप बच्चों पर सरक रहा है। माता-पिता असमर्थता की अवस्था में देखते ही रहे और सांप शनैः २ बच्चों पर से गुज़र कर चला गया। पश्चात् माता-पिता ने स्थानीय एक मंपेरे को बुला भेजा जिसने कि आकर जीते सांप को पकड़ा और माता-पिता ने फिर इस सांप को जंगल में छुड़ा दिया"।

२—राधास्वामी और वेदान्वेषण

यू० पी० के प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्र Leader (लीडर) जुलाई ३०, १९३४ में मन्त्री राधास्वामी सत्संग सभा, दयालबाग, आगरा द्वारा एक विज्ञापन छपा है कि "संस्कृत का एक अच्छा विद्वान् चाहिये जोकि वेद, दर्शन तथा उपनिषत् साहित्य में निष्णात हो तथा जो वैदिक तथा अन्य धार्मिक साहित्य के अन्वेषण विभाग को सुसंगठित कर सके और इस विभाग का निरीक्षण कर सके। उसे मासिक वेतन २००) या योग्यता के अनुसार अधिक भी दिया जायगा। इस अन्वेषण-विभाग में कार्य करने वाले दो और पण्डित चाहियें जिन्हें सौ २ रुपये या योग्यतानुसार और अधिक भी मासिक वेतन दिया जायगा"।

राधास्वामियों का यह काम बहुत सराहनीय है। राधास्वामी मत वेद को ईश्वरीय-ज्ञान मानें या न मानें परन्तु वेद हिन्दुमात्र के लिये पूजा तथा श्रद्धा के स्थान हैं। हिन्दू सभ्यता बल्कि संसार की सभ्यता के मूल स्रोत वेद ही हैं। इसलिये वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में जो सोसाइटी भी खोज करने का प्रयत्न करे वह उस के लिये श्रेय का कारण है। राधास्वामी शुरू में ही वेदानुसन्धान करने वाले विद्वानों पर ४००) रुपया या इस से भी अधिक मासिक व्यय करने को तैयार हुए हैं। एक ओर तो राधास्वामी मत को देखो, जो कि वेदों पर विश्वास भी नहीं रखता और फिर भी वैदिक साहित्य की खोज के लिये इस मत के नेता आरम्भ में ही कितना धन व्यय करने को तैयार हो गये हैं। परन्तु दूसरी ओर आर्यसमाज को देखो तो

आर्यसमाज इस ओर से बिल्कुल मुंह फेरे हुए है। आर्यसमाज, जिसके कि धर्म का मूलाधार वेद है, वेदों के अन्वेषण की ओर से नितान्त पराङ् मुख है। आर्यसमाज मन्दिरों और स्कूलों के निर्माण के लिये धन लगा सकता है, गुरुकुलों में धन लगा सकता है, रेलाश्रमी[1] प्रचार के लिये लाखों की अपील कर सकता है, परन्तु उस वैदिक साहित्य के अन्वेषण के लिये वह आँखें मूंदे बैठा है, जिसे कि वह अपने धर्म का मूल स्रोत तथा एकमात्र स्वतः प्रमाण आधार मानता है। आर्यसमाज की इस ओर उदासीनता आर्यसमाज की उन्नति के लिये अवश्य ही हानिकर है। इस समय युरोप, अमरीका तथा भारतीय क्षेत्रों से भी वेदों पर नाना प्रकार के आक्षेप हो रहे हैं जो कि पढ़े लिखे आर्यसमाजियों के वेद सम्बन्धी धार्मिक विश्वासों को दिनोदिन खोखला करते जा रहे हैं। परन्तु इस का प्रतीकार आर्यसमाज कुछ नहीं कर रहा। आर्यसमाज में भी जो इने गिने विद्वान वैदिक साहित्य में अन्वेषण करने लगते हैं, उन्हें भी मार्ग में नाना प्रकार की बाधाएं आ उपस्थित होती हैं, जिस कारण कि उन के विश्वास की भित्ति भी थोड़ी बहुत हिल जाती है। परन्तु ऐसे व्यक्ति फिर भी १०० में से ९९ आर्यसमाजी ही रहते हैं। परन्तु यह दोष किस का? मैं तो आर्यसमाज का ही दोष गिनता हूं। आर्यसमाज ने ऐसा कोई साहित्य तैय्यार नहीं किया या कराया जिसे कि उन वेदान्वेषी आर्यसमाजी विद्वानों के सामने रखा जा सके जिनका कि विश्वास वेदों को पढ़ते २ वेदों के सम्बन्ध में कुछ ढीला हो गया है। आर्यसमाज के पास ऐसे सच्चे विद्वानों के लिये एक ही उपाय है, वह यह कि उन्हें पत्रों में बदनाम किया जाय, उन्हें नास्तिक और मक्कार कह कर उनके विरोध में आन्दोलन किया जाय और उन्हें तरह २ के कष्टों और यातनाओं के सहने के लिये वाधित किया जाय। इन आर्यसमाजी विद्वानों का यही तो अपराध हुआ कि इन्होंने महर्षि दयानन्द की प्रेरणा से प्रेरित होकर वेदों के अन्वेषण की ओर पग बढ़ाया, अपनी आर्थिक उन्नति तथा आकांक्षाओं को लात मार ये दिन रात वेदों के अध्ययन में लगे रहे। परन्तु इन के अध्ययन के क्रम में, इन के मन में कोई शंकाएं उठीं, जिनका कि ये हल न सोच सके, उन्हें आर्य जनता के सामने इन्होंने रखा, और आर्य जनता ने उन्हें नमक-हराम और नास्तिक कह कर दुत्कार दिया। और दुतकारा किन्होंने? उन लीडरों ने, जिनके आगे वेद का एक २ काला अक्षर भैंस बराबर है। जो आर्यसमाज के लीडर बने हुए हैं, परन्तु युग बीत गये कभी उन्होंने कोशिश नहीं की कि वे संस्कृत पढ़कर वेद का कभी स्वाध्याय भी करें। ऐसे लीडरों के वाणी के तथा कलम के अस्त्रों के शिकार वे विद्वान् बनते हैं जो कि रात दिन प्रेम से वेद पढ़ते, उस में अन्वेषण करते, परन्तु वेद के पढ़ने के कारण यदि उन के दिलों में कोई शंका उत्पन्न हुई है तो सचाई के साथ वे उस शंका को जनता के सामने रखते हैं। इन विद्वानों का यही दोष है कि ये महर्षि की प्रेरणा से प्रेरित होकर वेद के स्वाध्याय में लग गये। परन्तु आर्यसमाज के दुतकारने वाले लीडरों में लीडरी का यह गुण है कि उन्होंने न कभी वेद पढ़ा

(१) पंजाब में रेलाश्रमी प्रचार उसे कहते हैं जिस में कि प्रचारक अधिक दिन तो रेलगाड़ी में रहे और कभी कहीं १ दिन उतरकर प्रचार कर दे।

और न उनके सामने वेद की कठिनाइयां पेश हुईं। आर्यसमाज को चाहिये था कि आर्यसमाज नाना विद्वानों को लगाकर वेद के गहरे और सच्चे सिद्धान्तों की खोज करता और यदि किसी विद्वान् के मन में वेद पढ़ते २ कोई शंकाएं हो उठतीं तो बड़े प्रेम से आर्यसमाज उन के सामने ऐसी पुस्तकों को उपस्थित करता, जिन के पढ़ने से उस विद्वान् की शंकाएं दूर हो सकतीं। परन्तु आर्यसमाज इस सीधे और सरल उपाय का अवलम्बन न कर उलटे उपायों के अवलम्बन में तैयार हुआ २ है। इन शंकित विद्वानों के प्रति आर्यसमाज का वर्त्तमान समय का व्यवहार उस व्यवहार से किसी प्रकार भी श्रेष्ठ नहीं जो कि पोप के समय में उन ईसाई-विद्वानों के प्रति किया गया इतिहास में पढ़ा जाता है जिसे कि हम पाशविकता का और क्रूरता का व्यवहार कहते हैं।

(३) 'आप्त' कौन है ?

(१)

श्री महर्षि अग्निवेश ने अपने 'चरक' में आप्तों का लक्षण नीचे लिखे प्रकार से किया है—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञान बलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥

(चरक सूत्रस्थान अ० ११ श्लो० १८, १९)

जो तप और ज्ञान के बल से रजस् और तमस् से मुक्त हो गये हैं। जिन को तीन कालों का ज्ञान बिना किसी विघ्न बाधा के होता है वे 'आप्त' हैं, वे 'शिष्ट' हैं, वे 'विबुद्ध' कहाते हैं। क्योंकि उनके आत्मा में रजस् और तमस् का लेप नहीं होता इसलिये उनके वाक्य में किसी प्रकार का संदेह या संशय नहीं होता, वे सदा सत्य ही कहेंगे। भला वे असत्य क्यों कर बोल सकते हैं ?

'आप्त', 'शिष्ट' और 'विबुद्ध' ये तीनों नाम एक ही कोटि के महापुरुषों के लिये प्रयोग किये जाते हैं। वे यथार्थ सत्य को प्राप्त कर लेते हैं इसलिये 'आप्त' कहाते हैं, वे जगत् भर को 'कार्य में प्रवृति और अकार्य में निवृत्ति, का शासन या उपदेश करते हैं इसलिये 'शिष्ट' कहाते हैं। जो भी कुछ ज्ञातव्य है वह उस को खूब जान चुकते है इसलिये वे 'विबुद्ध' कहाते हैं।

(२)

श्री गौतममुनि ने न्यायसूत्रों में आप्तोपदेश रूप शब्द को ही प्रमाण माना है।

आप्तोपदेशः शब्दः ॥

'शब्द' प्रमाण है। वह आप्त जनों द्वारा उपदेश है। आप्त कौन ? इस सम्बन्ध में श्री वात्स्यायन मुनि व्याख्या करते हैं—

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्य अर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणम् अर्थस्य आप्तिः तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्।

जिसने पदार्थों के ठीक २ धर्मों का साक्षात् किया है। जैसे उसने देखा है वैसी वह अन्यों को बतलाना चाहता है। इस सद् इच्छा से प्रेरित होकर जो व्यक्ति अन्यों को उपदेश करता है वही आप्त है। पदार्थ का साक्षात् करना 'आप्ति' कहाती है उस ज्ञान प्राप्ति से अन्यों को ज्ञान प्राप्त कराने में यत्न करने वाला जन आप्त कहाता है। ऋषियों आर्यों और म्लेच्छों में सर्वत्र 'आप्त' का यही लक्षण है।

(३)

ऋषि पतञ्जलि ने लिखा है कि—

आप्तो नामानुभवेन वस्तुतत्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान् ।
अनुरागादि वशादपि नान्यथावादी यः स आप्तः ॥

आप्त वह है जो अनुभव से वस्तु की यथार्थता को पूरी तरह से निश्चय रूप से जाने, जिस के ज्ञान में कोई संदेह का लेश भी न हो। और जो अनुराग या स्वार्थवश लोभादि में पड़ कर भी अन्यथा बात न कहे वही आप्त है।

आप्त क्या करता है इस सम्बन्ध में श्री व्यासदेव आगम प्रमाण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वा अर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देन उपदिष्यते ।

आप्त अपने देखे वा अनुमान किये पदार्थ के सम्बन्ध में अपना ज्ञान दूसरों को देने के लिये उस का उपदेश किया करता है।

जो व्यक्ति सुदृढ़ प्रमाण से अर्थों का निश्चय करता है वही "साक्षात् कृतधर्मा" है। वह किसी प्रकार का हृदय में मत्सर या कपट रखकर जैसा देखा है उससे विपरीत कभी नहीं कह सकता। उसके हृदय में आलस्य और किसी के प्रति अकृपा नहीं रहती, इस लिये वह सब को समान रूप से तुरन्त यथार्थ तत्त्व का उपदेश करने में सन्नद्ध रहता है। उस को वर्ण, स्वर आदि उच्चारण में भी किसी प्रकार का दोष या असामर्थ्य नहीं होता, वह अपना अभिप्राय ठीक २ नपे तुले शब्दों में और ठीक २ स्वरों में, असंदिग्ध रूप से कहा करता है। यही कारण है कि प्रमाण रूप से स्वीकार किये गये ऋषियों, मुनियों और आचार्यों के ग्रन्थ तथा सूत्र, व्याख्यान और उपदेशों को ज्यों का त्यों रहने देना ही उनके गौरव की रक्षा करना है।

—जयदेव शर्मा वि० अ०, मी०

ग्राहकों को आवश्यक सूचना

वैदिक विज्ञान ३ मास के लिये स्थगित

आज से दो वर्ष पूर्व 'वैदिक विज्ञान' नाम मासिक पत्र आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड ने निकालना प्रारम्भ किया था। इसका उद्देश्य था कि वेद और उस पर आश्रित आर्ष-ग्रन्थों के सिद्धान्तों पर गम्भीर अनुसन्धान, खोज, आलोचन प्रत्यालोचन तथा विशुद्ध वैदिक आर्ष सिद्धान्तों और आर्ष वैदिक संस्कृति का प्रकाश, रक्षा तथा प्रचार हो, उससे वेद मन्त्रों की वैज्ञानिक आध्यात्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से उत्तमोत्तम व्याख्यायें सरल और सुबोध रूप में प्रकट हों, वैदिक सिद्धान्तों पर नाना विद्वानों के उत्तम २ लेख प्रकाशित हों, वेदों पर होने वाले पूर्वीय और पश्चिमीय विद्वानों के आक्षेपों की तथ्य आलोचना और सप्रमाण उत्तर दिये जावें।

आर्य जगत् में चिरकाल से ऐसे गम्भीर धार्मिक उच्च कोटि के मासिक पत्र की आवश्यकता को वर्षों से प्रत्येक सहृदय आर्य अनुभव कर रहा था। इसी की पूर्ति के लिये मैंने अनेक आर्य विद्वानों से परामर्श करके गुरुकुल कांगड़ी के वेदोपाध्याय श्री प्रो० विश्वनाथजी विद्यालंकार के सम्पादकत्व में १९३२ ई० के मार्च मास में 'वैदिक विज्ञान' मासिक पत्र को निकालने का निश्चय जनता में घोषित कर दिया था। और यह निश्चय किया था कि ५०० स्थायी ग्राहक हो

जाने पर 'वैदिक विज्ञान' का निकलना प्रारम्भ किया जावेगा। परन्तु कुछ एक उत्साही मित्रों के अनुरोध से उसका एक नमूने का अंक प्रकाशित किया गया। उसे देखकर कुछ लोग ग्राहक बने और कतिपय मित्रों ने भविष्य में पर्याप्त ग्राहक बना देने की आशा दिलाई जिससे ५०० ग्राहक बन जाने के पूर्व ही वैदिक विज्ञान क्रम से निकालने के लिये बाधित होना पड़ा।

परन्तु ज्यों २ समय बीतता गया आर्य जनता से सहयोग न मिलने के कारण आशा निराशा में बदलती गई। आर्य साहित्य मण्डल ने अपने वेदभाष्य के सहस्रों ग्राहकों को रियायती शर्तों पर भी देना स्वीकार किया तो भी ग्राहकों की संख्या इतनी न्यून रही कि पत्र का संचालन करना बहुत ही कठिन हो गया। हम समय २ पर वैदिक रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये अनेक चित्रों और नक्शों को प्रकाशित करना चाहते थे, उनको न निकालने पर भी इन दो सालों में कई सहस्रों का घाटा उठाना पड़ा।

हमारा अनुमान था कि एक वर्ष तक नियम पूर्वक इसे निकाल लेने के पश्चात् आर्य जनता हमें अवश्य प्रोत्साहित करेगी, परन्तु दूसरा वर्ष भी समाप्त हो गया फिर भी न तो उन मित्रों से, जिन्होंने अनेकों प्रकार की आशा दिलाई थी, कुछ सहायता मिली और न आर्यसमाजों और आर्य जनता ने ही कुछ ध्यान दिया।

कितनी लज्जा और खेद की बात है कि 'कल्याण' और गंगा आदि अन्य सम्प्रदाय के मासिक पत्र, जो वेदों और आर्य संस्कृति पर अनेक प्रकार के अन्वेषणात्मक लेख छापते रहते हैं, सहस्रों की संख्या में छपते हैं और उनके उनके सम्प्रदाय के लोग सहस्रों की सहायता भी देते हैं, परन्तु वेदों को धर्मग्रन्थ और प्राणों से भी प्रिय मानने वाले आर्य जगत् में वेदसम्बन्धी उच्च कोटि के मासिक पत्र के लिये पर्याप्त ग्राहक भी नहीं मिलते। होना तो यह चाहिये था कि पञ्जाब, यू० पी०, सी० पी० राजस्थान बंगाल, बिहार, आसाम, बोम्बे, गुजरात आदि प्रान्तों की समस्त आर्यसमाजें ऐसे गौरवान्वित पत्र को अपनातीं और वेद के सम्बन्ध में होने वाली खोज, अन्वेषण तथा विदेशियों और विधर्मियों के आक्षेपों के उत्तर देने में एकत्रित होकर सहायता देतीं।

इस के विपरीत यह हुआ कि आर्य पुरुषों और आर्य समाजों ने किसी प्रकार भी सहायता प्रदान नहीं की। ऐसी दशा में केवल थोड़े से ग्राहकों के सहयोग से उच्च कोटि का मासिक पत्र प्रकाशित करना असम्भव जानकर उसके प्रकाशन को अभी तीन मास तक स्थगित करना उचित प्रतीत होता है। यदि आर्य पुरुषों और आर्य संस्थाओं ने पर्याप्त सहयोग दिया और शीघ्राति शीघ्र ५०० नये ग्राहक बना कर अनुकूल स्थिति उत्पन्न करदी तो वैदिक विज्ञान को पूर्ववत् प्रकाशित किया जावेगा अन्यथा सदा के लिये इसे बन्द कर दिया जावेगा।

समस्त आर्यसमाजों के मन्त्रियों से सानुरोध प्रार्थना है कि वे आर्य पुरुषों को वैदिक विज्ञान का ग्राहक बनने के लिये प्रोत्साहित करें और वे अपनी समाजों को भी ग्राहक बनावें। यदि समस्त समर्थ समाजें इस पत्र का ग्राहक बन जावें और वे कुछ २ ग्राहक अन्य भी स्थायी रूप से दें तो वैदिक विज्ञान को नियम पूर्वक चलाना कुछ भी कठिन नहीं होगा और आर्य जगत् के लिये यह एक गौरव की बात होगी। यहां पर यह भी बतला देना अनुचित न होगा कि प्रयाग से निकलने वाला सहयोगी वेदोदय भी निकलना बन्द हो गया है और आर्य जगत् में वेदसम्बन्धी एक भी ऐसा पत्र नहीं है जो उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति करे।

भवदीय

व्यवस्थापक